

श्रीमद्भगवद्गीता

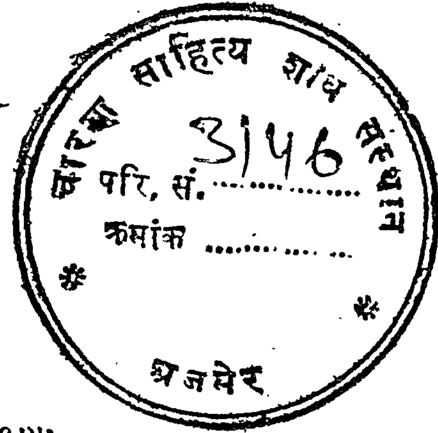
(पुरुषार्थ-बोधिनी भाषा टीका)



टीकालेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, गीतालंकार,

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)



द्वितीयवार

संवत् २००१, शक १८६६, सन १९४५

' वेदका वेद्य '

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

(भ० गी० अ० १५)

" मैं वैश्वानर होकर सब प्राणियोंके देहोंमें रहता हूँ और मैं ही वहां प्राण और अपानसे युक्त होकर चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ । " (१४)

" मैं सबके हृदयोंमें प्रविष्ट होकर रहा हूँ । मुझसेही स्मरण, ज्ञान और तर्क (अथवा उनका अभाव) होता है । सब वेदोंसे मैं ही जाना जाता हूँ । मैं ही सब वेदोंका जाननेवाला हूँ और वेदका अन्तिम तत्त्व प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूँ । " (१५)

मुद्रक और प्रकाशक– व० श्री० सातवळेकर, B. A.
भारतमुद्रणालय, स्वाध्याय–मण्डल, औंध, (जि. सातारा)

श्रीमद्भगवद् गीता पुरुषार्थबोधिनी

(भाषाटीका)

श्रीमद्भगवद्गीता यह सातसौ श्लोकोंका छोटासा ग्रन्थ मननशील पाठकोंको अत्यंत प्रिय होने योग्य है। यह गीता ग्रन्थ इतना छोटा है, तथापि अर्थकी गंभीरताकी दृष्टिसे इसकी योग्यता बहुत बडी है। इसलिये महात्मा गांधी जी जैसे अनासक्तिके पथपर स्वयं चलने और जनताको चलानेवाले, अहिंसाधर्मका पुनरुज्जीवन करनेवाले कर्मयोगीने इसका अर्थ वर्धिष्णु है ऐसा कहा है—

" गीता एक महान् धर्मकाव्य है। उसमें आप जितने गहरे पैठेंगे उतने ही नये और सुंदर अर्थ आपको मिलेंगे। गीता सर्वसाधारण की चीज है और इसलिये उसमें एकही बात अनेक तरहसे कही गई है। अतएव गीतामें प्रयुक्त महाशब्दोंके अर्थ हरएक युगमें बदलेंगे और विस्तृत होते जायेंगे। पर गीताका मूल मन्त्र कभी नहीं बदलेगा। जिस रीतिसे यह मन्त्र सिद्ध किया जा सकता है उस रीतिसे जिज्ञासु उसका जो चाहे अर्थ करे। "

श्री० महात्मा गांधीजीने निरंतर ४० वर्ष गीताका मनन किया और गीताके उपदेशके अनुसार आचरण किया और पश्चात् उक्त शब्द लिखे हैं, इसलिये इनके विरुद्ध शब्द लिखना सहजहीमें नहीं हो सकता।

गीताका अर्थ एकवार पढनेसे ध्यानमें नहीं आ सकता, मनुष्य कितना भी विद्वान् क्यों न हो, थोडेसे मननसे गीताग्रन्थका हृद्गत समझमें नहीं आ सकता। लो० तिलकजीने ४५ वर्ष गीताका मनन किया और गीता-रहस्य ग्रन्थ लिखा, म० गांधीजीने ४० वर्ष मननके साथ आचरण किया और अपना भाषान्तर प्रकाशित किया जिसकी भूमिकामें वे कहते हैं कि—

" गीताके अनुसार आचरण करनेमें प्रतिदिन निष्फलता होती है, इस निष्फलतामें हम सफलता की उगती हुई किरणोंकी झाँकी देखते हैं। "

चालीस वर्ष अखंड तपस्या करनेवालेके ये शब्द निःसंदेह गीताके उपदेशकी गंभीरताके सूचक हैं। परन्तु जो लोग आचरण नहीं करते और मनन भी नहीं करते, उनके लिये गीता ग्रन्थका कोई विशेष मूल्य नहीं होता है। मनन के विना गीता ग्रंथको देखा जाय, तो उसमें पुनरुक्ति, असंबद्धता, अस्पष्ट और परस्पर विरुद्ध विधान भी पाये जायेंगे। कइयोंने गीताके विषयमें ऐसे ही अनुदार शब्द लिखे हैं, जो उनके अज्ञानके सूचक हैं।

केवल संस्कृत भाषा अथवा अनुवादकी भाषा जाननेसे गीताका आशय, मनन न करते हुए, ध्यानमें आना करीव करीव अशक्य है। वेद, उपनिषद् और गीता इन सभी ग्रंथोंकी अवस्था यही है। प्रायः सारे ऋषिग्रन्थोंके विषयमें यही बात है। विशेष मननके विना उनका हृद्गत समझना अति कठिन कार्य है। यह इसलिये होता है कि, ये ग्रन्थ विशेष मनोभूमिकाकी अवस्थामें लिखे होते हैं और इनके दृष्टिकोन भी भिन्न होते हैं। जबतक उनका दृष्टिकोण समझमें नहीं आता, तबतक उनके उपदेश समझमें आना कठिन है।

श्रीमच्छंकराचार्यजी तथा अन्य अनेक आचार्योंने यह कहा है कि " वैदिक धर्म " के सत्य सिद्धांत कालान्तरसे जनताके मनसे दूर हुए, अतः उनको पुनः उज्ज्वलित करके जनताके सम्मुख रखनेके लिये गीताशास्त्र कहा गया है। यह आचार्योंका कथन नितांत सत्य है। वैदिक धर्मके गूढ सिद्धांत उज्ज्वल रूपमें देखने की इच्छा हो, तो गीता पढी जाय। स्वयं गीतामें चतुर्थाध्यायके प्रारंभमें यही बात कही है—

" श्रीभगवान् बोले- यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान्से कहा था, उसने मनुसे और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा। इस प्रकार परंपरासे आया हुआ और राजर्षियोंका जाना हुआ यह योग दीर्घकालके कारण नाशको प्राप्त हुआ। वही पुरातन रहस्य

*

रूप योग मैंने आज तुमसे कहा है, क्योंकि तू मेरा भक्त है और मित्र भी है।"

यहां स्वयं भगवान्‌के द्वारा कहा गया है कि, गीता कोई नया शास्त्र नहीं है, परन्तु प्राचीन परंपरासे जो ज्ञान आदिकालसे चला आया है, वही पुनः यहां कहा गया है। 'वेद' ही अनादि ज्ञान प्राचीन परंपरासे चला आता है। परन्तु मानवी अज्ञानके कारण उस मार्गसे मनुष्य दूर चले जाते हैं। इसलिये जनताको जगानेवाले 'उत्तम पुरुष' वारंवार आते हैं, वे आकर जनताको जगाते हैं, और पारंपरिक ज्ञान देते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् इसी प्रकार 'उत्तम पुरुष' किंवा 'पुरुषोत्तम' थे और उक्त हेतुसे ही उन्होंने गीताशास्त्रका उपदेश किया। इससे स्पष्ट हुआ कि, गीताशास्त्रमें जो ज्ञान कहा है, वह ज्ञान परंपरासे चला आता है, वह ज्ञान इससे पूर्व के ग्रन्थोंमें भी मिल सकता है, वह नया नहीं है।

इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' भाषाटीकामें यही बात दर्शायी जायगी कि, वेद उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अर्थात् ये ही गीताके सिद्धांत प्राचीन ग्रन्थोंमें किस रूपमें हैं। यह बात इस समय तकके किसी टीकाकारने विशद नहीं की है, प्राचीन टीकाकारोंने इसका कुछ अंश बताया है, परन्तु इस का विशेष आविष्कार किसीने अभीतक नहीं किया है। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थबोधिनी' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है। गीतापर इतनी टीकाएं होते हुए पुनः यह टीका लिखनेका यही एक मात्र हेतु है।

छत्तीस वर्ष पूर्व मैंने मराठी भाषामें एक सारांशरूपसे गीताका रूपान्तर प्रकाशित किया था, और गीताके कई शब्दोंके अर्थ वैदिक प्रमाणोंसे निश्चित करनेके लिये भी कई लेख नियतकालिकोंमें लिखे थे। तबसे यह 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीका लिखनेका संकल्प है और तबसे गीताका विचार हो रहा है और प्राचीन ग्रन्थवचनोंकी तुलना गीता-वचनोंके साथ तबसे की जा रही है। इतने समयके मननसे मेरे मनका यह निश्चय हुआ कि, वेद, उपनिषद् और गीता इनका तात्पर्य एकही है, जो भेद किसीको दीखता है वह अज्ञानके कारण है। यदि निःपक्षपातपूर्वक विचार हो जायगा और यदि पंथाभिमान की कलुषित दृष्टि दूर होना किसी कालमें संभव हो जायगा, तो इन तीनोंका एकही तात्पर्य स्पष्ट रीतिसे दृष्टिके सम्मुख उपस्थित होगा, इसमें मुझे संदेह नहीं है।

यह बात तो निश्चित है कि, यह गीताशास्त्र लोगोंके विचारोंके मतभेद बढानेके लिये उत्पन्न नहीं हुआ, परन्तु विभिन्न मतोंका संगतिकरण करके, उनसे प्रकट होनेवाली विविधता दूर करके, उनके अंदर जो अभेद है उस ओर लोगोंके ध्यानका आकर्षण करानेके लिये ही गीताशास्त्र उत्पन्न हुआ था। यद्यपि ऐसे एकता अथवा समताका प्रचार करनेवाले ग्रन्थ-पर भी आजकल विभिन्न मत लादे गये हैं!! परन्तु मूलतः देखा जाय, तो विभिन्न तत्त्वोंमें व्याप्त रहनेवाला अभिन्न तत्त्व बतानेके लिये और उन सबका समन्वय करनेके लिये इस गीताशास्त्र की उत्पत्ति है। अर्थात् यह ग्रंथ झगडे बढानेके लिये नहीं है परन्तु झगडे घटानेके लिये ही है।

यही दृष्टि यदि पाठक रखेंगे, तो उनको गीताका दृष्टि-कोण शीघ्र दीखेगा और वे गीताके उपदेशके अनुसार आचरण करके, अपना और जनताका अभ्युदय और निःश्रेयस साधन करनेके अधिकारी हो सकेंगे।

अन्तमें मुझे पूर्ण आशा है कि जिस प्रकार भूले और मोहित हुए अर्जुनको उस समय इस 'भगवान्‌के गीत' ने मार्ग दर्शाया, उसी प्रकार इस समय भूले भटके और मोहित हुए जनोंको भी यह गीता सच्चा मार्ग दर्शायेगी और मानवी उन्नतिका पथ सबके लिये खुला कर देगी। इसी उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि– 'सब अन्य मतोंका त्याग करके एक मेरी ही शरणमें आ, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, तूं शोक मत कर। (भ० गी० १८।६६)"

जो विश्वास रखेंगे और देवकार्यमें अपने आपको समर्पण करेंगे उनको यही अनुभव आवेगा।

निवेदक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

औंध (जि० सातारा) स्वाध्याय-मण्डल

कार्तिक शुद्ध पूर्णिमा शके १८६२

[द्वितीय संस्करण– मार्गशीर्ष शु० पू० शके १८६६]



श्रीमद्भगवद्गीता

[पुरुषार्थ-बोधिनी भाषाटीकासे युक्त]



प्रथमाध्यायः

अर्जुन-विषाद-योग

(१) धृतराष्ट्रकी चिन्ता

धृतराष्ट्र उवाच— धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

अन्वयः- हे सञ्जय ! धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, युयुत्सवः समवेताः, मामकाः पाण्डवाः च एव, किं अकुर्वत ?

धृतराष्ट्र बोले- हे संजय ! धर्मक्षेत्ररूपी कुरुक्षेत्रमें, युद्ध करनेकी इच्छासे एकत्र हुए, मेरे और पाण्डु के पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

भावार्थ— जिस समय अपने लोग किसी युद्धमें संमिलित होते हैं, उस समय उस युद्धका ठीकठीक वृत्तान्त शीघ्र जानना और विजयप्राप्तिके लिये अपने लोगोंकी उचित सहायता करना, प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है ।

---

(१) धृतराष्ट्रकी चिन्ता

" श्रीमद्भगवद्गीता " शब्दका अर्थ वास्तविक रीतिसे " श्रीभगवान्‌के मुखसे गायी गयी " ऐसा होता है । श्रीभगवान्‌का उपदेश द्वितीय अध्यायके द्वितीय श्लोकसे प्रारंभ होता है, उसके पूर्वका यह प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका प्रथम श्लोक पूर्वसंबन्ध बतानेवाला प्रस्तावनारूप भाग है । इस प्रथम अध्यायमें अर्जुनके मनमें विपाद उत्पन्न होनेका प्रसंग वर्णित हुआ है । परन्तु इस प्रथम अध्यायके प्रथम श्लोकमें अर्जुनका विपाद भी नहीं है । इसमें तो ' धृतराष्ट्रकी चिंता ' है । अर्थात् इस अनुपमेय ग्रन्थका प्रारंभ धृतराष्ट्रकी चिन्तासे हुआ है। भला यह धृतराष्ट्र कौन है ?

धृतराष्ट्र कौन है ?

धृतराष्ट्र एक भारतीय राजा था, यह बात सब जानतेही हैं । परन्तु यहां ' धृतराष्ट्र ' एक विशेष भूमिका लिये हुए हैं । यह ' धृत-राष्ट्र ' है । यह ' राष्ट्र ' को ' धृत ' अर्थात् हडप कर बैठा है । जो वास्तविक अपनी चीज नहीं और दूसरेकी है, उसपर अन्यायसे और पाशवी बलसे अपना अधिकार जमानेका यत्न कर रहा है । दूसरे का राष्ट्र पाशवी बलसे अपने अधीन करना, उसपर अपना अधिकार सदाके लिये स्थिर रखनेका यत्न करना और उसके अधिकारी पुरुष अपना स्वराज्य वापस मांगने लगें, तो उन को न देनेके लिए प्रयत्न करना, और उनको ' अनधिकारी '

सिद्ध करना, यही ' धृत-राष्ट्र ' यहां कर रहा है। इसी कारण इसको चिंता हो रही है, और यह पूछ रहा है कि, " भाई ! आज युद्धका पहिला दिन है, उस युद्धमें क्या हुआ ? "

धृतराष्ट्र और हृतराष्ट्र

'धृत-राष्ट्र' और 'हृत-राष्ट्र' के बीच यह युद्ध हुआ है। हमेशा ऐसे ही युद्ध हुआ करते हैं। कौरव ' धृतराष्ट्र ' के पक्षपाती और पाण्डवोंका पक्ष ' हृतराष्ट्र ' का था। ' हृतराष्ट्र ' वे होते हैं कि, जिनका राष्ट्र छीना गया होता है और जो अपना गया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके लिये यत्न करते हैं। इनका राष्ट्र छीना गया होनेके कारण और ये राजकीय अवनतिकी चरम सीमा तक पहुँचे होनेके कारण तथा युद्धमें पराजय हुआ तो भी हृतराष्ट्रोंकी और अधिक हानी होनेकी संभावना न होनेके कारण हृतराष्ट्र दक्षतासे युद्धकी तैयारी करते हुए भी चिन्तासे व्याकुल नहीं होते। युद्ध का परिणाम अनुकूल हुआ तो हृतराष्ट्र लोग ' स्वराज्य ' प्राप्त करेंगे, यह आशा इनको रहती है; परन्तु युद्धमें पराजय हुआ तो इनकी, पहिलेसे ही राज्य छीना जानेके कारण और अधिक हानि होनेकी संभावना नहीं होती है; अतः इनको चिन्ता दुःख नहीं देती; प्रत्युत अपना सत्पक्ष होनेके कारण और राज्य प्राप्तिकी संभावना होनेके कारण, इनके अन्दर एक प्रकारका अपूर्व उत्साह रहता है।

धृतराष्ट्रकी हानि

परन्तु ' धृत-राष्ट्र ' के पक्षकी बात वैसी नहीं है। यदि इनका विजय हुआ तो इनको प्राप्ति कुछ भी नहीं होनी है, जो युद्धके पूर्व था, वही अधिकसे अधिक इनके पास स्थिर रहेगा; युद्धमें पराजय हुआ, तो अनेक अन्याय और क्रूरत्व करके कमाया हुआ राष्ट्र हाथसे चला जायगा; और जय किंवा पराजय होनेपर युद्धसे इनकी हानि ही हानि होनी है; इस कारण ये ' धृतराष्ट्रके पक्षके लोग रातदिन चिन्तासे व्यग्र रहते हैं। युद्धमें जय मिला तोभी इनकी हानि है, युद्धमें पराजय हुआ तोभी इनकी हानिकी सीमा ही नहीं है, और दोनों अवस्थाओंमें संपूर्ण जगत्की निंदा इनके माथे आती ही रहेगी। इस चिन्तासे व्याकुल होकर इस श्लोकमें ' धृत-राष्ट्र ' पूछ रहा है कि " मेरे पुत्र और पाण्डुके पुत्र युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए थे, तत्पश्चात् क्या हुआ ? " इस प्रश्नमें जो भय है, वह ऊपर दर्शाया ही है। यह भय सामान्य नहीं, इसी चिन्तासे सब ' धृत-राष्ट्र सम्राट् ' मनही मनमें दिन रात जलते रहते हैं।

अन्धा धृतराष्ट्र

' धृत-राष्ट्र ' अंधा भी होता है। यह भला अन्धा क्यों न हो ? मनुष्य पाशवी बलके कारण अन्धा होता है, परन्तु जिसके पास पाशवी बल अत्यधिक होता है, वह तो सबसे पहिले और सबसे अधिक अन्धा होता है। पाशवी बल बढ जानेके कारण ही यह दूसरोंका राष्ट्र अपने अधीन करके उसका उपभोग लेता रहता है, और इस कारण उसका धन भी बढता है। इस अधिक धनके कारण भी मनुष्य अन्धा होता है। बल और धन पास रहनेपर साधारण मनुष्य तो अन्धा बन ही जाता है, परन्तु इनके साथ यदि शासनाधिकार प्रतिबंधरहित रीतिसे हाथमें आगया तो अन्धा बन जानेकी कोई सीमाही नहीं रहती। बल, धन और अधिकार के मदसे भरा हुआ मनुष्य न्याय और अन्याय, धर्म और अधर्म, कर्तव्य और अकर्तव्य, नीति और अनीति, युक्त और अयुक्त देखनेमें असमर्थ होता है। वह शरीरके नेत्रोंके कारण अन्धा हो या उसकी आंखें अच्छी हों, इसका कोई संबंध नहीं, सत्य दृष्टिसे वह अन्धा ही बनता है। स्थूल शरीरके अन्धत्वकी अपेक्षा उसका जो मानसिक और आत्मिक अन्धत्व होता है, वह बहुत ही भयानक होता है; यह न केवल उसको चिन्तामें डालता है, परन्तु जितने भी उसके पक्षमें होते हैं, उन सबको अपरिमित चिन्तासागरमें डुबा देता है।

अन्धेके अन्धे अनुयायी

धृतराष्ट्रकी पत्नी भी आंखें होती हुई अन्धी बनी थी ! क्यों न बनेगी ? अन्धे धृतराष्ट्रके जो साथी होते हैं उन सब का हाल ऐसा ही होना है। यह ठीक है कि, गांधारी देवीने पातिव्रत्य व्रतके कारण अपनी आंखें बांध रखी थीं।। यह निःसन्देह ऐसाही होगा। परन्तु यह गांधारी अपने घरमें अपनी स्नुषापर चलाये हुए अत्याचारका प्रतिबन्ध करनेमें समर्थ नहीं हुई। इस देवीने बहुत विरोध भी नहीं किया था। जब अत्यन्त अत्याचार हुआ, तब कुछ बोल उठी थी। इससे प्रतीत होता है कि, यह देवी पतिदेव धृतराष्ट्रकी संमतिके बहुत प्रतिकूल जाना नहीं चाहती थी। यदि यह

दुःशासनको अपने पूरे बलसे रोक लेती, तो घरके यशकी रक्षा होना संभव था। मानो, इस देवीने जान बूझकर अपने आंखोंपर परदा डाल रखा था और सचमुच था भी ऐसाही। धृतराष्ट्र तो चाहता ही था कि यदि किसी न किसी प्रकार पांडवोंकी बला टल जाय और पूर्ण साम्राज्य अपने पुत्रोंके अधीन हो, तो अच्छाही है। पतिव्रता होनेके कारण और पुत्रलोभके कारण देवी गांधारीका भी अन्दरसे ऐसा ही मत हुआ होगा। पुत्रोंके मोहसे और पतिके अनुकूल रहनेके यत्नसे स्त्रियोंके अन्दर इस प्रकारकी कमजोरी आती ही है। वे सहसा अपनी इच्छाको प्रबल करना नहीं चाहतीं, इसलिये आंखें होती हुई भी उनको अन्धा बनना ही पडता है। यही अवस्था गांधारी देवीकी हो गई थी।

अन्धे धृतराष्ट्रके पुत्र भी एकसे एक अन्धेके अनुगामी होने योग्य थे। दुर्योधन, दुःशासन, दुःसह, दुःशल, दुर्धर्ष, दुष्प्रधर्ष, दुर्मर्षण, दुर्मुख, दुष्कर्ण, दुर्मद, दुर्विगाह, दुर्विमोचन, दुष्पराजय, दुराधर, इ० ये पुत्र और इनकी भगिनी दुःशला इनके नामका प्रारंभ " दुः " अर्थात् दुःख, दुष्टता आदि भावोंसे हो रहा है। यद्यपि शौर्यकी दृष्टिसे इनके अर्थमें कोई बुराई नहीं है, तथापि दुष्टबुद्धिके लिये इनके शौर्यका उपयोग होनेके कारण इनके शौर्यका दुरुपयोग ही हुआ। जो शक्ति देवकार्यके लिये लगती है, वही उत्तम आदरणीय है, परन्तु जो शौर्य आसुरी कार्यके लिये लगता है; वह शौर्य वीर्य कितना भी बढकर हुआ, तो भी वह दुःख बढानेवाला ही होता है। इसकी सूचना इन नामोंसे भली प्रकार समझमें आ सकती है। 'धृत-राष्ट्र' अर्थात् जो दूसरोंका राष्ट्र अन्यायसे हडप कर बैठा होता है, उसके परिवारके लोग और उसके अनुयायी लोग उसको मदद देनेके कारण और उसका पूर्ण विरोध न करनेके कारण उसके दोषके भागी हो जाते हैं। इन नामोंकी योजनासे यही स्पष्ट दीखता है। दुर्योधन वस्तुतः सुयोधन अर्थात् उत्तम लडनेवाला था, परन्तु उसने अपना युद्धकौशल दुष्ट असत्पक्षके लिये लगानेके कारण वह 'सु-योधन' होता हुआ भी 'दुर्योधन' बन गया।

सामुदायिक पाप

यही अवस्था भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, आदिकोंकी हो गयी थी। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो ये ज्ञानी, शूर, पुरुषार्थी और तेजस्वी धार्मिक पुरुष थे। अनुकरणीय और प्रातःस्मरणीय थे। परन्तु उनका सारा शौर्य दुष्ट धृतराष्ट्रपुत्रोंकी अनीतिके पक्षके लिये लडनेमें खर्च हुआ!! इतने आदर्श पुरुष होते हुए भी बुरी अनीतिके असत्पक्षमें रहनेके कारण वे वधके योग्य समझे गये। सांघिक अथवा सामुदायिक पापका यही परिणाम होता है। ऐसे युद्धोंमें बुरेके साथ भला भी पीसा जाता है। और ऐसी अवस्थामें जो भले लोग पीसे जाते हैं, उनको कोई बचा नहीं सकता। अतः इस युद्धमें भगवान् श्रीकृष्ण भी भीष्मद्रोणादि सज्जनोंको बचा नहीं सके।

वैसे देखा जाय तो भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य जानते थे कि, पाण्डवोंका सत्पक्ष है और धृतराष्ट्रका असत्पक्ष है। उनका असंदिग्ध मत था कि, पाण्डवोंको स्वराज्य अतिशीघ्र मिलना चाहिये। धृतराष्ट्र और दुर्योधन पाण्डवोंकी स्वराज्यप्राप्तिमें विविध विघ्न खडे कर रहे हैं, यह अधर्म हो रहा है, यह भी वे जानते थे और वे समय समयपर वैसा कहते भी थे। परन्तु धृतराष्ट्रके साम्राज्याधिकारी पक्षवाले उनका उपदेश माननेको तैयार नहीं थे। दुर्योधन इनके मतको कोई मूल्य नहीं देता था। बूढेकी बक् बक् कौन सुनता है? अधिकारमदसे उन्मत्त हुए पुरुष सदुपदेश और धर्मका उपदेश सुननेको तैयार नहीं होते। कभी तैयार नहीं हुए और आगे भी सुननेको तैयार न होंगे। वे तो उस समय सुननेको तैयार होते हैं कि, जिस समय वे पूर्ण रीतिसे पराजित हो जाते हैं।

पापसे मृत्यु

दुर्योधन यह कहता था कि, अपने पास ११ अक्षौहिणी सेना है, भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे महावीर सहायक हैं, शस्त्रास्त्र संपूर्ण प्रकारके हैं, साम्राज्यका संपूर्ण धन अपने पास है, इतना होनेपर पाण्डवोंकी थोडीसी स्वराज्यविषयक हल चलसे डरकर अपने हाथमें आया साम्राज्य क्यों छोड दें? पाण्डवोंकी सेना छोटी, उस सेनाको बहुत अनुभव नहीं है, उनके पास इतना धन नहीं अर्थात् अपनी शक्तिसे पाण्डवोंकी शक्ति सब प्रकारसे कम है, फिर हम क्यों डरें? केवल युद्धका बलाबल ही देखा जाय, तो दुर्योधनका कहना सत्य ही था; परन्तु वह नहीं जानता था कि, अपने किये हुए अनेक पापोंके कारण अपने सब योद्धा (निहताः पूर्व-

मेव । भ० गी० ११।३३) करीब करीब मरे हुए हैं । वह दुर्योधन, आंखें होते हुए भी, इस बातको देखनेके लिये पूरा अन्धा हुआ था । अपने पापोंसे कारण सब जनता का और अपने बहुतसे सैनिकोंका भी मन पाण्डवोंकी ओर हुआ है, यह बात वह नहीं देखता था । सच्चा 'विजय' उसको प्राप्त होता है कि जिसको सारी जनता अपने मनसे विजययुक्त देखना चाहती है और यह जनताका आशीर्वाद सदा 'धर्म' के पक्षवालोंको ही प्राप्त होता है । पाण्डवोंका यह धार्मिक बल दुर्योधनके ध्यानमें नहीं आया था, वह केवल अपना पाशवी बल ही गिनता रहता था, और अपने अतुल पाशवी बलके मदसे वह उन्मत्त भी हुआ था ।

परन्तु अन्धे धृतराष्ट्रके मनमें यह बात दिनरात खटकती थी । वह अन्धा होते हुए भी अपने पापोंको सबसे अधिक जानता था और इसी कारण वह युद्धका समय उपस्थित होनेपर सबसे अधिक भयभीत हुआ था, और यह भय मनमें रखते हुए ही धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा था कि 'अरे संजय ! युद्धकी इच्छासे मेरे पुत्र और पाण्डुके पुत्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें उपस्थित हुए, इतना तो तुमने मुझे बताया, पश्चात् क्या हुआ ?''

अपने पापका भय

यह प्रश्न पूछनेमें उसके मनके सामने अपने सभी पातक उपस्थित हुए हैं ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है । वह मनमें कहता था कि, हमने भीमको विषप्रयोग किया, उसको जल में डुबा दिया, लाक्षागृहमें सब पाण्डवोंको जलानेका यत्न किया, पाण्डवोंकी धर्मपत्नी पतिव्रता द्रौपदीको सभामें अनंत कष्ट दिये, पाण्डवोंसे कपटद्यूत करके उनका राज्य कपटसे हरण किया, बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके कष्ट उनको दिये, इतना होने पर भी उन्होंने धर्मके अन्दर रहकर कष्ट सहे, शक्ति होते हुए भी कोई अत्याचार नहीं किये, अनत्याचारी वृत्तीसे रहे, सब प्रतिज्ञा पालन करके वे अब अपना स्वराज्य वापस मांग रहे हैं और वह हम उनको वापस नहीं देते । हमने उनको स्वराज्य वापस देनेकी कई बार घोषणा भी की थी, परन्तु वह देने-की इच्छासे नहीं की थी, कालहरण करनेकी मनीषासे ही की थी । इतने हमने अत्याचार और कपट करनेपर भी पाण्डवोंने अन्तमें केवल पांच ग्राम ही मांगे, परन्तु वे भी हमने नहीं दिये और कहा कि, युद्धके विना रत्तीभर भूमि भी नहीं मिलेगी । ये सब अत्याचार हमने पाण्डवोंपर किये हैं । इतने हमने पाप किये हैं, इन पापोंके कारण जनताके मनकी प्रवृत्ति पाण्डवोंको अनुकूल और हमारे लिये प्रतिकूल हुई है (इस कारण यद्यपि हमारा पक्ष पाशवी शक्तिसे प्रबल है, तथापि आत्मिक शक्तिसे हमारा पक्ष बहुत कमजोर हुआ है और पाण्डवोंका पक्ष तो उनकी 'धर्मके साथ स्थिति' होनेके कारण उनका आत्मिक बल कई गुना हमसे अधिक हुआ है ।") धृतराष्ट्रकी यह चिन्ता थी, रात-दिन वह मनही मन इस चिन्तासे जल रहा था और इसी कारण युद्धकी उपस्थिति होनेपर वह आतुरताके साथ पूछ रहा है कि "युद्धका आगे क्या हुआ ?"

धर्मवचनोंका दुरुपयोग

अन्यायसे दूसरोंका राज्य हरण करनेवाले और कपटसे उसपर अधिकार स्थिर करनेका यत्न करनेवाले धर्मवचनोंको भी अपने अनुकूल बता देनेका यत्न करते हैं । जित लोगोंमें युद्धनिवारक धर्माभासके भावको जागृत करना, संपूर्ण मानवोंके हितका विचार उनके मनमें भर देना, उनको युद्धके संहारसे निवृत्त करना, इसी प्रकार जगत् नश्वर है इत्यादि विचार उनमें स्थिर करना, इत्यादि प्रकारका प्रयोग भी 'धृतराष्ट्र' के पक्षवालोंने पाण्डवोंपर कियाही था !!! कहते हैं कि सैतान भी धर्मपुस्तकोंका वचन अपने पक्षके लिये उद्धृत करता है । इसी प्रकार विजेता लोग धर्मवच-नोंको अपने पक्षके अनुकूल बताते हैं, बडे बडे तत्त्वज्ञान और शांतिवचन बोलते, जगदुद्धारके लिये हम यत्न कर रहे हैं ऐसा बताते हैं, इस सबका तात्पर्य यह है कि, जित लोग इन वचनोंसे मोहित हो कर स्वराज्यप्राप्तिके लिये कोई प्रयत्न न करें, और सदा पराधीनतामें संतोष मानें । कौरवोंने पाण्डवोंके ऊपर भी ऐसाही धर्म प्रयोग किया था। गीताके प्रथम अध्यायसे उस प्रसंगका संबन्ध है, इसलिए उस प्रसंगका वर्णन सारांशसे यहां करते हैं ।

उद्योग पर्वमें (अध्याय २० से अ० ३२ तकके बारह अध्यायोंमें) 'संजययान–पर्व' है। पाठक मूल महाभारतमें यह संपूर्ण पर्व पढें । इसके पढनेसे ही भगवद्गीताका प्रथम अध्याय अर्थात् अर्जुनको विषाद क्यों हुआ, वीर अर्जुनका मन युद्धके प्रारंभमें ही उदासीन और विरक्त क्यों हुआ, यह बात ठीक प्रकार समझमें आसकती है। धृतराष्ट्रके

पक्षवालोंने पांडवोंको धर्मवचनद्वारा युद्धसे हटा देनेका जो अंतिम प्रयत्न किया था, वह प्रयत्न साम्राज्यवादियोंकी चालाकीका प्रदर्शक है। धृतराष्ट्र जानता था कि, पाण्डव धर्मप्रवृत्तिके लोग हैं, इसलिये धर्मवचनोंके जालमें अवश्य फंसेंगे। अतः उसने इस कार्यके लिये संजयको पांडवोंकी छावनीमें भेजा था और उसने वहां पांडवोंको जो उपदेश किया था, वह अर्जुनके मनमें जमगया था, युद्धका भयानक चित्र सम्मुख आतेही उन विचारोंने अर्जुनके मन पर प्रभाव जमा दिया और अर्जुन युद्धसे विमुख हुआ। ऐसा होगा ही, यह वात धृतराष्ट्र जानता था और अपने प्रयोग की सफलता हुई या नहीं, यह जाननेकी इच्छासे धृतराष्ट्र पूछता है कि 'दोनों ओरकी सेना इकट्ठी होनेके बाद क्या हुआ?' अर्थात् हमने जो धर्मवचनोंका प्रयोग पांडवोंपर किया था, उसका अनुकूल परिणाम हुआ या नहीं हुआ। यही जाननेकी आतुरता धृतराष्ट्रके इस प्रश्नमें है।

जो लोग संजययानपर्वके अनुसंधानसे भगवद्गीताका प्रथमाध्याय पढेंगे, वेही इस अध्यायका मर्म समझ सकते हैं। इसलिये पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि, वे उद्योगपर्वके प्रारंभके ये (अ० २० से ३२ तकके) वारह अध्याय सूक्ष्म दृष्टिसे पढें। पाठकोंकी सुविधाके लिये हम यहां सारांश रूपसे वह भाग वता देते हैं–

(उद्योग० अ० २२ में) धृतराष्ट्र संजयसे कहता है कि "हे संजय! तू पाण्डवोंकी छावनीमें जा, और उनसे कह कि, धृतराष्ट्र पाण्डवोंका हित चाहता है, पाण्डवोंके गुणोंका वर्णन करता है, और पाण्डवोंको वापस आये देख कर उसको वडा ही आनंद हुआ है। धृतराष्ट्र पाण्डवोंसे युद्ध करना नहीं चाहता, परन्तु पाण्डवोंसे संधि करना चाहता है, इसलिये पाण्डव भी संधि करनेके लिये तैयार हो जायँ। हे संजय! ऐसी ऐसी शान्तिकी वातें कह कर पाण्डवोंका युद्धविषयक जोश ठंडा पडजाय ऐसा यत्न कर।"

इससे स्पष्ट होता है कि धृतराष्ट्र शान्ति करनेका इच्छुक नहीं था; परन्तु स्वराज्यप्राप्तिके लिये युद्ध करनेके पाण्डवोंके उत्साहको कम करनेका इच्छुक था। देखिये साम्राज्यवादियोंकी राजनीति कहां तक गहरी होती है।

आगे चलकर (अ० २४ में) संजय पाण्डवोंसे कहता है– "हे धर्मराज! देखो, आप सव पाण्डव सज्जन हैं, कठिन प्रसंगमें भी धर्मका अतिक्रम आप नहीं करते, आप धन्य हैं। आपने तो कौरवोंके इतने अपराधोंकी क्षमा की है, ऐसे धर्मात्मा लोग आप अव अपने ही भाइयोंका–दुर्योधनादिकोंका–वध करनेका घोर कार्य करेंगे, यह कदापि नहीं हो सकता। कमसे कम मेरा मन तो कहता ही है कि, ऐसा कुलक्षय आप कभी नहीं करेंगे। हे धर्मराज! क्षत्रियोंका धर्म तो केवल कसाइयोंका धर्म है, वह आप जैसे धर्मात्माओंके लिये शोभा नहीं देता!! मैं निश्चयसे मानता हूं कि, आप ऐसा क्रूर युद्धकर्म कभी करेंगे ही नहीं। आप जानते ही हैं कि वृद्ध धृतराष्ट्र आपके साथ कितना प्रेम करता है, परन्तु वह विचारा क्या करेगा? साम्राज्यमदसे अंधा हुआ सुयोधन उसका सुनता नहीं है। क्या इसलिये उनके सव पुत्रोंको मार कर वृद्धे धृतराष्ट्रको पुत्रशोकमें डालनेमें आप प्रवृत्त होंगे? यह तो आपके धर्म भावके लिये सर्वथा अनुचित है। हे अजातशत्रो! तुह्मारे मनमें तो शत्रुभाव भी नहीं है। धन्य हो! तुम ही सच्चे धार्मिक हो। तुमने इतने दुःख सहन किये हैं और अपना धर्म रक्षण किया है, क्या ऐसे तुम इस समय कौरवोंसे शान्तिका वर्ताव नहीं करेंगे? हे धर्मराज! तुह्मारे सव भाई भी धर्मात्मा हैं। इसलिये यह कुलक्षय हटाना अव तुह्मारे हाथमें है। मैं समझता हूं कि, सवको सुख प्राप्त हो, ऐसी यदि तुम्हारी इच्छा है, तो तुम इस समय कौरवोंसे संधि करो और अपने कुल की रक्षा करनेका यश संपादन करो।" (अध्याय २४)

(अ० २५) 'हे पाण्डवो! धृतराष्ट्र तो शांति करनेके लिये अत्यंत उत्सुक है। आप सभी पांडव जन्मसे दयालु, धर्मात्मा और उदार हैं। आप जैसे सज्जनोंको युद्ध जैसा क्रूरकर्म करना कदापि योग्य नहीं है। आप जैसे धार्मिक पुरुषोंने थोडासा भी हीन कर्म किया, तो वह आपके अयशके लिये ही कारण होगा। कौरव तो दुष्ट हैं ही, उनके नीच कर्मोंकी तो कोई सीमा ही नहीं, परन्तु आप वैसे नहीं! आपने इस समय तक धर्मका उलंघन नहीं किया है, इसलिए अव आपको युद्धका क्रूर कर्म नहीं सजता है। इस युद्धमें जय मिला तो भी वह पराजयके समानही है और इसमें कुलक्षय तो निःसंदेह होगा ही; इसलिए आप जैसे धार्मिक लोगोंको यह घोर युद्ध करना उचित नहीं है। किस पक्षका जय होगा यह भी नहीं कहा जा सकता; किसीका भी जय हो और किसीका भी पराजय हो; दोनों अवस्थाओंमें निश्चित वात यही है कि, संपूर्ण कुलका नाश

होगा। फिर ऐसा हीन कार्य क्या तुम्हारे जैसे धर्मपुरुषोंको करना योग्य है? हाय! हे धर्म! तूने इतने दिन धर्मका पालन किया और अब ऐसा हीन कर्म करनेके लिये उद्युक्त हुए हो! युद्ध करना तो नीच पुरुषोंका कार्य है, तुम्हारे जैसे धार्मिक लोगोंको यह उचित नहीं है। कौरव भी तुम्हारे भाई ही हैं और अपने भाइयोंका हित करना तुम्हारा परम कर्तव्य ही है। और पहिले भी तुमने ऐसा ही किया जिस समय गंधर्वोंने कौरवोंको पराजित करके बांध दिया था, उस समय तुम पाण्डवोंने ही तो उनकी रक्षा की थी? जिनकी तुमने रक्षा की, क्या तुम अब उनका ही वध करोगे! नहीं नहीं, यह तो कसाइयोंका कार्य है, यह पाण्डवोंके लिये योग्य नहीं है। इस लिये आप शांति धारण करनेका कार्य कीजिये।'

(अ० २७) "हे धर्मराज! तू तो धर्मात्मा है। तू जानता है कि जीवित नश्वर है। यहां कौन शाश्वत रहनेवाला है? क्या कौरवोंका नाश करके पाण्डव चिरंजीव होंगे? यह कदापि नहीं होगा! तुह्मारा स्वराज्य था और वह कौरवोंने छीना यह भी सत्य है, परन्तु वे तुह्मारे भाई ही हैं, इस लिये राज्यादि नश्वर भोग तुह्मारे पास रहे या उनके पास रहे, उसमें क्या है? यदि उन्होंने तुम्हें स्वराज्य न दिया, तो तुम भिक्षावृत्तीसे उत्तम धर्मका पालन कर सकते हैं। ऐसा न करते हुए तुम अपने कुल का संहार करोगे, तो बडा अधर्म होगा। मनुष्यजीवन अल्प है, इसलिए स्वजातियोंका वध करके राज्य भी कमाया, तो कितने दिन तुम लोग उसका उपभोग करोगे। तुम्हारे जैसे धर्मात्माओंको क्रूर युद्ध करके और वंशक्षय करके राज्य कमाना किसी प्रकार भी यशकारी नहीं है। विषयवासनाही मनुष्यको ऐसा क्रूर कर्म करनेमें प्रवृत्त करती है, इसलिए ऐसी दुष्ट वासना का तू संयम कर। तुम्हारे जैसे ज्ञानी पुरुषको ऐसी तृष्णा धारण करना उचित नहीं! पृथ्वी का राज्य मिलनेपर भी सुख कहां होता है? केवल धर्मसे ही सुख होता है। हे धर्मराज! तू ज्ञानी है, ब्रह्मचर्यपालन तूने किया है, अतः ऐसी विषयवासनामें फंसना तुम्हें उचित नहीं है। तुम्हारे जैसे ज्ञाता मनुष्यको इह लोककी अपेक्षा परलोकका विचार करना योग्य है। परलोकके लिए इस लोकके सुखका समर्पण करना तुम्हें उचित है। तू चाहे योग साधन कर, ध्यानधारणामें रत हो। इससे परलोककी प्राप्ति होगी। ऐसे क्रूर युद्धसे क्या लाभ होगा? युद्धसे स्वराज्य प्राप्त भी हुआ, तो भी वह चिरकाल तो नहीं टिकेगा। अतः धर्म-संचय करना ही तुम्हें योग्य है। हे पाण्डवो! यदि स्वार्थ भावसे तुम लोगोंने स्वकुलका नाश किया; तो तुम सबको चिरकाल नरक भोगना पडेगा। हे धर्मराज! तुमने इस समय तक क्रोधका आश्रय नहीं किया है, परन्तु आश्चर्य है, इतने समयके पश्चात् तुम्हें विपरीत बुद्धि हो रही है! हाय! युद्ध करके तुम लोग पूज्यपाद भीष्म पितामहका और द्रोणाचार्यका भी वध करोगे? तुम्हारे सब बन्धु बांधवोंका वध होनेके बाद तुम्हें इस राज्यसे कौनसा सुख होगा? इसलिए हे धर्मज्ञ युधिष्ठिर, इस क्रूर कर्मसे निवृत्त हो, शांतिका अवलंब करो और कौरवोंसे युद्ध करनेका विचार छोड दो।'

सावधानीकी सूचना

इस प्रकार संजयने पांडवोंको युद्धके पूर्व धर्मका और संन्यास का उपदेश किया था। यह सब धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे ही किया गया था। अर्जुनका विषाद इसीका प्रतिबिंब है। अर्जुनके मनमें यह उपदेश जम गया और वह समझने लगा कि, सचमुच स्वराज्यके लिए भी धर्मयुद्ध करना पाप है और भिक्षावृत्तिसे रहना पुण्य है। अर्जुनके मनपर ऐसा भाव स्थिर करानेके लिए ही यह व्यूह धृतराष्ट्रने रचा हुआ था। यदि अर्जुनके मनपर यह उपदेश पूर्ण रीतिसे जम जाता, तो कौरवोंका साम्राज्य स्थिर हो जाता और पाण्डव हमेशा के लिए राज्यभ्रष्ट रहते। देखिए, जेता लोग-स्वयं सैतान होनेपर भी-जित लोगोंको धर्मका उपदेश दे देकर और उच्च तत्त्व बतला-बतलाकर स्वराज्यके प्रयत्न करनेसे किस प्रकार रोक रखते हैं!! अतः स्वराज्य-प्राप्ति करनेवालोंको उचित है कि, वे जेताराष्ट्रके धर्मोपदेशकोंके उपदेश भी बडी दक्षतासे सुनें और सावधानतासे उसके अनुसार चलें। नहीं तो अर्जुन जैसी अवस्था ऐन युद्धके समय बनेगी, और संपूर्ण प्रयत्न निष्फल बनेगा। पूर्वोक्त उपदेशमें धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे संजय पाण्डवोंको ही शान्तिका उपदेश दे रहा है, जैसा कि पाण्डव ही अशान्तिके कारण हैं!! सब अन्याय धृतराष्ट्रके पक्षका है और वेही इस ऐन युद्धके समय शान्तिकी स्थापनाके यत्नमें अग्रेसर दीखते हैं!! वेही कह रहे हैं कि 'युद्धमें क्रूरता है, वैराग्य श्रेष्ठ है, हिंसा करके राज्य कमानेकी अपेक्षा शान्तिसे भीख मांगना उत्तम है, भोग वासनाका क्षय करना चाहिये!!

देखिये, विजेता लोग कैसे निर्लज्ज बनते हैं और अपनी साम्राज्य रक्षाके लिये धर्मवचनोंका भी कपट युक्तिसे कैसा आश्रय करते हैं!! ऐसा धर्मवचनोंका प्रयोग धृतराष्ट्रने पांडवों पर किया था और यह समझता था कि, इस प्रयोगका परिणाम पाण्डवोंपर अवश्य होगा क्योंकि पाण्डव ' धर्म ' के अनुगामी हैं!

पुण्यस्थानका प्रभाव

दूसरी बात यह है कि, ये दोनों पक्षके सैनिक ' धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र ' में युद्धके लिए इकट्ठे हुए हैं। साधारण चोर और लुटेरे भी धर्मक्षेत्रमें गए, तो कुछ न कुछ धर्ममें प्रवृत्ति करते ही हैं, तीर्थ क्षेत्रोंमें अन्यस्थानोंकी अपेक्षा धर्मकी प्रवृत्ति अधिक रहती ही है। इसलिए धृतराष्ट्र समझता है कि, अपनी प्रेरणासे संजय द्वारा किया गया उपदेश धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें जानेके पश्चात् पाण्डवोंके मनपर अधिक परिणाम करेगा और प्रायः वे कुलक्षय करनेवाले युद्धसे विमुख हो जायेंगे। मनमें यह भाव धारण करके वह संजयसे पूछता है कि, 'हे संजय! धर्मक्षेत्रमें मेरे और पाण्डुके पुत्रोंकी सेनाने युद्धकी इच्छासे इकट्ठा होकर क्या किया?' पूछनेका तात्पर्य यह है कि, पाण्डव तुम्हारे उपदेशके अनुसार युद्धक्षेत्र छोडकर वापस गए, या नहीं? तुमने जो उपदेश किया, उसका परिणाम उनपर कैसे हुआ? धृतराष्ट्रकी चिन्ताका यह स्वरूप है। इस पूर्व वर्णनका अनुसन्धान करके पाठक यदि इस प्रथम श्लोकका विचार करेंगे, तो उनको इस प्रश्न करनेके समय धृतराष्ट्रके मनकी चिन्तामय स्थितिकी ठीक कल्पना हो जायगी।

पराजयकी संभावना

धृतराष्ट्र यह भी जानता था कि, अपने पक्षके वीरोंमें से दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण आदि थोडे वीरोंके अतिरिक्त भीष्मद्रोणादिक सब बडे वीर दिलसे लडनेवाले नहीं हैं। वे दिलसे पाण्डवोंको स्वराज्य देनेके पक्षमें हैं। इस दृष्टिसे अपने पक्षमें सैन्यबल बडा होनेपर भी दिल कच्चा होनेके कारण अपना पक्ष निर्बल है। परन्तु पाण्डवोंके पक्षमें इस दृष्टिसे देखा जाय, तो हर एक वीर कौरवोंका बदला लेनेकी अपनी ओर से पूरी पूरी तैयारी किये हुए हैं। अर्जुन, भीम आदि वीर तो अपनी शक्तिसे कई गुना अधिक कार्य करके दिखा देंगे। इस कारण पाण्डवोंका सेनाबल छोटा होनेपर भी हरएक वीर दिलसे कार्य करनेवाला होनेके कारण इनका पक्ष सबल है। इस दृष्टिसे संभवतः अपना पराजय भी हो जायगा। इस लिये हृदयमें दुःख करता हुआ धृतराष्ट्र संजयसे पूछता है कि, ' दोनों सेनाएं इकट्ठी हो जानेपर आगे क्या हुआ? ' वह मनमें समझता ही था कि, यदि युद्ध छिड गया, तो अपने पक्षका पराभव निश्चितसा ही है।

धर्मयुद्ध

हमेशा ' धृत-राष्ट्र ' और ' हृत-राष्ट्र ' इन दो पक्षोंमें युद्ध हुआ करता है। धृतराष्ट्र दूसरे का राज्य अन्याय से छीनता है और उसको अपने अधीन रखनेके लिए युद्धमें प्रवृत्त होता है, इसलिए उसकी ओरसे जो युद्ध होता है, वह ' अधर्म युद्ध ' कहलाता है। परन्तु जो ' हृतराष्ट्र ' पक्षमें लोग होते हैं, वे अपना गया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके लिए धर्मपूर्वक यत्न करते हैं, इस लिए उनका सत्पक्ष होनेके कारण उनकी ओरसे जो होता है, वह ' धर्म युद्ध ' होता है। एकही युद्धमें दो पक्ष एक ही स्थानपर संमिलित होते हैं, तथापि उसमें एक धर्म युद्ध करता है और दूसरा अधर्मयुद्ध करता है। यह धर्मयुद्ध और अधर्मयुद्धका विचार उत्तम प्रकारसे स्मरणमें रखें।

धर्मका पक्ष

पाण्डवोंका पक्ष "धर्म" का पक्ष था। इस पक्षका मुखिया ' धर्म ' नामका राजा था, यह बात गौण है, परन्तु यहांपर इस पक्षके लोग धर्मके अनुसार आचरण करनेवाले थे, यही इस पक्षद्वारा बताया है। धर्मराज भी यहां धर्मका प्रतिनिधि होकर वैसी भूमिका लिये हुए हैं। धर्मराज ' युधिष्ठिर ' है अर्थात् वह जिस भूमिकाको लेकर युद्धमें उपस्थित होता है, उससे पीछे नहीं हटता। युद्धमें अपनी भूमिका पर स्थिर रहना यह भी एक बडा कार्य हुआ करता है। ' युधि-स्थिर ' शब्दद्वारा युद्धमें अपने स्थानपर स्थिर रहनेका उपदेश किया है। धर्मयुद्धमें उपस्थित होनेवाले लोग युद्धमें स्थिर रहनेको सीखेंगे, तो अच्छा होगा। ' विजय ' प्राप्तिके लिये ' धर्म ' का अनुयायी होना और (युधि-स्थिर) युद्धमें अपने स्थानपर स्थिर रहना अर्थात् अपने स्थानसे पीछे नहीं हटना, यह अत्यंत आवश्यक बात है। वीर पुरुष अपने स्थानसे आगे बढें, परन्तु कभी डरकर पीछे न हटें।

द्वेषभावरहित मन

यह धर्मराज "अजात-शत्रु" भी है। जिसका कोई शत्रु

नहीं है, कमसे कम जो किसीका द्वेष नहीं करता। जो किसीकी हिंसा या हानि करना नहीं चाहता, शत्रुका भी द्वेष नहीं करता, शत्रुका भी सुधार होनेके लिये यत्न करता है, शत्रुके भी गुण देखता है। यह धर्मकी भूमिका है। जिस के मनसे, वाणीसे और कर्मसे द्वेष भाव दूर हुआ है, जो शत्रुका भी द्वेष नहीं करता प्रत्युत जो शत्रुके भी गुण देखता है वह 'अजात-शत्रु' पाण्डवोंका धुरीण है। सब पाण्डव इस 'अजात शत्रु धर्म' की आज्ञा शिरोधार्य मानकर उस आज्ञाके अनुसार चलनेमें अपनी कृतकृत्यता मानते हैं। अर्जुन जैसा सव्यसाची वीर, भीम जैसा बलवान् योद्धा, नकुल सहदेव जैसे अद्वितीय शूर पुरुष अपने अपने मतभेद रखते हुए भी अनत्याचारी, शान्ततावादी, अजात-शत्रु धर्मकी आज्ञा-अपने मतके विरुद्ध होनेपर भी प्रतिकूलताका भाव न बताते हुए-मानते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं; इसीमें उनका बल है। वस्तुतः देखा जाय तो धर्मराज ही अनत्याचारी समतावादी और अजातशत्रु था। भीम तो स्वभावतः मुसली बलरामके समान अत्याचारी ही था, अपने स्वभावके कारण धर्मराजपर क्रोध भी करता था, धर्मराजके हाथ जलानेके लिये भी तैयार होता था; अर्जुन यद्यपि भीमसेनके इतना क्रोधी नहीं था, तथापि धर्मराज जैसा शमवादी भी नहीं था। नकुल सहदेव तो अर्जुनके पीछे पीछे चलनेवाले थे। और इनकी धर्मपत्नी वीरपत्नी द्रौपदी देवी तो केवल अकेले भीमको ही पसंद करती थी। अर्थात् धर्मराजके साथ समविचार रखनेवाला इनमें एक भी नहीं था। वस्तुतः देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म-राजकी अनत्याचारी अहिंसक वृत्तिसे सभी इतर पाण्डव त्रस्त हुए थे। इतना मतभेद होनेपर भी धर्मकी आज्ञा सब मानते थे और अन्त तक किसीने भी धर्मकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया। मानो धर्मराजका धर्म ही 'अनत्याचार' था और अन्योंने नीतिके लिये वैसा बनाया था। यदि स्व-राज्य आन्दोलन करनेवालोंका अनत्याचारी धर्मराज नेता माना जाय, तो उसके नीचे नीतिसे अनत्याचारी बने हुए ये अन्य लोग काम करते थे, ऐसा मानना पडेगा। अर्जुन, भीम-सेन, नकुल, सहदेव और वीरा द्रौपदी ये क्रमशः वीर, बली, चतुर, ज्ञानी पुरुषों तथा वीर स्त्रियोंके संघोंके प्रतिनिधी माने जा सकते हैं। और ऐसा माननेपर भिन्न भिन्न संघोंके मत विभिन्न होनेपर भी एक अनत्याचारी नेताकी आज्ञाके अन्दर ये सब एकविचारसे कार्य कर रहे थे, और ऐसे कार्य करते हुए उन्होंने अपनी उत्तम संघटना की, यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि ये विभिन्न मतके वीर प्रथम समयमें धर्म-राजके अनत्याचारी मार्गमें न रहते और स्वयं अत्याचार करनेमें प्रवृत्त हो जाते, तो कौरववीर इनको विना आयास पीस डालते और इनके ऊपर उठनेकी कोई आशा न रहती। परन्तु धर्मराजकी सहज धर्म प्रवृत्ति होनेसे और धृतराष्ट्र पक्षवालोंके किये अनेक पाशवी अत्याचार चुपचाप सुनते रहनेसे, संपूर्ण जनताकी सहानुभूति तथा कई कौरववीरों की भी अनुकूल बुद्धि पाण्डवोंके लिये सहायक हो गई, और इस कारण अन्तमें स्वराज्य प्राप्तिके अन्तिम युद्धमें इनका विजय होनेयोग्य शक्ति इनको प्राप्त हो गई। अर्थात् अनत्याचारी वृत्तिसे रहकर आत्मोद्धारके मार्गसे जाते हुए होनेवाले अनेक कष्टोंको शान्तिसे सहन करनेसे जनताकी सहानुभूतिका अद्वितीय बल प्राप्त होता है, यह बल प्रथमसे अत्याचार करनेवालोंको कभी प्राप्त नहीं हो सकता, यह बात निःसन्देह सत्य है।

ईश्वरकी सहायता

यहां दूसरी विलक्षण बात यह है कि, काठियावाड-द्वारका-निवासी भगवान मन 'मोहन' श्रीकृष्ण पाण्डवों का संचालक और परम सहायक था। यह सब प्रकारसे ज्ञानी शूरवीर और युद्ध विद्याकुशल होते हुए भी "मैं हाथ में शस्त्र नहीं धरूंगा, मैं युद्ध नहीं करूंगा" ऐसी युद्ध न करनेकी अनत्याचारकी प्रतिज्ञा करके पाण्डवोंकी सहायता करनेके लिये आया था। धर्मराज वैसा स्वभावतः शमवादी और अजातशत्रु था, और भगवान् मन 'मोहन' श्रीकृष्ण इस प्रकार युद्धसे निवृत्त रहनेकी प्रतिज्ञा किये हुए थे। इस प्रकार पाण्डवोंके दोनों मुखिया शमवादी थे।

धर्मका विजय

शमवादी होनेपर भी उनको युद्ध करना पडा, और इन शमवादियोंकी अनुकूलतामें रहनेसे ही पाण्डवोंको अन्तमें विजय प्राप्त हुआ। 'विजय' 'धर्म' का भाई और परमेश्वरका सखा तथा भक्त ही हुआ करता है। विजय कभी अधर्मका भाई नहीं होता और राक्षसोंका भी मित्र नहीं हो सकता।

सनातन उपदेश

इतने शब्दोंका विचार करनेसे पाठकोंको पता लगा ही

होगा कि 'धर्म, अजातशत्रु, अर्जुन विजय' आदि नाम किसी व्यक्तिके बेशक हों, परन्तु यहां ये नाम एक सनातन बात बतानेके लिये रखे हैं। 'धर्म' के पक्षमें ही 'विजय' होता है, अधर्मके पक्षमें नहीं। 'धर्म' के पक्षमें ही बलवान् भीम होते हैं अन्य पक्षमें नहीं, क्योंकि धर्मसेही बल बढता है और अधर्मसे बल घटता है। 'धर्म' के पक्षकी ही परमेश्वर सहायता करता है और धर्मका पक्ष पाशवी बलमें कम होनेपर भी उसको परमेश्वरका बल प्राप्त होनेके कारण अन्तमें उसीको यश प्राप्त होता है।

'धर्म' के पक्षमें 'न-कुल' (पाणिनी अष्टा० ६।३।७५) अर्थात् कोई लोग कुलवान न भी हुए तो भी वे श्रेष्ठपद प्राप्त करते हैं और वही धर्मका पक्ष 'सह-देव' अर्थात् देवोंकी शक्तिसे युक्त होता है। धर्मके पक्षका यह माहात्म्य है। परमेश्वरके सहायक बननेपर उसकी शक्ति अधिक होगी ही, इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

ये सब शब्द किसी एक कुटुंबके मनुष्योंके वाचक भले ही हों, परन्तु यहां एक सनातन तत्व बतानेके लिये ही विशेष हेतुसे प्रयुक्त किये गये हैं। इन धर्म पक्षवालोंके ये नाम देखिये और साथ साथ दुर्योधन, दुःशासन आदि अंधे धृतराष्ट्रके अनुयायियोंके नाम देखिये। दोनोंके नामोंकी तुलना करनेसे एक पक्ष साम्राज्यशाहीके पाशवी बलका प्रदर्शक और दूसरा पक्ष धर्मानुयायी स्वराज्यवादियोंके आध्यात्मिक बलका प्रदर्शक स्पष्ट प्रतीत होगा। यह भारतीय युद्ध इन दो पक्षोंमें हुआ था। सारे जगत्में ऐसा ही होता आया है। साम्राज्यवादियोंके व्यवहारका कपटसे प्रारंभ होता है, उनकी मध्य स्थिति चिन्तासे परिपूर्ण है और अन्त में उनका पूर्ण नाश होता है। और स्वराज्यवादियोंके धर्म पक्षका प्रारंभ सत्य, धर्म, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, समता, पवित्रता, ईशभक्ति, त्यागवृत्ति आदि सद्गुणोंसे होता है, इनको बीचमें बहुत कष्ट भोगने पडते हैं, परन्तु अन्तमें उनका धवल यश ही सर्वोपरि जगतभरमें फैल जाता है, जो इस समयमें भी सबके मार्गदर्शक होनेका सामर्थ्य रखता है।

धृतराष्ट्र नित्य देखता था कि, हम साम्राज्यवादियोंके अनेकानेक कपट प्रयोग होनेपर भी स्वराज्यका यत्न करनेवाले पाण्डव बच ही जाते हैं और प्रतिवर्ष पाण्डवोंकी शक्ति और संघटना बढती ही जाती है। इसलिये इस युद्ध के प्रारंभमें वह अधीर होकर पूछता है कि, 'युद्धका समाचार क्या है?' इस प्रश्नका सत्य उत्तर तो संजय श्रीमद् भगवद्गीताके अन्तमें देगा कि, 'जहां धर्मका पक्षपाती धनुर्धर अर्जुन है और उसका सहायक भगवान् है वहां ही विजयश्री निश्चयसे रहेगी। (भ० गी १८।७८)' यह तो अन्तिम उत्तर है। परन्तु यह उत्तर श्रवण करनेके लिये संपूर्ण भगवद्गीताका अध्ययन होना चाहिये। इसलिये धृतराष्ट्रका प्रश्न सुनते ही संजयने जो युद्धका वृत्तांत सुनाया, वही पहले यहां देखेंगे।

आध्यात्मिक भाव

ऐतिहासिक दृष्टिसे भगवद्गीताकी भूमिका इससे पूर्व बता दी है और उस भूमिकामें बताया है कि, धर्म, अर्जुन आदि व्यक्तियाँ ऐतिहासिक होनेपर भी जिस ढंगसे यह कथा वर्णन की है, उस ढंगसे उनकी व्यक्ति सत्ताका कोई विशेष महत्त्व नहीं है, परन्तु उनके नामोंमें अलंकार दृष्टिसे जो मुख्य उपदेशतत्त्व बताया है, वह बतानाही कथाका मुख्य उद्देश्य है। यह युद्ध कुटिल योधियों तथा धर्मनिष्ठावालोंके मध्य हुआ और उसमें धर्मानुयायियोंका विजय हुआ। यह तो एक रीतिसे विचार हुआ। इसी युद्धपर दूसरा एक विचार है और वह अध्यात्मविचार है।

अध्यात्मविचार वह होता है कि जो (अधि+आत्मा) आत्माके आश्रयसे रहनेवाले पदार्थोंके संबंधमें होता है। आत्माके आश्रयसे बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार, मन, प्राण, पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय, और शरीर इतने पदार्थ रहते हैं। इनमेंसे प्रत्येकमें सत् और असत्प्रवृत्ति रहती है और इन भली और बुरी वृत्तियोंमें सदा झगडा चलता ही रहता है। हरएक समयमें यह झगडा मानवके अन्तःकरणमें चालू रहता है। इसकी साक्षी प्रत्येक मनुष्य दे सकता है। किसी समय मनुष्यके अन्तःकरणमें ईश्वर भक्तिकी लहर आती है और किसी समय भोग प्रवृत्तीकी लहर प्रबल होती है। दोनों वृत्तियां परस्पर झगडती हैं और दोनों वृत्तियां इस शरीररूपी क्षेत्रपर अपना प्रभुत्व जमाना चाहती हैं। जो वृत्ति दब जाती है वह प्रबल नहीं होती, परन्तु जो वृत्ति दबा देती है वही शरीरपर अधिकार करती है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
(भ० गी० १३।१)

'इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं।' यह कर्म करनेका क्षेत्र है इसलिये इसको 'कर्मक्षेत्र' अथवा 'कुरुक्षेत्र' कहते हैं। यह कुरुक्षेत्र प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें है और उस कुरुक्षेत्रमें भली और बुरी चित्तवृत्तियोंका युद्ध चलता है। इस युद्धका वर्णन भारतीय युद्ध द्वारा बताया है, ऐसा आध्यात्मिक लोगोंका कहना है।

अठारहकी संख्या

महाभारतकी रचना कुछ विशेष उद्देश्यसे की गई है, यह शंका तो ऊपर ऊपरकी दृष्टिसे महाभारतका निरीक्षण करनेवालेके ध्यानमें भी आ सकती है, देखिये-

१ महाभारतके पर्व १८ हैं,
२ भगवद्गीताके अध्याय १८ हैं,
३ भारतीय युद्ध १८ दिन चल रहा था,
४ उसमें सैन्य १८ अक्षौहिणी था,

यह १८ वाली संख्या कुछ विशेष हेतुसे रखी प्रतीत होती है, यज्ञमें १८ ऋत्विज होते हैं। संभव है इसका इस संख्यासे कुछ विशेष संबंध होगा।

"पुरुषो वाव यज्ञः" (छां० उ० ३।१६।१)

पुरुष अर्थात् मनुष्य एक विशेष यज्ञ है। यदि मनुष्य यज्ञ है तो उसमें १८ ऋत्विज होंगे ही। २ आंख, २ कान, २ नाक, १ त्वगिंद्रिय, २ हाथ, २ पांव, १ मूत्रेंद्रिय, १ गुदा, १ मुख, १ वागिंद्रिय, १ मन, १ चित्त, १ अहंकार ये १८ यहांके ऋत्विज हैं। आत्मा यजमान है और बुद्धि यजमानपत्नी है, यह शरीर यज्ञशाला है। यह यज्ञ १०८ वर्ष तक चलना है। इसका पहिला भाग प्रातःकाल २४ वर्षका है, द्वितीय भाग ३६ वर्षका मध्याह्न समय है और तीसरा भाग ४८ वर्षका सायंसमय है। तीनोंका समय मिलकर १०८ वर्षोंका अवधि होता है। मनुष्यका जीवन ही एक बडा भारी यज्ञ है। इस यज्ञमें ये १८ ऋत्विज कार्य कर रहे हैं। इस यज्ञका नाश करनेके लिये बैठे हुए रोग, कुवासनाएं, आलस्य आदि राक्षस हैं। इनका युद्ध इस युद्ध भूमिमें होता है। अर्थात् इस यज्ञमें भी १८ संख्या है।

भगवद्गीता (अ० १ श्लो० ४-६) में जहां पाण्डवोंके विशेष योद्धा गिने हैं, वे भी अठारह ही गिने हैं। देखिये १ भीम, २ अर्जुन, ३ युयुधान (सात्यकि), ४ विराट्, ५ द्रुपद, ६ धृष्टकेतु, ७ चेकितान, ८ काशिराज, ९ पुरुजित, १० कुन्तिभोज, १० शैब्य, ११ युधामन्यु, १२ उत्तमौजा, १३ सौभद्र अभिमन्यु, १४-१८ द्रौपदीके पांच पुत्र ये अठारह ही हैं। इस यज्ञके यजमान धर्मराज और यजमानपत्नी द्रौपदी है। इस यज्ञके विघ्नकर्ता दुर्योधनादिक कौरव हैं। यह सारा वर्णन यदृच्छासे नहीं हुआ है। विशेष हेतुसे यह लिखा है, ऐसा इसके देखनेसे ही पता लगता है।

वंशकी उत्पत्ति

कौरवपाण्डवोंके वंशका वर्णन देखनेसे भी उसमें विशेष हेतु होगा ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता। व्यासदेव (ब्रह्मन्) त्रिविध क्षेत्रमें (सत्व रज तमात्मक प्रकृतिमें) अपने बीजसे त्रिविध संतति उत्पन्न करता है जैसे, तमोगुणात्मक अन्धा धृतराष्ट्र, रजोगुणी पाण्डु और सत्वगुणी विदुर। तमोगुणी अन्धा होता ही है इसमें बडा बल है, रजोगुणी भोगी होता है और भोगसे रोगी होता है, सत्वगुणी ज्ञानी होता है। एक ही आत्मशक्ति त्रिविध प्रकृतिमें जाती है और उससे त्रिविध सृष्टि पैदा होती है। (पृ० १५ पर चित्र देखिये)

श्रीमद्भगवद्गीता (अ० १४ श्लो० ३-१८) में यह विषय कहा है उसका संक्षेपसे भाव यह है- " विशाल प्रकृतिमें मैं गर्भ रखता हूं, सब भूत उत्पन्न होते हैं। मैं (आत्मा) ही सब भूतोंका बीज देनेवाला पिता हूं। इसमें सत्वगुण सुख देनेवाला, रजोगुण वासनाओंको बढानेवाला, और तमोगुण मोह तथा प्रमाद उत्पन्न करनेवाला है। सत्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ और भोग तथा तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अप्रकाश (अंधकार) की उत्पत्ति होती है।" यह गीताका वचन महाभारतमें देखिये- सत्वगुणी विदुर ज्ञानी शुद्ध और पवित्र है। रजोगुणी पाण्डु राज्यका अधिकारी पुरुषार्थी परन्तु भोगी होनेके कारण रोगी (भोगे रोगभयं) होकर अकालमें ही मरता है। तमोगुणी धृतराष्ट्र सब प्रकारसे अन्धा, प्रमादी, मोहयुक्त, मूढ, जो करता है उसमें फंसनेवाला है।

एक बीजसे क्षेत्रप्रकृतिभेदके कारण ये तीन प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। सत्वगुणी विदुर त्याग वृत्तिवाला होनेसे किसी राज्याधिकारमें अपना अधिकार नहीं रखता। त्यागवृत्तीका यही स्वरूप है। इसका किसीसे झगडा भी नहीं है। झगडा तो रज और तममें ही होना है। धृतराष्ट्र अन्धा होनेसे बडा होनेपर भी अनधिकारी हुआ, और पांडु छोटा

ब्रह्म+महद्योनि त्रिगुणात्मक प्रकृति
[मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत
भ० गी० १४।३]
(ब्राह्मण) व्यास+अम्बिका, अंबालिका, — दासी)

[आसुरसर्ग । तम+रज=अन्ध]
धृतराष्ट्र+गान्धारी

विदुर
[धर्मावतार, सत्वगुणी, ज्ञानी]

[दैवसर्ग । सत्व+रज]
कुन्ती + पाण्डु + माद्री

धर्म — धर्मप्रवृत्ति
भीम — बल-निर्भय-वृत्ति
अर्जुन — वीरवृत्ति
नकुल — ज्ञानवृत्ति
सहदेव — देवभक्ति

(दैवी संपत्ति भ० गी० १६।१-३)

दुर्योधन, दुःशासन, इत्यादि सैकडों अधर्मवृत्तियोंकी उत्पत्ति ।
दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य इ० आसुरी संपत्ति
(भ० गी० १६।४-२१)

॥ दैवासुरसंपद्विभागयोगः ।
(भ० गी० अ० १६)

होनेपर भी उसको राज्याधिकार मिला, जैसा कि रजोगुणी मनुष्यको मिलना योग्य है। परंतु भोगी रोगसे मरता है और उस भोगीके क्षेत्रमें भोग प्रवृत्तिसे ही-परंतु धर्मसे मर्यादित होकर-- अन्य बीजोंसे पांच पुत्र उत्पन्न होते हैं। धर्मवृत्ति, बलवृत्ति,वीरवृत्तिवाले बीजोंसे इनही तीन प्रवृत्तियोंके क्रमशः धर्म, भीम और अर्जुन ये तीन संतान एक क्षेत्रमें होते हैं। दूसरे क्षेत्रमें चिकित्सा (ज्ञान) वृत्ती और देववृत्तीवाले बीजसे क्रमशः नकुल और सहदेव ये दो संतान होते हैं। अर्थात् रजोगुणसे धर्म, बल, वीर; चिकित्सा (ज्ञान), और देवभाव ये पांच प्रवृत्तियां प्रकाशित होगई और इस कारण परमेश्वर इनका सहायक हुआ। रजोगुणसे यदि धर्मकी ओर प्रवृत्ति होगई तो उसका अन्तमें भला होगा ही। शुद्ध सत्वगुणी, विदुर जैसा, अपने अंदर ही संतुष्ट (आत्मन्येवात्मना तुष्टः। भ० गी० २।५५) रहेगा, इस कारण उससे जगत् में धर्म कर्मकी प्रवृत्ति नहीं होसकती। इस कार्यके लिये धर्ममें प्रवृत्त रजोगुण चाहिये; जो पूर्वोक्त रूपक में पांडु (शुद्ध, कलंकरहित) द्वारा बताया है। इससे पांच श्रेष्ठ चित्तवृत्तियां धर्म, बल (निर्भयता), वीरभाव, ज्ञान और देवभक्ति येही उत्पन्न होती हैं। बास्तव में मनुष्य का सब कुछ जीवन इन्हींके अधीन रहना चाहिये किंवा सब जगत्पर इन वृत्तियोंका ही राज्य होना चाहिये परंतु ऐसा होना कठीन है।

इन वृत्तियोंमें भी धर्मवृत्ति के अधीन ही बल और वीर ये दोनों भाव होने चाहिये, तथा ज्ञान और भक्ति ये भी भाव धर्मके अधीन ही चाहिये। यदि ऐसा न होगा, और बल (भीम) धर्मकी आज्ञा न मानेगा, वीर (अर्जुन) मनमाना वर्ताव करेगा, ज्ञान (न-कुल) धर्मका रुख छोड देगा और भक्तिभाव (सह-देव) धर्मानुकूल ईश्वर भजनमें लगनेकी अपेक्षा भूतप्रेतपिशाचराक्षसोंकी प्रसन्नता संपादन करनेमें लगेगा, तो ये चारों-बल, वीर, ज्ञान, और भक्तिवृत्तियां मनुष्यको निःसंदेह गिरा देंगी। इसीलिये इनको यहां 'धर्म' वृत्तिकी आज्ञामें रखा है। जब ये धर्मवृत्तिके अनुकूल रहती हैं, तभी इनको ईश्वरकी सहायता मिलती है, नहीं तो नहीं। निःसन्देह मनुष्यके जीवनपर इनका राज्यशासन होना चाहिये और सब जगत्पर इन्हींका अधिराज्य होना चाहिये। परंतु ऐसा कहां होता है?

जब ये वृत्तियां अन्तःकरणमें अंकुरित होने लगती हैं तब से ही दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, लोभ आदि घोर राक्षसी वृत्तियां उनपर हमला करती हैं और उन सद्वृत्तियोंको दबानेका यत्न करती हैं। तमोगुणी धृतराष्ट्की संततिसे इन्हीं आसुरवृत्तियोंको बताया है। धर्मप्रवृत्तियोंको ये आसुरी प्रवृत्तियां छुटपनसे ही दबाती हैं, यह बतानेके लिये पांडवोंको बालपनसे कष्ट प्राप्त होनेका वर्णन है। अन्ततः कपटसे आसुरी वृत्तियां धर्मवृत्तियोंके राज्यमें घुसती हैं वहां अपना आधिकार जमा देती हैं और धर्म वृत्तिको अन्तःकरणके राज्यमें आने नहीं देतीं। धर्मवृत्ति और उसके अनुयायी सद्भावोंको परमेश्वरके आश्रयसे उक्त कारणही युद्ध करना पडता है और जिन्होंने उनको बढाया उन्हीं को मारना पडता है। ज्ञान देनेवाले यहां ज्ञानेन्द्रियां, मन, चित्त, अहंकार, आदि होते हैं, इनसे ज्ञान प्राप्त किया, यह सत्य है; तथापि जब येही असद्वृत्तिके सहायक होने लगते हैं, तब इनका ही दमन और संयम करना पडता है। यहां अहंकार भीष्मपितामह है जो अन्योंके समान एक दो दिनों के प्रयत्नसे नाशको प्राप्त नहीं होता। १८ दिनोंके युद्धमें इसका दमन करनेके लिये १० दिन लगे हैं, तबभी यह मरा नहीं; यह अन्तमें अपनी इच्छासे ही शान्त हुआ। क्यों कि यह समाधि सिद्ध होने तक रहता है, पश्चात् यह स्वयं शान्त होता है। मन द्रोणाचार्य है, यह सबको सिखाता हैं, परंतु इसको भी शान्त करना पडता है। इसी प्रकार अन्यान्य कौरव वीरोंकी अवस्था है। कौरव सैकडो हैं (आशापाशशतैर्बद्धाः। भ० गी० १४ १२) क्यों कि आशा, वासना, काम क्रोधादि के सैकडो प्रभेद इस हृदयमें फैलते हैं। इस प्रकार यह कौरव संसार मनुष्यके हृदयमें होता है।

अध्यात्मभूमिमें यही भारतीय युद्ध मानवी हृदयकी भूमिकापर होता है। इस युद्धमें दंभ दर्प अभिमान क्रोध आदि विकार बडे प्रयत्नसे शान्त किये जाते हैं और परमेश्वरकी कृपासे धर्म प्रवृत्तियोंका राज्य होता है और इन्हींको भूमि और स्वर्गका राज्य मिलता हैं। हरएक मनुष्यके अन्तःकरणमें यह सत् और असत्प्रवृत्तियोंका युद्ध होता है और इसीका वर्णन रूपकालंकारसे महाभारतमें किया है। सारांशसे अध्यात्मवादियोंका यह मत है।

यह मत स्वीकार करनेपर धर्म और दुर्योधन आदि ऐतिहासिक व्यक्तियां थीं, इसका खंडन नहीं होता है। इस

संजय उवाच— दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

(२) पांडवसैन्यवर्णन

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

अन्वयः– संजयः उवाच– तदा तु पाण्डव-अनीकं व्यूढं दृष्ट्वा, दुर्योधनः आचार्यं उपसंगम्य, (इदं) वचनं अब्रवीत् । हे आचार्य ! तव धीमता शिष्येण, द्रुपदपुत्रेण व्यूढां पाण्डुपुत्राणां एतां महतीं चमूं पश्य ॥ ३ ॥

संजय बोले– उस समय पाण्डवोंकी सेनाको व्यूह रचकर सिद्ध हुई देख, राजा दुर्योधन (द्रोण-) आचार्यके पास जाकर कहने लगे ॥ २ ॥ हे द्रोणाचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा जिसकी व्यूहरचना की गई है, ऐसी पाण्डवोंकी इस बडी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥

भावार्थ– शत्रुसेनाका हमला अपनी सेनापर होनेके पूर्वही अपने और शत्रुके सैन्यके बलाबलका विचार करना योग्य है ।

नामके या अन्य नामके कोई नरेश हुए होंगे । परंतु इस ग्रंथके लेखकने उन व्यक्तियोंको सूचक नाम दिये और अपना ग्रंथ रचा है और यह रचना सहेतुक की है; यह बतानेके लिये कौरवादिकोंकी जन्मकी कहानियां इस ग्रंथमें अस्वाभाविक लिखी हैं । इस प्रसंगमें इस विषयपर अब अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

यह भारतीय युद्ध मानवी अन्तःकरणकी भूमि पर हुआ हो अथवा कुरुक्षेत्रमें हुआ हो, मनुष्य जीवनके सुधारके लिये दोनोंका परिणाम एक जैसा ही है । ऐसे युद्धोंमें ' धर्म ' के सत्पक्षका ' विजय ' होता है और स्वार्थसे ' अन्धे ' बने हुए असत्पक्ष का नाश होता है । यह सिद्धान्त मनुष्यको अपने मनमें स्थिर करना चाहिये ।

आशापाशोंसे बंधे हुए मनुष्य अपना नाश देखते हुए भी अपनी जयकी आशा करते ही रहते हैं और इस लिए पूछते हैं कि ' अब यह युद्ध छिडगया है, आगे क्या होगा ?' इस प्रश्नका उत्तर संजय किस प्रकार देते हैं सो देखिये ।

(२) इस प्रथम दिनके युद्धमें कौरवोंकी महासेनाका ' पतत्रि ' नामक व्यूह भीष्मपितामहने रचा और उन्होंने अपने सैनिकोंको संबोधन करके उनका उत्साह बढानेके लिये ऐसा भाषण किया कि–"हे क्षत्रियो ! यह युद्ध रूपी स्वर्गद्वार तुम्हारे लिये खुला कर दिया है, इसमें प्रविष्ट होकर चाहे तुम इन्द्रलोकमें अथवा ब्रह्मलोकमें जाओ । तुम्हारे पूर्वजोंने इसी मार्गका आश्रय किया और उत्तम गति प्राप्त की थी । घरमें बिस्तरेपर आनेवाला मृत्यु क्षत्रियके लिये योग्य नहीं है । रणक्षेत्रपर शस्त्रधाराके तीर्थमें जो मृत्यु आता है वही क्षत्रियको सद्गति देनेवाला होता है ।" (म० भा० भीष्मपर्व० अ० १७) यह पतत्रिव्यूह ऐसा होता है कि इसका आकार पक्षीके समान होता है और जिधर चाहे उधर उसका मुख हो सकता है, इसलिये सब दिशाओंसे यह शत्रुको हमला चढानेके लिये कठिन होता है । इस ढंगसे कौरवसेनाका व्यूह होनेपर धर्मराज अर्जुन से कहने लगे, कि– "हे अर्जुन ! महर्षि बृहस्पतिका कथन है कि सेना थोडी रही तो संघसे हमला करना चाहिये और बडी सेना रही तो फैलाकर हमला करना चाहिये । हमारा सैन्य शत्रुसेनाकी अपेक्षा बहुत कम है अतः सूचीमुखाकार व्यूह रचकर हमें सिद्ध होना चाहिये ।" इस आज्ञाको सुनकर धनुर्धारी अर्जुनने अपनी सेनाका ' वज्र ' संज्ञक व्यूह द्रुपदराजाके पुत्र द्वारा रचा दिया (म० भा० भीष्म० अ० १९) । यह व्यूह नोकदार होनेके कारण शत्रुसेनापर हमला चढानेके लिये अत्यंत योग्य है । इस प्रकार उत्तम व्यूहकी रचना होनेके कारण पाण्डवोंकी सेना थोडी होनेपर भी कौरवोंकी बडी सेनाके लिये भी भारी होगई । अतः धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन किंचित् चिन्तासे व्यग्र होकर द्रोणाचार्य जी से कहने लगे ।

(३-६) इन श्लोकोंमें भीम, अर्जुन, सात्यकी, विराट,

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अन्वयः- अत्र भीमार्जुन-समाः युधि शूराः महेष्वासाः युयुधानः, विराटः च, महारथः द्रुपदः च ॥ ४ ॥ धृष्टकेतुः चेकितानः, वीर्यवान् काशिराजश्चः च, पुरुजित् कुन्तिभोजः, नरपुंगवः शैब्यः च ॥ ५ ॥ विक्रान्तः युधामन्युः च, वीर्यवान् उत्तमौजाः च, सौभद्रः, द्रौपदेयाः च, सर्वे महारथाः एव ॥ ६ ॥

इस सेनामें भीम और अर्जुन जैसे युद्धमें शूर वीर और बडे धनुर्धारी योद्धा युयुधान (सात्यकि), विराट, महारथी द्रुपदराजा,॥ ४ ॥ धृष्टकेतु, चेकितान, पराक्रमी काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य,॥ ५ ॥ विक्रमी युधामन्यु, वीर्यशाली उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु), और द्रौपदीके (पांचों) पुत्र हैं, और ये सभी महारथी हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ- शत्रुसेनामें जो जो प्रधान वीर युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए हों, उनके गुणदोषों और युद्धकौशलोंको ठीक ठीक प्रकार जानना चाहिये और अपने वीरोंसे उनकी तुलना करनी चाहिये ।

द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज कुन्तिभोज, शैब्य, युधामन्यु, उत्तमौजा, अभिमन्यु, और द्रौपदीके पांच पुत्र [धर्मराजसे प्रतिविन्ध्य, भीमसे श्रुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक, और सहदेवसे श्रुतकर्मा] ये अठारह महारथी नामनिर्देशसे कहे गये हैं । महारथी वे कहलाते हैं कि, जो दस हजार धनुर्धारी वीरोंके साथ अकेले ही युद्ध कर सकते हैं । देखिये

एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च विज्ञेयश्च महारथः ॥

महारथीका अधिकार इतना बडा है । शास्त्रों का अध्ययन होना चाहिये, युद्धविद्यामें प्रवीणता संपादन करनी चाहिये और दस हजार धनुर्धारियोंके साथ युद्ध करनेकी शक्ति चाहिये, तब ' महारथी ' यह उपाधि प्राप्त हो सकती है । यह पद तो विशेष कर्तृत्व करनेपर राजासे बहुमान-पूर्वक मिलता है । यहां यह बताना है कि अभिमन्यु और द्रौपदीके पांच वीर पुत्र आयुकी दृष्टिसे छोटे होनेपर अर्थात् उनकी आयु बीस पचीस वर्षोंसे अधिक न होनेपर भी उनकी गिनती महारथियोंमें होने लगी थी । पाण्डवोंके समय की कुमारोंकी पढाई कैसी होती थी, इसकी कल्पना इससे हो सकती है । इतना सामर्थ्य कुमारोंमें होता था, इसी लिये उस समयकी आर्य जाति जीवित थी और विजयी थी ।

यह तो कुमारोंकी अवस्था है; भीम, अर्जुन तो सत्तर वर्षकी अवस्थामें पहुंच चुके थे, विराट् और द्रुपद तो उनसे भी बहुतही वृद्ध थे । इतनी बडी आयु होनेपर भी ये वीर तरुणोंके समान लडनेका सामर्थ्य रखते थे । सत्तर और अस्सी वर्षका वीर हाथमें तलवार, गदा अथवा धनुष्यबाण लेकर युद्धभूमिमें अपने स्वराज्य स्थापन करनेके युद्धमें लडता है, यह दृश्य जीवित राष्ट्रमें ही हो सकता है । पराधीनतामें आयु क्षीण होती है और मन भी निरुत्साह पूर्ण होता है । स्वराज्य न होनेसे ये हानियाँ हैं और स्वराज्य होनेपर कुमारों और वृद्धोंका भी महारथी होना संभव है ।

(म० भा० उद्योग० अ० १६४-१७१ में) दोनों ओर-की सेनाके रथी, महारथी और अतिरथियोंका वर्णन है । उद्यो० अध्याय १६९ में भीम और अर्जुनका वर्णन है । अ० १७० में अभिमन्यु तथा द्रौपदीके पांचों पुत्रोंका वर्णन है । इसीमें उत्तमौजा, सात्यकी और युधामन्युका वर्णन है । अ० १७१ में शिशुपालपुत्र चेदिराज धृष्टकेतु का वर्णन है ।

(३) कौरवसैन्यवर्णन

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्वयः-हे द्विजोत्तम ! अस्माकं तु ये विशिष्टाः, मम सैन्यस्य नायकाः, तान् निबोध। ते संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ॥ ७ ॥ भवान्, भीष्मः च, कर्णः च, समितिंजयः कृपः च, अश्वत्थामा, विकर्णः च, तथा एव च सौमदत्तिः ॥ ८ ॥ अन्ये च बहवः शूराः सर्वे मदर्थे त्यक्तजीविताः, नानाशस्त्रप्रहरणाः, युद्धविशारदाः (सन्ति) ॥ ९ ॥

हे द्विजोंमें श्रेष्ठ (द्रोणाचार्य) ! अब हमारे पक्षके जो जो प्रमुख वीर, मेरी सेनाके नायक हैं, उनके नाम सुनिये। आपको केवल सूचना देनेके लिये उन के नाम कहता हूं ॥ ७ ॥ आप स्वयं, भीष्म, कर्ण, रणविजयी कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण, तथा सोमदत्त के पुत्र (भूरिश्रवा) ॥ ८ ॥ और भी बहुतसे शूर वीर, सबके सब मेरे लिये अपना जीवन समर्पण करनेको तैयार, नाना प्रकार के शस्त्र चलानेमें निपुण और युद्धमें प्रवीण हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ-अपने सेनापति और सेनानायक किस योग्यताके हैं और वे किस किस विषयमें प्रवीण हैं, और उनमें कौन वीर दिलसे लडनेवाले हैं यह बात ठीक ठीक प्रकार राजाको जाननी चाहिये ॥ ७-९ ॥

(अ० १६९-१७१) इन अध्यायोंमें पाण्डवोंके वीरोंका वर्णन देखने योग्य है। ' पुरुजित् कुन्तिभोज, एक ही वीरका नाम है। वृष्णिवीरोंमेंसे प्रसिद्ध योद्धा सात्यकी था। युद्धामन्यु और उत्तमौजा पांचालय वीर थे और चेकितान यादव कुलोत्पन्न था। शिबिदेशके राजा शैब्य थे। इस प्रकार पाण्डव वीरोंका वर्णन दुर्योधनने किया है। अब वह अपने पक्षके वीरोंका वर्णन करता है-

(७-९) यहां दुर्योधन अपनी सेनाके मुख्य नायकोंका वर्णन कर रहा है। सबसे मुख्य द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह ये वयोवृद्ध और अनुभवी गिने गये हैं। अठारह दिनोंके युद्धमें भीष्मपितामह १७० वर्षके वृद्ध होनेपर भी पूरे दस दिन घोर युद्ध करते रहे, द्रोणाचार्य करीब ९० वर्षके होनेपर भी उसके बाद पांच दिन युद्ध निभानेमें समर्थ हुए। ये ऐसे बडे वीर थे। इनके पश्चात् कर्ण, कृपाचार्य, भूरिश्रवा (सौमदत्ति), अश्वत्थामा, विकर्ण आदि गिने हैं। युद्धमें इनके काम भी इसी क्रमसे हुए हैं। इन सब वीरोंके महा प्रबल होनेपर भी दुर्योधनका पूर्ण विश्वास कर्ण पर ही था। इस लिये उनके वर्णनमें (समितिंजय) 'युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाला ' यह विशेषण उनके और कृपाचार्यके लिये प्रयुक्त किया गया है। और (अन्ये मदर्थे त्यक्तजीविताः) ' दूसरे वीर मेरे लिये अपना जीवन देनेको भी तैयार हैं। ' ऐसा कहा है। दुर्योधन द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह से बातचीत कर रहा है, ऐसे प्रसंगमें ' दूसरे शूर वीर मेरे विजयके लिये अपना जीवनतक देनेको तैयार हैं ' ऐसा कहनेका तात्पर्य यही दीखता है, कि " आप भीष्मद्रोण विशेष योग्यता रखनेवाले वीर हैं यह सच है, परंतु आपका मन पाण्डवोंकी ओर होनेसे, मेरे कार्यके लिये जैसा दिलसे युद्ध करना चाहिये वैसा आपसे होना कठिन है" यह उनको बतलाना। दुर्योधनका पूर्ण विश्वास कर्णपर था, तथापि वह ऐसी बिकट परिस्थितिमें था कि, वह खुले मुखसे भीष्म द्रोणको युद्धभूमिसे हटा नहीं सकता था। अतः पहिले दिनके महायुद्धका कार्य उन्होंने भीष्म पितामहके ऊपर सौंप दिया। इसका तात्पर्य यह था कि, यदि तरुण अर्जुनके साथ युद्ध करनेमें बूढे पितामहकी समाप्ति हुई, तो दूसरे

*

(४) दोनों सेनाओंकी तुलना

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अन्वयः– अस्माकं भीष्माभिरक्षितं तत् बलं अपर्याप्तम्, एतेषां तु भीमाभिरक्षितं इदं बलं पर्याप्तं (अस्ति) ॥ १० ॥

भीष्मद्वारा रक्षित हुआ हमारा सैन्य अपर्याप्त है, परंतु भीमद्वारा रक्षित हुआ उनका सैन्य पर्याप्त है ॥ १० ॥

भावार्थ– युद्ध चलानेवाले राजाको उचित है कि, वह सब साधनों और अवस्थाओंका विचार करके अपनी सेनाके और पराई सेनाके बलाबलका विचार करे, और निश्चय करे कि, किसका बल पर्याप्त है और किसका नहीं है; और यदि अपना पक्ष अपूर्ण प्रतीत हुआ, तो उसकी पूर्णता करनेका यत्न करे ॥ १० ॥

वृद्ध द्रोणाचार्यको आगे करेंगे, और उनकी समाप्ति पर मेरा कार्य उत्तम प्रकार सिद्ध करनेवाले कर्णको सेनापति का अधिकार देंगे । पश्चात् उस कर्णके युद्ध कौशलसे अपना विजय तो निःसंदेह सिद्धही होगा । प्रारंभमें नया उत्साह होता है, इसलिए ये दोनों बूढे शत्रुके द्वारा शीघ्रही समाप्त किये जायेंगे । पश्चात् अपने कार्यके लिये जीवन तक देनेवाले कर्ण जैसे वीर आवेंगे, तो अपना कार्य निःसंदेह यशस्वी होगा । यह अन्तर्यामीका भाव दुर्योधनके इस वर्णनमें दिखाई देता है । यदि भीष्मद्रोणोंपर कुछ संदेहसा उनके मनमें न होता, तो ‘ अन्य वीर मेरे लिए जीवन देनेको तैयार हैं, ’ ऐसे शब्दोंसे वह अन्योंका सन्मान इनके सम्मुख न करता; उनके स्थानपर भीष्मद्रोणोंका ही सन्मान करता। ‘ जिस प्रकार अन्य वीर मेरे कारण अपना जीवन देनेको तैयार हैं वैसे तुम दोनों नहीं, तुम्हारा मन शत्रुओंके हितमें तत्पर है । ’ इस प्रकार स्पष्ट बोलनेकी अवस्थामें दुर्योधन उस समय नहीं था । क्योंकि युद्ध उपस्थित हुआ है, ऐसे समयमें मुख्य राजाको योग्य ही नहीं कि, वह किसी प्रकार भी अपने वीरोंको निरुत्साह करे । परन्तु दुर्योधन भीष्म-द्रोणके विषयमें अपने मनमें जलता था और बाहरसे मनका भाव प्रकट करनेमें असमर्थ था; इसलिए उक्त प्रकारका वाक्य उसने कहा, और अपने अन्दरका भाव संदिग्ध रीतिसे कुछ अंशमें व्यक्त किया ।

युद्ध कलाका एक नियम है कि, विजय चाहनेवाले राजा अपनी सेनाके दो तीन विभाग करें और एक विभाग युद्ध-भूमिपर कार्यमें लगावे और दूसरा पीछे बचाकर रखे । जब अपनी आगे की सेना थक जावे, तब उसको विश्राम दिया जावे और बचाकर रखी हुई सेना आगे लायी जावे । इस प्रकार नये उत्साहवाली सेना आगे आनेसे जयकी आशा विशेष होती है । दुर्योधनने भीष्मद्रोणको युद्धमें आगे रखा था, और कर्णको बचावकी सेनाविभाग (Reserve force) में रखा था । दुर्योधनकी कल्पनासे भीष्मद्रोणके कार्यके पश्चात् कर्णका युद्धकार्य विशेष होगा । परन्तु अन्तमें उलटा बन गया, यह बात और है । दुर्योधन इस हेतुसे दोनों ओरकी सेनाओंकी तुलना करता है, वह उसका भाषण अब देखिए–

(१०) इस श्लोकमें दोनों सेनाओंकी तुलना दुर्योधनने की है । यह तुलना करनेके समय उसने अपने सैन्यके लिए ‘ अपर्याप्त ’ कहा है और पांडवोंकी सेनाको ‘ पर्याप्त ’ कहा है। इसका ठीक ठीक अर्थ समझमें आनेके लिए श्लोक ७ से ९ तककी टिप्पणी पाठक देखें । ‘ पर्याप्त और अप-र्याप्त ’ शब्दके संस्कृत भाषामें दो परस्पर विरोधी अर्थ होते हैं । पर्याप्त ’ = (१) पूर्ण, बस, काफी; (२) [परितः आप्त] चारों ओरसे घेरने योग्य अर्थात् छोटी । ‘ अ–पर्याप्त ’ ’ = (१) अपूर्ण, बस नहीं, काफी नहीं, अल्प; (२) [न परितः आप्तुं शक्या] घेरी जानेके लिए अशक्य अर्थात् बडी । ये दोनों अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं । अतः यहां कौनसा अर्थ अपेक्षित है यह विवाद टीकाकारोंमें बहुत दिनोंसे चला आरहा है । उद्योगपर्व अ० ५४ श्लो० ६०–७० में दुर्योधन कहता है कि–

‘ मेरी सेना बडी और गुणवान् है, इसलिए मेरा विजय होगा ।’ इस कथनका विचार करनेसे पता लगता है कि, युद्धके पूर्व दुर्योधनका यह विश्वास था कि, अपनी सेना

विशाल है, और सेनापति अच्छे योद्धा हैं, इसलिए जीत अपनी होगी। दूसरी बात यह है कि, कोई राजा युद्धके प्रारंभमें अपनी सेनाको अपूर्ण अपर्याप्त और अल्प कहकर निरुत्साहित नहीं करेगा। 'अपनी सेना थोडी होने पर भी हमारा बल बडा है, विजय अपनी होगी,' ऐसाही कहेगा।

यह सब ठीक है। इस दृष्टीसे इस श्लोकका अर्थ यह होगा कि- 'हमारी सेना भीष्मके द्वारा रक्षित है और बडी होनेके कारण घेरी जाने योग्य नहीं है, परन्तु पांडवों की भीमके द्वारा रक्षित सेना थोडी है अतः घेरी जाने योग्य है,' अर्थात् हमारी सेना पांडवोंकी सेनाको घेर लेगी और उनका पराजय करेगी, अतः युद्धके अन्तमें विजय हमारी होगी।

वस्तुतः कौरवसेना ११ अक्षौहिणी और पाण्डवोंकी ७ अक्षौहिणी थी। अतः पाण्डवोंकी छोटी और कौरवोंकी बडी होनेमें किसीको संदेह ही नहीं हो सकता।

ग्यारह अक्षौहिणी सेना सात अक्षौहिणी सेनाको घेर सकती है, इसमें क्या संदेह हो सकता है? दुर्योधन का विश्वास पहिलेसे इसी प्रकार था। परन्तु हस्तिनापुरमें जो जो विविध घटनाएं हुई और भीष्मद्रोण आदि प्रमुख वीरोंके जो निज मत अनेक सभाओंके भाषणोंमें प्रकट हुए, उनसे दुर्योधनका करीब करीब यह निश्चय बनता गया कि, युद्धके समय भीष्मद्रोण अपने पूरे बलसे लडेंगे नहीं। इसी प्रकार अन्तिम संधिसभाके प्रसंगमें जब दुर्योधनने श्रीकृष्ण भगवान् को पकडनेकी अनुचित आज्ञा की, उस समय उस सभामें उपस्थित हुए पुरुषोंमेंसे बहुतसे सदस्य पाण्डवोंके और श्रीकृष्ण भगवान्के, अनुकूल होनेकी बात दुर्योधनने प्रत्यक्ष देखी थी। (म० भा० उ० अ० १३१) इस प्रकारकी घटनाओंको प्रत्यक्ष देखनेसे दुर्योधनके मनमें यह बात करीब करीब आचुकी थी कि हमारा बल अधिक होनेपर भी वह सबका सब हमारे काममें नहीं आवेगा। सेनासंचालक भीष्म और द्रोण यदि पूरे बलसे न लडें, तो शेष सेना डेढगुणी या दोगुणी होनेपर भी क्या लाभ हो सकता है? इसीलिए श्लो० ३ में पाण्डवसेनाको 'महती चमू' कहा है। वस्तुतः वह छोटी थी, परन्तु आन्तरिक उत्साहसे बडी थी।

इस बातका प्रमाण देखनेके लिए बहुत दूर जानेकी जरूरत नहीं है। इसी स्थानपर पाठक देख सकते हैं। (इसी प्रथम अध्यायके श्लोक २ से ११ श्लोक तक) राजा दुर्योधनका भाषण द्रोणाचार्यकोही उद्देश करके हुआ है। राजा प्रत्यक्ष आता है और अपनी तथा परायी सेनाके विषयमें कुछ कहता है, कुछ अपमानके शब्द भी सुनाता है; तथापि द्रोणाचार्य एक भी शब्द नहीं बोलते हैं!!! यह देखकर (अ० १ श्लो० १२ से) भीष्म पितामहने सिंहनाद किया और शंख बजाया, परन्तु ये भी कुछ अनुकूल अथवा प्रतिकूल बोले नहीं। सम्राट्के इतना कहनेपर भी ये दो प्रमुख सेनानायक एक शब्द भी बोलते नहीं और मूकके समान चुप रहते हैं, इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि, इनकी आन्तरिक प्रतिकूलता सम्राट् की राजनीतिके साथ है। सम्राट् बोलता है, सेनापति उत्तर तक नहीं देते और चुप रहते हैं, यह देखकर सम्राट्के अन्तःकरणमें इनसे होनेवाले युद्धके विषयमें पूर्ण निराशा हुई होगी और इस निराशाको प्रकट करनेके लिए उसने यह कहा होगा कि,- 'हमारी सेना डेढगुणी बडी होनेपर भी भीष्म (और द्रोण) के आधिपत्यमें रहनेके कारण छोटी होनेके समानही बनी है, और पाण्डवोंकी सेना (वस्तुतः छोटी होनेपर भी) जोशीले भीमके नेतृत्वके अन्दर होनेके कारण बडी (होनेके समान प्रभावशाली बनी) है।'

सेना संख्यामें छोटी हो या बडी हो, सेनापतिके उत्साहसे कार्य करनेके कारण वह प्रभावशाली बनती है और सेनाचालक निरुत्साह हुआ, तो वही सेना पराभूत होती है। यही बात कौरवोंकी छावनीमें हो गई थी। दुर्योधन की नीतिसे भीष्मद्रोण सर्वथा असंतुष्ट थे, और अन्तःकरणसे पाण्डवोंका हित चाहते थे, तथा युद्ध करके पांडवोंका नाश करनेके सर्वथा विरुद्ध थे। यदि इनका मत कर्णके समान पांडवोंके विरुद्ध होता, तो दुर्योधनकी जीत होती। यह अवस्था दुर्योधन ठीक ठीक जानता था, परंतु भीष्मद्रोणोंको युद्धभूमिसे हटा देना भी योग्य नहीं समझता था। इसके मनका यह खेद इस श्लोकमें व्यक्त हुआ है। और यह दर्शानेके लिये द्रोण से कहता है कि- 'हमारी सेना भीष्म के आधिपत्य के कारण अपूर्ण है और पांडवोंकी सेना भीमके आधिपत्यके कारण पूर्ण है।'

परंतु खुले शब्दोंसे सेनापतिका अपमान करनाभी योग्य नहीं है, अतः यह अन्तःकरणकी जलती हुई बात उसने

(५) दुर्योधनकी आज्ञा

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अन्वयः– भवन्तः सर्वे एव हि सर्वेषु च अयनेषु यथाभागं अवस्थिताः भीष्मं एव अभिरक्षन्तु ॥ ११ ॥

(अब) आप सब (वीर) मिलकर सब अयनों अर्थात् सेनाव्यूहोंके द्वारोंमें अपने अपने स्थानोंमें दृढ रहकर भीष्मकी ही सब ओरसे रक्षा कीजिये ॥ १ ॥

भावार्थ – युद्धके समय सैनिकोंका कर्तव्य है कि वे अपमें अपने स्थानोंमें रहें, डरकर पीछे न भागें, और सेनापतिद्वारा कहा हुआ कर्तव्य दक्षतासे सिद्ध करनेमें तत्पर रहें, और सब मिल कर सेनापति और सेनानायकोंकी रक्षा करें, और अपने पक्षकी जीत करनेके लिये अपने पराक्रमकी पराकाष्टा करें।

ऐसे शब्दोंद्वारा कही कि, द्रोणके क्रोधित होनेपर इसी वाक्य का दूसरा सरल अर्थ करके बताया जावे, और अपमान करनेके हेतुसे यह वाक्य उच्चारा नहीं गया, ऐसा बताया जावे। जिस प्रकारकी मनोभूमिका में दुर्योधन था; उस अवस्थामें दो प्रकारके अर्थ बोध करनेवाला वाक्य उच्चारा जाना ही सहज प्रतीत होता है। इसी प्रकारका श्लोक भीष्मपर्व (अ० ५१।४–६) में भी है और वहां भी यही अर्थ अपेक्षित समझना योग्य है।

यहांके १० वे श्लोकमें कहा है कि कौरवसेना के अधिपति भीष्म हैं और पांडवसेनाके भीम हैं। वस्तुतः पांडवोंके सैन्यके अधिपति धृष्टद्युम्न थे। मुख्य सेनापति धृष्टद्युम्न थे यह बात सत्य है, परंतु प्रथम दिनके वज्रसंज्ञक व्यूहकी रक्षा करनेके लिये विशेष कुशलताके कारण इस स्थानपर भीमको रखा गया था। इसलिये " पांडवोंकी सेनाकी रक्षा भीम कर रहा है " ऐसा दुर्योधनने यहां कहा; क्योंकि यह बात उसको वहां सामने प्रत्यक्ष दीख रही थी। प्रत्यक्षकी बात देख कर ही दुर्योधन भीमको पांडवोंका सेनारक्षक मानता है और वैसाही कहता है। इसी प्रकार (म०भा० भीष्म० अ० २१। १ में) पाण्डवोंकी सेनाको 'भीमनेत्र' अर्थात् भीमद्वारा चलाई जानेवाली, और कौरवसैन्यको भीष्मनेत्र ' अर्थात् भीष्मद्वारा प्रेरित होनेवाली कहा है। अतः गीताके इस श्लोकमें कहा हुआ वर्णन पूर्वापर इतिहाससे संगत है।

कई लोग कहते हैं कि यदि भीष्मद्रोण विरुद्ध थे तो उनको उचित था कि, वे कौरवोंके पक्षको छोडकर पांडवोंके पक्षमें संमिलित होते। परंतु बडे लोगोंको ऐसा करना योग्य नहीं होता। यदि इस समय वे भीष्म द्रोण कौरवपक्षको छोड देते, तो सर्व जनता कहती कि 'ये बूढे डर गये '। किसी आर्य संतानके अन्तकरणमें युद्ध और मृत्युको डरने और उस डरके कारण अपना स्थान छोडनेका विचार–तक नहीं आना चाहिये, यह शिक्षा भावी संतानको देनेके लिये उनको अपना पक्ष छोडना उचित न था। दूसरी बात यह है कि भीष्मकी प्रतिज्ञा थी कि, सत्यवतीके संतानोंके वंशकी मैं रक्षा करूंगा। महापुरुषोंको प्रतिज्ञाभंग करना कदापि उचित नहीं होता है। तीसरी बात यह है कि, जिस पक्षमें कार्य किया उसी पक्षमें मरना ठीक है, मरनेका समय उपस्थित होनेपर दूसरे पक्षमें जाना सर्वथा अयोग्य है। भीष्मद्रोण तो जानते ही थे कि, इस युद्धमें अपने पक्षका पराजय होगा और हम मारे जायेंगे। यह जानते हुए भी वे युद्धभूमिमें खडे रहे। यही उनका कर्तव्य था अतः यह कोई न कहे कि वे पांडवोंके पक्षको मिल जाते तो अधिक योग्य होता। वे वैसा करते तो आर्य जातीके लिये बहुत बुरा उदाहरण हो जाता। जो भीष्मद्रोणोंने किया वही उनके लिये उस समय करना अत्यंत योग्य था। उनके आचरणोंको देख कर ही हम लोग अपने कर्तव्योंको समझ सकते हैं। अस्तु। इस भाषणके पश्चात् दुर्योधन अपने सैनिकोंको जो आज्ञा देता है वह देखिये—

(११) श्लोक ३ से १० तक राजा दुर्योधनका वक्तव्य द्रोणाचार्यको संबोधन करके हुआ है। इसको सुनकर भी द्रोणाचार्य चुप रहे और कुछ भी बोले नहीं ! यह आश्चर्य की बात देखकर राजा दुर्योधन कुछ देर स्तब्ध हुए। तब भी आचार्यजीसे कुछ उत्तर नहीं आया ! संभव है कि, राजा

(६) शंखनाद

संजय उवाच— तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

अन्वयः— तस्य हर्षं संजयन्, प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहः, उच्चैः सिंहनादं विनद्य शङ्खं दध्मौ ॥ १२ ॥ ततः शङ्खाः च भेर्यः च पणवानकगोमुखाः सहसा एव अभ्यहन्यन्त । सः शब्दः तुमुलः अभवत् ॥ १३ ॥

संजय बोले- (दुर्योधनके मनको) हर्षित करनेके लिये प्रतापी, कौरवोंमें अति वृद्ध, (भीष्म) पितामहने ऊँचे स्वरसे सिंहनाद करते हुए अपना शंख बजाया ॥ १२ ॥ इसके पश्चात् अनेक शंख, नौबतें, डंके मृदंग और गोमुख नामक बाजे एकदम बजने लगे । वह ध्वनि बहुत ही प्रचंड हुआ ॥ १३ ॥

दुर्योधनने आचार्यजीके चुप रहनेका कारण मनही मनमें समझा होगा । द्रोणाचार्य पांडवोंके विनाशके लिये चलाये इस युद्धसे सर्वथा प्रातिकूल थे । इसलिये उनसे उत्तर की प्रतीक्षा करना व्यर्थ है, और अधिक छेडनेपर कदाचित् यहां ही युद्धभूमिमें खडे होकर कुछ प्रतिकूल बातें सुनायेंगे। इस कारण इस समय द्रोणाचार्यजीको छेडना अच्छा नहीं है, ऐसा जानकर वे चुप होगये ।

इस श्लोकमें दुर्योधनने कहा है कि ' सब सैनिक भीष्मकी रक्षा करें । ' वस्तुतः भीष्म महाप्रतापी योद्धा थे, और उनको किसीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं थी । तथापि उनको एक डर था, वह यह कि उनकी प्रतिज्ञा थी कि ' शिखंडी पर शस्त्र न चलाऊंगा ।' क्यों कि शिखण्डी पुरुष न था, किसी उपायसे स्त्रीसे पुरुष बन गया था । भीष्मपितामह वीर थे और वीरसे लडनेके लिये सिद्ध थे। शिखण्डीभी महारथी था, परंतु स्त्री रूपमें उत्पन्न होनेके कारण उसपर शस्त्र चलानेके लिये वे तैयार न थे। अतः यदि पांडवोंने शिखंडीको सामने खडा किया, तो भीष्म उसपर शस्त्र न चलावेंगे और व्यर्थ मारे जायेंगे । यह दुर्योधन जानता था । इस उद्देश्यसे सब सैनिकों और सेनाध्यक्षोंको संबोधन करके राजा दुर्योधनने ऐसा भाषण किया कि " हे सैनिको ! तुम्हारे अधीन जो जो पथक हैं, उसको सज्ज करो, अपने सेनाविभागके आगे सेनापति खडे रहें, सब सावधान होकर अपने स्थानमें दक्षतासे रहें, हरएक अपने अपने अध्यक्षकी आज्ञा पालन करे, कोई वीर अपने स्थानसे पीछे न भाग जावे, हरएक अपने स्थानमें रहते हुए उत्तम प्रकार लडे, तथा आप सब मिल कर भीष्मपितामहकी ही रक्षा करें, क्योंकि इस युद्धको चलाने का संपूर्ण भार उनहीपर रखा है । " इस प्रकार सब सैनिकों, सेनानायकों और सेनापतियोंको उपदेश करनेके बादभी द्रोणाचार्यको चुप खडे रहे देख कर दुर्योधन भीष्मपितामहकी ओर देखने लगे । भीष्मपितामहभी कुछ बोले नहीं, परंतु उन्होंने गर्जना करके अपना शंख बजाया, उसका वृत्तांत आगे देखिये-

(१२) यहां संजयने कहा है कि, ' भीष्मपितामहने सिंहनाद किया और शंख फूंका, वह दुर्योधनको हर्षित करनेके लिए था । ' परन्तु सत्य रीतिसे देखा जाय, तो भीष्मपितामह भी इस प्रकारके युद्धके विरुद्ध थे । और यदि उनके मनमें दुर्योधनको हर्ष देना सचमुच होता, तो वे इस समय कुछ तो कह देते । कुछ भी न बोलते हुए केवल सिंहनाद करते हैं और शंख बजाते हैं, इससे यहां भीष्मपितामहके मनमें क्या था, इस विषयमें प्रबल शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है । पाठक इसका विचार करें । समय समयपर भीष्म पितामहकी जो वक्तृताएं हुई हैं, वे भी दुर्योधनकी नीतिके विरुद्ध हैं। द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह राज्य शासनके अधिकारी होनेके कारण राजाज्ञा होनेपर आज्ञाका पालन करते हुए वे अपने सेनापतिके स्थानपर खडे हुए, यह नियमपालनकी दृष्टिसे बडा योग्य है । परन्तु वे मनसे दुर्योधनको हर्ष देनेके लिये सेनापतिका कार्य करते थे, ऐसी बात नहीं थी । समयके अनुसार कर्तव्य करना एक बात है,

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

अन्वयः— ततः श्वेतैः हयैः युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ माधवः पाण्डवः च दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥ हृषीकेशः पाञ्चजन्यं, धनंजयः देवदत्तं, भीमकर्मा वृकोदरः पौण्ड्रं महाशङ्खं दध्मौ ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयं, नकुलः सहदेवः च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥ परमेष्वासः काश्यः, महारथः शिखण्डी च, धृष्टद्युम्नः, विराटः च, अपराजितः सात्यकिः च ॥ १७ ॥ द्रुपदः, द्रौपदेयाः च, महाबाहुः सौभद्रः च, हे पृथिवीपते ! पृथक् पृथक् शङ्खान्, दध्मुः ॥ १८ ॥

इसके पश्चात् सफेद घोडोंवाले बडे रथमें विराजमान हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी अपने दिव्य शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥ श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य नामक शङ्ख, अर्जुनने देवदत्त शङ्ख, और भयानक कर्म करनेवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महान् शङ्ख बजाया ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक महान् शङ्ख, और नकुलने सुघोष तथा सहदेवने मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥ बडे धनुष्य-धारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, कभी पराजित न हुए सात्यकी, राजा द्रुपद, द्रौपदीके सब पुत्र, सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु आदि सबोंने अपने अपने शङ्ख बजाये ॥ १७-१८ ॥

भावार्थ- युद्धके समय रणवाद्य बजाकर अपने सैनिकोंको उत्साहित करना चाहिये ।

और दिलसे उस नीतिके साथ सहानुभूति रखना दूसरी बात है। द्रोण और भीष्म केवल कर्तव्य करते थे। दुर्योधनकी नीति उनको पसंद न थी।

(१३) भीष्म पितामहका सिंहनाद और शंखनाद सुनते ही कौरवोंकी सेनामें रणवाद्योंका प्रचंड घोष हुआ। शंखनाद और रणवाद्योंका नाद युद्धके उत्साहका सूचक है। रणवाद्योंका शब्द सुनतेही सैनिकोंका भय दूर होता है, युद्धकी उष्णता शरीरमें संचार करती है, और पहिला उत्साह द्विगुणित होता है। कौरवोंकी सेनाने इस प्रकारका रणवाद्योंका घोष करके पाण्डवोंको एक प्रकारसे आह्वान किया कि, 'हम युद्धके लिए तैयार हैं, तुममें युद्धके लिए हमारे सन्मुख आनेका धैर्य है, तो आओ।' पाण्डवोंकी तो पहिले से ही तैयारी थी, कौरवोंके सैन्यके रणवाद्योंका घोष सुनते ही, पाण्डवोंने भी वैसाही उत्तर दिया। इसका विस्तार-पूर्वक वृत्तान्त देखिए-

(१४-१९) पाठक यहां देखें कि भीष्मपितामहके शंखनादका वर्णन कौरवसेनाके वर्णनके प्रसंगमें किया है। उसमें द्रोणाचार्यके भी शंखनादका वर्णन नहीं है; कई बडे कौरव वीरोंने विशेष उत्साहसे शंखनाद किये होते, तो उसका वर्णन अवश्य यहां किया जाता। परन्तु जहां अन्दरका निज उत्साहही नहीं है, जो केवल वेतन लेनेके कारण ही युद्ध-भूमिमें खडे हुए हैं, और जिनमेंसे कई वीर समझते हैं कि, अपना पक्ष अधर्मका है, उनके शंखनाद विशेष वर्णन करने योग्य कदापि नहीं हो सकते। जिनका शंख नाभिस्थानके

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

(७) अर्जुनका सेनानिरीक्षण

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अन्वयः– सः तुमुलः घोषः नभः च पृथिवीं च एव व्यनुनादयन्, धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ॥ १९ ॥ अथ कपिध्वजः पांडवः, धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् दृष्ट्वा, शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते (सति), धनुः उद्यम्य ॥ २० ॥ (हे) महीपते ! तदा हृषीकेशं इदं वाक्यं आह ।—

वह भय उत्पन्न करनेवाला शङ्खनाद आकाश और पृथ्वीमें गूंजने लगा, और उसने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनादिकोंके हृदयोंको फाड डाला ॥ १९ ॥ इसके अनंतर हनुमानकी ध्वजावाले अर्जुनने, कौरवोंको उत्तम व्यवस्थासे खडे देख, शस्त्र चलानेका समय आनेपर धनुष्य उठाया ॥ २० ॥ और, हे राजन् ! श्रीकृष्णसे ऐसा भाषण करने लगे ।

भावार्थ– युद्धका समय उपस्थित होनेपर अपनी पूर्ण तैयारी करके आगे बढना चाहिये ।

जोरसे बजता है उसीका प्रभाव विशेष होताहै । इस प्रकार के शंख तो कौरवोंकी ओरसे बजे ही नहीं !! परन्तु पाण्डवोंकी ओर देखिये, यहां एक एक वीरका नाम ले लेकर उसके शंख बजानेका वर्णन किया है, क्योंकि वैसे ही विशेष बलसे पाण्डवोंके शंख बजे थे । इसका कारण यह है कि पाण्डवों की ओरके सब वीरोंका निश्चय हो चुका था कि, ' या तो हम मर जायेंगे अथवा अपना गया हुआ स्वराज्य अपनी शक्ति और संघटनासे प्राप्त करेंगे । ' तीसरा विचार उनमें नहीं था ।

इस शंखनादका प्रकरणही देखा जावे, तो पता लगता है कि कौरवोंके वीरोंमें वैसा उत्साह नहीं था, जैसा कि पांडवोंके वीरोंमें दिखाई देता था । इसका विचार करके देखा जाय तो १० वे श्लोकका अर्थ 'भीष्मके नेतृत्वमें जो हमारा (कौरवोंका) सैन्य है वह अपूर्ण है, परंतु भीमके नेतृत्वमें जो पांडवोंका सैन्य है वह पूर्ण है । ' ऐसाही प्रतीत होगा । दुर्योधन अपनी सेनाकी अवस्था देखकर ही वैसे आशयका वक्तृत्व कर रहा है । इस श्लोकका अर्थ करनेके समय ये प्रकरण भी देखने आवश्यक हैं ।

इस प्रकार युद्धसूचक शंखनाद होते ही वीर अर्जुन अपनी और परायी सेनाका निरीक्षण करनेके उद्देश्यसे आगे बढते हैं, उसका वर्णन अब देखिये–

(२०) ' धृतराष्ट्रका सैन्य उत्तम रीतिसे खडा और युद्धके लिये सिद्ध हुआ देखकर अर्जुनने अपना धनुष्य चढाया और युद्ध करनेका प्रारंभ करनेके पूर्व भगवान् श्रीकृष्णजीसे निम्नलिखित वाक्य कहा । ' यह इस श्लोकका आशय है ।

इस स्थानपर अर्जुनके लिये ' कपि–ध्वज ' शब्दका प्रयोग किया है । अर्जुनकी ध्वजापर कपि अर्थात् ' बन्दर ' किंवा हनुमानजीका चिह्न था । महाभारतमें कई प्रसंगोंमें सचमुच हनुमानजी अर्जुनके ध्वजदण्डपर बैठे थे, ऐसाही वर्णन है । कई स्थानोंपर तो युद्धके प्रसंगमें हनुमानजीके भूत्कारशब्द करनेका भी वर्णन है । इससे पता लगता है कि, सचमुच हनुमानजी अर्जुनके ध्वजदण्डपर विराजमान थे । परंतु साधारणतः देखा जाय तो रथपर जो ध्वजा होती है, वह कपडेकी होती है और उसपर कुछ चिन्हविशेष होते हैं । इसी प्रकार अर्जुनकी ध्वजापर हनुमानजीका चित्र होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार हरएक वीर की ध्वजापर अलग अलग चिन्ह थे, द्रोणाचार्य की ध्वजापर कमंडलु था,

इसी प्रकार अन्यान्य वीरोंकी ध्वजाओंपर अन्यान्य चिन्ह थे।

'कपि' शब्दका वेदमें अर्थ 'सूर्य' ऐसा भी है। 'क' नाम उदकका पान करनेवाला। सूर्य जलको आकर्षित करता है, इस लिए उसका यह नाम है। यदि यह अर्थ यहां लिया जाय, तो अर्जुनकी ध्वजापर सूर्यचिन्ह था ऐसा भी कहा जा सकता है। अथर्ववेदमें 'एता देवसेनाः सूर्यकेतवः।' (अथर्व० ५।२१।१२) अर्थात् सूर्य चिन्हवाली ध्वजाओंको लेकर ये देवसेनाएं चलती हैं, ऐसा वर्णन है। आर्यवीरोंका सूर्यध्वज होना स्वाभाविक है, परंतु महाभारत या रामायणमें सूर्यचिन्हवाली ध्वजाका वर्णन नहीं है। आर्यवीर अर्जुनकी ध्वजा तो बंदर चिन्हवाली (हनुमानजीके चिन्हवाली) महाभारतमें निश्चित है। इसलिये 'कपि' शब्दके दूसरे कई अर्थ हों, यहां 'हनुमान' यही अर्थ अपेक्षित है, इसमें संदेह नहीं।

अर्जुनकी 'कपिध्वजा' क्या सूचित करती है? उसकी चंचलता सूचित करती है। बंदरकी चंचलता स्पष्ट है। बंदर चंचल है, और वही अर्जुनकी ध्वजा, झंडा अथवा चिन्ह है। अर्जुनकी मानसिक चंचलताका अनुभव अभी थोडी देरमें पाठकोंको हो सकता है। अर्जुनपर पांडवोंके पक्षका पूर्ण विश्वास, अर्जुन युद्ध करेगा तोही इनके पक्षकी जीत होगी, और यदि अर्जुन युद्ध न करेगा तो पांडवोंको स्वराज्य प्राप्तिकी आशा नहीं। ऐसी अवस्था है, यह बात अर्जुन भी जानता था, परंतु स्वभावधर्म दूर होना कठिन है। अर्जुन युद्धकी तैयारीसे रणस्थलपर आगया; शंखनाद होते ही युद्धकी इच्छासे धनुष्य उठाने लगा; अब दोनों सैन्योंके वीरोंका निरीक्षण करनेकी इच्छा कर रहा है, और जब निरीक्षण करेगा, तब मोहित होकर युद्धसे पीछे हटनेका विचार करेगा!!! यह चंचलताकी परम सीमा है!! ऐसे वीरकी 'कपि' ध्वजा होना ही स्वाभाविक है!

स्वराज्यप्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले पक्षमें ऐसे चंचल वीर होना योग्य नहीं है। स्वराज्यके लिये लडनेवाले वीर 'स्थितप्रज्ञ' चाहिये। उनमें चंचलता नहीं चाहिये। चंचल वीर युद्धकी सब तैयारी होनेके पश्चात् ऐन युद्धके समय युद्धभूमिसे हटेंगे और पूरे स्वराज्यपक्षकी हानि होगी। पांडवोंका पक्ष सत्पक्ष था, इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् उनके सहायक थे; अतः उन्होंने सदुपदेशद्वारा अर्जुनकी चंचलता दूर की और उनको 'स्थितप्रज्ञ' बनाया। तत्पश्चात् अर्जुन युद्ध चलानेमें समर्थ हुआ और विजयी बना। मनकी चंचलता दूर करनेके बादही मनुष्य अपना कर्तव्य पालन कर सकता है। अर्जुनकी यह मनोभूमिका उसकी कपिध्वजासे विदित हो सकती है।

इसमें दूसरी भी एक बात है। अर्जुन इन्द्रका पुत्र है। इन्द्र नाम सामान्यतः 'विद्युत्' का अथवा अन्तरिक्षस्थानीय मेघमंडलमें संचार करनेवाली विद्युत्का वाचक प्रसिद्ध है। इसीका एक अंश मनुष्यका मन बना है। अन्य सूर्यादि देवताओंके अंशोंके अन्य इंद्रिय बने हैं। देखिये-

इन्द्र (विद्युत्)	मन
सूर्य	नेत्र
वायु	प्राण
दिशा	कर्ण
अग्नि	वाणी
आप्	रसना

इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके अंशोंसे अन्यान्य इंद्रियां बनी हैं। जैसा विश्वमें इन्द्र सब देवोंका राजा है, इसी प्रकार देहमें मन संपूर्ण इंद्रियों (देहस्थानीय देवतांशों) का राजा है। मनका विजय होनेसे सबकी जीत और मनके पराजयसे सबकी हार होती है। जैसा पांच पांडवोंका विजय अर्जुनपर निर्भर था, उसी प्रकार इंद्रियोंका विजय मनपर निर्भर है। यह समता पाठक विचार करके जान लें। मनके साथ प्राणका संबंध नित्य है। सब योगशास्त्रमें यह बात स्पष्ट कही है। यह प्राणवायुका अंश है।-

वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। ऐ० उ० १

वायु प्राण बनकर नासिकामें रहा। यह प्राण मनका सहचारी है। इस विषयमें योगग्रन्थमें कहा है-

मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः॥
ह० यो० प्र० ११४९

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते॥
ह० यो० प्र० २।४२

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्॥
ह० यो० प्र० २।२

अर्जुन उवाच– सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

अन्वयः– हे अच्युत ! उभयोः सेनयोः मध्ये मे रथं स्थापय ॥ २१ ॥ यावत् अहं योद्धुकामान् अवस्थितान् एतान् निरीक्षे; अस्मिन् रणसमुद्यमे मया कैः सह योद्धव्यं ? ॥ २२ ॥ दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य युद्धे प्रियचिकीर्षवः ये एते अत्र समागताः, तान् योत्स्यमानान् अहं अवेक्षे ॥ २३ ॥

हे श्रीकृष्ण ! दोनों सैन्योंके मध्यमें मेरा रथ खडा करो ॥ २१ ॥ इतने में युद्धकी इच्छासे यहां उपस्थित हुए इन वीरोंको मैं देखता हूं । मुझे इस युद्धमें किनके साथ लडना है ? ॥ २२ ॥ और दुष्टबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छासे जो ये यहां इकट्ठे हुए हैं, उन लडनेवाले वीरोंको मैं देख लूं ॥ २३ ॥

भावार्थ– युद्ध करनेवाले वीरका कर्तव्य है कि, वह अपने सम्मुख विरुद्ध पक्षमें युद्धके लिये उपस्थित हुए वीरोंको अच्छी प्रकार देखे, उनकी योग्यता ठीक प्रकार जाने और तदनुसार उनसे युद्ध करे ॥ २१-२३ ॥

' मारुत अर्थात् वायु स्थिर होनेसे मनुष्य मुक्त होता है । मारुत अर्थात् वायु-प्राण-मध्य संसारी हो गया तो मन स्थिर होता है । प्राण चंचल हुआ तो मन चंचल होता है और प्राणके स्थिर होनेसे मन भी स्थिर हो जाता है । ' इस सब वर्णनसे पता चल सकता है कि, प्राणका और मनका घनिष्ट संबन्ध है । ऊपर बताया है कि, मनुष्यदेहमें इन्द्रका पुत्र मन और वायुका पुत्र प्राण है । कपि, हनुमान, मारुति जो अर्जुनके ध्वजदण्डपर था, वह भी ' वायु-पुत्र ' ही है । कितना साम्य है यह देखिए । यह साम्य योंही नहीं हुआ है, यह विशेष हेतुसे ही है । इस शरीररूपी रथमें मन ' धर्म 'के विजयके लिये प्रयत्न करता है, प्राण उसको सहायता करता है और ये सब ' धर्म ' के कार्यमें लगे रहें तो भगवान् उनकी सहायता करते हैं ।

इन्द्रपुत्र अर्जुन और वायुपुत्र (मारुति) हनुमानके रूपकका यह तत्त्व है । इसीलिए मारुति अर्जुनकी ध्वजापर है । यह सनातन तत्त्व यहां इस रूपकसे दर्शाया है । ऐसा विचार करेंगे तो पाठकोंको वायुपुत्र मारुतिका और इन्द्रपुत्र अर्जुनका प्रत्यक्ष दर्शन हो सकेगा, और भगवान्के द्वारा चलाये जानेवाले रथपर ये दो कैसे खडे हैं इसका ज्ञान होगा । अस्तु ।

अपना अर्जुन अब क्या कह रहा है, देखिए–

(२१-२३) यहां अर्जुन भगवान् अच्युत श्रीकृष्णसे कहता है कि ' मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खडा करो, ताकि मैं इन सब वीरोंको देखलूं । ' यहां भगवान् श्रीकृष्णका नाम ' अच्युत ' आया है । इसका अर्थ ' जो कभी पतित नहीं होता, जो अपने स्थानपर दृढ रहता है, जो स्वयं ध्रुव है, जो कभी गिरता नहीं, जो स्थिर रहता है, जो चंचल नहीं है, जो अविनाशी और सनातन है, सदा एकसा रहनेवाला है और जो दबता नहीं । ' अर्जुन चंचल है, उसका निश्चय स्थिर नहीं रहता; किन्तु उसका निश्चय डाँवाँडोल होनेपर भी उसका सहायक मित्र ध्रुव, दृढ, स्थिर है । अर्जुनका विश्वास इस सनातन मित्रपर दृढ है, इसी लिए अर्जुन इस युद्धसे पार हुआ, विजयी हुआ, और धर्मका राज्य जगत्में स्थापन करनेके यशका भागी बना ।

नर और नारायण एकही रथपर खडे हैं । नर प्रयत्न करता है और नारायण उसकी सहायता करता है । जो नर–पुरुषार्थी मनुष्य–नारायणको अपना सच्चा मित्र मानता और उसपर दृढ विश्वास रखता है, उसका बेडा पार होता है । हरएक नर युद्धभूमिमें खडा है, इसलिये नारायणपर विश्वास रखना हरएकके लिये लाभकारी है ।

❀

संजय उवाच- एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥

अन्वयः- संजयः उवाच- हे भारत ! एवं गुडाकेशेन उक्तः हृषीकेशः, उभयोः सेनयोः मध्ये, भीष्मद्रोण-प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षितां (प्रमुखतः) रथोत्तमं स्थापयित्वा, 'पार्थ ! एतान् समवेतान् कुरून् पश्य,' इति उवाच ॥ २४-२५ ॥

संजय बोले— हे भरतकुलोत्पन्न धृतराष्ट्र ! जब अर्जुनने श्रीकृष्णसे ऐसा वचन कहा; तब उन्होंने, भीष्म और द्रोणके सामने तथा सब राजाओंके अग्रभागमें उत्तम रथको खडा करके कहा कि, 'हे अर्जुन ! इकट्ठे हुए कौरवोंको देख ' ॥ २४—२५ ॥

अपना अर्जुन अब युद्धभूमिमें जाकर वीरोंको देखता है आगे क्या करता है देखिये—

(२४-२५) इन श्लोकोंमें श्रीकृष्णका नाम 'हृषीकेश' आया है। 'हृषीक' याने इंद्रियोंका जो 'ईश' है वह हृषीकेश है। जिसके स्वाधीन अपनी इंद्रियां हैं। जो इंद्रियोंके अधीन नहीं हुआ प्रत्युत जिसके अधीन इंद्रियां हैं। जो इंद्रियोंको स्वाधीन रखकर उनको उत्तम सत्कर्मोंमें प्रेरित करता है और जिसकी इंद्रियां स्वभावतः ही बुरे कर्मोंकी ओर नहीं जातीं, वह हृषीकेश है। श्रीकृष्ण 'हृषीकेश' (हृषीक + ईश) थे, इसीलिये 'अच्युत' अर्थात् अविनाशी, स्थिर और दृढ थे। जो सुदृढ और ध्रुव बनना चाहता है, उसको चाहिये कि वह हृषीकेश बने और अपनी सब इंद्रियां स्वाधीन रखे और उनको कभी बुरे कर्मोंमें प्रवृत्त न करे। इन्द्रियां स्वाधीन रखनेसे ही 'भग+वान्' अर्थात् भाग्यवान् बनना संभव है और तभी वह 'श्री-कृष्ण' अर्थात् ऐश्वर्यको अपनी ओर खींचनेवाला किंवा 'कृष्ण' अर्थात् सबको अपनी ओर आकर्षित करनेवाला बन सकता है। 'पुरुषोत्तम,' (मनुष्योंमें श्रेष्ठ) बननेकी यही युक्ति है।

इन श्लोकोंमें अर्जुनका नाम 'गुडाकेश' आया है। 'गुडाका' अर्थात् निद्राका जो 'ईश' अर्थात् स्वामी है, अर्थात् जिसने निद्रा, सुस्ती, आलस्य आदि दोषोंको जीत लिया है। कार्य करनेके समय जिसको सुस्ती या निद्रा नहीं घेरती, विश्राम लेना या न लेना जिसके अधीन है, निद्रा जिसकी आज्ञामें है, अर्थात् जब वह विश्राम लेना चाहे और जितनी देरतक विश्राम लेना चाहे, तब और उतनी देरतक ही जो गाढ निद्रासे युक्त हो सकता है, अथवा विश्रांति ले सकता है वह गुडाकेश है। जिसको दस बीस पल निद्रा लेनेकी इच्छा हुई, तो झट गाढ निद्रा लेसकता है और ठीक दस बीस पलोंके बाद उठकर कार्य करने लगता है, जो निद्राके वश हुआ तो घण्टोंतक सोया पडा नहीं रहता, वह 'गुडाका–ईश' किंवा 'निद्रा–स्वामी' है। जगत्में बहुतही थोडे मनुष्य हैं कि जिनका ऐसा प्रभुत्व निद्रापर होता है। प्रायः सभी लोग सोनेके लिये भी २० । २५ पल बिस्तरेपर करवटें लेते रहते हैं और उठनेके लिये वैसे ही हिलाने पडते हैं। जिस प्रकार हम किसी कमरेमें झट जाते हैं उस प्रकार जो समयपर झट गाढ निद्राके वश हो जाते हैं और समयपर विना सुस्त हुए उठते हैं, उनके अधीन निद्रा हुई, ऐसा कह सकते हैं। यह एक बडी भारी सिद्धि है, जो उस समयके संपूर्ण भारतीय वीरोंमें अकेले अर्जुनको ही प्राप्त थी। यह सिद्धि अत्यंत कठिन है। मनकी एक विशेष अवस्था रही, तोही यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है; अन्यथा नहीं।

बीसवे श्लोककी व्याख्याके प्रसंगमें बताया है कि, अर्जुन इन्द्रपुत्र होनेके कारण आध्यात्मिक विचारसे शरीरमें मन-स्थानीय है। पाठक जान सकते हैं कि, मन ही 'निद्राका स्वामी' है। यदि मन सोया तभी निद्रा आती है। अन्य इंद्रियां कितनी भी शान्त की जायँ, या स्थिर की जायँ, जबतक मन अपने व्यापारोंसे निवृत्त नहीं होता, तबतक कभी निद्रा नहीं आती। यह देखनेसे स्पष्ट होजाता है कि,

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अन्वयः- अथ पार्थः उभयोः सेनयोः अपि, तत्र स्थितान् पितॄन्, पितामहान्, आचार्यान्, मातुलान्, भ्रातॄन्, पुत्रान्, पौत्रान् तथा सखीन् ॥ २६ ॥ श्वशुरान्, सुहृदः, च एव अपश्यत् । सः कौन्तेयः तान् सर्वान् बंधून् अवस्थितान् समीक्ष्य ॥ २७ ॥ परया कृपया आविष्टः, विषीदन् इदं अब्रवीत् ।

तब अर्जुनने दोनों सेनाओंमें वहां उपस्थित हुए अपने ही बडों, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, तथा मित्रों ॥ २६ ॥ ससुरों, और स्नेहियोंको देखा । वह अर्जुन उन सब भाइयोंको ही उपस्थित हुए देखकर ॥ २७ ॥ अत्यंत करुणासे व्याप्त हुआ और उदास मनसे बोलने लगा ।-

भावार्थ-कठिन प्रसंगमें अपने संबंधियोंका मोह मनुष्यको स्वकर्तव्यसे भ्रष्ट करता है । अतः मनुष्यको ऐसे मोहसे बचना चाहिये ।

मनही (गुडाकेश) निद्राका स्वामी है । अर्जुनको भी यह नाम इसी लिये दिया गया है और इसी कारण सब कौरव पांडव वीरोंमें यही अर्जुन एक निद्राका स्वामी कहा गया है । शरीरके अन्दर भी अकेला मन ही निद्राका स्वामी है । पाठकगण यह साम्य देखें और समझें कि, यह समानता किसी विशेष हेतुसे लिखी है ।

इन श्लोकोंमें ' भारत ' नाम धृतराष्ट्रके लिये आया है । आगे कई प्रसंगोंमें यह नाम अर्जुनके लिये भी प्रयुक्त होगा। महाभारतमें अन्यान्य स्थानोंमें यह शब्द युधिष्ठिर आदि अन्यान्य वीरोंके लिये भी प्रयुक्त हुआ है । इसका अर्थ है " भारत देशका हित चाहनेवाला, भारत देशके निवासियों-का हित करनेवाला, भारत देशकी भाषा जिसकी जन्मभाषा है और उसपर जिसका प्रेम है, तथा भारत देश, भारतीय लोग और भारती भाषाका हित करनेके लिये जो आत्म समर्पण करनेको तैयार है, अथवा यह करना जिसका कर्तव्य होना स्वाभाविक है । " धृतराष्ट्रका और दुर्योधनका यह कर्तव्य था, परंतु उन्होंने यह नहीं किया; अर्जुनादि पांड-वोंका यही कर्तव्य था और उसके लिये अर्थात् भरतभूमिमें ' धर्म ' का राज्य स्थापन करने और अधर्मका राज्य हटानेके लिये उन्होंने आत्मसमर्पण किया था । यही धर्मराज्य स्थापन करना ईश्वरका कार्य है, जो इस कार्यको करते हैं वे अपने कर्मसे परमेश्वरकी ही पूजा करते हैं । इस लिये कहा जाता है कि, कौरवोंने अपना कर्तव्य पालन नहीं किया और पांडवोंने कर्तव्यका पालन उत्तम रीतिसे किया, और इस कारण परमेश्वरका सहाय्य उनको प्राप्त हुआ । जो ऐसा करेंगे उनका सहायकारी निःसंदेह ईश्वर होगा ।

यहां कहा है, ' रथको दोनों सेनाओंके मध्यमें रखो ' । अध्यात्म पक्षमें रथ शरीर ही है, जो बुरे और भलेके बीच सदा रखा रहता है । ' शरीरं रथमेव तु । इंद्रियाणि हया-न्याहुः ॥ " (कठ उ० ३ । ३-४) शरीर रथ है और इंद्रियां घोडे हैं । यहां मन इंद्रियोंका संचालक है । इत्यादि बातें पाठक अब विचार करके जान सकते हैं ।

अब अर्जुन दोनों सेनाओंका निरीक्षण करता है, उसमें उन्होंने क्या देखा और उसका परिणाम उसके मनपर कैसे हुआ, सो अब देखिये-

(२६-२८) यहां अर्जुन दोनों सेनाओंमें युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए अपने सब इष्टमित्रों, भाईबंधुओं और पूज्य पुरुषोंको देखकर अत्यंत कृपासे खिन्न होता है । अर्जुनके मनमें बडी कृपा, दया अथवा करुणा उत्पन्न हुई है, युद्धका डर उसको नहीं था । वह वीर था और अपने पराक्रम को भी जानता था । इसलिये उसको निश्चय था कि, युद्ध शुरु होनेके पश्चात् इन सबका संहार अवश्य होगा ।

(८) अर्जुनका खेद

शरीरपर परिणाम

अर्जुन उवाच- दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

अन्वयः- हे कृष्ण ! इमं स्वजनं युयुत्सुं समुपस्थितं दृष्ट्वा, ॥ २८ ॥ मम गात्राणि सीदन्ति, मुखं च परिशुष्यति, मे शरीरे वेपथुः रोमहर्षः च जायते ॥ २९ ॥ हस्तात् गाण्डीवं स्रंसते, त्वक् च एव परिदह्यते, अवस्थातुं च न शक्नोमि, मे मनः भ्रमति इव ॥ ३० ॥

अर्जुन बोले- हे कृष्ण ! ये अपने संबंधी जन युद्ध करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए देखकर ॥ २८ ॥ मेरे अवयव शिथिल हो रहे हैं, मुख सूखने लगा है, मेरे शरीरमें कँपकँपी होकर, मेरे रोएँ भी खडे होते हैं ॥ २९ ॥ गाण्डीव धनुष्य हाथसे गिरने लगा है, शरीरकी चमडीमें दाह हो रहा है, मुझसे खडा नहीं रहा जाता और मेरा मन चक्कर सा खा रहा है ॥ ३० ॥

भावार्थ- मोह और करुणा बडे वीरको भी दुर्बल बना देती है । मोहसे शरीरका बल घटता है। इसलिये मोहके वश में नहीं होना चाहिये ॥ ३० ॥

इनके बचनेकी कोई आशा नहीं है । अपने शौर्य और युद्ध कौशलके कारण और भगवान् श्रीकृष्णकी उत्तम योजनाके कारण निःसंदेह हमें विजय होगा, और हमारे जयका अर्थ ही यह है कि, भीष्म, द्रोण तथा अन्यान्य बडे पूज्य पुरुष मारे जायँ, उनमेंसे कोई न बचे, सब भाईयोंकी समाप्ति हो जावे । अपने निज शौर्यके कारण शत्रुपक्षके वीरोंके बचनेकी कोई आशा ही नहीं है, ऐसा अर्जुनके मनमें निश्चय हुआ था । इसलिये उसको उनकी दया आगई और उसके मनमें अत्यंत खेद हुआ और वह दीन होकर कहने लगा-

(२८-३०) युद्धके लिये संमुख उपस्थित हुए स्वजनोंको देखकर अर्जुनको करुणा आ गई और ऐसे युद्धसे कि जिसमें स्वजनोंके वधके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं होगा, अर्जुनके अन्तःकरणको बडा खेद हुआ । युद्धका डर तो उसको था ही नहीं । जिसने प्रत्यक्ष भगवान् कैलासपति शंकरसे युद्ध करते डर नहीं खाया था और जिसने निवातकवच जैसे कपटी आर्योंके शत्रुभूत राक्षसगणोंका पूर्ण नाश किया था, उसको कौरवोंसे लडनेमें डर लगनेकी संभावना ही नहीं थी । ऐसे निडर और प्रबल वीरके मनमें अपने सब संबंधियोंके वधका भयानक चित्र खडा हुआ, और वह कहने लगा कि, हाय हाय ! हम यह यहां क्या करने लगे हैं ? उसके मनमें दया आगई, करुणासे मन भर गया, स्वजनोंके प्रेमने विचारशक्तिको घेर लिया, वह प्रबल आर्य वीर इस मोहसे हतबल हो गया ! !

पाठक यहां धृतराष्ट्रके द्वारा प्रेषित संजयके शांतिके उपदेशका स्मरण करें । साम्राज्यवादियोंके फैलाये मोह जालसे सरलहृदय आत्मा कैसे सरलमार्गसे दूर भाग जाते हैं यह देखिए । उस संजयके कपटमय उपदेशका परिणाम अर्जुनके मनपर होगया और वह पूर्ण रीतिसे शिथिल और उत्साहरहित होगया । अस्थानमें दया उत्पन्न होना भी बहुत ही बुरा है और धर्मकार्य करते हुए खेद उत्पन्न होना तो उससे भी बहुत बुरा है । साम्राज्यवादी शत्रुओंके कपटी उपदेशके जालसे इस प्रकार स्वराज्यके लिये प्रयत्न करनेवाला आर्य वीर मोहित हो गया और स्वकर्तव्यसे पीछे हटा ।

खेदका शरीरपर परिणाम

खेद, मोह, दया, कृपा अथवा करुणासे सबसे प्रथम शरीरकी शक्ति घट जाती है । और बडा शक्तिशाली पुरुष

भी अत्यंत निर्बल हो जाता है। इसका उत्तम उदाहरण भ्रमरका देते हैं। भ्रमर सूखी और कठिन लकडीमें भी सुराख करता है, जमीनमें छेद कर डालता है, ऐसा समर्थ भ्रमर जब कमलमें रातके समय बंद हो गया, तो वह कमल की कोमल पत्तीको काट नहीं सकता। प्राण जानेका समय भी क्यों न प्राप्त हो जावे, वह कमलको सुराख करके बाहर नहीं निकलता। संसारमें बहुत वीर पुरुष स्त्री और मदिराके मोहके कारण कैसे विवेकभ्रष्ट और हतबल हो गए हैं, इस की साक्षी इतिहास देरहा है। यही अवस्था अर्जुनकी इस समय होगई है।

खेदके कारण शरीरका रक्त ही विगड जाता हैं, शरीरके हरएक अणुकी ओजःशक्ति नष्ट होती है, इसी कारण सब अंग ढीले पडते हैं, मुख सूखता है, क्योंकि लालाग्रंथियोंसे मुखमें लालानामक रसका स्राव होना बंद हो जाता है, इसका परिणाम पचनशक्तिके ऊपर भी होता है और यदि यह खिन्नता बहुत दिनतक रही तो पचनशक्ति बिलकुल नष्ट हो जाती है। कइयोंकी पुरुषशक्ति अथवा प्रजननशक्ति भी खेदसे नष्ट होनेके उदाहरण हैं। (अर्जुन तो अज्ञात-वासमें खेदसेही नपुंसक बना था।) क्योंकि खेदसे सभी अंग शिथिल, निर्बल और निःसत्त्व हो जाते हैं। शरीरका बल कम होनेके कारण शरीर कांपने लगता है, रोएं खडे हो जाते हैं, सब शरीरभर एकदम सनसनीसी पैदा होती है, हाथकी पकडनेकी शक्ति नष्ट होती है, पांवकी खडे रहनेकी शक्ति दूर होती है, चमडीमेंसे चिकनाहट दूर होती है, वह खुष्क होती है और पश्चात् अन्दरका मल वहां संचित होकर वहां जलन शुरु होने लगती है।

खेदके कारण बाहरसे खाया अन्न पचन न होकर शरीरका बल बढता नहीं, तथा अन्दरके मलोंको बाहर भेजनेकी क्रिया बंद हो जानेके कारण सब मल अन्दरही अन्दर रुधिर में संचार करने लगते हैं, इस कारण मन चक्कर खाने लगता है और मस्तिष्क विचार करनेमें असमर्थ हो जाता है। अतः यदि यह खेदकी अवस्था बढ गई अथवा कई दिनतक रही, तो मनुष्य मर भी जाता है, पागल बनता है और इहपरलोकके कोई कर्तव्य करनेके लिये असमर्थ हो जाता है, देखिए एक मोहका कितना घातक परिणाम होता है। और यदि इसके साथ काम, लोभ, मद और मत्सर मिल जायेंगे, तो उसके नाशकी कोई सीमाही नहीं रहेगी।

साम्राज्यवादी धृतराष्ट्रने संजयके द्वारा जो कपटी धर्मोपदेशका जाल पांडवोंपर फैलाया था, उस कारण अर्जुनके मनमें केवल मोह और मोहसे खिन्नताही उत्पन्न हो गई थी। अन्य दोष उसके मनमें घुसने नहीं पाये थे। यदि पांडवोंके वीर स्वराज्यका प्रयत्न करते हुए कौरव पक्षकी कुमारिकाओंके प्रेमके वश हो जाते, यदि कौरवोंके धनके लोभमें पड जाते, अथवा कौरवोंके राजशासनमें बडी ओहदेदारीके स्थान प्राप्त करनेके लोभमें फंस जाते, उन प्राप्त अधिकारोंके मदसे ' हम बडे होगये, ' ऐसा मानने लग जाते और उस कारण आपसमें परस्पर विद्वेष करने लगते, तो उनको पुनः स्वराज्य प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं थी।

साम्राज्यवादी लोग जित लोगोंके विचारोंमें परिवर्तन करते हैं, उनमें आत्मविश्वास रहने नहीं देते, उनमें कर्तृत्व-शक्ति बढने नहीं देते, उनमें काम उत्पन्न होजाय इसलिये स्त्री प्रयोग भी करते हैं, उनको नाना प्रकारके प्रलोभन देते हैं और स्वराज्यविषयक प्रयत्नसे उनको हटा देते हैं, उनमें वृथा घमंड उत्पन्न करते हैं, उनमें आपसका मत्सर बढा कर उनके अन्दर आन्तरिक कलह बढाते हैं। इनमेंसे कुछ प्रयोग कौरवोंने पाण्डवोंपर किये थे। उनका राज्यशासनका अनुभव न बढे, इसलिये उन्होंने १३ वर्ष राज्यशासनसे उनको बाहर रखा था। इतने समयमें युद्धकाभी अनुभव उनको न आवे और वे स्वराज्यके लिये पूर्ण नालायक, बिलकुल जंगली जैसे बन जांय। यह साम्राज्यवादी कौरवोंकी इच्छा थी। अंतमें संजय द्वारा भ्रम उत्पन्न करनेवाली कुशिक्षा देनेका भी साम्राज्यशाहीने प्रयत्न किया, जिसका फल अर्जुनके इसप्रकार कर्तव्यभ्रष्ट होनेमें प्रत्यक्ष दीखता है। इसी कारण जेता लोगोंसे धर्मोपदेशकी या अन्य प्रकारकी शिक्षा प्राप्त करना भी जित लोगोंको योग्य नहीं। क्यों कि ये लोग उस कुशिक्षा द्वारा किस प्रकारका विष जित लोगोंके मनमें भर देंगे, इसका भी पता नहीं चलेगा। इसी उपदेश द्वारा पिलाये विषके कारण वीरोंमें अत्यंत प्रबल वीर अर्जुन कैसा निर्बल बन गया है, देखिये।

उसका शरीर तो बिलकुल शिथिल बन गया, यहां तक निर्बल बना कि, वह अपने हाथसे अपना गाण्डीव धनुष्य भी धारण नहीं कर सकता, और अपने पांवसे खडा भी नहीं हो सकता!! फिर लडना तो दूर रहा!! अर्जुन जैसे आर्य वीर संतानने शत्रुसे थोडीसी शिक्षा प्राप्त की, तो

खेद्का मनपर परिणाम

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१॥

अन्वयः- हे केशव ! निमित्तानि विपरीतानि च पश्यामि। आहवे च स्वजनं हत्वा श्रेयः न अनुपश्यामि ॥ ३१ ॥

हे केशव! अब मुझे सब लक्षण विपरीत दीख रहे हैं। तथा अपने संबंधियोंको युद्धमें मार कर कुछ कल्याण होगा, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता ॥ ३१ ॥

उसका क्या बन गया देखिये। वह पहिले सिंह था, तो शत्रुके उपदेशकोंसे शिक्षा लेकर भेड बन गया; वह पहिले लोहा था तो उसका मोम बना। यह है शत्रुके धर्मवचनों-पर विश्वास रखनेका परिणाम ! इसीसे तो अर्जुनका शरीर और मन बिगड गया !

अनुभव का अभाव

साम्राज्यवादी लोग जित लोगोंको राज्यशासनका अनु-भव और युद्धका अनुभव ये दो अनुभव लेनेका अवसर नहीं देते। पांडवोंको उन्होंने १२ वर्ष जंगलमें इसीलिये रखा था, कि वे जंगलीसे बन जायँ और १ वर्ष अज्ञात वासमें इसलिये रखा था कि, इस समय उनके स्वाभाविक अन्तःसामर्थ्यका प्रकाश करनेका थोडा भी अवसर उनको न मिले, और इस समय यदि वे पकडे गये' तो फिर यह १३ वर्ष का चक्र घूमना ही चाहिये' !! वीरोंको १२ वर्ष जंगलमें और १ वर्ष अज्ञात वासमें रखनेसे वे कितने बदल जाते हैं, इसका परिचय पाठकोंको विराटपर्वके पढनेसे लग सकता है। उस समय तो अर्जुन केवल पूर्ण नपुंसक ही बन गया था!! केवल १२ वर्ष स्वराज्यका अनुभव न होनेसे अर्जुन जैसा महारथी वीर यदि नपुंसक बन जाता है; तो जो लोग उससे वीरतामें कम होंगे उनका क्या बनेगा ? और वे यदि १३ वर्षसे अधिक वर्ष पराधीनतामें रहें, तो उनकी क्या अवस्था होगी, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं।

नपुंसकता

अर्जुन की स्थिति नपुंसक जैसी बनी थी, यह बात कौरवोंको पता होगी या न होगी; तथापि संजयके कपटी उपदेशने वीर अर्जुनके ही मनमें घर कर लिया था, इसका कारण यही था कि, वह एक वर्षतक विराट नगरीमें नपुंसक ही बन गया था, अर्थात् इतना निर्वीर्य बना था कि इसको स्त्रीपरिवारमें रखनेमें किसीको संकोच न हुआ था। कुछ उपायोंसे वह उसका दोष एक सालके पश्चात् दूर हुआ, परंतु नपुंसकके संस्कार रहे, और एक वर्षतक स्त्रियोंकी संगतिमें रहनेके कारण मोह, दया, करुणा, आदि जो गुण स्त्रियोंमें विशेष रहते हैं, वे इसमें बढ गये !! अतः संजय का कपटी उपदेश अर्जुनके मनमें जैसा जमगया, वैसा किसी अन्य पांडव वीरके मनपर नहीं जमा। इससे संस्कारोंके महत्त्वका पता लग जाता है। इसीलिये साम्राज्यवादी ऐसी नीति करते हैं कि, जित लोगोंके उच्च संस्कार लुप्त हो जायँ और उनमें हीन संस्कार दृढमूल हो जायँ; जिससे वे कभी न उठ सकें और अपना स्वराज्य कभी वापस न ले सकें।

अर्जुनके शरीर और मनपर तो इतनी शिथिलता छाई गई। इससे वह युद्धके लिये तो पूर्ण रीतिसे निकम्मा बन गया। उसके अंदर ही केवल उदासीनता छाई थी यह बात नहीं थी, उसकी बुद्धि भी इतनी विवेकभ्रष्ट हुई कि उसको सारा जगत् उदास प्रतीत होने लगा। देखिये वह आगे क्या कहता है—

(३१) देखिये, यहां अर्जुन कह रहा है कि 'सब लक्षण विपरीत दीख रहे हैं।' ऐसा मनके बिगडनेसे होता है। मन बिगडनेसे सारे संसारमें विपरीत भाव दिखाई देता है। मन बिगडा तो सब कुछ बिगड जाता है। "मनके हारे हार है, मनके जीते जीत।" अर्जुनका मन हार गया था, इस लिये उसको संपूर्ण जगत्में अशुभ लक्षण दिखाई देने लगे थे। मनमें उत्साह रहा, तो संपूर्ण जगत्में शुभ लक्षण दीख पडते हैं। यह सब मनका खेल है। इसीलिये युद्धके पूर्व साम्राज्यवादी धृतराष्ट्रने अर्जुनके मनकोही मोहित करने का प्रयत्न किया था। जिस समय अर्जुन युद्धभूमिमें आया था, उस समय जिस जगत्में उसको एक भी विप-रीत लक्षण दिखाई नहीं देता था, उसी जगत्में उसी

(९) स्वजनोंका मोह

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

अर्जुनको अब सब लक्षण उलटे दीखने लगे हैं !! इसका कारण ही यह था कि, जिस समय अर्जुन युद्धभूमिपर आया, उस समय उसके मनमें उत्साह था, और अब वह उत्साह दूर हो चुका है । जगत्में कोई फर्क नहीं हुआ । अपनेमें फर्क होनेसे जगत् बिलकुल अलग मालूम होने लगता है । पाठक यह नियम स्मरणमें रखें कि, मनुष्य जो मनका भाव लेकर जगत्के पास जायगा, ठीक वैसाही उस को जगत् दीखने लगेगा ! कामिलारोगवालेको सब जगत् पीला दिखाई देता है, इसका कारण उसके नेत्रका दोष है; बुखार आनेके समय सब जगत्में सर्दी भरनेका अनुभव आता है, इसका कारण इसके शरीरका दोष; उदास मनुष्य को सब जगत् उदास दीखता है और उत्साही पुरुषको सब जगत् उत्साहपूर्ण हो जाता है, इसका कारण उसका मनही है । बहुत मनुष्य जगत्को दोष देते हैं, अपना नसीब, दैव आदि कहते हैं, परंतु वास्तविक देखा जाय, तो जगत्में कोई दोष या गुण नहीं है। यदि मनुष्य अपनेमें शुभ गुणोंका उत्कर्ष करेगा, तो उसको जगत् शुभ दीखेगा, और यदि इसके अंदर दोष रहे, तो जगत् भी इसके साथ दुष्टता करेगा। इसलिये ' आत्मशुद्धि ' का महत्त्व शास्त्रकारोंने कहा है ।

अर्जुनके मनपर जो खेदका परिणाम हुआ, उससे उसका मन दोषयुक्त बना और उस दोषके कारण उसको सब जगत्में विपरीत लक्षण दिखाई देने लगे । जबतक उसके मनमें यह दोष नहीं था, तबतक उसका उत्साह बढ रहा था । जगत् एक शीशेके समान है, जो भाव हम लेकर उसके पास जायेंगे, वैसाही ठीक प्रतिबिंब उसमें दीखेगा । इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि, जब उसको चारों ओर विपरीत लक्षण दीखने लग जायेंगे, तब वह समझे कि, अपनेमें कुछ दोष हुए हैं; और प्रयत्न करके अपने अंदरके दोष दूर करनेका यत्न करे । अपने अंदरके दोष दूर होतेही उस को जगत्में शुभ लक्षण अवश्यही दिखाई देंगे। अपने सुधारसे जगत्के सुधारका प्रारंभ होता है।

अर्जुन दूसरी बात कहता है, कि, ' स्वजनोंका वध करके कुछ कल्याण होगा, ऐसा नहीं दिखाई देता है ।' स्वजनोंका वध करके क्या लाभ होगा ? यहां शत्रुको अर्जुन ' स्वजन ' कह रहा है । रक्तके नातेसे स्वजन और परजन देखे नहीं जाते । स्वजनोंका नाम ' आप्त पुरुष ' है । और आप्त पुरुष वे होते हैं कि, जो कभी अत्याचार नहीं करते, कभी अधर्म की बात नहीं करते, कभी असत्य नहीं बोलते । आप्तोंका तो यह लक्षण है । आप्त पुरुषका संमान शास्त्रकारोंने इतना किया है कि जिसके लिए कोई मर्यादाही नहीं है । जिन्होंने पाण्डवोंका स्वराज्य कपटसे छीन लिया, उनको देशसे बाहर कर दिया, हर प्रकारसे उनको कष्ट दिये, बेइज्जत की, और अन्तमें जो अपना वचन तोडनेको भी तैयार हुए, वे किस प्रकार ' स्वजन ' हो सकते हैं ?

बडा उत्तरदायित्व

यहां अर्जुनपर केवल अपना छीना हुआ स्वराज्य वापस लेनेकी ही जिम्मेवारी नहीं थी, इससे बढकर एक बडा उत्तरदायित्व अर्जुनपर था। वह यह है कि, 'जगत्में अन्याय करनेवालोंके संघको तोडना, और सर्वत्र धर्मका राज्य होनेके लिये अनुकूल वायुमंडल तैयार करना । ' भगवान् मन-मोहन श्रीकृष्ण इस कार्यके लिए कटिबद्ध थे और अर्जुनको उन्होंने इस कार्यका भार उठानेके लिए अपने पास किया था। अर्थात् अर्जुनके स्वार्थके साथ यह महान् परोपकार होनेवाला था । इसी कारण सच्चे स्वजन कौन हैं और सच्चे शत्रु कौन हैं, इस विषयमें अर्जुनको मोह होना इष्ट नहीं था । परन्तु जो होना नहीं चाहिये, वही समयपर बन जाता है ! और एकवार बुद्धि गिरने लगी, तो उसकी गिरावट भी सीमातक पहुंच जाती है । इसी प्रकार एक वार अर्जुन परमेश्वरके जगद्व्यापक धर्मकार्यका भागी होनेके संमाननीय महत्-स्थानसे जो फिसल गया, वह परिवारके मोहके कीचडमें पडा ! ! परिवारके मोहके संकुचित वायुमंडलसेही वह अब बोल रहा है। अब देखिये कि उस संकुचित विचार के प्रवाहमें पडनेसे उसका मत कैसा बन गया है—

(३२-३४) परिवारके मोहके कारण अर्जुन राष्ट्रीय कार्य करनेसे पीछे हटता है ! वास्तविक देखा जाय तो

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

अन्वयः- हे कृष्ण ! विजयं न काङ्क्षे, राज्यं सुखानि च न (कांक्षे) । हे गोविन्द ! नः राज्येन किम् ? भोगैः जीवितेन वा किम् ? ॥ ३२ ॥ येषां अर्थे नः राज्यं कांक्षितम्, भोगाः (कांक्षिताः), सुखानि च (कांक्षितानि); ते इमे आचार्याः, पितरः, पुत्राः, तथा एव च पितामहाः, मातुलाः, श्वशुराः, पौत्राः, श्यालाः, तथा संबन्धिनः प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा, युद्धे अवस्थिताः ! ॥ ३३-३४ ॥

हे कृष्ण ! मुझे विजयकी इच्छा नहीं है, न मुझे राज्य चाहिये और न मैं सुख चाहता हूं । हे गोविंद ! हमें राज्यसे क्या करना है? भोगोंसे भी क्या और हमारे जीवित रहनेसे भी क्या लाभ होगा ? ॥ ३२ ॥ जिनके लिये हमने राज्यकी और भोगों तथा सुखोंकी इच्छा करनी थी, वेही ये आचार्य, बडे बूढे पुत्र, दादा, मामा, ससुर, नाती, साले और संबंधी अपने प्राण और धनकी आशा छोडकर युद्धके लिये खडे हुए हैं ॥ ३३-३४ ॥

' राष्ट्रकार्यके लिए पारिवारिक सुखको त्यागना चाहिये; ' परन्तु यह भारतका नेता उलटी बातें बोल रहा है !! यह यहां तक भूला है कि ' मुझे विजय नहीं चाहिये ' (विजयं न कांक्षे) ऐसा स्वयं कहता है !! वस्तुतः यह स्वयं ही ' विजय ' है, इसलिए ' मैं विजय नहीं चाहता ' इसका अर्थ ' मैं अपने आपको भी नहीं चाहता ' यही होता है। परन्तु इसका अर्थ क्या ? ' मैं अपने आपको नहीं चाहता ' यह तो मूर्खका बोलना है, थोडासा ज्ञान रखनेवाला मनुष्य ऐसा आत्मघातकी भाषण बोलही नहीं सकता। परन्तु अर्जुनके मनपर जिन आत्मघातकी विचारोंका प्रभाव जम गया था, उनका प्रभाव वहां स्थिर रहने तक, वह दूसरे विचार बोलही नहीं सकता !! शत्रुकी कपटी शिक्षाका स्वीकार करनेपर ऐसा ही विपरीत विचारोंका प्रवाह शुरू होता है; इसीलिए सुज्ञ लोग कहते हैं कि, अपनी सभ्यता की शिक्षा ही प्राप्त करनी चाहिए, और शत्रुके विचारोंके नीचे अपने मनोंको दबाना नहीं चाहिये ।

जन्मका उद्देश्य

प्रत्येक मनुष्य जन्मा है, वह अपना विजय प्राप्त करनेके लिए ही जन्मा है । हरएक मनुष्य चार पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिए जगत्में आगया है (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष अर्थात् कर्तव्य पालन करना, धन कमाना, धर्मानुकूल भोग भोगना और बंधनसे मुक्त होना, ये चार पुरुषार्थ मनुष्यको करने चाहिये । कर्तव्य करना पहिला काम है और मोक्ष अर्थात् अपना स्वातंत्र्य प्राप्त करना अन्तिम साध्य है। मानवका जन्म इसी लिए है । स्वातंत्र्य प्राप्त करना श्रेष्ठ विजय कमाना ही है । इसलिए किसीको अधिकार ही नहीं कि, वह कहे कि, ' मैं विजय नहीं चाहता । ' ऐसा कहना चतुर्विध पुरुषार्थके सर्वथा विरुद्ध है । अर्जुन यहां यह धर्म-विरुद्ध बात कह रहा है। यही उसका मोह अर्थात् अज्ञान है ।

अज्ञानवश होकर अर्जुन और कह रहा है कि, ' मुझे सुख भी नहीं चाहिये और राज्य भी नहीं चाहिये। ' पूर्वोक्त चार पुरुषार्थोंमेंसे ' विजय नहीं चाहिये ' कह कर इसने कहा कि मुझे मोक्ष, स्वतन्त्रता अथवा बंधननिवृत्ति नहीं चाहिये, मैं बंधनमें ही रहूंगा, अर्थात् जिस कार्यके करनेके लिए यह जन्मा है, वही कार्य करना इसको पसंद नहीं है !! अब यह कह रहा है, कि मुझे सुख भी नहीं चाहिये और स्वराज्य भी नहीं चाहिये !! येही ' अर्थ और काम ' दो पुरुषार्थ हैं, ये भी इसको नहीं चाहिये !! 'अर्थ काम और मोक्ष ' ये तीनों पुरुषार्थ नहीं चाहिये, ऐसा कहते ही प्रश्न उत्पन्न होता है कि, ' इसने जन्म किस कार्य के लिए लिया है ?' जिसको ये चार पुरुषार्थ करना अभीष्ट नहीं, क्या वह जीवित रहनेका अधिकारी भी है ? अर्जुनने जब कहा कि ' मुझे सुख, भोग, स्वराज्य और विजय नहीं

चाहिये,' उसी समय उसके ही मनमें यह बात आगई कि, 'मैं अब जीवित रहकर भी क्या करूं' क्योंकि किस उद्देश्यसे जीवित रहना है? यह बात उसके ध्यानमें आकर वहीं स्वयं कहता है कि, 'भला मेरे जीवित रहनेसे भी अब क्या लाभ है!' अर्थात् जिस रीतिकी खेदमयी विचार-परंपरा उसके मनमें शुरू हो गई थी, उस विचार-परंपराके अन्तमें उसको मृत्यु शीघ्र स्वीकारना ही योग्य हुआ!! खेदमय विचारकी परंपरा कितनी घातक है, यह बात यहां स्पष्ट हो जाती है। अतः कोई मनुष्य खेदमय विचारोंको अपने पास आने न दें, और सदा उत्साहमय पुरुषार्थी विचार अपने मनमें स्थिर करें।

संबंधियोंका मोह

अर्जुन अपने संबंधियोंके लोभमें फंस गया है। वह कहता है कि आचार्य दादा; मामा, पिता, भाई, साले, ससुर, नाती, पुत्र आदिकोंके लिये सुख देनेके उद्देश्यसे ही भोगके साधन इकट्ठे किये जाते हैं। परंतु इस युद्धमें तो वेही अपने प्राण और धनकी पर्वाह छोडकर यहां उपस्थित होगये हैं। यदि इनको मारा, तो उनकी मृत्युके पश्चात् इस युद्धसे प्राप्त किये हुए भोग किसको देने हैं? जिनके लिये सुख देना है वेही यहां मारे जाते हैं, फिर सुखप्राप्तिका प्रयत्न किसके लिये करना है? ये मेरे संबंधी हैं, इसलिये मुझे उचित नहीं कि, मैं इनका वध करूं। यदि तुम कहोगे कि, मैं इन संबंधियोंका वध करूं तो इनके साथ मैं अपने सहोदर भाइयोंको भी क्यों न मारूं? ये भी भाई हैं और वेभी भाई हैं। अर्जुन कहता है—

हे कृष्ण! तुम्हें 'गो-विन्द' कहते हैं, क्योंकि तुम 'गो' नाम इंद्रियोंको 'विन्द' अर्थात् स्वाधीन रखते हो। अतः तुम्हारे जैसा इंद्रियवृत्तियोंको स्वाधीन रखनेवाला ज्ञानी ऐसे आप्तजनोंके वध करनेके अनर्थकारक कार्यमें मुझे किस प्रकार प्रवृत्त कर रहा है, क्या यही तुम्हारा इंद्रिय-संयम है? और इसी प्रकार तुम मुझे संयम सिखाओगे? क्या मैं अपने सुखके लिये आचार्यों और अपने सब आप्तोंका वध करूं? और उनका वध करनेके बाद स्वयं सुख भोगूं?

कुटुंब और राष्ट्र

यहां अर्जुन अपने संबंधियोंको सुख देनेके लिये राष्ट्र-कार्यमें विघ्न कर रहा है। जनतामें शुद्ध और उच्च नीति-धर्मकी स्थापनाका कार्य एक ओर है तो दूसरी ओर स्वजनोंका सुख है। यहां अर्जुन जनताके उद्धारके कार्यकी अपेक्षा अपने पारिवारिक कुटुंबियोंके सुखको अधिक मान रहा है। कौरव साम्राज्यके शासनाधिकारपर किसी न किसी प्रकार आरूढ हो गये थे। अर्थात् श्रेष्ठ पदपर थे। जो मनुष्य श्रेष्ठ पदपर रहता है, उसपर एक उत्तरदायित्व रहता है कि वह किसी प्रकार भी ऐसा बुरा आचरण कदापि न करे, कि जो जनताके लिये बुरा आदर्श हो जावे। "श्रेष्ठ पदपर स्थित मनुष्य जैसा आचरण करता है, वैसा ही अन्य मनुष्य आचरण करते हैं।" (भ० गीता ३।२१) इसलिए श्रेष्ठ मनुष्यपर अन्य साधारण जनोंके लिये उत्तम आदर्शरूप बननेका भार सदा रहता है। क्या इस उत्तरदायित्वका कौरवोंने पालन किया था? बिलकुल नहीं। साम्राज्य बढानेके लिये इन्होंने कइयोंको जहर तो पिलाया, कइयोंको अग्निसे जला दिया, कइयोंकी भूमि हरण की, कइयोंके राज्य कपटसे हरण किये, कइयोंका शस्त्रोंसे वध किया, कई स्त्रियोंकी बेइज्जती की, सदा सर्वदा असत्य वचन कहते रहे, अपना दिया हुआ एक भी वचन इन्होंने पालन नहीं किया, नाना प्रकारसे आशाएं दिखलाते रहे; परंतु एककी भी पूर्तता नहीं की। अन्तिम शांतिसभामें तो इन्होंने स्पष्ट कहा कि, युद्धके विना एक सूईके अग्रपर रहनेवाली मिट्टी भी नहीं दी जायगी। क्या येही आदर्श हैं कि जिनपर जनता चले? और यदि सम्राट् और उसके मंत्रीगण ऐसी कुनीतिसे चलने लगें, तो संपूर्ण जनताकी स्थिति कैसी होगी? इसलिये कुनीतिसे चलनेवाले इन धृतराष्ट्रपुत्र कौरवोंको साम्राज्य-पदपरसे उतारना और उनके स्थानपर धर्ममर्यादासे चलानेवाले लोकसंमत राजपुरुषोंको स्थापित करना, उस समयके राष्ट्रीय नेताओंका महान् राष्ट्रीय कार्य हुआ। इसलिये उस समयके लोगोंका धर्म हुआ था कि यह राष्ट्रकार्य करें और धर्मकी मर्यादा पुनः स्थापित करें। यदि कोई मनुष्य यह राष्ट्रकार्य न करते हुए अपने परिवारके अर्थात् अपने स्त्री, पुत्र, भाई, माता, पिता, दादा, आदिकोंको सुख देनेके कार्यमेंही अपने आपको समर्पित करेगा, तो वह उसके लिये अधर्म होगा। विशेष उन्नत हुए और कार्याकार्य का विचार करनेवाले लोगोंको उचित है कि वे परिवारके मोहसे राष्ट्र-कार्यमें विघ्न उत्पन्न न करें। अर्जुन अपने पारिवारिक जनोंके सुखको अधिक मानकर राष्ट्रकार्यसे विमुख हुआ था। यही उसका अधर्म हुआ। इसी प्रवृत्तिसे वह आगे क्या कहता

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

अन्वयः— हे मधुसूदन ! (मां) घ्नतः अपि एतान्, त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः अपि, हन्तुं न इच्छामि, किं नु महीकृते ? ॥ ३५ ॥ हे जनार्दन ! धार्तराष्ट्रान् निहत्य नः का प्रीतिः स्यात् ? एतान् आततायिनः हत्वा अस्मान् पापं एव आश्रयेत् ॥ ३६ ॥ तस्मात् स्वबांधवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तुं वयं न अर्हाः । हे माधव ! स्वजनं हि हत्वा वयं कथं सुखिनः स्याम ? ॥ ३७ ॥

हे मधुसूदन ! यद्यपि ये मुझे मारने लग जायँ, तो भी इनको, त्रैलोक्यके राज्यके लिये भी, मारनेकी इच्छा मैं नहीं करता; फिर तो भला पृथ्वीके राज्यके लिये इन्हें क्या मारना है ? ॥ ३५ ॥ हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रपुत्रोंको मारकर हमारा क्या प्रिय होगा ? इन आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥ इस कारण अपने भाई इन कौरवोंको मारना हमें उचित नहीं है। हे माधव ! अपने ही संबंधि जनोंको मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? ॥ ३७ ॥

हे देखिये—

(३५-३७) अर्जुन अपने स्वजनोंके मोहसे दीन होकर कहता है कि– " यद्यपि ये लोग मुझे मारने लगें तो भी मैं इनको नहीं मारूंगा । इनको मारनेसे निश्चयपूर्वक स्वर्गलोक, भूलोक और पाताललोकका राज्य प्राप्त होनेकी संभावना होने पर भी मैं इनको मारनेका विचार नहीं करूंगा । फिर केवल भूलोकके राज्यके लिये इनका वध नहीं करूंगा, यह क्या दुबारा कहना चाहिये ? ये कौरव अपने भाई हैं, इसलिये इनका वध करनेके पश्चात् हमें कदापि सुख प्राप्त नहीं होगा । ये आततायी हैं, यह सत्य है; तथापि इनके वधसे हमें पापही लगेगा । क्योंकि अपने संबंधियोंका वध करनेसे भला कौन कैसा सुखी हो सकता है ? "

आततायीका वध

आततायीका वध करनेके विषयमें शास्त्रकी आज्ञा स्पष्ट है । स्मृतिग्रंथोंमें कहा है–

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैतान्षड् विद्यादाततायिनः ॥
(शुक्रनीति)

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन् ॥
अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥
उद्यतासिर्विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा ।
आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि ॥
भार्यारिक्थापहारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः ।
एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥
(मनु० ८ ३५०-३५३)

" अग्निसे जलानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्रसे मारनेवाला, भूमि, स्त्री और धन छीननेवाला, शाप देनेवाला, अथर्वमंत्रोंसे मारक प्रयोग करनेवाला, राजासे चुगली करनेवाला, स्त्रीका धन छीननेवाला, दूसरेका छिद्र ढूंढनेमें तत्पर, इत्यादि सभी आततायी समझने चाहिये । आततायी गुरु, बालक, वृद्ध, वा बहुश्रुत ब्राह्मण इनमेंसे कोई हो, जो आततायी होकर आवे, उसको विना विचारे ही मारना चाहिये । लोगोंको सामने वा एकान्तमें मारनेको तैयार हुए

आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं होता, क्योंकि इसका क्रोध उसके क्रोधसे हट जाता है।'

आततायीका वध तत्काल करना चाहिये, ऐसी स्मृति-शास्त्रकी आज्ञा है। तथापि अर्जुन कह रहा है कि, आततायीका वध करनेसे हमें पाप लगेगा!! साम्राज्यगद्दीपर आरूढ हुए कौरव सबके सब आततायी हैं, इस विषयमें अर्जुनको कोई संदेह नहीं था। वह स्वयं उनको 'आततायी' कहता है। आततायीका वध शास्त्रसे दूषित नहीं है, यह बात भी वह जानता था, परन्तु आततायी हुए तो भी ये अपने संबंधी हैं, अतः रक्तका संबन्ध होनेसे इनका वध हमको नहीं करना चाहिये; अपने संबंधी लोग कितनी भी दुष्टता करते रहें, उनको दण्ड देना नहीं चाहिये, ऐसा अर्जुनका मत इस समय बन गया था!!

यदि अपने संबंधी कौरव न होते और उस समय साम्राज्यशासक कोई दूसरे विदेशी लोग होते तो अर्जुन इस प्रकार न बोलता। उदाहरणार्थ मान लें कि हस्तिनापुरमें इस समय किसी विदेशी असुर जातीका राज्य होता, तो अर्जुन उनसे युद्ध करता, और उनका नाश करता और उनसे अपना स्वराज्य प्राप्त करता।

परन्तु कौरव ठहरे अपने कुलके, देशके और रक्तके संबंधी इसलिये वह कहता है कि, 'निवातकवच जैसे विदेशी सम्राटोंका तो मैं वध करूंगा, परन्तु अपने संबंधियोंका वध कैसा किया जा सकता है?' स्वदेशी और विदेशी राजाका अपराध समान ही क्यों न हो, अपने राजाका पक्षपात करना चाहिये, ऐसा इस समय अर्जुनका मत बन गया है। युद्ध तो परकीयोंसे ही करना चाहिये, स्वकीयोंसे युद्ध कैसा किया जाये!

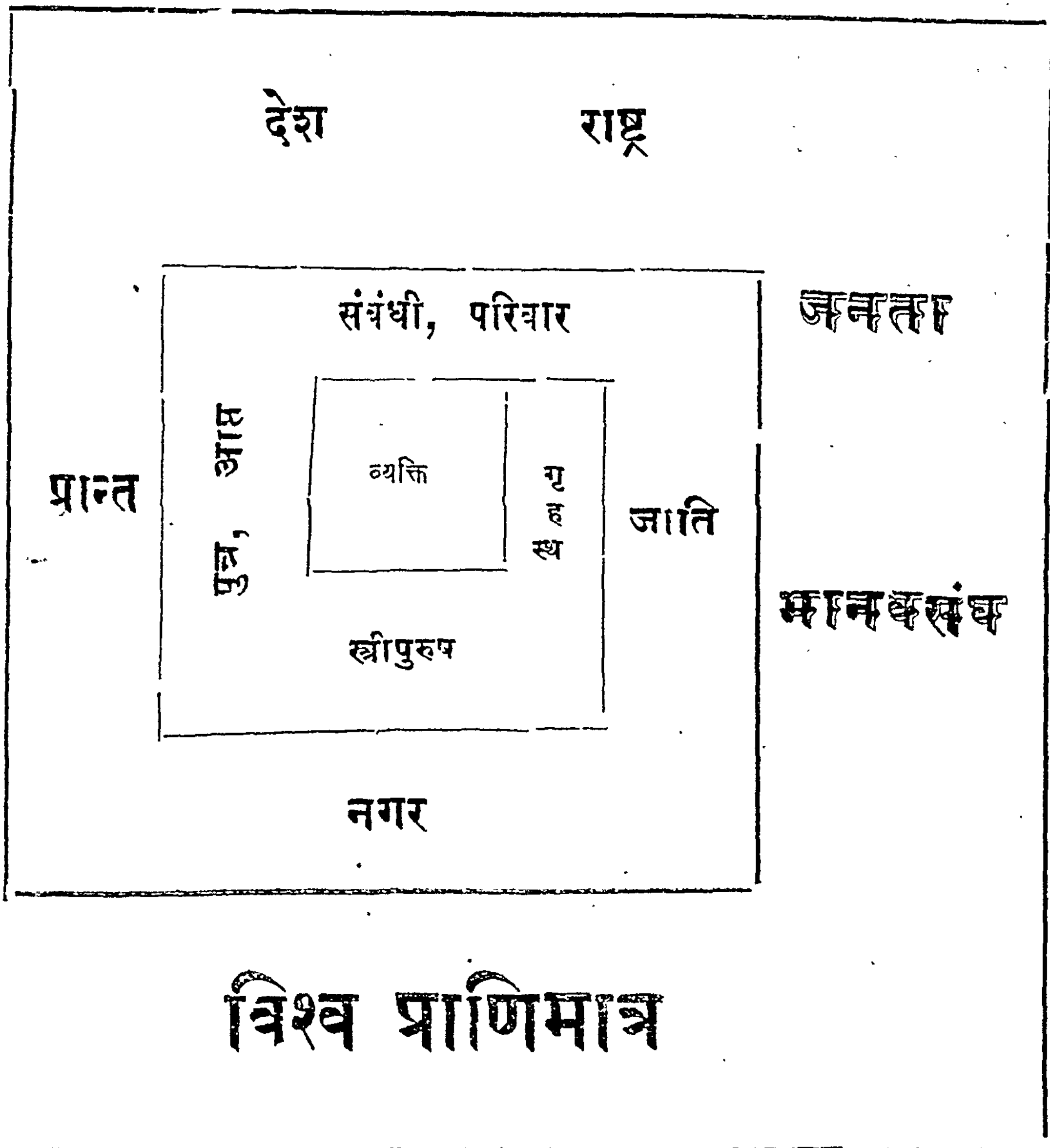
वास्तवमें देखा जाय तो यदि विदेशी राजा प्रजाजनोंको सताने लगा, तो जैसा उसका प्रतिकार करना चाहिये; उसी प्रकार अपने देशका, अपनी जातिका, अपने कुलका अथवा अपना मित्र भी क्यों न हो, अथवा अपने रक्तका संबन्ध रखनेवाला राजा भी प्रजाजनोंको सताने लग जाय, तो उसका भी योग्य रीतिसे प्रतिकार करना चाहिये। पुत्रको विष देकर मारनेवाली माता भी आततायिनी होती है। इसी प्रकार अपने देशका स्वजातीय राजा भी क्रूर हुआ और प्रजाको सताने लगा, तो भी उसको वैसा ही दण्ड करना चाहिये, जैसा विदेशी राजाको दिया जाता है।

स्वजन होनेसे उनकी क्षमा करनेका जो विचार अर्जुन कर रहा है वही उसकी भ्रान्ति है, वही मोह, वही अविद्या और वही अज्ञान है।

मनुष्य क्रमशः उन्नत होता है और जैसा वह ऊपर चढता है वैसा हरएक सीढीपर उसका कर्तव्य भिन्न भिन्न होता है। ज्ञान शौर्य तथा बल बढ जानेसे उसपर विशेष प्रकारसे उत्तरदायित्व आता है, अतः अपने अन्दर गुणोंका विकास होनेपर उसको इस प्रकार पक्षपात करना कदापि उचित नहीं। मनुष्यकी क्रम उन्नति किस प्रकार होती है और उस कारण उनके कर्तव्य कैसे बढ जाते हैं, यह बात आगे बताये चित्रमें पाठक देख सकते हैं— (आकृति ३८ पृष्ठपर देखो)

इस चित्रमें पाठक देख सकते हैं कि, व्यक्तिका सामर्थ्य बढनेके अनुसार उसके अधिकार और उसके कार्यक्षेत्रका विस्तार हो जाता है। यदि राष्ट्रीय कार्यक्षेत्रमें कार्य करनेका अधिकारी वीर लोभ या मोहके वशमें होकर अपने गृहस्थ या अपने परिवारके मोहमें फंस जाय और पारिवारिक सुखके लिये राष्ट्रकार्यमें विघ्न करे अथवा कुटुंबपोषणके मोहसे राष्ट्रकार्य न करे, तो वह पापी बनेगा और गिर जायगा। अर्जुनकी यही अवस्था हो चुकी थी। मनुष्य अकेला और बिलकुल स्वतंत्र नहीं है, सब जगत्के साथ उसका सुदृढ संबन्ध है, अतः उसको उचित है कि वह अपनी व्यक्तिका विचार समष्टिके विचारके साथ करे और समष्टिके कार्यके लिये व्यक्तिका समर्पण अवश्य करे।

पूर्व चित्रका विचार पाठक इस प्रकार करें। मनुष्य जिस क्रमसे उन्नत होगा, उस क्रमसे उसपर समर्पणका भार अधिक आता है। जो व्यक्ति केवल शरीरधर्मसे जीवित रहती है, वह पशुवत् है। कई पशु भी संघसे रहते हैं और संघके लिये मरते हैं। जन्मतः मनुष्य पशुसे उच्च होनेके हेतु उसको संघटित रहनाही चाहिये, अन्यथा उसकी अधोगति होगी। कुटुंब स्थितिमें मनुष्य अपने कुटुंबियोंके हितके लिये आत्मसमर्पण करता है। इससे उच्च होनेपर वह राष्ट्रकार्यके लिये आत्मसमर्पण करता है, इससे भी उच्च होकर वह मनुष्य संपूर्ण जनसमाजके लिये आत्मसमर्पण करता है। अर्थात् उसका आत्मसमर्पणका पाठ कुटुंब-स्थितिमें प्रारंभ होता है। यही पाठ आगे विस्तृत करना होता है। जिसका कार्यक्षेत्र विस्तृत हुआ है यदि वह अपने कार्यक्षेत्रको संकुचित करने लग जाय, तो वह पापी बनता है और गिर जाता है।



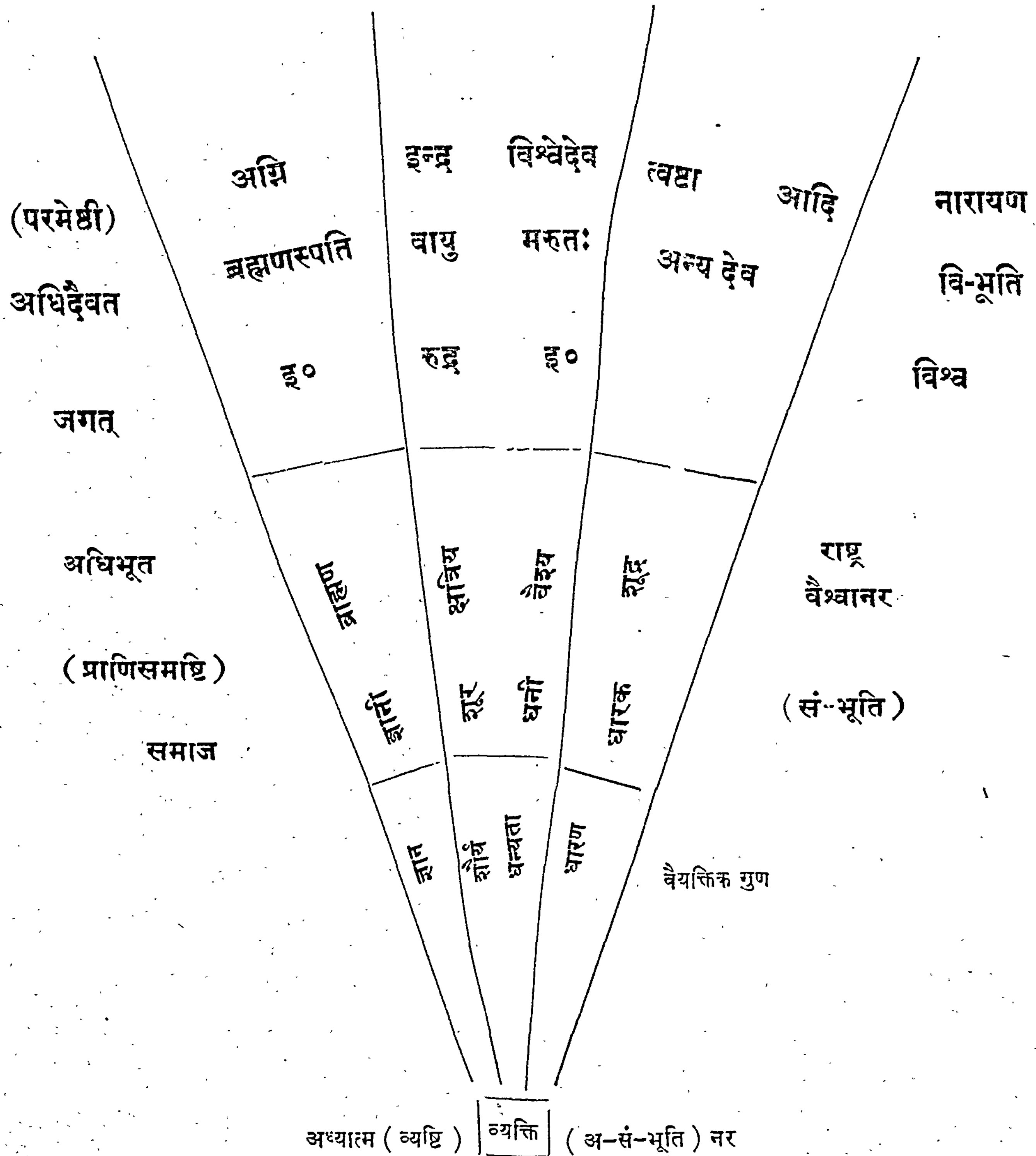
क्रम उन्नतिके साथ कार्यक्षेत्रका विस्तार बतानेवाला चित्र

जिस मनुष्यने गृहस्थ-स्थितिका स्वीकार किया है वह यदि स्त्री पुत्रादिकोंके भरणपोषणका भार त्याग दे और उन की पर्वाह न करे, तो वह पापी बनता है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों पर राष्ट्रके हितका भार है, अन्योंपर भी है, परन्तु इनके पास ज्ञान, बल और धन अधिक होनेके कारण अन्योंकी अपेक्षा इनपर भार अधिक है। अर्जुन क्षत्रियवीर था, इसलिये धर्मकी व्यवस्था मर्यादा के अनुकूल रखनेका भार इसपर विशेष था। साम्राज्यवादी कौरव धर्ममर्यादाको तोड रहे थे और अपने स्वार्थके लिये धर्मका नाश करनेको तैयार थे। इसलिये उनको दण्ड देना अर्जुन जैसे वीरोंका आवश्यक कर्तव्य था। परन्तु छोटे परिवारके मोहमें फंस कर वह अपने विस्तृत कर्तव्यसे भ्रष्ट होने लगा है। यही इसका पाप है।

इस जगत्में कोई व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। सब एक दूसरेसे मिले हैं, संपूर्ण जगत्के स्थिर चर पदार्थ मिलकर संघटित होकर बना हुआ एक महापुरुष है। अर्थात् यह सब ब्रह्मांड मिलकर एकही विराट देह है और उसका एक अंश मैं हूं ऐसा मानकर मनुष्यको व्यवहार करना चाहिये।

यह व्यष्टिसमष्टिका संबन्ध बतानेवाला चित्र अगले पृष्ठपर देखिए—

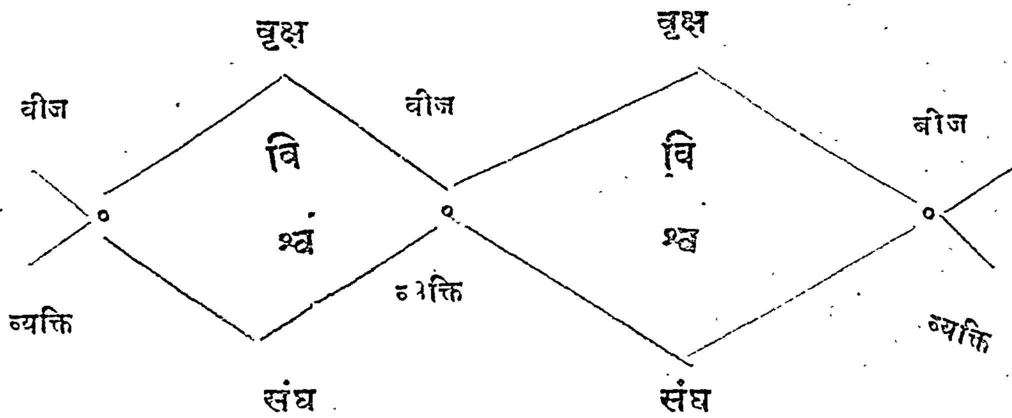
[ब्रह्माण्ड और व्यक्ति का संबंध बतानेवाला चित्र]



इस चित्रको देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि कोई व्यक्ति बिलकुल स्वतन्त्र नहीं है। विश्वका अंश व्यक्ति है। अतः व्यक्तिको उचित है कि वह अपनी शक्ति बढावे और उसका उपयोग संपूर्णकी भलाईके लिये करे।

विश्वका संकोच होकर व्यक्तिका रूप बना है और व्यक्ति का परम विकास ही इसका जगत् रूप बनना है। इस विषयके उपनिषदोंके प्रमाण देखिये-

नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः। अक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः ॥इ०॥ (ऐ० उ० १।४)



"नासिका उत्पन्न हुई, उससे प्राण बना और प्राणसे वायु हुआ। आंख बने, आंखोंसे चक्षु और चक्षुसे आदित्य बन गया।" इसी प्रकार अन्य शक्तियोंसे विश्वकी अन्य शक्तियां बनीं। अर्थात् व्यक्तिकी शक्तियोंका परम विकास यह सब विश्व है। इसी प्रकार सब विश्वका बीज एक व्यक्ति है। ऊपरकी आकृति देखिये—

इस विषयमें प्रमाण देखिये-

वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्-
आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्। इ०।
(ऐ. उ. २।४)

'वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ, सूर्य चक्षु बनकर आंखमें प्रविष्ट हुआ।' इसी रीतिसे अन्य विश्व-शक्तियोंसे वैयक्तिक सूक्ष्म शक्तियां बनीं। व्यक्ति एक सूक्ष्म बिंदु है और विश्वरूप उसके परमविकासकी अवस्था है, इसका चित्र ऊपर दिया है-

इसका ठीक विचार करनेसे पाठकोंको पता लग सकता है कि विश्वमें व्यक्ति और व्यक्तिमें विश्व है। एक दूसरेसे पृथक् नहीं है। विश्वका बडापन व्यक्तिमें सूक्ष्म बनकर रहा है और व्यक्तिका सूक्ष्मपन विश्वके बडेपनमें परिणत होता है। बीजका वृक्ष और वृक्षका बीज होनेके अथवा वीर्यबिंदु का पुरुष और उससे फिर वीर्यबिंदु होनेके समानही यह बात है।। यही बात इस प्रकार कही है-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
तथा— (भ. गी. ६।२९)
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतस्थमात्मानम्०॥ (ईश उ० ६)

'जो सब भूतोंमें अपनेको और अपनेमें सब भूतोंको देखता है।' वही तत्त्वतः विश्वको जानता है। जब यह दृष्टि उत्पन्न होगी, तब उसमें कुटुंबका मोह या परिवारका लोभ कहां रहेगा? वह तो समझेगा, कि व्यक्तिके दोषसे संपूर्ण समाज दूषित हो रहा है, इसलिये दोष करनेवालेको उस स्थानसे हटाना चाहिये और यदि दोष करनेवाला एक संघ होगा, तो उसको भी हटाना चाहिये। फिर वह दोष करनेवाली व्यक्ति या संघ अपने स्वजन हों या परकीय हों। स्वजन होनेपर भी हटाना चाहिये और परकीय होनेपर भी हटाना ही चाहिये। जिस प्रकार व्यक्तिके शरीरमें सदोष अवयवको काटकर दूर करना पडता है, न काटा जाय तो सब शरीर विषमय हो जाता है, ठीक इस प्रकार दोष करनेवाली व्यक्ति या संघ संपूर्ण मानवी जनताको बिगाड देनेके कारण दण्ड देकर दूर करने योग्य है। आततायी हैं परन्तु वे अपने हैं इसलिये क्षमा करना सर्वथा अयोग्य है। क्योंकि ये स्वजन भी संपूर्ण ब्रह्माण्ड-देहके भाग हैं और यदि यह अवयव सडने लगा, तो उससे सब विश्वकी शान्ति बिगड जायगी। अतः कहा है कि—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

'कुलके हितके लिये एक व्यक्तिको, ग्रामके हितके लिये एक कुलको, राष्ट्रके हितके लिये एक ग्रामको त्यागना चाहिये।' इसी प्रकार राष्ट्रके हितके लिये साम्राज्यका कु-शासन करनेवाले कौरवोंको हटाना चाहिये। क्योंकि इन साम्राज्यवादियोंकी कुनीतिसे संपूर्ण विश्वमें अशान्ति फैल रही है।

विश्वरूप

जिस समय भगवद्गीताके उपदेशका प्रसंग था, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ' विश्वरूप ' थे और अर्जुन ' व्यक्तिरूप अथवा अपने परिवाररूप ' था। परिवाररूप होनेसे अर्जुनके मनमें मोह हुआ और इस मोहका निराकरण विश्वरूप बने भगवान् श्रीकृष्णने किया। कई मनुष्य व्यक्तिरूप होते हैं, कई परिवाररूप, कई जातिरूप या राष्ट्ररूप, कई मानवसमाजरूप, कई प्राणिसमष्टिरूप और कई विश्वरूप होते हैं। इनके विचार, उच्चार और आचार विभिन्न होते हैं। जो व्यक्तिरूप हैं वे वैयक्तिक विचार करेंगे तो कोई दोष नहीं है; परन्तु यदि राष्ट्ररूप बना हुआ मनुष्य पारिवारिक मोहमें फंस जाय तो वह गिरता है। अर्जुन राष्ट्ररूप होनेकी अवस्थामें था, अतः पारिवारिक बननेसे उसको मोह हुआ, ऐसा कहा जाता है। यदि वह मानवसमाजरूप बननेका यत्न करता तो उसका मोह दूर हो जाता और वह ज्ञानी कहलाता।

जो मनुष्य ' परिवाररूप ' होता है वह परिवारके मनुष्यके दुःखसे दुखी होता है, उसका दुःख दूर करनेके लिये यत्न करता है और उस कार्यके लिए स्वयं कष्ट भी भोगता है। इसी कारण यहां अर्जुन अपने पारिवारिक जनोंको बचानेके लिए स्वयं राज्य त्याग कर भिक्षावृत्ति स्वीकारनेको तैयार हुआ था। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण जैसा परमश्रेष्ठ आत्मा ' विश्वरूप ' बननेके कारण विश्वकी स्थितिमें बिगाड करनेवालोंकी कभी उपेक्षा नहीं कर सकता, विश्वमें धर्मकी स्थिति सुरक्षित रखनेके लिए कटिबद्ध रहता है और उस कार्यको करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझता है। इसकी दृष्टि विश्वरूप होनेके कारण अर्थात् अति विस्तृत होनेके कारण कर्तव्य करनेके समय इसको शोक और मोह कष्ट नहीं देते और यह कभी कर्तव्यभ्रष्ट भी नहीं होता।

श्रीमद्भगवद्गीताका संवाद उन दो आत्माओंमें हुआ है कि जिनमेंसे एकका अन्तःकरण पारिवारिक ममतामें मोहित हुआ है और दूसरेका आत्मा विश्वरूप स्थितिमें आनन्दमें है।

अर्जुन अपने परिवारको राष्ट्रीय परिवारसे और जगत्के महापरिवारसे अलग समझने लगा, राष्ट्रका और जगत्का कैसा भी अहित क्यों न हो जाय, मैं अपने परिवारको ही सुखी रखूंगा, मुझे सार्वभौमिक दृष्टिसे विचार करनेकी कोई जरूरत नहीं है, ऐसा बोलने लगा!! यही उसका बडा दोष इस समय होगया। ये ' स्वजन ' हैं इसलिए ये ' आततायी ' हैं, तथापि इनको सुरक्षित और सुखी रखना मेरा कर्तव्य है, यह अर्जुनका कथन स्पष्ट बताता है कि, उसकी दृष्टि अत्यंत संकुचित होगयी थी। दृष्टिका संकोच होनेसे ही पाप होता है और उस समय यही पाप अर्जुनसे होने लगा था।

यहां अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको ' मधुसूदन कहा है, इसका अर्थ ' मधुदैत्यको मारनेवाला ' है। मधुदैत्य भगवान् श्रीकृष्णका स्वजन, संबन्धी, स्वजातीय या स्वदेशीय नहीं था। यह विदेशी असुर था। यह कहकर अर्जुनने श्रीकृष्णको बताया कि ' हे कृष्ण! तुमने जो मधुदैत्यको मारा, वह कोई तुम्हारा स्वजन नहीं था। वैसा तो मैंने विदेशी शत्रु निवातकवचोंको भी मारा है।'

' कौरवोंका वध करनेकी बात इससे नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि वे मेरे आप्त हैं। हे भगवन्! यदि तुम कहोगे कि तुमने अपने मामा कंसको मारा है, वह भी उदाहरण मेरे योग्य नहीं है, क्योंकि एक तो भीष्मद्रोणके समान कंसका प्रेम तुमपर कभी नहीं था और दूसरी बात यह है कि तुम जो ' जनार्दन ' (जन + अर्दन) हो अर्थात् सभी जनोंको मारना तुम्हारा धर्म है, उसमें तुम किसीको रखना और किसीको मारना ऐसा विचार ही नहीं करते हो। जो सभीको मारनेवाले हैं, उन्होंने अपने मामाको मार दिया, तो उसमें विशेष क्या किया? इसलिये तुम्हारा उदाहरण मेरे लिए लेने योग्य नहीं है। तीसरी बात यह है है तुम ' माधव ' (मा + धव) हो अर्थात् केवल लक्ष्मी अपने पास रखनेकी तुम्हारी इच्छा रहती है। जो लक्ष्मी–धनसंपत्ति–को अपने पास रखनेका इच्छुक होगा, वह मामाको या किसी संबंधीको मार देगा!! ऐश्वर्य या राज्यके लिए अपने पिताको भी लोग मार देते हैं। परन्तु मैं वैसा नहीं हूं। मैंने तो इसी कारण त्रैलोक्यका भी राज्य मुझे नहीं चाहिये ऐसा तुमसे कहा है, क्योंकि यह लक्ष्मीका मोह ही मनुष्यसे स्वजनवध जैसे घोर कर्म कराता है। अतः मैं कहता हूं कि मुझे राज्य, भोग या सुख भी नहीं चाहिये, और अपने सुखके लिए मैं इन आततायी कौरवोंको भी कभी नहीं मारूंगा।'

(१०) कुलक्षय और मित्रद्रोह

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अन्वयः– यद्यपि एते लोभोपहतचेतसः कुलक्षयकृतं दोषं, मित्रद्रोहे च पातकं, न पश्यन्ति ॥ ३८ ॥ हे जनार्दन! कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः अस्मात् पापात् निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम् ॥ ३९ ॥

यद्यपि ये कौरव लोभसे भ्रष्टचित्त होनेके कारण, कुलके क्षय करनेसे होनेवाला दोष और मित्रद्रोहका पातक, नहीं देखते हैं ॥ ३८ ॥ तथापि हे जनार्दन! कुलक्षयका दोष हमें दीख पडता है, इस लिये हम इस पापसे निवृत्त होनेका विचार क्यों न सोचें ॥ ३० ॥

भावार्थ– प्रतिपक्षीने यदि धर्म और अधर्मका विचार छोड दिया है, तो वह उसका दोष है; हमें वैसा दोष नहीं करना चाहिये और धर्ममर्यादाका विचार अवश्यही करना चाहिये।

इस प्रकार अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको भी कुछ अंशमें चुभनेवाला भाषण किया और फिर कहने लगा–

(३८-३९) अर्जुन कहता है कि 'यद्यपि ये कौरव लोभके कारण कुलक्षयसे उत्पन्न होनेवाला दोष और मित्रद्रोहका पातक नहीं देखते हैं, तथापि उससे यह नहीं सिद्ध होता कि, हम पातकको न देखें और देखकर भी उससे निवृत्त होनेका उपाय न करें।' लोभी मनुष्य किसी भी बुरे कर्मसें दोष या पातक नहीं समझता, समयपर जितना चाहे बुरा कर्म करनेसें प्रवृत्त होता है, अधिकार प्राप्त होने पर अपने किये बुरे कमको भी अच्छेसे अच्छा बतलानेकी चेष्टा करता है। यह तो साम्राज्यवादी अपने साम्राज्यकी रक्षाके लिये करते ही हैं। परन्तु जो मनुष्य अपना गया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके इच्छुक हैं, उनको वैसा अन्याय करना उचित नहीं। उनकी दृष्टि तो आत्मशुद्धिकी ओर होनी चाहिये। अपने आचरणसें कौनसा दोष कैसा होता है इसकी परीक्षा उनको सदा करना उचित है। और जहां दोष और पापकी संभावना हो वहांसे उनको वह दोष दूर करनेका यत्न करना उचित है। कुलक्षय, मित्रद्रोह, पितृद्रोह, बन्धुवध, गुरुहत्या, संतानोंका उच्छेद, सभ्यताका लोप ये सब पाप भयानक हैं। छोटीसी पृथ्वीके एक भागके राज्यवैभवके लिए क्या हम ये पाप करें? यदि स्वराज्य प्राप्तिके इच्छुक लोक स्वयं ये पातक करने लग जायँ, तो फिर उनको अधिकारही क्या है कि, वे साम्राज्य शासकोंकी इन्ही दोषों और पातकोंके लिये निन्दा करें? दोनोंके पातक समानही होगये फिर एक पापियोंको हटाना और दूसरे पापियोंको उनके स्थानपर रखनेकी क्या आवश्यकता है? कौरवोंने कुछ पातक तो किये हैं, परन्तु इस युद्धके करनेसे हमसे जितने पातक होंगे, उतने तो उन्होंने निःसन्देह नहीं किये हैं। कुलक्षय, गुरुहत्या, मित्रद्रोह बंधुवध, सन्तानोंका उच्छेद और इनके नाशसे होनेवाला सभ्यताका नाश हमसे होगा, यदि हम युद्ध करेंगे। इनमेंसे कौरवोंने क्या किया है, कौरवोंने ऐसा एक भी दोष नहीं किया है। कौरवोंने हमारे (पाण्डवोंके) साथ अन्याय किया, एक स्त्रीकी अप्रतिष्ठा की, कुछ और ऐसे थोडेसे पातक भी किये; परन्तु क्या हमसे होनेवाले इन पातकोंकी तुलना उनसे हो सकती है? यदि उनके थोडेसे पातकोंके कारण हमारे स्वजनोंको राज्यगद्दीसे हटाना है तो उनसे अधिक पातक करनेके कारण हमारा राज्यपर हक कैसा सिद्ध हो सकता है?

दोनोंका दोष

'हे कृष्ण! तुम कहोगे कि युद्धसें दोनों ओरके वीर एक दूसरेको मारेंगे, अतः पितृहत्या, गुरुहत्या, मित्रद्रोह आदि दोष दोनों ओर समान होंगे. इसमें कोई कौरवोंका दोष कम और पाण्डवोंका अधिक यह बात नहीं है। यह कथन ठीक है। दोष तो दोनों ओर समान होंगे ही। परंतु

(११) कुलक्षयका परिणाम

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

अन्वयः— कुलक्षये सनातनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति, उत धर्मे नष्टे अधर्मः कृत्स्नं कुलं अभिभवति ॥ ४० ॥

कुलका क्षय होनेसे सनातन अर्थात् परंपरासे चलनेवाले कुलधर्म नष्ट होते हैं, और कुलधर्म नष्ट होनेसे अधर्मका प्रभाव सब कुलपर हो जाता है ॥ ४० ॥

यहां प्रश्न होता है कि यदि ये इस युद्धमें दोष नहीं देखते हैं, तो यह उनका वर्ताव सिद्ध करता है कि लोभके कारण उनकी बुद्धि मारी गई है। हमारी बुद्धि तो वैसी मारी नहीं गई है और यदि हम इसमें दोष स्पष्ट देखते हैं, तो ऐसे भयानक दोषमय कर्मसे हम पीछे क्यों न हटें? किसीने लोभ या मोहसे बछडा मार दिया तो दूसरेको जरूरही गायका वध करना चाहिये, ऐसी तो बात नहीं है। इसीलिये मैंने कहा कि, पृथ्वीके राज्यके लिए क्या, परन्तु त्रिभुवनके राज्यके लिये भी मैं गुरुद्रोहादिक घोर पातक नहीं करूंगा।'

कांटेसे कांटा निकालना

अर्जुनका यह कथन है। युक्तिवाद बडा योग्य है, परन्तु एक कांटा शरीरमें चुभ गया है, वह बाहर नहीं निकल आता, इसलिए दूसरा कांटा फिर शरीरमें घुसा कर ही पहिलेको निकालना पडता है। उस समय यह युक्तिवाद करना कि, भला एक कांटा तो पहिले ही शरीरमें घुस गया है फिर और दूसरा शरीरमें क्यों डाल देते हैं, ठीक नहीं है। क्योंकि दूसरा कांटा शरीरमें डालनेके विना पहिला निकलेगाही नहीं, अतः दूसरा कांटा उपकारक और पहिला अपकारक समझा जाता है। इसी न्यायसे स्वराज्य प्राप्त करनेवालोंके द्वारा चलाया युद्ध साम्राज्यशासकोंके दोषको दूर करनेके लिए अत्यंत आवश्यक और अपरिहार्य होनेके कारण निर्दोष है और उसी युद्धमें साम्राज्यशाहीकी ओरसे जो किया जाता है वह सदोष होता है। इसके अतिरिक्त सर्व साधारण नियम यह है कि जो लोग शासनाधिकारमें रहते हैं, उनके हाथमें अधिकार होनेके कारण वे ही अधिक दोष करते हैं, वैसा दोष उनसे कदापि नहीं हो सकता कि जिनके हाथमें अधिकार नहीं है।

*

दूसरी बात यह है कि यदि माना जाय कि, इस स्वराज्यप्राप्तिके युद्धमें बन्धुवधविषयक दोष और पातक दोनों ओर समान ही हैं, तो उसमें साम्राज्यवादी कौरवोंके पूर्वकालके सब पातक यदि मिलाए जायेंगे, तो वे स्वराज्य प्राप्त करनेवाले पाण्डवोंके पापोंसे निःसंदेह अधिक हो जायेंगे। अतः पाण्डव तुलनासे भी अधिक निर्दोषी सिद्ध होते हैं। इसलिए अर्जुनका यह युक्तिवाद अज्ञानसे पूर्ण ही है।

और भी एक बात है वह यह कि पाण्डवोंने शान्तिकी इच्छासे केवल पांच ही ग्राम मांगे थे। इतनी अल्पसन्तुष्टता दिखाई केवल युद्ध टालनेके लिए। पाण्डव आधे राज्यके स्वामी होकर केवल पांच ग्रामोंपर ही सन्तुष्ट होते हैं, और केवल शांतिके लिये इतना स्वार्थत्याग करते हैं इसका विचार करनेसे, इस युद्धका कोई दोष पाण्डवोंपर नहीं आता है। जो कुलक्षयका अथवा बन्धुवधका दोष है, वह केवल कौरवोंपर ही जाता है। ' जो अधिकारसे उन्मत्त होते हैं और न्याय्य बातें भी नहीं सुनते, उनपर सब दोष जाता है।' इस नियमानुसार युद्ध करके इतने वीरोंका वध करनेपर भी पाण्डव दोषी नहीं और कौरव ही इस वधके दोषी हैं। अतः अर्जुनका युक्तिवाद भ्रममूलक ही है।

अब आगे अर्जुन क्या कहता है देखिए—

(४०–४५) युद्ध करनेके लिए प्रायः दोनों ओरकी सेनाओंमें युवक लोक ही संमिलित होते हैं। 'आषोडशात्सप्ततिवर्षपर्यन्तं यौवनम्। (वात्स्यायनः)' सोलह वर्षसे सत्तर वर्षतक युवावस्था होती है और इसी अवस्थाके पुरुष युद्ध करनेके लिए रणभूमिपर उपस्थित होते हैं। भीष्म द्रोण जैसे अतिवृद्ध पुरुष भी क्वचित् युद्ध करते हैं, परंतु वह नियम नहीं है। अर्थात् युद्धसे जो मारे जाते हैं

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

अन्वयः- हे कृष्ण ! अधर्माभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति । हे वार्ष्णेय ! स्त्रीषु दुष्टासु वर्णसंकरः जायते ॥ ४१ ॥ संकरः कुलघ्नानां कुलस्य च नरकाय एव (भवति); हि एषां पितरः लुप्तपिण्डोदकक्रियाः (सन्तः) पतन्ति ॥ ४२ ॥ कुलघ्नानां एतैः वर्णसंकरकारकैः दोषैः शाश्वताः जातिधर्माः कुलधर्माः च उत्साद्यन्ते ॥ ४३ ॥

हे कृष्ण ! अधर्मसे सब कुल व्याप्त हुआ, तो कुलस्त्रियां दुराचारमें प्रवृत्त होती हैं । हे वृष्णिकुलोत्पन्न कृष्ण ! स्त्रियोंके दोषयुक्त होनेसे वर्णसंकर होता है ॥ ४१ ॥ वर्णसंकर होते ही कुलघातकी पुरुष और उनका सब कुल नरकवासको प्राप्त होता है; और इनके पितर पिण्डप्रदान और जलतर्पण आदि क्रिया लुप्त होनेसे पतित होते हैं ॥ ४२ ॥ कुलका घात करनेवालोंके इन वर्णसंकर करनेवाले दोषोंसे पुरातन जातिधर्म और कुलधर्म लुप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

वे राष्ट्रके सत्व रूप तरुणही होते हैं । इसी कौरवपांडवोंके भारतीय युद्धमें दोनों ओरकी मिलकर १८ अक्षौहिणी सेना उपस्थित थी । अक्षौहिणीका प्रमाण यह है-

० ७ ८ १ २

अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः ।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः ॥

अर्थात गज २१८७०; रथ २१८७०; अश्व ६५६१०; मनुष्य १०९३५० सब मिलकर २१८७०० अक्षौहिणीकी संख्या होती है । इसमें प्रत्येक हाथीके साथ रहनेवाले दस बारह मनुष्य, प्रत्येक रथके साथ रहनेवाले बीस पचीस मनुष्य, घोडेके साथ रहनेवाले दोतीन मनुष्य भी मिलाना उचित है । इनकी गिनती करनेसे अक्षौहिणीमें मनुष्य संख्या आठ दस लाख हो जाती है। महा अक्षौहिणीका प्रमाण १३२१२४९०० गिना है-

० ० २ ४२ १ २ ३ १

खद्वयं निधिवेदाक्षिचन्द्राक्ष्यग्निहिमांशुभिः ।
महाक्षौहिणी प्रोक्ता संख्यागणितकोविदैः ॥

महाभारतीय युद्धमें १८ अक्षौहिणी सेना थी । न्यूनसे न्यून भी गिनती की जाय तो कमसे कम ४० लाख छोटे और मोटे वीर इस युद्धमें संमिलित थे यह बात निश्चित है। ये ४० लाख वीर उस समयकी भारतीय जातिके परिपक्व फल थे, भारतीय जातिकी सारी आशा इनमें इकट्ठी हुई थी। ये भारतीय सभ्यताकी जीवित मूर्तियां थे । भारतीय युद्धमें इनमेंसे गिनतीके दसपांच आदमी ही बचे । शेष सब काटे गये । इनके कट जानेसे भारतीय सभ्यता प्रायः नष्टसी होगई । इस युद्धके पश्चात् राष्ट्रमें कुछ बूढे, कुछ बालक और कुछ स्त्रियां बची थीं और कुछ पुरुषार्थहीन पुरुष रहे होंगे । युद्धमें जखमी होकर कुछ पुरुष बचते हैं तो, वे हाथपांव कटजानेके कारण राष्ट्रमें निकम्मे होकर रहते हैं ।

इस प्रकार महायुद्ध होनेसे राष्ट्रीय सभ्यता, जातीय परंपरा, और कुलपरंपरा टूट जाती है । और राष्ट्रकी दृष्टिसे क्या और जातीय दृष्टिसे क्या अनेक प्रकारकी हानियाँ होती हैं । इसी हानिका वर्णन अर्जुन कर रहा है । अर्जुन कहता है कि यदि हमने यह युद्ध किया, तो इस समयतक चली आयी सारी सभ्यता नष्ट हो जायगी । हमारी आर्य जातिने सहस्रों वर्षोंके प्रयत्नसे बनायी वैदिक संस्कृति लुप्त हो जायगी । युद्धके पश्चात् बचे हुए कुछ बूढे थोडी देरमें मर जायेंगे और प्राचीन सभ्यताकी परंपराको बतानेवाला कोई मनुष्य इस जातिमें नहीं रहेगा ।

जो बालक बचेंगे वे सभ्यतासे अनभिज्ञ होनेके कारण

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अन्वयः- हे जनार्दन ! उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां नरके नियतं वासः भवति, इति अनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥ अहो ! बत, महत्पापं कर्तुं वयं व्यवसिताः, यत् राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुं उद्यताः ॥ ४५ ॥

हे जनार्दन ! जिनके कुलधर्म नष्ट होते हैं, उन मनुष्योंका नरकमें निश्चयसे वास्तव्य होता है, ऐसा हम सुनते हैं ॥ ४४ ॥ ओ हो ! कितना बडा भारी पाप करनेके लिये हम सिद्ध हुए हैं, जो राज्यसुखकी लालसासे हम अपने भाइयोंको ही मारनेके लिए उद्यत हुए हैं ! ॥ ४५ ॥

भावार्थ— कुलके बडे पुरुषोंका वध होनेसे स्त्रियां दुराचार करती हैं, और दुराचारसे कुलका संपूर्ण सत्व नष्ट होता है, अतः कुलका घात करना बडा अनर्थकारक है ॥

सभ्यताकी रक्षा करनेमें सर्वथा असमर्थ होंगे, और जब वे युवा बनेंगे तब उनकी स्थिति संस्कारहीनसी होगी। क्या उस समय वे आर्यसन्तान कहने योग्य रहेंगे ? कभी नहीं।

जो स्त्रियां बचेंगी, उनमें कुछ गर्भिणी होंगी, उनके बच्चोंपरभी आनुवंशिक शुद्ध आर्यत्वके संस्कार कौन डालेगा ? अतः वेभी संस्कारहीन ही बनेंगे। जो तरुण युवतियां पति मरनेके कारण विधवाएं हो गईं होंगी, उनमेंसे कुछ सती बनकर पतिके साथ जल जायेंगी, शेष बची स्त्रियोंमें कुछ थोडी सतीत्वकी रक्षा करेंगी, ऐसा मानने पर भी चालीस लाख तरुणोंकी सबकी सब स्त्रियां पतिव्रता धर्मसे रहेंगी और उनसे कोई बुरा आचरण नहीं होगा, ऐसा कहना कठिन है। क्योंकि यह तारुण्यका देहधर्म है और वह पूर्ण स्वाधीन रखना अति कठिन है। इस कारण उनसे व्यभिचार आदि कुपथका व्यवहार हो जायगा और उस कारण कुलकी शुद्धता मारी जायगी।

चालीस लाख वीरोंका संहार होनेसे जो विधवाएं पीछे रहेंगी, उनके व्यभिचारका पातक तो हम युद्ध करनेवालों पर ही आवेगा। व्यभिचारसे कुलकी शुद्धता नष्ट होगी, कुलपरंपरासे चले आये सदाचार नष्ट हो जायेंगे, और ऐसी प्रजा बचेगी कि जिनको पूर्वेतिहासके विषयमें कुछ भी अभिमान नहीं और जिनको पुरातन प्रथाओंका थोडा भी ज्ञान नहीं है। जो स्त्रियां व्यभिचारके लिए प्रवृत्त हो जायेंगी, वे तो स्ववर्णमें या स्वजातीमें ही व्यभिचार करेंगी, इस विषयमें कोई नियम नहीं होगा। क्योंकि अनाचारमें नियम किस प्रकार रह सकता है ? यदि उनमें प्रतिलोम व्यभिचार होगया, अर्थात् हीन वर्ण या हीन जाती अथवा हीन संस्कारोंके मनुष्योंसे व्यभिचार हो जाय, तो वह वर्णसंकरसे बिगडा हुआ कुल जीवित भी रहा, तथापि उसमें कुसंस्कारका बीज घुसनेके कारण, उससे सभ्यताकी इतनी हानि हो जायगी कि. वह किसी प्रकार भी फिर ठीक नहीं हो सकती।

वर्णसंकरसे जातिकी जाती नष्ट हो जाती है। आज जो प्रत्येक कुलका अभिमान एक एक वीरमें है, वह पूर्ण रीतिसे नष्ट हो जायगा और आज जो हीन संस्कारके थोडेसे लोग दीख पडते हैं, उनकी ही संख्या देशभरमें बढ जायगी। अर्थात् इस युद्धसे हम आर्य जातिका और परंपरासे चली आयी आर्य वैदिक सभ्यताका ही नाश कर रहे हैं ! ! इस युद्धसे लाभ होनेकी तो कोई आशा दीखती ही नहीं है। इसलिए युद्ध करना बडा भारी पाप है ।

राज्य और सुखके लिए जातिका ही समूल नाश करना कदापि योग्य नहीं है, अतः मैं युद्ध नहीं करता, यह अर्जुनके कथनका आशय है।

जो युद्धका भयानक चित्र अर्जुनने अपने भाषणमें खींचा है, वह सत्य है, इसमें कोई संदेह नहीं है। हरएक महायुद्धमें ऐसा हुआ ही करता है। परन्तु महायुद्ध ऐसे समय होते हैं कि, उससे पूर्व एक या अनेक पक्षोंके पातक बहुत ही इकट्ठे हुए होते हैं और पातकोंके कारण जनताके अन्तःकर-

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

अन्वयः- यदि शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्राः अशस्त्रं अप्रतीकारं मां रणे हन्युः, तत् मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि ये शस्त्रधारी धृतराष्ट्रपुत्र, मुझ निःशस्त्र हुए और प्रतिकार न करनेवालेको इस रणक्षेत्रमें मार डालेंगे, तो वह मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

णोंको ऐसी विचित्र गति प्राप्त हुई होती है कि, उस समय उन दोनों पक्षोंको युद्धसे कोई भी रोक नहीं सकता। अर्थात् युद्ध अपरिहार्य होते हैं। भारतीय युद्ध ऐसाही अपरिहार्य था, प्रयत्न करनेपर भी इसको रोकनेमें कोई समर्थ नहीं हुआ। ये पातक केवल दुर्योधनके द्वाराही हुए ऐसी बात नहीं है, ये इसके पूर्वसे हो रहे थे। शन्तनुराजाका वृद्धावस्थामें द्वितीय विवाह करना, नवयुवतीके पुत्रको राज्याधिकारी निश्चित करना और सच्चे युवराजका अधिकार स्त्रीवशताके कारण छीना जाना, ये और ऐसे अनेक पातक इससे पूर्व हो चुके थे और क्रमशः हो रहे थे। मानो राज्याधिकारियोंको पातक करनेका अभ्यास हुआ था। राष्ट्रमें ऐसे पातक जमा होते हैं और वे राष्ट्रके मनपर कुसंस्कार डालते रहते हैं, ऐसे कुसंस्कार जमते जमते एक समय ऐसा आता है कि, जिस समय राष्ट्रीय मन अधिक कुसंस्कारोंका भार सहनेमें असमर्थ हो जाता है, और थोडेसे निमित्तसे झगडा छिड जाता है, तथा युद्धकी अग्नि भडक उठती है। कोई संधि करने लगा, तो उसका भाषण दूसरा समझ ही नहीं सकता और जो जो प्रयत्न संधिके लिये किया जावे, वही युद्धकी अग्नि प्रदीप्त करनेके लिये ही कारण हो जाता है !!!

ऐसी अवस्थामें महायुद्ध अपरिहार्य होते हैं। इस समय यदि अर्जुन जैसा एकाध वीर युद्धसे विमुख हुआ, तो उसके स्थानपर दूसरा खडा हो जाता है और युद्ध होता ही है। अतः ऐसे समय अर्जुनके समान युद्धसे भाग जानेका निश्चय करना भी युक्त नहीं होता। क्योंकि वह समय ऐसा होता है कि एक वीरके भाग जानेसे या मर जानेसे युद्ध बंद होना सर्वथा असंभव होता है। युद्ध बन्द उस समय होगा कि जब एक पक्ष पूरा कमजोर हो जाय अथवा दोनों पक्ष पूर्णतया युद्ध करके थक जायँ।

अर्जुनने जो युद्धके भयानक परिणाम वर्णन किये वे सत्य हैं, परन्तु युद्ध अपरिहार्य होनेके कारण इस समय अर्जुनको भागना ठीक नहीं था। अर्जुन रणभूमिसे संन्यास लेकर भागभी जाता तो युद्ध कभी बन्द नहीं होता। यहां समयको न जानना अर्जुनका दोष है।

भारतीय युद्धके समय जैसा युद्ध अपरिहार्य हुआ था वैसाही परशुरामके समय भी युद्ध अपरिहार्यही हुआ था। उस समय भी सहस्रों क्षत्रियकुलोंका संहार हुआ। भारतीय युद्धमें भी लाखों क्षत्रिय विनष्ट हुए। द्रोण, कृप, और अश्वत्थामाकी बात छोड दी जाय, तो शेष प्रायः सबके सब क्षत्रियवीर ही थे। क्योंकि भारतीय युद्धके समय विशेषकर क्षत्रिय ही युद्ध करते थे। परन्तु यदि राष्ट्रके हरएक व्यक्तिको युद्धदीक्षा लेनेका प्रसंग उत्पन्न हो, तो सब लोगोंमें केवल एकही क्षात्रगुणका उत्कर्ष होता है और शान्त विचारशीलता, व्यापार कुशलता और कारीगर ये ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रोंके गुण प्रायः दब जाते हैं। और इस प्रकार अन्य वर्णोंके दब जानेसे भी राष्ट्रपर आपत्ति ही आती है। यह भी एक प्रकारका वर्णसंकर समझिये अथवा वर्णनाश समझिये, महायुद्धके कारण हो जाता है। ब्राह्मण सदाके लिये क्षात्रकर्म करने लग जायँ तो वह भी एक प्रकारसे वर्णसंकर ही हो जाता है। इसी प्रकार ब्राह्मणके वैश्यकर्म करनेसे भी उसके ब्राह्मणगुण न्यून होते हैं। इसकारण वर्णभ्रष्टता हो जाती है। दीर्घयुद्ध तथा महायुद्धके कारण ये सब हानियां होती हैं। अर्जुन इन हानियोंका अनुभव कर रहा है, इसलिये वह युद्ध करनेसे निवृत्त होनेका निश्चय करता है।

यहां श्लोक ४१ में श्रीकृष्णको ' वार्ष्णेय ' अर्थात् ' वृष्णीके कुलमें उत्पन्न वीर ' कहा है। इस शब्दसे अर्जुनने यहां यह सूचित किया है कि ' तुम भी तो वृष्णिकुलमें उत्पन्न हुए हो। क्या तुम स्वयं चाहते हो कि, तुम्हारे कुलका ऐसा नाश हो जाय और वर्णसंकर होकर कुलका सत्त्व नष्ट हो जाय ? जैसा तुम्हारा कुल तुम्हें प्रिय है, वैसाही हमारा कुल हमें प्रिय है। इसलिये मुझे ऐसा घोर कर्म करनेकी उत्तेजना देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। '

संजय उवाच— एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अन्वयः— संख्ये एवं उक्त्वा, शोकसंविग्नमानसः, अर्जुनः, सशरं चापं विसृज्य, रथोपस्थे उपाविशत् ॥ ४७ ॥

संजय बोले— इस प्रकार रणभूमिमें भाषण कर, शोकसे व्याकुल चित्त होकर, अर्जुन धनुष्यबाण छोडकर, रथमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

इसप्रकार अर्जुन युद्धसे निवृत्त होता है और अन्तिम निश्चय कहता है–

(४६) युद्धसे होनेवाला भयानक कुलका नाश अर्जुनने देखा और उससे आगे जाकर होनेवाले सभ्यताके नाशरूपी भयंकर परिणामका भी उसने विचार किया, और उसने युद्ध न करनेका ही अन्तिम निश्चय किया। स्वय युद्ध न करनेपर भी विपक्षी शस्त्र चलायेंगे तो अपनी मृत्यु होगी ही, इस विषयमें वह कहता है कि, " यदि मेरे शांत निर्वैर रहनेपर शत्रु मुझपर शस्त्र चलायेंगे, तो वह मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा । " क्योंकि जनता कहेगी कि, " अपनी ओरसे अर्जुनने तो शांति रखनेका पराकाष्ठा–का यत्न किया; सामर्थ्य रहनेपरभी अहिंसाव्रतका अवलंबन किया, तो भी साम्राज्यवादी दुष्ट कौरवोंने अपनी पाशवी शक्तिके घमंडमें न्याय और अत्याय न देखते हुए, निःशस्त्र और विरोध न करनेवालेका विनाकारण वध किया ! निःशस्त्र निर्वैर और अहिंसाशील मनुष्योंपर पाशवी बलसे आक्रमण करना और उनपर शस्त्र चलाना बडी अधोगतिको पंहुचे हुए साम्राज्यवादियोंका ही काम है। यह गिरा हुआ कार्य कोई अन्य नहीं कर सकता । " जनता ऐसा कहेगी और जनताके ये शब्द ही मेरे परम कल्याण होनेके सूचक हैं । यहां अर्जुनका भाषण समाप्त होता है।

(४७) संजयने धृतराष्ट्रसे यह सब वृत्तान्त कह कर सूचित किया कि " अर्जुन तो अपना धनुष्यबाण त्यागकर अपने रथमें दुःख करता हुआ बैठ गया । " अर्थात् युद्ध करनेका उसका संपूर्ण उत्साह नष्ट हुआ, उसकी वीरवृत्ति चली गई, उसका हृदय दुःखसे फट गया और वह पूर्ण रीतिसे उदास हो गया है।

संभव है कि यह वृत्तान्त सुनकर धृतराष्ट्रको मन ही मनमें अत्यंत आनंद हुआ होगा, क्योंकि संजयद्वारा उसने जो उपदेश पांडवोंको करवाया था, उसका जो परिणाम होना धृतराष्ट्रको अभीष्ट था, वही उसने संजयके मुखसे श्रवण किया।

इस प्रकार स्वराज्यप्राप्तिका प्रयत्न करनेवाले पांडवके सन्मुख ऐन आशाके समय पूर्ण उदासीनता और साम्राज्य–वादी धार्तराष्ट्रोंके सामने अपना साम्राज्य कंटकरहित होकर चिरस्थायी होनेकी आशा खडी हुई ! परतु होनेवाला कुछ और ही होता है।

स्वराज्यका प्रयत्न करनेवालोंकी वारंवार होनेवाली निराशासे ही उनकी परमेश्वरपर भक्ति अधिक होने लगती है और उससे उनको नवशक्ति मिलती है और साम्राज्यवा–दियोंके विजयोंसेही उसका घमंड बढ जानेके कारण उनका नाश उनके समीप आने लगता है ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, अर्जुनविषादयोग नामक पहिला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

विषादयोगका विचार

'श्रीमद्भगवद्गीता' एक अपूर्व ग्रन्थ है, इसी कारण इसकी इतनी मान्यता इस देशमें और इस देशके बाहरके देशोंमें भी हो गई है। हिंदूमात्रका प्रेम इस भगवद्गीतापर असीम है। पुराने विचारके बहुतसे हिंदू प्रतिदिन गीताका पाठ श्रद्धासे करते हैं। संस्कृतज्ञ हिंदू गीतापर विचार करते हैं और उसका प्रवचन करनेमें अपने आपको धन्य समझते हैं। शास्त्रज्ञानी हिंदू गीतापर टीकाटिप्पणी, रूपान्तर, भाषान्तर अथवा अन्य प्रकारका प्रबन्ध या निबन्ध लिखनेमें आनन्द मानते हैं। इस कारण इस भारतवर्षमें इस 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर इतने ग्रन्थ निर्माण हुए हैं कि, उन सबका संग्रह करना किसी साधारण मनुष्यकी शक्तिके बाहरका कार्य है। बहुतसे भारतीय कवियोंने इसका रूपान्तर अपने अपने प्रिय छन्दमें किया है, सैकडों भाषान्तर कर्ताओंने गद्यमें विविध भाषान्तर किये हैं, नवीन ग्रन्थकार अपने मतकी पुष्टीके लिये श्रीमद्भगवद्गीताका प्रमाण दिये विना सन्तुष्ट नहीं होते। द्विजोंके भोजनके पूर्व उच्चारे जानेवाले संकल्पमें भी भगवद्गीताका एक श्लोक 'अहं वैश्वानरो भूत्वा० (भ० गी० १५।१४)' संमिलित हुआ है, जिससे प्रायः ऐसा कहा जा सकता है कि, कोई द्विज भगवद्गीताका श्लोक पढनेके विना भोजन नहीं करता। श्रीमद्भगवद्गीताने इतना महत्त्वका स्थान हिंदूके हृदयमें प्राप्त किया है, इससे इस ग्रन्थकी श्रेष्ठता ज्ञात हो सकती है।

भारतवर्षकी भाषाओंसे भिन्न विदेशकी कई भाषाओंमें भी उन देशोंके निवासियोंनेही साठसे अधिक भगवद्गीताके भाषान्तर स्वयंस्फूर्तिसे किये हैं। जिसका जो धर्मग्रन्थ है, वह उसका प्रचार करनेकी इच्छासे दूसरी भाषाओंमें भाषान्तर करता है, यह बात स्वतन्त्र है। इस प्रकार हिंदू लोगोंने गीताका रूपान्तर अन्यान्य देश-भाषाओंमें किया होता, तो कोई विशेष बात नहीं होती; परन्तु भगवद्गीताका भाषान्तर जो अन्यान्य भाषाओंमें हुआ है, वह हिंदुओंद्वारा नहीं हुआ है, परन्तु अन्य देशके विद्वानोंने इस गीताकी विशेषताका अनुभव किया और स्वयंस्फूर्तिसेही इसके विचार अपनी अपनी भाषामें ग्रथित किये। ग्रन्थकी योग्यताका निश्चय करनेमें यह एक बात जैसी 'श्रीमद्भगवद्गीता' के अनुकूल है, वैसी किसी अन्य धर्मग्रन्थके विषयमें नहीं है। इस प्रकार भारतवर्षीय और दूसरे देशके विद्वान् इस भगवद्गीताको विशेष माननीय मानते हैं, ऐसा कहा जाय तो वह कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसीलिये इसका विचार करनेका यत्न यहां किया जाता है। सबसे प्रथम इसके नामका विचार करना योग्य है।

श्रीमद्भगवद्गीताका नाम

गीता

'श्रीमद्भगवद्गीता, भगवद्गीता, अथवा गीता' ये इसके नाम सबके मुखमें स्थिर हो चुके हैं। इन नामोंका अर्थ 'भगवान्का गीत' है साक्षात् भगवान्के मुखारविन्दसे इसके प्रकट होनेके कारण इसका महत्त्व विशेष है, यह बात हरएक मान सकता है, अर्थात् इस विषयमें किसीका विरोध नहीं हो सकता। क्योंकि श्रीकृष्णभगवान्ने अर्जुनको यह उपदेश किया, यह बात सभी मानते हैं। 'धर्मसंस्थापना' करनेके लिये श्रीकृष्ण भगवान्ने जन्म लिया था, और जो धर्म उन्होंने कहा और आचरण करके दिखाया वही धर्म इस 'गीता' में कहा है। भगवान् श्रीकृष्णने जिस मानवी धर्मका उपदेश किया अथवा धर्मतत्त्वोंका गायन किया वही 'श्रीमद्भगवद्गीता अथवा भगवद्गीता' है। यह नामही इस उपदेशके भगवान्के मुखसे आनेकी बात सूचित करता है, और इसलिये भक्तका आत्मविश्वास बढाता है कि, यदि मैं इस उपदेशके अनुसार चलूं तो निःसन्देह मेरा बेडा पार हो जायगा; क्योंकि, इस उपदेशके अनुसार चलनेका अर्थ ही यह है कि भगवान्के आदेशके अनुसार चलना।

'गीता' शब्दका अर्थ 'गायी गयी' है। इस समय तक अनेक गीत गाये गये हैं, परन्तु 'गीता' शब्द सबसे प्रथम इस श्रीमद्भगवद्गीताके लिये प्रयुक्त हुआ, क्योंकि इसको देखकर लोगोंका यह निश्चय हो चुका कि, यदि कोई सच्चा मानवधर्मका गीत गाया गया हो, तो वह यही है। इसके समान दूसरा कोई गीत नहीं है। जैसा कहते हैं कि

इस सुपुत्रको जन्म देनेसे यह माता ' माता ' बनी, अर्थात् अन्य माताएं पुत्रका प्रसव करनेवाली तो निःसन्देह होती हैं, परन्तु सुपुत्रके कारण ही माताका नाम यशस्वी होता है, उसी प्रकार गीत तो बहुतेरे हैं, जो शब्द छन्दमें बद्ध होते हैं वे सब गीत ही हैं। परन्तु इस गीतासे मनुष्य परम धन्य हो सकता है, इसलिये यही सच्चा गीत है, अतः इसका नाम ' गीता ' प्रसिद्ध हुआ और सबको यही नाम अत्यंत प्रिय हुआ। भगवद्गीताके पश्चात् सैकडों गीताएं बनीं। रामगीता, अनुगीता, आदि सैकडों गीताग्रंथ हैं, परन्तु जनताने ' गीता ' नाम श्रीमद्भगवद्गीताका ही सच्चा नाम समझा है, अतः ' गीता ' शब्दसे किसी अन्य गीताका बोध नहीं होता है, केवल इस भगवद्गीताका ही बोध होता है।

इस गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तका संकल्प इस प्रकार रहता है-

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे [पुरुषोत्तमयोगो नाम
पञ्चदशोऽ] ध्यायः ॥ १५ ॥

इसमें आये ' श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद्, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद ' इन पांच शब्दोंमेंसे कोई एक नाम या इनमेंसे हरएक नाम इस ग्रंथका हो सकता है। इसका नाम ' श्रीमद्भगवद्गीता, भगवद्गीता या गीता ' होनेके विषयमें इसके पूर्व कहा ही है। उसी प्रकार इसका नाम ' उपनिषद् ' भी है, सभी जानते हैं कि यह गीता उपनिषदोंका सार है-

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

' संपूर्ण उपनिषद् रूपी जितनी गौवें हैं, उनका सारभूत यह दूध श्रीकृष्ण भगवान्ने निचोडा है, अर्जुन नामक बुद्धिमान् बछडा उस दूधका सेवन करता है। इस प्रकार यह उपनिषद्का सार होनेसे उपनिषद् ही है। अतः भगवद्गीताका नाम उपनिषद् भी हो सकता है। यह ' उपनिषद् ' का अर्थ ' (उप) समीप (नि) निःसंदेह (सद्) पहुँचानेवाला ज्ञान ' है। इस गीतामें कहा हुआ ज्ञान मनुष्यको निःसंदेह ईश्वरके समीप जाकर विराजमान होनेका अधिकारी बना सकता है, इसलिये इसका नाम ' उपनिषद् ' है।

इस गीताका नाम ' ब्रह्मविद्या ' भी है। ' ब्रह्म ' नाम अति महती शक्तिका है, उस महान् शक्तिका ज्ञान (विद्या) जानना और अपनी शक्ति बढाना इस ब्रह्मविद्याका उद्देश्य है। हरएक मनुष्य अपने अल्पत्वका अनुभव करता ही है, उसको इस ब्रह्मविद्याका ज्ञान होनेसे अपनी शक्तिका विकास किस प्रकार किया जा सकता है, इसका ज्ञान हो सकता है। और इस ज्ञानके सहारे साधक अपनी शक्ति अतिविस्तृत कर सकता है।

इस गीताका नाम ' योग-शास्त्र ' भी है। इस गीतामें अठारह योग कहे हैं। प्रत्येक अध्यायमें एक एक योग कहा है। सब अठारह योग मिलकर गीताका योगशास्त्र होता है, इस विषयमें आगे विस्तारपूर्वक कहा जायगा, अतः यहां इस विषयमें इतनाही कहना पर्याप्त है।

इस ग्रन्थका नाम ' श्रीकृष्णार्जुनसंवाद ' भी है। यह पूर्ण पुरुष और साधकका संवाद है। श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुष हैं और अर्जुन (अर्जन) प्राप्त करनेवाला साधक है। पूर्ण पुरुषसे पूर्ण बननेके साधनका ज्ञान यह साधक प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, और ज्ञान प्राप्त होते ही वह वैसाही आचरण करता है। इसमें एक साधकका इतिहास होनेसे हरएक साधकको वह अत्यंत उपयोगी हो सकता है। यदि मनुष्यमात्र साधक माना जाय, तो यह संवाद मनुष्यमात्रको मार्गदर्शक होना संभव है।

ये पांच नाम गीताके अध्यायके अन्तिम संकल्पमें हैं। इनमें ' योगशास्त्र ' यह एक नाम है। गीतामें ' योग ' नाम ' कर्मयोग ' के लिये आगया है ऐसा कह कर स्वर्गीय श्री० लो० बाल गंगाधर तिलक महोदयजीने अपनी भगवद्गीताकी टीकाको ' कर्मयोगशास्त्र ' नाम दिया है। इसीको आपने ' श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य ' भी कहा है। श्रीमद्भगवद्गीताका रहस्य ' कर्मयोग ' ही है, इसमें किसी का विरोध नहीं हो सकता। कर्म किस प्रकार करनेसे मनुष्यको बंधन नहीं होगा, इसका अपूर्व विवेचन इस गीतामें है, इसलिये इसका नाम ' कर्मयोगका शास्त्र ' योग्यही है।

इसके पश्चात् श्री०महात्मा मोहनदास करमचंद गांधीजीने श्रीमद्भगवद्गीताका अनुवाद गुजराती भाषामें प्रसिद्ध

किया, जिसका नाम उन्होंने 'अनासक्तियोग' रखा है। इस विषयमें वे स्वयं इस प्रकार लिखते हैं-

"गीताका आशय तो आत्मार्थीको आत्मदर्शनका अद्वितीय उपाय बताना है। जो वस्तु हिंदुधर्ममें यत्रतत्र बिखरे हुए रूपमें पाई जाती है उसे गीताने अनेक रूपमें... भली भाँति सिद्ध की है। कर्मफलत्यागही वह अद्वितीय उपाय है। जहां देह है वहां कर्म तो है ही। ... पर कर्म मात्रमें कुछ न कुछ दोष तो रहता ही है। और मुक्ति तो निर्दोषको ही मिल सकती है। तो फिर कर्मबंधनसे अर्थात् दोष स्पर्शसे कैसे छूटा जाय? गीताजीने निश्चयात्मक शब्दोंमें इसका जवाब यों दिया है- निष्काम कर्मसे। यज्ञार्थकर्म करके। कर्मफलको त्याग कर। ..." "शारीरिक या मानसिक कोईसी चेष्टा कर्म है, तो फिर कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधमुक्त कैसे रहे? यह पहेली गीताजीमें जिस तरह बूझीगई है, मैं नहीं जानता कि दूसरे किसी एक भी धर्म-ग्रंथमें यह इस तरह बूझी गई हो। गीता कहती है,- "फलासक्ति छोडो और कर्म करो," "निराशी बनो और कर्म करो," "निष्काम बनकर कर्म करो" यह गीताजीकी कभी न भूलने योग्य ध्वनि है, कर्म छोडनेवाला गिरता है और कर्म करते हुए उसके फलको छोडनेवाला चढता है।"

यह गीताकी विशेषता है अतः 'अनासक्तियोग' यह नाम महात्मा गांधीजीने इस गीताको दिया है वह सर्वथा योग्य है क्योंकि गीताका यही आशय है।

जिस प्रकार लोकमान्य तिलकजीने गीताको 'कर्मयोग शास्त्र' नाम दिया और महात्मा गांधीजीने इसीको 'अनासक्तियोग' नाम दिया, उस प्रकारके भिन्नभिन्न नाम गीताको देनेकी परंपरा पहिलेसे नहीं चली आयी है। यह बात नवीन है। श्रीमच्छंकराचार्यजीसे लेकर जो जो टीकाकार हुए हैं, उनमेंसे किसीने भी दूसरा नाम देनेका यत्न नहीं किया। श्रीमच्छंकराचार्य भूमिकामें लिखते हैं—

"दीर्घेण कालेन...प्रवर्धमाने अधर्मे जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता...विष्णुः...कृष्णः किल संबभूव। ...सः ... लोकानुग्रहं कुर्वन्... वैदिकं धर्मद्वयमर्जुनाय ... उपदिदेश। तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबंध॥ तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं...। तस्यास्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं...॥"

(गीताभाष्यम्)

"बहुत समय जानेके पश्चात् .... अधर्म बढनेसे अनंतर जगत्की सुस्थिति करनेकी इच्छा करनेवाले आदिस्रष्टा ... विष्णुः...कृष्ण रूपसे उत्पन्न हुए। ...उसीने...जनताके ऊपर कृपा करते हुए ...वेदके दोनों-प्रवृत्ति निवृत्ति-रूप - धर्मोंका उपदेश अर्जुनको... किया। भगवान्ने जैसा उपदेश किया वैसाही उस धर्मको वेदव्यासजीने... गीता नामक सातसौ श्लोकोंसे ग्रथित किया। यह गीताशास्त्र मानो समस्त वेदोंका सार ही है...। उस गीताशास्त्रका संक्षेपसे प्रयोजन निश्रेयस है...।"

इसप्रकार श्रीमच्छंकराचार्यजीने इसका नाम "गीताशास्त्र" माना है। कोई अन्य नाम माना नहीं है और न दूसरा नाम दिया है।

श्रीमधुसूदनसरस्वतीभी इसको "गीताशास्त्र" ही कहते हैं देखिये-

परं निश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम्॥ २॥
एतत्सर्वं भगवता गीताशास्त्रे प्रकाशितम्॥ ४०॥

(मधुसूदनसरस्वती टीका)

श्रीधरस्वामीभी वही नाम स्वीकारते हैं-

यथामति समालोड्य गीताव्याख्यां समारभे॥ ३॥
गीता व्याख्यायते यस्याः पाठमात्रप्रयत्नतः॥ ४॥

(श्रीधरस्वामी-टीका)

इसप्रकार ये दोनों सुप्रसिद्ध टीकाकार इस ग्रंथका नाम 'गीता' इतनाही स्वीकारते हैं और कोई नया नाम नहीं देते। इसी प्रकार जो जो प्राचीन टीकाएं हैं उन सबमें 'गीता' ही नाम स्वीकृत किया है।

अर्थात् 'गीता' इतनाही नाम इस ग्रंथका सर्वसंमत और सर्वप्रसिद्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता अथवा भगवद्गीता ये नाम भी हैं, परंतु जितना 'गीता' शब्द प्रचलित है उतने ये भी प्रचलित नहीं हैं। अन्य नाम जो ऊपर दिये हैं अर्थात् 'उपनिषद्, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' ये कभी प्रचलित नहीं हुए थे। वास्तविक देखा जाय तो 'श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्' इतना इसका नाम होना योग्य है, परंतु श्रीमच्छंकराचार्य जैसे आद्य भाष्यकारनेभी इतना

लंबायमान नाम स्वीकारा नहीं है, अर्थात् उनके समयमें भी ‘ गीता ’ इतनाही नाम सर्वसंमत हुआ था ।

लो० तिलक इसको ‘ कर्मयोगशास्त्र ’ कहते हैं, और महात्मा गांधीजी इसको ‘ अनासक्तियोग ’ कहते हैं। गीतामें कर्मयोग कहा है और वह कर्म अनासक्तिसे करने की युक्ति इसी ग्रंथमें कही है, अतः ये दोनों नाम नये होनेपरभी योग्य हैं। परंतु ये साधकका मार्ग बतानेवाले नाम हैं। साधक कर्म करे और वह अनासक्तिसे कर्म करे, यह भाव इन नामोंसे सूचित होता है। ऐसे साधकका मार्ग बतानेवाले ग्रंथके नाम बहुतही थोडे होंगे। प्रायः ग्रंथोंके नाम साध्यका निर्देश करनेवाले होते हैं। यहां विचारणीय बात यह है कि क्या श्रीमद्भगवद्गीताके ऐसे कोई नाम हैं कि जो साध्यका निर्देश करनेवाले माने जा सकते हैं? पूर्वोक्त संकल्पमें जो ‘ उपनिषद् और ब्रह्मविद्या ’ ये दो नाम हैं वे कुछ अंशसे ब्रह्मरूपी साध्यकी सूचना देते हैं। ‘ योगशास्त्र ’ यह नाम ‘कर्मयोगशास्त्र’ माननेपर साधकका मार्ग बताता है, यह सत्य है; परंतु गीतामें ‘ योग ’ शब्दका अर्थ ‘ कर्मयोग ’ ही है, यह बात सत्य नहीं है। ‘ समत्वं योग उच्यते (भ० गी० २।४८)’ समत्वका नाम योग है, ऐसी योगकी व्याख्या स्वयं गीतामें बताई है, यह गीताका स्वतंत्र सिद्धांत है, इसलिये गीताके अध्याय समाप्तिके संकल्पके ‘ योगशास्त्र ’ शब्दका अर्थ ‘ समताशास्त्र ’ (Science of Equanimity) ऐसा मानना योग्य है। गीताका “ समता ” ही साध्य है। ईश्वरप्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति, आदिकाभी यही अर्थ है कि परिधिको छोडकर मध्य केन्द्रमें जाना और वहांका समत्व प्राप्त करना। यह समत्व व्यक्तिके मनमें स्थापन होना चाहिये, उसके उच्चार और आचारमें प्रदर्शित होना चाहिये, यह समत्व समाजमें, राष्ट्रमें और जगत्में स्थापन होना चाहिये। संपूर्ण मानवी समाज यदि किसी बातके लिये तडप रहा है तो इसी समताके लिये तडप रहा है। यह समत्व कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसका ज्ञान भगवद्गीताने उत्तम रीतिसे दर्शाया है, अर्थात् भगवद्गीताका यदि कोई अन्वर्थक नाम हो सकता है, तो ‘ समताशास्त्र ’ ही है और इसी अर्थका ‘योगशास्त्र’ ऐसा शब्द अध्यायकी समाप्तिके संकल्पमें आया है। वहां योगका अर्थ ‘ कर्मयोग ’ नहीं है। क्योंकि गीतामें ‘ योग ’ शब्दका अर्थ समत्व है ऐसा स्वयं गीतारचयिताने कहा है। आसक्तिरहित कुशलतापूर्वक किये कर्मसे समता स्थापन हो सकती है, यह बात निःसंदेह है, परंतु अनासक्तियुक्त कर्मकौशलरूप कर्मयोग (भ० गी० २।५०) साधन है और उसका साध्य ‘समता’ है।

‘ योग ’ शब्दका मूल अर्थ ‘ जोडना ’ है, किसीसे अपना संबन्ध जोडनेका नाम योग है। अर्जुनने अपना संबन्ध सबसे पहिले ‘ विषाद ’ (खेद) के साथ जोडा था। इसीलिये प्रथम अध्यायका नाम ‘ अर्जुन विषाद-योग’ हुआ है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अपना संबन्ध ‘ पुरुषोत्तम (ईश्वर) ’ से जोडेगा, तो वह उसका ‘ पुरुषोत्तमयोग ’ होगा। मनुष्यको खेदसे मुक्त करके उसका संबन्ध ‘ उत्तम पुरुष ’से कराना भगवद्गीताका साध्य है। इसमें बताया है कि एक मनुष्य जो प्रारंभमें खेदसे युक्त था, वही गीतोपदेश श्रवण करते करते ‘ उत्तम पुरुष ’ से युक्त होकर ‘ नरका नारायण ’ बननेका अधिकारी हुआ। नरका नारायण, पुरुषका पुरुषोत्तम, बनाना गीताका ध्येय है। इसलिये इसका नाम ‘ पुरुषोत्तमयोग ’ अथवा ‘ नारायणयोग ’ भी हो सकता है। इसके १५ वे अध्यायमें ‘ पुरुषोत्तमयोग ’ कहा है, यही अध्याय सब अध्यायोंमें मुख्य है, क्योंकि इसमें मनुष्यका अन्तिम साध्य बताया है, अन्य अध्यायोंमें जो कहा है वह इस एकमात्र साध्यके विविध साधनही हैं।

अर्थात् हमारे मतसे गीताका नाम ‘ पुरुषोत्तमयोग ’ है, यह नाम ग्रंथोक्तभी है, और गीतामें जो जो उपाय कहे हैं वे सबके सब इसी साध्यके साधनरूप हैं। यदि दूसरे किसी नामकी कल्पना करनी है तो ‘ समतायोग ’ का नाम उसके बाद ध्यानमें आसकता है यह नाम भी ग्रंथोक्त ही है।

‘ योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।’
(भ० गी० ६।३३)

“ आपने जो समत्वरूपी योग कहा है ” यहां साम्ययोग शब्दही प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार जगत्में समता और शान्ति स्थापन करनेके लिये ही गीता कही गई है। यहां कई ऐसी शंका करेंगे कि यह गीता तो युद्धभूमिपर कही गई है और जो युद्ध न करनेका निश्चय कर रहा था उसीसे अन्तमें युद्ध कराया है, अतः यह गीता युद्ध करानेवाली है और समता बढानेवाली नहीं है। यह शंका विचार

*

करनेके पूर्व सत्य प्रतीत होती है, परन्तु थोडासा विचार करनेपर यह शंका व्यर्थ है ऐसाही प्रतीत होगा। जो युद्ध श्रीकृष्णभगवान्‌ने अर्जुनसे करवाया वह समता स्थापन करनेके लिये करना अपरिहार्य हुआ था। कौरवोंने विषमता उत्पन्न की थी; वे विषमताके लिये अपनी शक्ति लगा रहे थे, समझानेपर भी वे समझनेकी अवस्थामें नहीं आये, अतः यदि कौरवोंको विषम पथपरसे हटाना है तो युद्धके लिये कमर कसना अत्यंत आवश्यक हुआ। अर्थात् भारतीय युद्ध लूटमारके लिये नहीं हुआ था किंतु शत्रुकी लूटमारकी वृत्तिको रोककर जगत्‌की विषमता दूर करनेके लिये और समताकी स्थापनाके लिये हुआ था। यही कारण है कि युद्ध भूमिपर यह 'समताका संदेश' भगवान्‌ने कहा और अर्जुनके मिषसे जगत्‌को सुनाया है ताकि आगेकी जनता जगत्‌में समता स्थापन करनेका यत्न करे।

अध्यायोंके नामोंका विचार

गीताके नामके विषयमें इतना कहनेके पश्चात् अब हम गीताके अध्यायोंके नामोंका विचार करते हैं। इन नामोंका विचार करनेके समय एक बात प्रमुखतासे सामने आती है वह यह है कि, ये अध्यायोंके नाम हरएक टीकामें भिन्न भिन्न पाये जाते हैं। गीता सर्वमान्य ग्रन्थ है इसलिये उसके अक्षर अक्षरकी सुरक्षा रखना उसके अनुयायियोंका कर्तव्य है, परन्तु अध्यायोंके नामोंके विषयमें बडी शिथिलता दिखाई देती है इस बातको स्पष्ट करनेके लिये हम कई टीकाकारोंके दिये हुए अध्यायोंके नाम यहां निम्नदर्शित कोष्टकमें देते हैं, इनको देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा, कि एकही टीकाकारके ग्रन्थमें भी अध्यायोंके नाम मूलमें और टीकामें भिन्न भिन्न दिये हैं! देखिये ये हैं कोष्टक–

[कोष्टक ५४ और ५५ पृष्ठपर देखो]

श्रीमच्छंकराचार्यजीके नामपर छपे ग्रंथमें १३ वें अध्यायका नाम मूलमें "प्रकृतिपुरुषविवेकयोग" छपा है और उसी अध्यायके भाष्यमें उसी अध्यायका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' मुद्रित हुआ है। एकही मुद्रक और एकही प्रकाशक है।

आनंदाश्रममें मधुसूदनसरस्वती और श्रीधरस्वामीकी टीकाएं छपी हैं, उनमें मूलमें अध्यायोंके नाम और टीकामें अध्यायोंके नाम विभिन्न हैं। ये टीकाकार श्रीशंकराचार्यजीके अनुगामी होनेपर भी शांकरभाष्यमें दिये अध्यायके नामोंसे भिन्न नाम इनके मूलमें पाये जाते हैं और इनकी टीकाओंमें तो उससेभी अधिक भिन्नता है!! ये तीनों कोष्टक पाठक स्वयं तुलना करके देखें।

लो० तिलक मुद्रित 'गीतारहस्य' में भी छठे अध्यायमें मूलमें 'अध्यात्मयोग' छपा है और अर्थमें 'ध्यानयोग' नाम छपा है। तेहरवें अध्यायका नाम मूलमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' है और अर्थमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' छपा है!

अन्य छपे पुस्तकोंके अध्यायोंके नाम पाठक इन कोष्टकोंमें देखकर उनकी विविधताका अनुभव कर सकते हैं। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो ये नाम एक ही होने चाहिये, और इनमें इस प्रकार विविधता नहीं होनी चाहिये। परंतु इस प्रकारकी शिथिलता चली आती है और अभीतक इसका नियंत्रण नहीं हुआ, यह निःसंदेह खेदकी बात है।

इनमें कई नाम अर्थकी दृष्टीसे एकत्वके बोधक माने जा सकते हैं, परंतु कई नाम विभिन्न ही हैं और उनमें संगति लग नहीं सकती। जैसा लो० तिलकजीके छठे अध्यायके मूलमें 'अध्यात्मयोग' और अर्थमें उसीका नाम 'ध्यानयोग' छपा है। ये एक अर्थके नाम नहीं हैं। इसी प्रकार श्री० शांकर भाष्यमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' और मूलमें 'प्रकृतिपुरुषविवेकयोग' ये नाम १३ वें अध्यायके दिये हैं, यहां प्रकृतिपुरुषविवेकयोग है या क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग है अर्थात् यहां 'विवेकयोग' इष्ट है वा केवल 'योग' इष्ट है यह शंका रहती है।

चतुर्थ अध्यायके 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, ब्रह्मार्पणयोग, ज्ञानयोग, ज्ञानविभागयोग, कर्मसंन्यासयोग, कर्मब्रह्मार्पणयोग' इतने नाम हैं, इनमें कुछ भिन्न हैं और कइयोंकी संगति अर्थदृष्टिसे लग भी जायगी। इसी प्रकार अन्य अध्यायोंके विषयमें कुछ भिन्नता और कुछ समानता भी है।

इतनी विभिन्नता होनेपर भी हम अध्यायोंका तात्पर्य देखकर और अध्यायके श्लोकोंके पदोंका विचार करके अध्यायोंके नाम इस समयमें भी निश्चित कर सकते हैं। इस विषयमें वक्तव्य इस प्रकार है–

पहिले अध्यायका सर्वसंमत नाम 'अर्जुनविषाद–योग' है। किसीका इस विषयमें मतभेद नहीं है। वास्तवमें यह "विषाद–योग" ही है। 'अर्जुन' नाम अर्जन करनेवा-

लेका है। धनार्जन, ज्ञानार्जन, मोक्षार्जन, ये विषय मनुष्यके द्वारा अर्जन करनेके हैं। अर्जन करनेका भाव प्राप्त करना है। ज्ञान, मोक्ष, अथवा स्वाधीनता प्राप्त करनेका प्रारंभ विषाद स्थितिमें होता है। (विषीदन्निदमब्रवीत्। भ० गी० अ० १। २८) यह श्लोक इस अध्यायका नाम सूचित करता है।

२ द्वितीय अध्यायका नाम ' सांख्ययोग ' बहुसंमत है। केवल अकेले मधुसूदन सरस्वतीने अपनी टीकामें इसका नाम ' सर्वगीतार्थसूत्रण ' दिया है। वस्तुतः द्वितीयाध्यायके श्लोक ३९ तक ही सांख्यमतका सिद्धांत वर्णन किया है। ' एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। (भ० गी० २। ३९)' 'वह सांख्यसिद्धांत तुझसे कहा अब योगसिद्धान्त सुन। ' ऐसा कह कर सांख्यमत बताया और इसके पश्चात् ४० वे श्लोकसे योगमत कहनेका प्रारंभ किया है। इसके अनंतर ५४ वे श्लोकसे ' स्थितप्रज्ञके लक्षण ' और ' ब्राह्मी स्थिति ' के लक्षण वर्णन किये हैं। इस प्रकार सांख्यमत, योगमत, स्थितप्रज्ञलक्षण और ब्राह्मीस्थिति इनका वर्णन इस अध्यायमें है। बहुत अधिक भाग सांख्यमतके प्रतिपादनके लिये गया है, इस कारण इस अध्यायका नाम ' सांख्ययोग ' माना है। अथवा इसमें सांख्यमत और योगमत कहा है इसलिये भी इसको ' सांख्य+योग ' कहा होगा।

३ तीसरे अध्यायका नाम ' कर्मयोग ' सर्व टीकाकारोंको संमत है और इसमें किसीकी विप्रतिपत्ति नहीं है।

४ चतुर्थ अध्यायका नाम ' ज्ञानकर्मसंन्यास ' जो श्रीशंकराचार्यजीने माना है वह ठीक है क्योंकि अपना ज्ञान और कर्म ब्रह्मार्पण करनेसे, ईश्वरार्पण करनेसे ब्रह्मप्राप्ति होती है, ऐसा इस अध्यायमें कहा है। अनेक प्रकारके यज्ञ इस अध्याय में कहे हैं, उन सबमें ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता वर्णन करके, वह यज्ञ (ब्रह्मार्पणं। भ० गी० ४।२४) समर्पण बुद्धिसे करनेसे दोषमुक्त होकर श्रेष्ठ शांति प्राप्त होती है ऐसा यहां कहा है। कई दूसरे इसका नाम ' ब्रह्मार्पणयोग अथवा कर्मब्रह्मार्पणयोग ' मानते हैं, ये नाम भी पूर्वोक्त नामके समान अर्थवाले ही हैं इसलिये ये नाम माननेपर भी कोई हानि नहीं है। परन्तु ' ज्ञानविभागयोग ' आदि नाम चिंत्य हैं।

५ पंचम अध्यायका नाम ' संन्यासयोग अथवा कर्मसंन्यासयोग ' है। (सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। भ० गी० ५।१३) सब कर्मोंका मनसे संन्यास करके संयमी मनुष्य सुख प्राप्त कर सकता है ऐसा इस अध्यायमें कहा है। वस्तुतः देखा जाय तो चतुर्थ और पंचम अध्यायका विषय करीब करीब एकसा ही है।

६ षष्ठ अध्यायका नाम ' ध्यानयोग ' ठीक प्रतीत होता है क्योंकि इस अध्यायमें मनकी एकाग्रता करके ध्यानयोग का अभ्यास करनेकी विधि कही है। इसीसे आत्मसंयम होता है अतः इसका नाम कई विद्वान् ' आत्मसंयमयोग ' मानते हैं वह अयुक्त नहीं है।

७ सप्तम अध्यायका नाम ' ज्ञानविज्ञानयोग ' बहुसंमत है। अकेले मधुसूदनसरस्वतीने इसका नाम अलग दिया है। इस अध्यायके द्वितीय श्लोकमें ही ' ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्यामि ' (भ० गी० ७।२) कहा है। इसमें ' ज्ञानविज्ञान ' का संबन्ध इस अध्यायसे है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

८ अष्टम अध्यायका नाम ' अक्षरब्रह्मयोग ' प्रायः सर्वसंमत है। ' अक्षरब्रह्म, ब्रह्माक्षर ' इन सब शब्दोंका तात्पर्य एकही है। इस अध्यायके तृतीय श्लोकमें ' अक्षरं ब्रह्म परमं ' शब्द है जो इस अध्यायके विषयका सूचक है।

९ नवम अध्यायका नाम ' राजविद्याराजगुह्ययोग ' सब को संमत है। और ये शब्द ' राजविद्याराजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमं। ' (भ० गी० ९।२) इस श्लोकमें ही आगये हैं।

१० दशम अध्यायका नाम ' विभूतियोग ' है, इस विषयमें किसीका विरोध नहीं है। (हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः) (भ० गी० १०।१९) इस श्लोकमें विभूतिकथनकी बात स्पष्ट कही है।

११ ग्यारहवे अध्यायका नाम ' विश्वरूपदर्शन ' है, इसमें सबका एकमत है। इस नामके साथ ' योग ' शब्द लगाना या नहीं इसी विषयमें किसी किसीका मतभेद है। भ० गी० ११।१६ में ' विश्वेश्वर विश्वरूप ' ये शब्द अध्यायके नामके सूचक हैं। इसके अतिरिक्त ' ऐश्वरं रूपं ' (श्लो० ३,९) ' ऐश्वरं योगं (श्लो० ८) ' अनंतरूप ' (श्लो० ३८) ये शब्द भी इस अध्यायके नामके सूचक हैं।

१२ बारहवे अध्यायका नाम ' भक्तियोग ' एक मतसे सब मानते हैं। इस अध्यायमें ' यो मद्भक्तः स मे प्रियः ' (भ० १२।१५) जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है, ऐसा

[इनमें श्री० शंकराचार्यके समान जो नाम हैं वहां (—)ऐसा चिह्न है और जहां नाम दिया नहीं वहां (०) ऐसा चिह्न किया है ।]

श्रीमच्छंकराचार्य मूलग्रंथ	भाष्य	म० वि. प्र. लिमये आचार्य	मूल	मधुसूदनस०	श्रीधरस्वामी	गीतासंग्रह
१ अर्जुनविषादयोगः	०	...	१ —	०	०	१ —
२ सांख्ययोगः	०	—	२ —	सर्वगीतार्थसूत्रणं	०	२ —
३ कर्मयोगः	—	...	३ —	—	०	३ —
४ ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः	...	—	४ ब्रह्मार्पणयोगः	ब्रह्मार्पणयोगः	ज्ञानयोगः	४ ज्ञानविभागयोगः
५ संन्यासयोगः	...	—	५ —	स्वस्वरूपपरिज्ञानं —	—	५ —
६ ध्यानयोगः	...	—	६ आत्मसंयमयोगः	अध्यात्मयोगः	अध्यात्म०	६ अध्यात्मयोगः
७ ज्ञानविज्ञानयोगः	...	—	७ ज्ञानयोग	ज्ञेयध्येयप्रातिपाद्यतत्व-ब्रह्मनिरूपणं नाम.	—	७ ज्ञानयोगः
८ ब्रह्माक्षरनिर्देशः	...	—	८ अक्षरपरब्रह्मयोगः	अक्षरपरब्रह्मविवरणं.	महापुरुषयोगः	८ अक्षरब्रह्मयोगः
९ राजविद्याराजगुह्ययोगः	...	—	९ —	—	—	९ —
१० विभूतियोगः	...	—	१० —	—	—	१० —
११ विश्वरूपदर्शनं नाम	...	—	११ —	—	—	११ —
१२ भक्तियोगः	...	—	१२ —	—	—	१२ —
१३ प्रकृतिपुरुषविवेकयोगः	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगः	...	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकः	—	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः
१४ गुणत्रयविभागयोगः	...	—	१४ —	—	—	१४ —
१५ पुरुषोत्तमयोगः	...	—	१५ —	—	—	१५ पुराणपुरुषोत्तमयोगः
१६ दैवासुरसंपद्विभागयोगः	...	—	१६ —	—	—	१६ —
१७ श्रद्धात्रयविभागयोगः	—	—	१७ —	— (विवरणं)	—(विवरणं)	१७ —
१८ मोक्षसंन्यासयोगः	—	—	१८ संन्यासयोगः	— प्रतिपादनं)	मोक्षयोगः	१८ संन्यासयोगः
[अष्टेकर-मुद्रित.]		(श्रीमच्छंकराचार्य जीके समान)		[आनंदाश्रम-मुद्रित]		[अष्टेकर-मुद्रित]

लो० बा० गं० तिलक			दामोदर सांवळाराम मुद्रित		म० गांधीजी. (गुजराती)		निर्णयसागरमुद्रित.	
मूल.		अर्थ	गीतापंचरत्न सार्थ (मराठी)					
१	—	—	१	—	१	—	१	...
२	—	—	२	—	२	—	२	...
३	—	—	३	—	३	—	३	...
४	—	—	४	ब्रह्मार्पणयोगः	४	—	४	कर्मब्रह्मार्पणयोगः
५	—	—	५	संन्यासयोगः	५	कर्मसंन्यासयोग.	५	कर्मसंन्यासयोगः
६	अध्यात्मयोगः	ध्यानयोग	६	आत्मसंयमयोगः	६	—	६	आत्मसंयमयोगः
७	—	—	७	ज्ञानयोगः	७	—	७	...
८	अक्षरब्रह्मयोग	अक्षरब्रह्मयोगः	८	अक्षरब्रह्मयोगः	८	अक्षरब्रह्मयोग.	८	अक्षरब्रह्मयोगः
९	—	—	९	—	९	—	९	...
१०	—	—	१०	—	१०	—	१०	...
११	—	विश्वरूपदर्शनयोग	११	— (नाम) — (योगः)	११	विश्वरूपदर्शनयोग.	११	विश्वरूपदर्शनयोगः
१२	—	—	१२	—	१२	—	१२	—
१३	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग.	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगः	१३	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः	१३	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग.	१३	प्रकृतिपुरुषनिर्देशयोगः
१४	—	—	१४	—	१४	—	१४	...
१५	—	—	१५	—	१५	—	१५	...
१६	—	—	१६	सुरासुरसंपत्तियोगः	१६	—	१६	...
१७	—	—	१७	—	१७	—	१७	...
१८	—	—	१८	संन्यासयोगः	१८	संन्यासयोग.	१८	संन्यासयोगः
(प्रथमवार मुद्रित-मराठी) (तृतीयवार हिंदी)			(इंदुप्रकाशमुद्रित)		(नवजीवनमुद्रित.)			

कई वार कहा है, इसलिये इसका नाम भक्तियोग होनेमें कोई शंका नहीं है।

१३ तेरहवे अध्यायका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' है क्योंकि 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं' (भ० गी० १३।२) ये शब्द इस अध्यायके द्वितीय श्लोकमेंही आगये हैं। श्रीशंकराचार्यजीने इसका नाम 'प्रकृतिपुरुषविवेकयोग' मूलमें दिया है और भाष्यमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' दिया है। दोनोंका अर्थ समान ही है।

१४ चौदहवे अध्यायका नाम 'गुणत्रयविभागयोग' सर्वसंमत है। इस अध्यायमें 'सत्त्व, रज और तम' इन तीन गुणोंका विचार है इसलिये यह नाम सार्थ है।

१५ पंदरहवे अध्यायका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' है। अकेले गीतासंग्रह कर्ताने 'पुराणपुरुषोत्तम योग' नाम लिखा है और वह अनावश्यक है।

१६ सोलहवे अध्यायका नाम 'दैवासुरसंपद्विभागयोग' है। मुंबईके म० दामोदर सांवळाराम मुद्रित पंचरत्नगीतामें 'सुरासुरसंपत्तियोग' नाम लिखा है। यह भिन्न नाम अनर्थक है। 'दैवी' [संपत्] शब्द अध्याय (भ० गी० १६।३,५,६,) में आगये हैं, वहां एकस्थानपर भी 'सुर' [संपत्] नहीं है।

१७ सतरहवे अध्यायका नाम 'श्रद्धात्रयविभाग योग' है। केवल मधुसूदनसरस्वती और श्रीधर स्वामीने 'योग' शब्दके स्थानपर 'विवरण' शब्द रखा है। अन्तमें 'योग' शब्द रखना ही गीताकी परिपाठीके अनुरूप है।

१८ अठारहवे अध्यायके नाम 'मोक्षसंन्यासयोग' अथवा 'मोक्षयोग' तथा 'संन्यासयोग' ये दिये हैं। बंधनसे मुक्त होनेके लिये किस प्रकार संन्यास और त्याग करने चाहिये इसका वर्णन इस अध्यायमें है, अतः पहिला नाम अधिक योग्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार अध्यायोंके नाम हैं अध्यायमें आये हुए शब्दोंके और वर्णनोंके साथ जो नाम मिलते हैं वे ही योग्य और आदरणीय हैं। अन्य नाम कल्पित समझने चाहिये। अब इन अठारह अध्यायोंमेंसे प्रथम अध्यायके नामका विचार करके क्या बोध मिल सकता है यह देखेंगे-

प्रथम अध्यायका नाम

विषादयोग

पहिले अध्यायका नाम 'विषादयोग' है। यह विषादयोग द्वितीय अध्यायके श्लोक ८ या ९ तक है वहां तक विषादकी बातें अर्जुन बोल रहा है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या हठयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोगके समान यह 'विषादयोग' कोई योगशास्त्रका भाग है वा यहां योग शब्दका कुछ और अर्थ है। योगके किसी ग्रन्थमें भी 'विषादयोग' नामक कोई योग नहीं कहा है और न यह विषादयोग किसी स्थानपर अनुष्ठान किया जाता है। हठयोगका अनुष्ठान किया जा सकता है, राजयोगका अनुष्ठान होता है, भक्तियोगका अनुष्ठान हो सकता है, जैसा इस 'विषादयोग' का अनुष्ठान नहीं होता। अनुष्ठान करने योग्य यह योग नहीं है। न इसपर कोई प्राचीन या अर्वाचीन पुस्तक है। फिर इसको यहां 'योग' क्यों कहा?

खेदका योग

'विषाद' का अर्थ है 'खिन्नता, खेद, उत्साहका संकोच होना, अपनी शक्तिकी न्यूनता होना,' यह कोई अनुष्ठान करके प्राप्त करने योग्य नहीं है।

ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग ये सब योग ऐसे हैं कि जो अनुष्ठान करने योग्य हैं, लोग स्वेच्छासे उनका अनुष्ठान करते हैं और उस अनुष्ठानसे 'मनका उत्साह बढता है खेद हटता है, सहजानन्द प्राप्त होता है, अपनी शक्तिका विस्तार होता है, अपनी शक्ति बढनेका अनुभव होता है। अर्थात् 'विषादयोग' का परिणाम शक्तिकी न्यूनता है तो अन्य योगोंका परिणाम शक्तिका विकास है।

पाठक यहां देखें कि 'योग' शब्द कैसे विचित्र अर्थमें यहां प्रयुक्त किया है। इसका संबन्ध भगवद्गीतामें कहे अन्य योगोंसे भी है; देखिये। इसका विचार करनेके लिये मनसे कुछ शब्दोंकी कल्पना करनी भी पडेगी [निम्नलिखित कोष्टकमें गीतामें कहे योग स्थूल अक्षरसे दिये हैं और उनके विरुद्ध कल्पनासे रखे योग सूक्ष्म अक्षरसे दिये हैं] यह विचार इस प्रकार है-

योगोंका सापेक्ष संबंध

(आनंदयोग)	**विषादयोग** (अ० १)
पुरुषोत्तमयोग (अ० १५)	(हीनपुरुषयोग)
दैवीसंपद्योग (अ० १६)	**आसुरसंपद्योग** (अ० १६)
(सत्त्व) **गुणयोग** (अ० १४)	(रजतम) **गुणयोग** (अ० १४)

(सत्व) श्रद्धायोग (अ० १७)	(रजतम) श्रद्धायोग (अ० १७)
मोक्षयोग (अ० १८)	(बंधयोग)
संन्यासयोग (अ० ३)	(भोगयोग)
कर्मयोग (अ० ३)	(आलस्ययोग)
ज्ञानविज्ञानयोग (अ० ७)	(अज्ञानकुज्ञानयोग)
सांख्ययोग (ज्ञानयोग। अ० २)	(अविवेकयोग, मोहयोग)
ब्रह्मार्पणयोग (अ० ४)	(अहंकारयोग)
(ईश्वरार्पणयोग)	(आसुरभावयोग)
ध्यानयोग (अ० ६)	(चांचल्ययोग)
आत्मसंयमयोग (")	(असंयमयोग)
अक्षरब्रह्मयोग (अ० ८)	(क्षरविषययोग)
विभूतियोग (अ० १०)	(अभूतियोग)
विश्वरूपदर्शनयोग (अ० ११)	(व्यक्तिरूपमोहयोग)
राजविद्यायोग (अ० ९)	(कुविद्यायोग)
राजगुह्ययोग (")	(गुह्यहानियोग)
भक्तियोग (अ० १२)	(भक्तिहीनत्वयोग)
प्रकृतिपुरुषविवेकयोग (अ० १३)	(विवेकहीनतायोग)
क्षेत्रयोग (")	(क्षेत्रवियोग)
क्षेत्रज्ञयोग (")	(क्षेत्रज्ञवियोग)

इस कोष्टकमें पाठक देख सकते हैं कि, विषादयोगके साथभी उतनेही योग हैं कि जितने आनंद योग अथवा पुरुषोत्तमयोगके साथ हैं। यहां प्रथमाध्यायमें जो विषाद-योग कहा है, वह अकेला नहीं है, उसके साथी इतने या इससे भी अधिक हैं, अर्जुनके मनको इन सबने घेर लिया था, जिसका परिणाम अर्जुनको विषाद होनेमें हुआ। इन सब कुयोगोंने अर्जुनके मनको घेर लिया था, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें इतने सुयोग कहे गये और इन सुयोगोंके बलसे शत्रुरूपी कुयोगोंको दूर किया गया। गीताके हरएक सिद्धान्तके उपदेशका इस प्रकार कारण है, कोई उपदेश व्यर्थ नहीं किया गया है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि प्रायः सब कुयोग विना प्रयत्न किये ही पास आते हैं, और सब सुयोग निरलस प्रयत्नोंसे साध्य करने पडते हैं। असंयमके लिये बहुत प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है परंतु संयम करना हो तोही अनेक नियमोंका पालन करना पडता है। शत्रु लानेके लिये बहुत प्रयत्न नहीं चाहिये, परंतु शत्रुको दूर करनेके लिये ही सब सायास करने पडते हैं। गिरना आसान है परंतु चढना कठिन है।

विषादयोगका एक महत्व भी है। विषाद होनेके विना आनंदका महत्व ध्यानमें नहीं आता है; बंधनमें पडनेके विना स्वाधीनताका महत्व विदित नहीं होता। निर्बलताके विना बलका महत्व ध्यानमें नहीं आसकता। यद्यपि विषाद प्रयत्नसे प्राप्त करनेयोग्य नहीं है, तथापि उससे ही आनन्द और उत्साहकी श्रेष्ठता अधिक उज्वल होती है।

यदि पारतंत्र्यका दुःख अनुभवमें न आवेगा, तो कौनसा वीर स्वातंत्र्यके लिये प्रयत्न करेगा? यदि बंधन न होगा तो मुक्तिके लिये कौन प्रयत्न करता? उसी प्रकार यदि विषाद अथवा खेद न होगा, तो उत्साह और आनंदका रसास्वाद किसको प्राप्त होगा? जगत्‌के व्यवहारमें इस सापेक्ष संबंध से ही कार्य चलता है। यहां ऐन युद्धके प्रसंगमें अर्जुन जैसे वीरको खिन्नता हुई और मोह हुआ, इसीलिये बंधनसे छुडानेवाली यह भगवद्गीता प्रकाशित हुई !!!

शिष्यके मनकी भूमिका योग्य रीतिसे तैयार न हुई तो उसके मनमें कोई उपदेश स्थिर नहीं हो सकता। जितना विषाद, खेद और निराशा मनमें उत्पन्न हो जाय उतना आनंद, उत्साह और आशावादका उपदेश मनमें जम जाता है। जिस प्रकार खेतमें हल चलाकर भूमिको उखाड देते हैं और पश्चात् उसमें बीज बोया जाता है; उसी प्रकार मनो-भूमिकामें विषाद या खेद रूपी हल चलाकर मनको उखाड दिया जाता है और उसमें आत्मोन्नतिके उपदेशका बीज बोया जाता है।

यह विषाद केवल अर्जुनको ही भारतीय युद्धभूमिपर हुआ था, ऐसी बात नहीं है; हरएक मनुष्यको यह विषाद किसी न किसी अर्जन करनेके समय होताही है। विद्यार्जन, धनार्जन, स्वाधीनतार्जन आदि जो मनुष्यके श्रेष्ठ प्राप्तव्य होते हैं, उनके प्राप्त करनेके पूर्व उदासीनता, खेद या विषाद किसी न किसी रूपमें मनुष्यके मनमें आते ही हैं। इस संसारमें विचरनेवाला मनुष्य कितने प्रसंगोंमें खिन्न होता रहता है, यह देखनेसे विषादयोगका मानवी जीवनसे कितना घनिष्ठ संबंध है इसका ज्ञान हो सकता है। और यह ज्ञान होते ही गीताके उपदेश हरएक मनुष्यको ऐसे विषादके प्रसंगमें सहायक होनेवाले हैं, यह बात ध्यानमें

आवेगी और उससे यह निश्चय हो जायगा कि, यह गीता मनुष्यमात्रका खेद दूर करके उसको जीवनका आत्मानंद देनेवाली है, अतएव यह ग्रंथ मनुष्यमात्रको उच्च मार्ग दर्शानेवाला ग्रंथ है।

संजयका उपदेश और अर्जुनका मोह

हमने पहले बता दिया है कि, अर्जुनका मोह संजयके कपटी उपदेशके कारण हुआ था। यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये यहां संजयके कपटी उपदेशके कुछ वचन देते हैं और उसके साथ साथ अर्जुनके मनपर उसका कितना गहरा परिणाम हो गया था सो बतानेके लिये अर्जुनके भी वचन देते हैं। देखिये—

ते वै धन्या यैः कृतं जातिकार्यं ते वै पुत्राः
सुहृदो बांधवाश्च। उपक्रुष्टं जीवितं संत्यजेयुर्यतः
कुरूणां नियतो वै भवः स्यात्॥२८॥ ते चेत्कुरूननु
शिष्याथ पार्था निर्णीय सर्वान्द्विषतो निगृह्य।
समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्यज्जीवध्वं
ज्ञातिवधेन साधु॥९॥ (म० भा० उद्योग. अ० २५)

'वे लोग धन्य हैं कि जो अपनी जातिका कल्याण करते हैं और वेही सच्चे पुत्र, मित्र और बांधव हैं। वे निंदित जीवनका त्याग सदाके लिये करें, जिससे कौरवोंका वैभव बढ जाय। ऐसा न करते हुए यदि तुम पाण्डव कौरवोंको शत्रु मानकर मारोगे तो तुम्हारा जीवन मरनेके समान ही हो जायगा, क्योंकि ज्ञातिवधके पापसे तुम्हारा जीना कलंकित होगा।'

कैसा कपट है देखिये, जातिहित करनेवालेकी महती वर्णन करता है और अधर्म फैलानेवालोंका नाश करनेसे पाप लगेगा ऐसा कहता है। इसका प्रतिबिंब अर्जुनके भाषणमें हुआ है, देखिये—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥ ३६॥
(गीता० अ० १)

'धृतराष्ट्र पुत्रोंको मारकर हमारा क्या प्रिय होगा? इन आततायियोंको मारनेसे हमें पापही लगेगा।' इत्यादि श्लोक यहां पाठक देखें। तथा और देखिये-

सोऽहं जये चैव पराजये च
निःश्रेयसं नाऽधिगच्छामि किंचित्॥ १२॥
(म० भा० उ० अ० २५)

'मैं हार और जीतमें कुछ भी कल्याण नहीं देखता हूं।' यही संजयका कहना अर्जुनके मनपर कैसे जम गया है यह द्वितीयाध्यायमें देखिये-

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः॥
(भ० गी० २।६)

'हम कौरवोंको जीतेंगे, अथवा वे हमें जीतेंगे, इनमेंसे क्या होगा और इनमेंसे कौनसा हमारे लिये अच्छा है यह भी मेरी समझमें नहीं आता है।' वेही शत्रुके कपटी उपदेश कैसे मनमें जम गये हैं देखिये। तथा और भी-

कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया
निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः॥ १३॥
(म० भा० उ० २५)

'पाण्डव धर्मात्मा हैं, वे नीचे कुलमें उत्पन्न हुए हीन मनुष्योंके समान (युद्ध करनेका पाप) कर्म कभी नहीं करेंगे।" अर्थात् पाण्डवोंकी प्रशंसा करके उनको युद्धसे हटानेके लिये यह कपटपूर्ण वाक्य संजयने कहा है। अर्जुन यही भाव अन्य शब्दोंमें बोल रहा है, देखिये-

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान्॥३७॥
(भ० गी० १)

'इसलिये हम अपने भाई धृतराष्ट्र पुत्रोंका वध करनेके लिये योग्य नहीं हैं।' अर्थात् यदि हम युद्ध करके उनका वध करेंगे, तो हम नीच हो जायेंगे। इसी प्रकार देखिये-

धर्मनित्या पाण्डव ते विचेष्टा
लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ॥
महाश्रावं जीवितं चाप्यनित्यं
संपश्य त्वं पाण्डव मा व्यनीनशः॥१॥
न चेद्भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो॥
भैक्षचर्यामंधकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम्॥ २॥
(म० भा० उ० २७)

'हे पाण्डवो! आपके सब कर्म धर्मानुकूल ही होते हैं, धर्मके विषयमें आपकी कीर्ति जगत्में प्रसिद्ध है। मनुष्यका

जीवित अनित्य है यह आप जानतेही हैं, अतः इसका विचार कर युद्धसे इन सबका नाश मत कीजिये। हे युधिष्ठिर! यदि कौरव लोग युद्धके विना आपका राज्य वापस न देंगे, तो आप सब पाण्डव भिक्षा मांगकर अन्धक और वृष्णी देशमें रहिये। युद्ध करके राज्य कमानेकी अपेक्षा भीख मांगकर रहना अधिक अच्छा है।' इसी भीख मांगनेका प्रतिध्वनि अर्जुनके भाषणमें देखिये–

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके॥ (भ० गी० २।५)

'गुरुजनोंका वध करके राज्य कमानेकी अपेक्षा भीख मांगकर इस लोकमें जीविका निर्वाह करना अच्छा है।' इसी प्रकार देखिये–

निबंधनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ
तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव।
धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः
कामे गृध्नो हीयतेऽर्थानुरोधात्॥ ५॥
धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं
महाप्रतापः सवितेव भाति।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां
लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः॥ ६॥
(म० भा० उद्यो० २७)

'हे युधिष्ठिर! तृष्णा बंधनमें डालनेवाली और धर्मका नाश करनेवाली है। अतः जो धर्म स्वीकारता है वह ज्ञानी कहलाता है। उत्तम धर्म कर्म करनेसे आपका तेज सूर्यके समान फैलेगा। परन्तु धर्म छोडकर आपने इस पृथ्वीका राज्य भी प्राप्त कर लिया, तो भी उससे गिरावट ही है।'

पाठक यहां देखें कि यह संजय पाण्डवोंको ही धर्मका उपदेश कर रहा है, कौरवोंके दुष्ट कर्तूत जानता हुआ भी यह कपटी अधिकारी स्वराज्यप्राप्तिका पाण्डवोंका प्रयत्न सदोष है ऐसा कहता है, यही विचार मनमें रखकर अर्जुन बोलता है–

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥३५
(भ० गी० १)

'मैं इनको मारनेकी इच्छा नहीं करता हूँ। हे कृष्ण! यदि त्रैलोक्यका राज्य भी मिल जाय, तो भी मैं यह पाप नहीं करूंगा, फिर पृथ्वीके राज्यके लिये कौन करेगा?' शत्रुके कपटी उपदेशोंसे देशके नवयुवक कैसे फंसते हैं इसका यह उत्तम उदाहरण है। और देखिये–

अन्तं गत्वा कर्मणां मा प्रजह्याः
सत्यं दमं चार्जवमानृशंस्यम्।
अश्वमेधं राजसूयं तथेज्याः
पापस्यान्तं कर्मणो मा पुनर्गाः॥ १५॥
तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः
करिष्यध्वं कर्म पापं चिराय।
निवसध्वं वर्षपूगान्वनेषु
दुःखं वासं पांडवा धर्म एव॥ १६॥
(म० भा० उद्यो० अ० २७)

'हे पाण्डव! सत्य, आत्मसंयम, सरलता तथा मृदुताका मार्ग न छोडिये। अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञ करके पश्चात् आप इस युद्धके पापमार्गसे जायेंगे। यदि धर्म छोडकर इस पापमार्गमें आप जाना चाहते हैं तो अनेक वर्ष वनवासमें रहिये, इस पापसे वनवास अच्छा है।' देखिये स्वराज्यका प्रयत्न करनेवालोंको ही साम्राज्यवादी वनवासमें जानेका उपदेश करते हैं!!! कौरव दुराचार करें और राज्य भोगें और पाण्डव धर्म पालन करें और वनवासमें रहें। येही संजयके विचार अर्जुन बोल रहा है–

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥
(भ० गी० १।४५)

'हम जो राज्यके लोभसे अपने बांधवोंका वध करना चाहते हैं वह बडा भारी पाप हम कर रहे हैं।' संजयके कपटी उपदेशसे अर्जुन इस प्रकार मतिभ्रष्ट हो गया था। और देखिये—

पापानुबंधं को नु तं कामयेत
क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः।
यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्यात्
यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात्॥ २४॥
कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो
विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च।
एतान्हत्वा कीदृशं तत्सुखं स्यात्
यद्विन्देथास्तदनुब्रूहि पार्थ॥ २५॥

लब्ध्वापीमां पृथिवीं सागरान्तां
जरामृत्यू नैव हि त्वं प्रजह्याः ।
प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राजन्
एवं विद्वान्नैव युद्धं कुरु त्वम् ॥ २६ ॥
अमात्यानां यदि कामस्य हेतोः
एवं युक्तं कर्म चिकीर्षसि त्वम् ।
अपक्रमेः स्वं प्रदायैव तेषां
मा गास्त्वं वै देवयानात्पथोऽद्य ॥ २७ ॥
(म० भा० उ० अ० २७)

' हे धर्मराज ! कौन बुद्धिमान् पुरुष युद्धरूपी पापको करनेकी इच्छा करेगा ? आपको क्षमा ही शोभा देती है ! भोग भोगना क्या है ? जहां भीष्म और- अश्वत्थामासहित द्रोण मारे जायेंगे, कृपाचार्य, शल्य, सौमदत्ति, विकर्ण, विविंशति, कर्ण, दुर्योधन मारे जायेंगे, वहां तुमको कौनसा सुख मिल जायगा ? हे धर्मराज ! यदि तुम्हें सब पृथ्वीका भी राज्य मिल जावे, तो भी मृत्यु तो तुम्हें नहीं छोडेगी । फिर युद्ध करनेसे क्या लाभ होगा ? तुम्हारे मंत्रिगणोंके आग्रहसे तुम युद्ध करनेको तैयार हुए होंगे, तो उनको जो चाहे सो देकर तुम देवयान मार्गसे भ्रष्ट न हो जाओ। युद्ध करोगे तो देवयानमार्गसे भ्रष्ट हो जाओगे । '

देखिये यह कौरवोंका उपदेशक पाण्डवोंको ही देवयान मार्गका उपदेश करता है ! ! यदि देवयान मार्गपर इसका सच्चा विश्वास है, तो वह अपने साम्राज्य चलानेवाले भाई-योंको ही क्यों नहीं यह उपदेश सुनाता ? परन्तु पाण्डवोंको इस युद्धसे हटाना इसका प्रयोजन है और उस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये धर्मका सहारा इसने लिया है ! अर्जुनके भाषणमें इसीकी प्रतिध्वनि देखिये-

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥
(भ० गी० अ० १)

तथा-

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
(भ० गी० अ० २)

' जिनके लिये हमने राज्यादि कमाना है वे ही यहां मरनेके लिये आगये हैं, अतः इनका वध मै नहीं करूंगा। पूजा करने योग्य इन भीष्मद्रोणोंके ऊपर मैं बाण कैसे चलाऊँ ? ' इस प्रकार अर्जुन शत्रुके कपटी उपदेशोंका ही अनुवाद करता है !

शत्रुके विचारोंसे मन प्रभावित होनेका परिणाम ऐसाही होता है । अतः जो स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं, उनको उचित है कि वे अपने विचारोंको शत्रुके कपटी उपदेशोंसे प्रभावित होने न दें । विचारोंकी स्वतंत्रता रही तो बाह्य जगत्के व्यवहारोंमें भी स्वाधीनता प्राप्त हो सकती है। परन्तु यदि मन ही दब गया, तो फिर पराधीनता हटना कठिन है।

संजयका कपटी उपदेश और अर्जुनका खेद देखनेसे और दोनोंके वाक्योंकी इस प्रकार तुलना करनेसे पाठक जान सकते हैं कि शत्रुके उपदेशोंद्वारा किये गये धर्मोपदेश भी राजकीय हेतुको केन्द्रमें रखकर ही किये होते हैं । अतः उनको बडी सावधानीसे सुनना चाहिये और सुननेपर भी बडी सावधानीसे ही उनको स्वीकारना चाहिये । अन्यथा मोह और विषाद जैसा अर्जुनके पल्ले पडा वैसेही उस भोले आदमीके भी पल्ले पडेगा ।

इस विषादयोगके अध्ययनसे यह सावधानीकी सूचना मिलती है । पाठक इस सूचनाको मनमें धारण करें । अब आगे भगवान् श्रीकृष्ण भूले अर्जुनको क्या उपदेश देते हैं वह उपदेश द्वितीय अध्यायमें देखिये—

अर्जुन-विषाद-योग नामक प्रथम अध्याय समाप्त

प्रथम अध्यायके कुछ संस्मरणीय श्लोक

१ अपना और शत्रुका बल

अपर्याप्तं तदस्माकं बलम् ...
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलम् .... ॥ १० ॥
(भ० गी० १।१०)

' हमारा बल अपूर्ण है । और इन (शत्रुओंका) बल पूर्ण है ।' अपना बल अपूर्ण है ऐसा मानकर उसको हरएक रीतिसे बढानेका यत्न करना, तथा शत्रुका बल थोडा हुआ तो भी उसको पूर्ण मानकर उसके प्रतिकारका यत्न करना विजयेच्छु पुरुषको योग्य है ।

२ प्रवेशद्वारकी रक्षा

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागवमस्थिताः ।
...अभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥
(भ० गी० १।११)

' सब प्रवेशके द्वारोंमें अपने अपने स्थानोंमें दक्षतासे रहते हुए आप अपनी सब ओरसे रक्षा कीजिये ।' देह-द्वार, गृहद्वार, नगरद्वार, राष्ट्रद्वार ये शत्रुका प्रवेश अन्दर होनेके स्थान होते हैं । यदि इन प्रवेशद्वारोंमें उत्तम रक्षाका प्रबंध रहा तो शत्रुका प्रवेश अन्दर नहीं होगा । अतः इन प्रवेशद्वारोंपर उत्तम रक्षाका प्रबन्ध करना चाहिये । यह रक्षाका सूत्र है, इससे व्यक्तिकी, घरकी, नगरकी, राष्ट्रकी अर्थात् सबकी रक्षा हो सकती है ।

३ संयमीसे प्रश्न पूछना

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते... हृषीकेशं... आह ॥
(भ० गी० १।२०-२१)

' युद्धके समय... इंद्रियोंका जिसने संयम किया है ऐसे संयमी पुरुषसे ही... (जो कुछ प्रष्टव्य होगा वह) पूछना योग्य है ।' असंयमी पुरुषसे पूछा जाय तो अहित होगा । युद्धके समय आत्मसंयम करनेवालेकी ही संमति लेनी योग्य है ।

४ शत्रुका निरीक्षण करना

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यम् ... ॥२॥२ (भ० गी० १।२२)

' जिनके साथ मुझे लडना है उनको मैं पहिले देखता हूं ।' युद्धके पूर्व शत्रुकी वास्तविक अवस्थाको देखना योग्य है । इस जगत्में प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी युद्धमें खडा है, अतः उसको उचित है कि वह अपने शत्रुओंकी तैया-रियां कैसी हैं, इसका पहिले अवलोकन करे और वैसी लडनेकी अपनी तैयारी रखे ।

५ स्वजनोंपर शस्त्र न चलाना

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।
(भ० गी० १।३१)

' अपने लोगोंपर शस्त्र चलानेसे कोई कल्याण नहीं होगा ।' अपने ही लोगोंपर हथियार चलाकर स्वयं अपने देशभाइयोंका नाश करना किसीको भी योग्य नहीं है । तथा—

.... नार्हा वयं हन्तुं स्वबांधवान् ॥ (भ० गी० १।३७)

' हमें अपनेही भाइयोंका वध करना उचित नहीं है ।' और भी देखिये—

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम ? ॥
(भ० गी० १।३७)

' अपने ही लोगोंका वध करके हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? ' जो लोग समझते हैं कि, अपने लोगोंका नाश अपने हाथसे करके हम सुखी हो जायेंगे, वे भ्रममें पडे हैं; क्योंकि वे अपने ही प्रयत्नसे अपना नाश कर रहे हैं । शत्रु तो हम दोनोंको खानेके लिये बैठा है वह जैसा हमको खायेगा वैसा हमारे भाइयोंको भी खा जायगा । ऐसी अवस्थामें यदि हमने अपने ही भाइयोंका वध किया, तो उससे शत्रुका बल बढेगा और हमारा घट जायगा । अतः स्वजनोंपर-शस्त्र चलाना अयोग्य है । इसलिये कहा है—

...महत्पापं कर्तुं व्यवसिताः... । यद्राज्यसुख-लोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥
(भ० गी० १।४५)

" जो राज्य सुख और लोभसे अपने ही लोगोंका वध करते हैं वे बडा भारी पाप करते हैं ।" भूमि, नौकरी, वेतन अथवा धन या मान प्राप्त करनेके लिये जो लोग अपनेही लोगोंपर शस्त्र चलाते हैं वे बडा भयंकर पाप करते हैं ।

६ पापसे बचना

यद्यप्येते न पश्यन्ति...दोषं...पातकम्।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्॥
(भ० गी० १।३८-३९)

" यदि ये (दूसरे लोग) इसमें दोष अथवा पाप नहीं देखते, तथापि इस पापसे दूर होनेका उपाय हम क्यों न सोचें ? " दूसरे लोग किसी दुष्कर्ममें दोष या पाप नहीं देखते हैं और पाप करते हैं, यह हेतु नहीं कि, जिससे हम भी वैसाही दोष और पाप करते जायँ । यदि उसमें हम पाप देखते हैं, तो उससे निवृत्त होनेका प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है।

७ कुलक्षयसे धर्मनाश

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
(भ० गी० १।४०)

" कुलका नाश होनेसे कुलके साथ सनातन कालसे चले आये धर्म नष्ट हो जाते हैं।" कुल परंपरासे चली आयी विद्या कला आदि कुलके नाशके साथ नाशको प्राप्त होती है, अतः वंशबीजकी रक्षा करना उचित है।

८ कुलस्त्रियोंकी गिरावट

अधर्माभिभवात्...प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः॥
(भ० गी० १।४१)

अधर्मप्रवृत्ति बढ जानेसे कुलस्त्रियां दूषित होती हैं।"

९ स्त्रीदोषसे वर्णसंकर

स्त्रीषु दुष्टासु...जायते वर्णसंकरः। (भ०गी० १।४१)

" स्त्रियोंके दोषी होनेसे... वर्णसंकर होता है।" अर्थात् व्यभिचार आदि दोषोंसे वर्णसंकर होता है, अतः स्त्रियोंकी व्यभिचारादि दुष्ट प्रवृत्तियोंसे रक्षा करना समाजकी सुस्थितिके लिये अत्यंत आवश्यक है। व्यभिचारादि दोषसे रक्षा तो जैसी स्त्रियोंकी वैसी पुरुषोंकी भी होनी चाहिये।

१० वर्णसंकरसे नरक

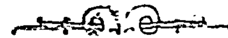
संकरो नरकायैव...। (भ० गी० १।४२)

" वर्णसंकरसे नरक अर्थात् मनुष्य अवनत होता है।" नर-क अर्थात् छोटा मनुष्य, हीन मनुष्य। वर्ण शुद्ध रहनेसे मनुष्य उन्नत होता है और वर्णसंकरसे अवनत होता है। अतः व्यभिचारादि दोषसे वर्णसंकर होने देना योग्य नहीं है।

११ निःशस्त्रका वध

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
...हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ (भ० गी० १।४६)

" यदि बदला न लेनेवाले मुझ निःशस्त्रका शस्त्रधारी (शत्रु) वध करेंगे तो मेरा अधिक कल्याण होगा।' निःशस्त्र, अहिंसक, शांत और क्रोध न करनेवाले निर्वैर मनुष्य का वध यदि शस्त्रधारी क्रूर शत्रुने किया, तो उस शस्त्रधारी वधकर्ताकी निन्दा सब लोग करते हैं, और उस निःशस्त्र निर्वैर के लिये जगत्की सहानुभूति मिलती है। इस प्रकार उच्च भूमिकापर अहिंसकका विजय और हिंसकका पराजय होता है।



श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी

प्रथमाध्यायकी विषयसूची

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

सांख्ययोगः ।

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् । विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

(१) अनार्य कर्मका निषेध ।

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् । अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते । क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अन्वयः- संजयः उवाच- तथा कृपया आविष्टं अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं विषीदन्तं तं मधुसूदनः इदं वाक्यं उवाच ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच- हे अर्जुन ! अनार्यजुष्टं अस्वर्ग्यं अकीर्तिकरं इदं कश्मलं, विषमे त्वा कुतः समुपस्थितम् ? ॥ २ ॥ हे पार्थ ! क्लैब्यं मा स्म गमः। त्वयि एतत् न उपपद्यते । हे परंतप ! इदं क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ ॥ ३ ॥

संजय बोले- इस प्रकार कृपासे व्याप्त और अश्रुपूर्ण नेत्रोंवाले खिन्नहृदय उस (अर्जुन) को मधुसूदन (श्रीकृष्ण) ने ये वचन कहे ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले- हे अर्जुन ! (अनार्यही जिसका आचरण करते हैं, किंवा) आर्य जैसा कभी आचरण नहीं करते, जिससे स्वर्गप्राप्तिमें बाधा हो सकती है और जिससे दुष्कीर्ति होती है, ऐसी यह मनकी उदासीनता, इस प्रतिकूल समयमें तुझे कहांसे प्राप्त हो गई ॥ २ ॥ हे पृथाके पुत्र ! तू नपुंसक मत बन। तेरे लिये यह योग्य नहीं है । हे शत्रुओंको ताप देनेवाले ! अन्तःकरणकी इस क्षुद्र दुर्बलताको छोडकर (युद्धके लिये) खडा हो ॥ ३ ॥

भावार्थ— हीन अथवा अवनत हुए मनुष्योंके समान आचरण करना, किसीकोभी योग्य नहीं है; श्रेष्ठ सज्जन जो कार्य कभी नहीं करते, वैसा कार्य भी कोई न करे । जिससे उच्च लोकोंकी प्राप्तिमें बाधा हो और जिससे अपना यश कलंकित हो, वैसा करनाभी किसीको योग्य नहीं है । हरएक मनुष्य सदा सावधानतासे अपना कर्तव्य करे, परंतु प्रतिकूल अवस्थामें तो विशेषही दक्षतासे स्वकर्तव्य करे । प्रतिकूल समयमें मनकी उदासीनताको अपने पास आने न दे । कोई मनुष्य नामर्द न बने । अपने अन्तःकरणमें सदा वीरता धारण करे और हृदयकी दुर्बलताको पूर्णतासे छोड देवे ॥ २-३ ॥

सांख्ययोग

पूर्व अध्यायमें वर्णन हुई रीतिसे अर्जुनके अन्तःकरणमें कौरवोंके विषयमें अत्यंत दया उत्पन्न हो गई और उस कारण वह अपने कर्तव्यसे पराङ्मुख हुआ । यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण उसको स्वकर्तव्य करनेका उपदेश करते हैं, यह प्रसंग संजयके मुखसे इस प्रकार धृतराष्ट्रने सुना—

(१) " हे धृतराष्ट्र ! अर्जुनके अन्तःकरणमें कौरवोंके विषयमें अत्यंत दयाका भाव उत्पन्न हुआ, क्योंकि उसको इस बातका निश्चय ही था कि यदि मैं युद्ध करनेके लिये धनुष्यबाण लेकर खडा हुआ, तो इनमेंसे कोई नहीं बचेगा। सबके सब निश्चयपूर्वक मर जायेंगे । इस आत्मविश्वासके कारण उन सबकी मृत्युका भयानक चित्र उसके आंखोंके सम्मुख खडा हुआ और उसको देखकर अर्जुनके आंख आंसुओंसे भर गये, हृदय गद्गद हो गया, अन्तःकरण दयासे भरा और मन अत्यन्त खिन्न, दुःखी और शोकपूर्ण हुआ और इस कारण युद्ध न करनेका निश्चय उसने किया । युद्ध करनेके निश्चयसे उसको बडा पश्चात्ताप हुआ और उस कारण वह अपने युद्धके निश्चयकी ही निंदा करने लगा ! "

जब यह अर्जुनकी अवस्था भगवान् श्रीकृष्णने देखी, तब वह आश्चर्यसे चकित हो गये, और वे उसे इस प्रकार बोध-वचन कहने लगे-

आर्यत्वकी रक्षा

(२-२) भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको अपने आर्यत्वकी रक्षा करनेका उपदेश सबसे प्रथम कर रहे हैं, क्योंकि आर्यत्वकी रक्षामें सब मानवधर्मकी रक्षा आ गई है। 'आर्य' शब्दका अर्थ " सुयोग्य, श्रेष्ठ, सन्मान्य, उच्च, उच्चकुलोत्पन्न, स्वामी, सदाचारसे बर्ताव करनेवाला " है। जैसा आचरण इस समय अर्जुन कर रहा है, वैसा कोई आर्य कदापि नहीं करेगा। (अनार्य-जुष्टं) जो अनार्य होते हैं, वे ही समयका महत्त्व न जानकर जैसा चाहे वैसा हीन व्यवहार करते रहते हैं। परंतु वैसा करना आर्योंके लिये कदापि योग्य नहीं है। मांधाता, श्रीरामचंद्र, जनक आदि आर्य राजाओंका आदर्श जीवन सम्मुख रखो और यह समय कैसा है, इसका विचार करो।

विषम समय

(विषमे) शत्रु तो तुम्हारे सिरपर नाच रहा है, तुम्हारा नाश करनेके लिये इस समयतक उसने हजारहां कपटप्रयोग किये थे, इस समयभी शत्रु कमर कसके तुम्हारा नाश करनेके लिये सज्ज हुआ है और तुम्हारे सम्मुख उपस्थित है। तुम्हारा राज्य तुम्हारे शत्रुके अधीन है, उसका सेनाबल, धनबल और अधिकारबल तुमसे कई गुना अधिक है, तुमने इस समयतक इतने कष्ट सहे, सत्यधर्ममें निष्ठा रखी, कभी अधर्मकी ओर रुचि नहीं की, उनके अत्याचार करनेपरभी तुमने शांति धारण की; तो भी तुम्हारे शत्रुका अत्याचार करनेका स्वभाव कम नहीं हुआ। अन्तिम सन्धि-सभामें जब सन्धिकी बातें चलीं, उस समय दुर्योधनने स्पष्ट शब्दोंसे कहा कि " विना युद्ध किये रतिमात्र भूमि तुम्हें प्राप्त नहीं होगी। " इतना शत्रुका दुराग्रह है, वह तुम्हें स्वराज्य कदापि सुखसे नहीं देगा। इस बातका पूर्ण निश्चय होनेके बादही युद्ध करनेका निश्चय सर्व-संमतिसे किया। धर्मराज, भीम, नकुल, सहदेव, सती द्रौपदी तथा तुम्हारे अन्यान्य हितचिंतकोंकी विचारणासे युद्ध करनेका निश्चय किया।

युद्धकी तैयारी

युद्धके लिये ही तुमने कैलासमें गमन करके भगवान् शंकरसे पाशुपत अस्त्र लाये और देवराज इन्द्रसे दिव्य अस्त्र भी प्राप्त किये। बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके भयंकर कष्ट सहन करके अपने सब दुःखों और कष्टोंका परिमार्जन करनेके लिये तुम यहां रणक्षेत्रमें आये हो।

पाशवी बलका नियमन

इसके अतिरिक्त जगत्में अधार्मिक दुष्ट मनुष्य मनमाना अत्याचार पाशवी बलके जोरके कारण न करें और धार्मिक निर्भय होकर जगत्में संचार करें, इस प्रकारकी धर्ममर्यादा स्थापन करनेके हेतुसे यह युद्ध हम कर रहे हैं। ऐसे धर्म-युद्धमें तुम्हारे जैसे आर्य वीरको आनंदके साथ अपना कर्तव्य करना चाहिये।

परंतु तुम तो अनार्योंके समान अपने कर्तव्यको न समझते हुए कार्यक्षेत्रसे पीछे हटते हो! क्या यह तुम्हारे जैसे आर्य-वीरको योग्य है? तुम्हारे पूर्वज आर्योंमेंसे कोई भी आर्य-वीर इस प्रकार युद्धके समय मोहित भी नहीं हुआ, और नाही युद्धसे पीछे हटा था। उसीके वंशमें तुम उत्पन्न हुए हैं और उनके ही श्रेष्ठ वंशके यशको कलंकित कर रहे हैं!! हाय हाय! इस समय तुम अपने आर्यत्वकी रक्षा करो! अनार्य मत बनो।

स्वर्गद्वारका मार्ग

यह युद्ध क्षत्रियोंके लिये मानो स्वर्गद्वार खुला हुआ है। यदि तुम इस रणक्षेत्रसे भाग जाओगे, तो तुम्हारे स्वर्ग-प्राप्तिमें (अ-स्वर्ग्यं) बडी बाधा आजायगी। युद्धसे भागनेवाले क्षत्रियको कभी स्वर्ग मिल नहीं सकता।

दुष्कीर्ति

यदि तुम इस प्रकार रणक्षेत्रसे भाग गये तो तुम्हारा यश (अकीर्तिकरं) कलंकित होगा। क्षत्रियकी ऐसी अकीर्ति होना या किसी भी मनुष्यकी ऐसी दुष्कीर्ति होना योग्य नहीं। दुष्कीर्तिसे मरण अच्छा है। अतः दुष्कीर्तिके मार्गसे जाना तुम्हें योग्य नहीं है।

मनकी दुर्बलता

(कश्मलं) यह मनकी मलीनता है, जो अनार्य पथमें मनुष्यको जानेमें प्रवृत्त करती है। मानो यह मनका 'मल' ही है। यह मनकी मलीनता उसका धवल यश फैलानेमें रुकावट उत्पन्न करती है।

(२) रुधिरसे भरे भोग

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन। इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अन्वयः- अर्जुन उवाच— हे मधुसूदन ! अहं भीष्मं द्रोणं च संख्ये इषुभिः कथं प्रतियोत्स्यामि ? हे अरिसूदन ! (एतौ) पूजार्हौ ॥ ४ ॥ हि महानुभावान् गुरून् अहत्वा, इह लोके भैक्ष्यं भोक्तुं अपि श्रेयः। गुरून् हत्वा तु, इह एव रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् भुञ्जीय ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले- हे मधुसूदन ! मैं भीष्म और द्रोणके साथ युद्धमें बाणोंसे कैसे लडूं ? हे शत्रुके नाश करनेवाले कृष्ण ! ये पूजा करने योग्य हैं ॥ ४ ॥ अत्यंत उदार अन्तःकरणवाले इन गुरुजनोंको न मार-कर, इस लोकमें भीख मांगकर खाना भी अधिक कल्याणकारी है। क्योंकि गुरुजनोंका वध करके यहां उसके रक्तसे भरे हुए अर्थ और काम रूप भोगही भोगने पडेंगे ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! तू अर्जुन, अर्जन, प्राप्त करनेवाला, स्वराज्य वापस लानेका प्रयत्न करनेवाला है। यह समय तुम पाण्डवों के लिये प्रतिकूलता है। यह समय ऐसा है कि जिस समय तुम्हारे शत्रु हाथमें मिट्टी पकडते हैं, तो उसका सोना बनता है और तुम लोगोंने हाथमें सोना पकडा तो उसकी मिट्टी बनती है। तुम्हारे शत्रु अधर्माचरण और अत्याचार करते हुए बढते जाते हैं और तुम धर्ममार्गपर पैर रखकर चलते हो तो भी गिरते जाते हो। ऐसे प्रतिकूल समयमें तुम्हें मन की उदासीनता, किंवा मनकी दुर्बलता धारण करना सर्वथा अयोग्य है। मनमें बल धारण करनेका यही समय है। परिस्थिति विपरीत होनेपर ही मनमें बल धारण करना चाहिये, तभी उस विपरित परिस्थितिसे मनुष्य पार हो सकता है। अतः (क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा) इस समय यह मनकी दुर्बलता दूर कर और अपने मनमें बलको धारण कर।

वीरवृत्ति

(क्लैब्यं मा स्म गमः) नपुंसक न बन, नामर्द न हो। हे अर्जुन ! हमने सुना है कि जब तू अमरावतीमें देवराज इन्द्रके युद्धविद्यालयमें दैवी अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये गया था, उस समय वहांकी स्वेच्छासे व्यवहार करने-वाली विदेशी सुंदर गौरवर्ण तरुणी उर्वशीका तुम्हारेसे कुछ प्रेमसंबंधका वार्तालाप हुआ था। उस समय आर्य-कुमारको शोभा देनेयोग्य बर्ताव तुमने किया था, यह सुनकर हमने आनंदका लाभ किया था। उस समय उस स्वेच्छाव्यवहारिणी कुमारिकाके जालमें तुम नहीं फंसे, यह तुमने उत्तम किया। परंतु उनके प्रस्तावका तिरस्कार करनेके कारण उसने तुमको ' नपुंसक ' बन जानेका शाप दिया था, यह भी हमने सुना है। क्या इस समय तुमपर उसका कुछ परिणाम हो रहा है ? फिर ऐसे वीरताके समयमें तुम ऐसे नामर्दके समान आचरण क्यों कर रहे हो ? उर्वशी जैसी विदेशी तरुणियाँ इच्छाभंग होनेपर वैसा बुराभला कहती ही हैं, परंतु तुम जैसे वीरोंको उचित है कि वे अपने आत्मिक बलसे उस विचारका प्रतीकार करें। तुम यदि अपना मनोबल बढाओगे और अपने धैर्यपर स्थिर रहोगे, तो उस तरुणीके बुरेभले कहनेका कोई परिणाम तुमपर नहीं होगा। ऐसे विपरीत समयमें (एतत् त्वयि न उपपद्यते) ऐसी मनकी दुर्ब-लता धारण करना तुम जैसे आर्य-वीरको शोभा नहीं देता है।

हे अर्जुन ! तुम (परं-तप) शत्रुको ताप देनेवाले, शत्रुका नाश करनेवाले प्रचंड महावीर हो ! तुम्हारा प्रचंड शौर्य सुनकर शत्रु भाग जायंगे, तुम्हारे अस्त्रशस्त्रोंके प्रभाव के सामने कौन ठहर सकता है ? अतः तुम्हें ऐसी मनकी कमजोरी ऐसे विपरीत और प्रतिकूल समयमें धारण करना कदापि योग्य नहीं।

इस प्रकारका उत्साहवर्धक उपदेश सुनकर अर्जुन अपने मनके भाव फिर कहता है—

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अन्वयः– नः कतरत् गरीयः ? यत् वा (वयं) जयेम, यदि वा (ते) नः जयेयुः, एतत् अपि च न विद्मः । यान् हत्वा न जिजीविषामः, ते एव धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः ॥ ६ ॥ कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः धर्मसंमूढचेताः (अहं) त्वां पृच्छामि । यत् निश्चितं श्रेयः स्यात्, तत् मे ब्रूहि । अहं ते शिष्यः । त्वां प्रपन्नं मां शाधि ॥ ७ ॥ हि भूमौ असपत्नं ऋद्धं राज्यं, सुराणां च अपि आधिपत्यं, अवाप्य, यत् मम इंद्रियाणां उच्छोषणं शोकं अपनुद्यात् तत् न पश्यामि ॥ ८ ॥

हमारे लिये इन दोनोंमेंसे कौनसा श्रेष्ठ है ? क्या हम जीतेंगे, या वे हमें जीतेंगे ? यह भी समझ नहीं पडता । जिनको मार कर हम जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करते, वे ही धृतराष्ट्रके संबंधी हमारे सम्मुख (युद्धके लिये) खडे हुए हैं ॥ ६ ॥ दीनताके दोषसे मेरी स्वाभाविक वीरवृत्ति मारी गई है, अतः कर्तव्य-निश्चय करनेमें मेरा चित्त मोहित हुआ है । इस लिये मैं तुमसे पूछता हूं । जो निश्चयसे कल्याणकारी हो वह मुझे कहो । मैं तुम्हारा शिष्य हूं । मुझ शरणागतको समझाइये ॥ ७ ॥ क्योंकि इस पृथ्वीमें निष्कंटक और संपन्न राज्य अथवा देवोंका स्वामित्वभी मिल जाय, तो भी मेरे इंद्रियोंका शोषण करनेवाले इस शोकको दूर करनेवाला कोई उपाय मैं नहीं देखता ॥ ८ ॥

(४–८) अर्जुन युद्धसे निवृत्त होनेके अपने कारण बता रहा है । हे मधुसूदन श्रीकृष्ण ! देखो, मातापिता आदि पूज्य पुरुषोंकी सेवा करना हमारे लिये योग्य है, न कि उन का वध करना । यहां भीष्मपितामह हमारे पूज्य पितामह हैं । द्रोणाचार्य तो हमारे अत्यंत आदरके योग्य आचार्य हैं, जिनसे मैंने सब विद्या प्राप्त की । क्या इनपर ही मैं बाण छोडूं ? जिनकी पूजा करनी योग्य है, ऐसे गुरुजनोंका ही मैं वध करूं ? यह मुझसे कैसा होगा ? जिनसे मैं स्वप्नमें भी वैरभाव नहीं रखता, उनका प्रत्यक्ष नाश मैं कैसा करूं ? जो शस्त्रास्त्रविद्या मैंने सीखी, क्या वह सब इन सबके विनाश करनेके लिये ही है? जिन्होंने विद्या सिखाई उस गुरुकी क्या यही गुरुदक्षिणा है कि मैं उनका आज वध करूं ? जिन्होंने बचपनसे हमारा पुत्रवत् पालन किया, उस पितामहकी सेवा करनेके स्थानपर क्या मैं उनके पवित्र शरीरपर बाणोंसे व्रण करूं ? ये भीष्म–द्रोण दयाके सागर हैं, विद्याके निधि हैं, अनेक गुणोंकी मानो खान है । ऐसे सच्चे धर्मात्माओंको मारकर, जो भी कुछ भोग प्राप्त होंगे, उनको भोगते हुए हमें कदापि सुख नहीं मिलेगा । किसीके मतसे इस प्रकार प्राप्त किये राज्यभोग सुखदायक हों, परंतु मैं इनको सुख–दायक नहीं मानता हूं । मैं तो इससे भीख मांगकर जीवन-यात्रा निभाना अच्छा समझता हूं । अथवा पूर्वके समान वनवास भी भोगना पडे, तो भी मैं उसको निर्दोष समझता हूं । जो कुछ हो, मैं ऐसे महानुभावोंपर राज्यभोगकी प्राप्तिके लिये कदापि शस्त्र नहीं चलाऊंगा ।

हे श्रीकृष्ण ! आपने तो मधु राक्षसको मारा है, अन्यान्य शत्रुओंको भी मारा है, परंतु वे प्रसंग इससे भिन्न हैं । भीष्म–द्रोण जैसे आप्त सत्पुरुषोंका वध करनेका प्रसंग आप-पर कभी नहीं आया था । जिनसे वैरभाव उत्पन्न होनेकी अवस्थामें हम जीवित भी रहना नहीं चाहते, वेही संग्राममें इस समय मेरे सम्मुख खडे हैं । इनका वध करनेके पश्चात् हम जीवित रहना ही नहीं चाहते, ऐसे ये पूजनीय पुरुष हैं । इसलिये मेरे सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि क्या मैं इनको मारूं, या इस युद्धक्षेत्रको छोडकर जंगलमें जाऊं ? इनमेंसे कौनसा कार्य करना उचित है, यह भी मेरी

(३) अर्जुनका न लडनेका निश्चय ।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः । 'न योत्स्य' इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत । सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

अन्वयः— संजयः उवाच– परंतपः गुडाकेशः हृषीकेशं एवं उक्त्वा ' न योत्स्ये ' इति गोविन्दं उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥ हे भारत ! उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तं (अर्जुनं) हृषीकेशः प्रहसन् इव इदं वचः उवाच ॥१०॥

संजय बोले– शत्रुको ताप देनेवाले और निद्राको जीतनेवाले (अर्जुन) ने इंद्रियोंको स्वाधीन करनेवाले श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा और अन्तमें ' मैं न लडूँगा ' कहकर वह चुप हो गया ॥ ९ ॥ हे धृतराष्ट्र ! दोनों सेनाओंके बीच खिन्न होकर बैठे हुए (अर्जुन) से इंद्रियसंयमी श्रीकृष्ण कुछ हंसते हुए इस प्रकार उपदेश करने लगे ॥ १० ॥

समझमें इस समय नहीं आता है । मैं क्या करूं ?

युद्ध छिडनेपर उसका परिणाम हमारे अनुकूल होगा या प्रतिकूल होगा, यह भी किसको पता है ? निश्चयसे हमारी जीत होगी या उनकी होगी, यह इस समय संदेहकी ही बात है । अतः ऐसे संदेहकी अवस्थामें हम गुरुजनोंका वध करना प्रारंभ करें, यह निःसंदेह अनुचित बात है । इस युद्धमें इन पूज्य पुरुषोंका वध करके हमें जय भी प्राप्त हुआ, तो भी वह पराजयसे अधिक दुःखदायक होगा। क्योंकि इनके रक्तसे भींगे भोग भोगते समय इनका स्मरण होता रहेगा और उससे जो दुःख होगा, वह कई गुणा असह्य कष्ट देगा !

इस प्रकारके विचारसे मेरे अंदरकी स्वाभाविक वीरवृत्ति नष्ट हुई है । मैं दीन बना हूं और इस समय क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका विवेक करनेकी शक्ति मेरे अंदर नहीं रही है । धर्मकी दृष्टिसे इस समय मेरा कर्तव्य क्या है, यह बात मैं जानना चाहता हूं । हे श्रीकृष्ण ! मैं इस समय आपको शरणागत हुआ हूं, आपही इस समय मुझे योग्य उपदेशद्वारा सन्मार्ग बतानेमें समर्थ हैं । परंतु अन्तमें मैं आपसे स्पष्ट कहना चाहता हूं कि यदि पृथ्वीका निष्कंटक साम्राज्य प्राप्त हुआ, अथवा देवोंके स्वर्गका राज्य अर्थात् इन्द्रपदभी प्राप्त हुआ, तो भी मेरे इंद्रियोंको सुखानेवाले इस शोकको दूर करनेवाला कोई उपाय प्राप्त होगा, ऐसा मुझे नहीं प्रतीत होता है । इस प्रकार इस समय मेरी दिशाभूल हो गई है, मुझे ठीक मार्ग दीखता नहीं है । अतः प्रार्थना है कि आप योग्य उपदेश करके मुझे उचित मार्ग बताइये ।

(९-१०) [' गुडाकेश और हृषीकेश ' इन दो शब्दोंकी टिप्पणी भ० गी० अ० १ श्लो० २४ के स्थानपर देखिये ।] इस प्रकार अर्जुनने अपने हृदयकी दीनता प्रकट की और ' मैं युद्ध नहीं करूंगा ' ऐसा कहकर वह चुप हो गया । यह आश्चर्यकारक घटना देखकर श्रीकृष्ण भगवान् आश्चर्यचकित हुए, क्योंकि अर्जुन जैसे आर्य-वीरके मनमें ऐसी दीनता उत्पन्न होना संभवही नहीं था ! ! क्या कभी सूर्य अंधेरेमें छिपाया जा सकता है ? कभी मेरु-पर्वत राईके दानेमें दबाया जा सकता है ? क्या आकाशको समेटकर हटाना संभव है? क्या कभी महासागर सुखाया जायगा ? जैसा यह कभी नहीं हो सकता है, वैसा ही आर्यवीरके अन्तःकरणमें दीनता आना भी कभी संभव नहीं है । परंतु जो कभी होनेवाला नहीं था, वही आज बन गया ! ! ! यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण किंचित् मुस्कराये और मनमें समझे कि, यह अर्जुनकी अवस्था कोई आगंतुक कारणसे नहीं हुई है । इसके मूल कारणका विचार करनेसे उनको उसी समय पता लगा कि इसका कारण बडा गहरा है । शत्रुपक्षके संजयने जो विषैला उपदेश अन्तिम समयमें किया था, वही इस दयालु पुरुषके मनपर जम गया है । शत्रुकी शिक्षा जैसीकी वैसी स्वीकार करनेसे इसकी मति भ्रष्ट हो गई है । अतः इसके अन्तःकरणका यह दोष विना विशेष उपदेश किये, नहीं धोया जायगा । अपना कौन और पराया कौन है, अपना संबंधी कौन और दूरका कौन, इसका तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे विचार इसको समझाना चाहिये । ऐसा विचार करके भगवान्ने इसको इस प्रकार उपदेश

सांख्ययोग

(४) पण्डितोंकी समवृत्ति

श्रीभगवानुवाच-

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे । गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

अन्वयः- श्रीभगवान् उवाच— त्वं अशोच्यान् अन्वशोचः । प्रज्ञावादान् च भाषसे । पंडिताः गतासून् अगतासून् च न अनुशोचन्ति॥ ११॥

श्रीभगवान् बोले— जिनका शोक करना योग्य नहीं है, उनकाही शोक तू करता हैं और ज्ञानकी बडी बडी बातें बोलता है। परंतु ज्ञानी लोग मरे हुओंका अथवा जीवितोंका शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

भावार्थ— जिनके विषयमें शोक करना योग्य नहीं, उनके विषयमें शोक करनेमें अपना समय गमाना किसीको भी योग्य नहीं है। विना आगेपीछेका संबन्ध समझे बडे ज्ञानियोंके वाक्य बोलकर अपनी खोखली पंडिताई बताना भी किसीको योग्य नहीं है। ज्ञानी लोग कदापि प्राणोंके जाने अथवा रहनेका शोक नहीं करते।

करना आरंभ किया-

अध्यायका नाम

(११) यद्यपि इस द्वितीय अध्यायका नाम ' सांख्य-योग ' है, तथापि पहिले दस श्लोकोंमें सांख्य तत्त्वज्ञानकी बात बिलकुल नहीं है। इसी प्रकार इसी अध्यायके ३९ श्लोक तक ही सांख्य तत्त्वज्ञानका उपदेश किया गया है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
(भ० गी० २।३९)

' यहांतक तुझे सांख्य ज्ञानका उपदेश किया आगे योगका तत्त्वज्ञान श्रवण कर ' ऐसा कहा है। वस्तुतः यहांतक ही सांख्य तत्त्व कहा है और इसके आगे योगतत्त्व कहा है। परंतु सांख्य और योगमें बहुत भेद नहीं है । दोनों मार्ग कुछ समयके पश्चात् एकरूप हो जाते हैं। कई लोग ' सांख्य ' को ' निरीश्वर-योग ' कहते हैं और ' योग ' को ' सेश्वर सांख्य ' भी कहते हैं। इतनी दोनों तत्त्वज्ञानोंकी एकरूपता मानी है। भगवद्गीतामें भी—

सांख्य और योग

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ५
(भ० गी० अ० ५)

" मूढ लोग कहते हैं कि सांख्य और योग पृथक् हैं, इनमेंसे एकका अनुष्ठान करनेसे दूसरेका फल मिल जाता है। जो स्थान सांख्योंको मिलता है, वही योगियोंको भी प्राप्त होता है। अतः सांख्य और योग एक हैं, ऐसा जो जानता है, वही ठीक बात जानता है। "

इस कथनसे स्पष्ट होता है कि सांख्यमार्ग और योगमार्ग परस्पर बहुत भिन्न नहीं हैं। इतना ही नहीं, परन्तु बहुत अंशोंमें एकरूपही हैं। इसी कारण इस अध्यायका नाम ' सांख्य+योग ' रखा है, यद्यपि इसमें जैसा सांख्य मत कहा है, उसी प्रकार योगमत भी कहा है। इस नामसे भी दोनोंकी एकरूपता ही सिद्ध होती है।

सांख्य शब्दका अर्थ

' सांख्य ' किसको कहते हैं, इसका विचार यहां करना चाहिये। इस तत्त्वज्ञानको ' सांख्य ' नाम क्यों दिया गया, इसका हेतु देखिये। ' संख्या ' शब्दसे ' सांख्य ' शब्द बना है और इसका अर्थ यह है —

चर्चा संख्या विचारणा। (अमरकोशः)
संख्यैकादौ विचारे च। (हेमकोशः)
संख्या सम्यगात्मबुद्धिः । (मधुसूदनसरस्वती = गी० टीका. ३।३; ५।४)
सम्यक्ख्यानं संख्याक्रमवैशिष्ट्येन ज्ञानम् ।
(शब्देन्दुशेखर १४५)
पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्ते अस्मिन् इति सांख्यम्। (मधुसूदन० गी० १८।१३)

" संख्या शब्दका अर्थ (सम्मक् ख्यानं) विचार करना, तत्त्वनिश्चयके लिये वादाविवाद करना है। संख्या शब्दका दूसरा अर्थ आत्मविषयक निश्चित ज्ञान है। क्रमपूर्वक युक्तियोंको दर्शाकर जिसमें सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जाता है, उसको सांख्य कहते हैं। इस जगत्में जितने पदार्थ हैं, उन पदार्थोंकी संख्या बताकर उनका यथावत् ज्ञान जिस शास्त्रमें कहा होता है, उसको सांख्य कहते हैं। " यह सांख्य शब्दका अर्थ है। इसी विषयमें महाभारतका एक श्लोक देखिये—

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कंचिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्॥
(मं० भा० शान्ति० अ० ३२०।८२)

" किसी सिद्धान्तके विचारमें दोषों और गुणोंके प्रमाण का विचार करनेका नाम संख्या है। " अर्थात् इसमें दोष पांच हैं और गुण दस हैं, तो यह अच्छा है। दोषोंकी संख्या जिसमें अधिक है, वह ठीक नहीं। इस प्रकारका निश्चय करना, इसका नाम ' संख्या ' है। इस तरह संख्यानिश्चय जिस शास्त्रमें किया होता है, उसको सांख्यशास्त्र कहते हैं। सांख्यशास्त्रमें सबसे प्रथम विश्वके अंदरके जड चेतन पदार्थों की संख्या निश्चित की, जड पदार्थोंके कार्यों और चेतनके कार्योंका निश्चय किया, इस प्रकार संख्यानिश्चय करनेसे इस शास्त्रका नाम ' सांख्य ' हुआ। इस सांख्यशास्त्रके अनुसार उपदेश सबसे प्रथम श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनको दे रहे हैं। अर्जुनका मोह दूर करनेके लिये तत्त्वज्ञानके विना दूसरा कोई साधन नहीं है। और ' अपना ' और ' पराया ' इस संबंधका मोह दूर करनेके लिये सांख्यशास्त्र जैसा उपयोगी है, वैसा दूसरा कोई शास्त्र नहीं है। क्योंकि इस शास्त्रमें जगत्के संपूर्ण तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान दिया है, जिसको प्राप्त करनेके पश्चात् मनुष्यका मोह दूर हो सकता है।

दो प्रकारके लोग

जगत्में दो प्रकारके लोग, प्राणी अथवा पदार्थ होते हैं— (१) एक " अ-गतासु " और (२) दूसरे " गतासु "। जिनके प्राण चले जाते हैं, उनको गतासु कहते हैं और जिनके प्राण शरीरमें कार्य करते हैं, उनको अगतासु कहते हैं। भाषामें ' गतासु ' का अर्थ ' मृत ' और ' अगतासु ' का अर्थ ' जीवित ' होता है। ' पण्डित लोग जीवित और मृत इनमेंसे किसीका शोक नहीं करते। ' यह एक पण्डितोंका स्वभावधर्म इस श्लोकमें कहा है। यहां पण्डित वे कहे गये हैं, जो इस सांख्य तत्त्वज्ञानको

	अगतासु (जीवित)				गतासु (मृत)	
राजा	आत्मा	प्राण रहनेतक	प्रथम कक्षा	अमृत्यु,	आत्मा	न बिगडनेवाला
रानी	बुद्धि		द्वितीय कक्षा		बुद्धि	
मुख्यमन्त्री	सुषुप्तिका मन				सुषुप्तिका मन	
			… … … …		जा ग्र त म न	
उपमंत्री	जागृतीका मन	की	तृतीय कक्षा	मृतप्राय, संदेह:		बिगडनेवाला
रक्षक	प्राण		चतुर्थ कक्षा		प्रा ण	
			… … … …			
कार्यवाहक	इंद्रियां	अवस्था	पंचम कक्षा	मृत्यु,	इं द्रि याँ	
कर्मसाधक	शरीर		षष्ठ कक्षा		श री र	
कर्मसाधन	जगत्		सप्तम कक्षा		जगत्	

(गतासु स्तंभके पास: प्राण जानेके पश्चात् की अवस्था)

अगतासु और गतासुका चित्र

यथावत् जानते हैं। ये सांख्य तत्त्वज्ञानी मनुष्य मरे हुओंका अथवा जीवित मनुष्योंका शोक नहीं करते।

जगत्‌में सब लोग पण्डित नहीं हैं। पंडित उनको कहते हैं कि जिनको (पण्डा) आत्माके विषयमें यथार्थ ज्ञान (इत) प्राप्त हुआ है। अर्थात् आत्माका यथार्थ ज्ञान जो जानते हैं वे ज्ञानी जीवितों या मृतोंके विषयमें शोक नहीं करते। यदि गीताका यह श्लोक ठीक प्रकार समझनेकी पाठकोंकी इच्छा है, तो 'गतासु और अगतासु' शब्दोंका उपयोग करनेसे ही श्रीकृष्ण भगवान्‌जीका आशय समझमें आ सकता है। इनके स्थानपर 'मृत और जीवित' शब्द रखनेसे या इस आशयके अन्य शब्द रखनेसे वह आशय समझमें नहीं आ सकता। सांख्यशास्त्रके अनुसार 'मृत और जीवित' ऐसा भेद नहीं है, परंतु 'गतासु और अगतासु' ऐसा भेद जगत्‌में है। अब इस विषयमें बात यह है (पृ० ७१ पर चित्र देखें)

एक बडे मंदिरकी कल्पना कर लीजिये। राजा-रानी अंदरकी प्रथम कक्षामें बैठती हैं। रातके समयका एक और दिनके समयका एक ऐसे दो प्रधान मंत्रियोंका कार्यालय द्वितीय और तृतीय कक्षामें है। चतुर्थ कक्षामें रक्षक प्राणका कार्यालय है। दशविध प्राण इसके कार्यवाहक मुख्य प्राणकी आज्ञासे सब शरीरभरमें जाकर विविध कार्य करते हैं। इसके बाद तीन कक्षायें हैं। इन सब कक्षाओंमें आत्माका राज्यशासन चल रहा है।

इस राज्यशासनमें प्राण द्वाररक्षक या पहारेदारका कार्य करनेवाला है। यही 'असु' है। यह कुछ कालतक शरीरमें रहता है और कुछ कालके पश्चात् शरीरको छोडकर बाहर चला जाता है। जब चला जाता है तब इंद्रियां और शरीर कार्य करनेमें असमर्थ हो जाती हैं, क्योंकि प्राणके ही अधीन रहकर वे कार्य कर सकते हैं। यह प्राण गया या रहा, तो प्रथम और द्वितीय कक्षामें रहनेवालोंपर कोई परिणाम नहीं होता है। प्राण चला जानेसे तृतीय कक्षासे सप्तम कक्षातकके जो कार्यवाहक हैं, उनपर परिणाम होता है, परंतु प्रथम और द्वितीय कक्षाओंमें रहनेवालोंपर प्राणके चले जानेका या रहनेका कोई बुरा या अच्छा परिणाम नहीं होता है।

उदाहरणार्थ देखिये- राजाके महलपर पहारा करनेवाले द्वारपालक एक दिन चले गये, तो राजाकी शक्तिमें, बुद्धिमें या महत्तामें कोई न्यूनता नहीं होती। अधिकसे अधिक यही होगा कि राजा रानी और मुख्य दीवान अपने दूसरे मंदिरमें जाकर निवास करेंगे, अथवा इसी मंदिरमें दूसरे द्वारपालको रखेंगे। यहांभी यही होता है, प्राण जाने लगा तो मणिमंत्रऔषधिके प्रयोगसे प्राणकी स्थापना शरीरमें की जाती है और इस उपायसे प्राण स्थिर न रहा, तो आत्मा, बुद्धि और मन दूसरे मंदिरमें रहने लगते हैं और वहां अपना वैसाही कार्य शुरू करते हैं, जैसा पहिले मंदिरमें शुरू था।

धनी पुरुषोंके घरमें अनेक द्वारपाल होते हैं। उनमेंसे चतुर्थ कक्षाका द्वाररक्षक नौकरी छोडकर चला गया, तो कोई रोते पीटते नहीं; क्योंकि मुख्य धनी पुरुष वैसाका वैसाही होता है। उसी प्रकार जिन ज्ञानियोंको पता है कि प्राण चले गये तो भी आत्मा, बुद्धि और मन वैसेके वैसे ही हैं और उनमें कोई न्यूनता नहीं हुई, वे क्यों शोक करेंगे? क्योंकि जिनके लिये शोक करना है, वे तो प्रथम और द्वितीय कक्षामें जैसेके वैसे ही हैं। चतुर्थ कक्षा टूट भी गई तो भी पूर्वकी तीनों कक्षाएं जैसीकी वैसीही रहती हैं। इस विषयका निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान पण्डितोंको होता है, अतः वे (**गतासु**) मृत और (**अगतासु**) जीवित दोनोंमेंसे किसीभी अवस्थाके विषयमें शोक नहीं करते। क्योंकि वे जानते हैं कि जिसका आनंद या शोक करना है, वह दोनों अवस्थाओंमें जैसाका वैसाही है।

यहां कोई कहेगा कि इंद्रियों और शरीरके नष्ट होनेका शोक ज्ञानियोंको क्यों न होगा? इसके विषयमें शोक न होनेके कई कारण हैं। देखिये—

१. ज्ञानी जानते हैं कि यह शरीर प्राप्त होनेके पूर्व भी कई बार शरीर प्राप्त हुआ था और हरएक बार वह नाशको भी प्राप्त हुआ। अतः कितने शरीरोंके विषयमें शोक करें? यही एक शरीर मिला है, ऐसी बात नहीं है। हरएक बार शरीर मिलता है और वह नाशको प्राप्त होता रहता है। यह उसका स्वभाव ही है। फिर स्वभावके लिये क्या रोना है।

२. शरीर तो अवश्य नाशको प्राप्त होगा ही। शरीर उसीको कहते हैं कि जो (**शीर्यते**) नाश होता है। फिर

नाश होनेवालेका नाश हुआ तो उस विषयमें शोक किसका करना है ?

पहारेदार पहारेपर आते हैं और बीच बीचमें कार्य छोड कर या नौकरी छोडकर चले भी जाते हैं। अतः वे रहे या गये तो भी किसी प्रकार शोक करना उचित नहीं। यहां घरका स्वामी नाशको प्राप्त हुआ, तो वह शोकका विषय हो सकता है; परंतु ' आत्मा ' अविनाशी होनेसे न वह कभी जन्म लेता है और न कभी वह मरता है, अतः उस विषयमें शोक करनेका कदापि कोई कारण ही नहीं है।

ज्ञानी लोग पूर्ण रीतिसे यह बात जानते हैं, अतः जीवित या मृत अवस्थाके कारण वे कभी शोक नहीं करते। परंतु जो लोग पण्डित नहीं होते हैं, परंतु मूढ या साधारण लोग होते हैं, वे इस ज्ञानको नहीं जानते हैं और वे समझते हैं कि प्राण जानेके पश्चात् आत्मा भी मरता है और इस कारण प्राण जाते ही रोने लगते हैं। परंतु घरका मालिक जीवित रहनेतक, पहारेदार नौकरी छोड कर चला गया, तो घरके मालिकके कारण रोनेपीटनेकी क्या जरूरत है, जब उसको दूसरा पहारेदार निश्चयपूर्वक मिलनेवाला है ?

यदि यह विचार पाठक समझेंगे, तो " जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डित जन क्यों शोक नहीं करते " इस बातका ज्ञान पाठकोंके ध्यानमें आवेगा। इस प्रकार इस श्लोकार्धसेही भगवान्‌ने अर्जुनका मोह दूर करनेका ज्ञान दिया, परंतु इतने संक्षेपसे कहा ज्ञान साधारण जनकी समझमें नहीं आ सकता; अतः आगे इसका स्पष्टीकरण होगा।

(गतासु) मृत किंवा **(अगतासु)** जीवित लोग ये सबके सब **(अ-शोच्य)** शोक करने योग्य नहीं हैं। क्योंकि जो मुख्य आत्मतत्त्व है, उसकी स्थितिकी दृष्टिसे उक्त दोनों अवस्थाओंमें कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार घरका स्वामी जाग्रत रहा किंवा सो गया, तो कोई शोकका विषय नहीं होता है, उसी प्रकार यह है। अतः मृत या जीवित कोई अवस्था हो, किसी अवस्थाके लिये शोक करना योग्य नहीं है।

अर्जुन बडी बडी ज्ञानी जैसी बातें तो बोलता है, परंतु ये सब आप्त जन मरेंगे ऐसा मानकर शोक कर रहा है। अर्थात् जो ज्ञानके वाक्य वह बोल रहा है, उनका भाव उसकी समझमें बिलकुल नहीं आया है, यह सत्य है। इसी कारण यह तत्त्वज्ञान उसको सबसे प्रथम समझाना चाहिये। इसी उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं--

' अरे अर्जुन ! ऐन युद्धके समय तूने यह क्या प्रारंभ किया है? तू अपनेको बडा ज्ञानी मानता है, परंतु अपना अज्ञान छोडना नहीं चाहता। अच्छा, तुमको कोई सिखलाने का विचार करे, तो तू स्वयं स्यानेपनकी बातें बोलने लगता है ! जैसा जन्मान्ध पागल होता है और उस पागलपनमें इधर उधर नाचने लगता है, वैसी तेरी अवस्था बन गयी है !! अरे, तू अपने आत्माका स्वरूप तो नहीं जानता, परंतु कौरवोंके लिये शोक करता है। कितना आश्चर्य है ! इस विश्वकी रचना अनादि कालसे चली है और उसका संचालक प्रभु सर्वसमर्थ है, यह सब तू भूल गया। तूही इस सब जगत्का उत्पादक तो नहीं है ? जगत्के पालनेवाले प्रभुने ये सब प्राणिमात्र उत्पन्न किये और उसीने उन सबकी जन्ममृत्युकी योजना की है। तूने तो यह योजना नहीं की है? क्या तूही अकेला इनका नाश करनेवाला है और तूने इनका नाश नहीं किया तो क्या ये अमर रहेंगे? क्या तू ही इनको मार सकता है और तेरे प्रयत्नसेही ये मर सकते हैं ? क्या यही तेरा विश्वास ठीक है ? तूने इनका वध नहीं किया तो ये चिरंजीव रहेंगे ? यही तेरा विश्वास है ना ? जरा अनादि-सिद्ध विश्वकी महती रचना कैसी चल रही है और उसमें उत्पत्तिविनाश ये स्वयं कैसे चल रहे हैं, इसका जरासा विचार तो कर, तो तुझे पता लगेगा कि इनका जीना या मरना तुम्हारे प्रयत्नके अधीन नहीं है। वह किसी अन्य प्रचण्ड शक्तिके अधीन है। अतः तूने इनको न मारा और उस प्रचण्ड शक्तिके मनमें इनको मारनेका विचार हुआ तो ये यहां खडे नहीं हो सकेंगे। अतः किसीके जीने या मरनेके कारण ज्ञानी लोग शोक नहीं करते, और तेरे जैसे मोहित भी नहीं होते। तुझको अब यहां इसी बातका विचार करना चाहिये कि उस नियामक प्रभुके विश्वव्यापक प्रचण्ड कार्यका भागी बनकर यहांका तेरे ऊपर आया हुआ कार्य करना है अथवा उसके विरुद्ध होकर जैसा चाहे वैसा मनमाना व्यव-हार करके उसका परिणाम भोगना है। हम सब इसी समय इस जगत्में देहधारण करके आ गये हैं, पहिले कभी नहीं थे और आगेभी कभी नहीं होंगे, यह बात ठीक नहीं है। '

(५) हम सब सनातन हैं।

न त्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः। न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

अन्वयः— अहं जातु न आसं (इति) न तु एव, त्वं (जातु न आसीः इति) न, इमे जनाधिपाः (जातु न आसन् इति) न, अतः परं च सर्वे वयं न भविष्यामः (इति) न एव ॥ १२ ॥

मैं किस कालमें नहीं था (ऐसा) नहीं, तू (कभी नहीं था ऐसा) नहीं, ये राजा लोक (कभी नहीं थे ऐसा भी) नहीं और इसके बाद भी हम सब न होंगे (ऐसा) भी नहीं है (अर्थात् हम पहिले भी थे, इस समय हैं और आगे भी होंगे) ॥ १२ ॥

भावार्थ— सब देह धारण करनेवाले आत्मा (वे देह धारण करें या न करें) नित्य हैं। वे देह धारण करनेके पूर्व थे, देहधारणके पश्चात् भी वैसेही होंगे और देहपातके पश्चात् भी रहेंगे ॥ १२ ॥

(१२) जगत्में दो पदार्थ हैं। (१) एक देह जिसको शरीर कहते हैं और (२) दूसरा आत्मा जिसको जीवात्मा कहा जाता है। शरीर उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं, परन्तु आत्मा अविनाशी और अजन्मा है। देहकी उत्पत्तिके साथ आत्मा जन्मता नहीं और शरीरके नाशके साथ आत्माका नाश भी नहीं होता है। शरीर मिला या न मिला तो भी आत्मा अनादि अनन्त अर्थात् नित्य है और अपनी शक्तियोंके साथ जैसाका वैसाही रहता है। शरीरकी शक्तियाँ न्यूनाधिक होती हैं, शरीरका जन्म होता है और नाश भी होता है। साधारण लोग शरीरको ही मनुष्य कहते हैं और यह मनुष्य जन्मको प्राप्त हुआ, तरुण या वृद्ध हुआ और अन्तमें मरा ऐसा भी मानते हैं। इन साधारण जनोंको पुत्र-जन्मसे आनन्द होता है और संबंधीकी मृत्युसे दुःख होता है। परंतु जो ज्ञानी लोग मनुष्यको स्थूल शरीरकी ओरसे देखते नहीं, परन्तु आत्माकी ओरसे देखते हैं, उनको तो उसमें जन्म और मृत्यु होनेवाला कोई पदार्थ दीखता ही नहीं, क्योंकि उनके सम्मुख सदा नित्य आत्मा ही रहता है। यह श्लोक उन ज्ञानियोंके दृश्यबिन्दुसे लिखा है। पूर्व चित्रमें दर्शाया ही है कि ' आत्मा बुद्धि मन ' ये अविचल हैं और ' इन्द्रियां और शरीर ' ये चल हैं और प्राण दोनोंका संबंध करनेवाला है (मनुष्यके ये दो भाग हैं, एक मर्त्य भाग है और दूसरा अमर भाग है।)

साधारण मनुष्य अपने मर्त्य भागको जानता है और अपने अन्दर की अमर सत्ताको नहीं जानता, इस कारण वह मरा और यह जन्मा ऐसी भाषा बोलता है। यदि यह अपनी अमर सत्ताको जानेगा, तो यह किसीके जन्मसे आनंदित नहीं होगा और किसीकी मृत्युसे दुःखी भी नहीं होगा, क्योंकि वह जन्म, जीवन और मरण इन तीनों अवस्थाओंमें समानतया रहनेवाली इसकी अमर सत्ताको जानता है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।
(कठ उप० ५।५)

" प्राण और अपानसे मनुष्य जीवित नहीं रहता, किसी अन्य शक्तिके कारण जीवित रहता है जिसमें ये प्राण और अपान आश्रित होते हैं। " इस उपनिषद्के वचनमें भी वह अमर सत्ता कही है, जो इस गीताके वचनमें कही है। इसको ही आत्मा कहते हैं। इसके आश्रयसे प्राण, इंद्रियां और शरीर इनकी स्थिति होती है। इसी विषयमें और देखिये—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च० ॥ १ ॥ ......इदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणात्० ॥ ४ ॥ अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतं० ॥ ५ ॥
(छांदोग्य उ० २।३।१)

" ब्रह्मके दो रूप हैं- (१) एक अमूर्त और अमर और (२) दूसरा मूर्त और मर्त्य। प्राणसे भिन्न जो इंद्रियां और शरीर आदि हैं, वह मूर्त अर्थात् साकार है, यह मर्त्य अर्थात् मरनेवाला है। जो अमूर्त प्राण आदि (मन बुद्धि आत्मा) है, वह अमूर्त अर्थात् निराकार है और यह अमर है। "

इस उपनिषद्वचनमें स्पष्ट कहा है कि मनुष्यके अंदर " मरनेवाला एक भाग है और दूसरा अमर भाग है। "

V. Imp.

अमृत, अमर	द्युलोक	आत्मा, बुद्धि, मन	स्वर्ग, स्वः, अमर भाग
	अन्तरिक्षलोक	प्राण	अन्तरिक्ष, भुवः (स्वर्गका भूलोकसे संबंध करनेवाला)
मृत, मर्त्य	भूलोक	इंद्रिय, शरीर	मृत्युलोक, भूः, मर्त्य भाग

मरनेवाला भाग साकार और स्थूल है, तथा न मरनेवाला जो अमर भाग है, वह निराकार और सूक्ष्म है। यहां हमें पता लगा कि जो अमर भाग जिसको हम यहां आत्मा कहते हैं, वह शरीरके नाशके पश्चात् रहनेवाला है और शरीरके जन्मके पूर्व भी वह होता है। जो शरीरकी उत्पत्तिके पूर्व होता है और शरीरके मरनेके पश्चात् भी रहता है, वही अमर कहने योग्य है।

इस युद्धभूमिमें जो कौरव पांडव वीर युद्धके लिये उपस्थित हैं, उनके अन्दर भी एक अमर आत्मा और मरनेवाला एक शरीर ऐसे दो भाग हैं। इन सबका आत्मा अमर होनेसे वह उन सबके जन्मके पूर्व भी था और इसी कारण इनके मरनेके पश्चात् भी रहेगा। यही दर्शानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णजीने कहा कि " तू, मैं और ये सब पहिले भी थे, इस समय हैं और आगे भी रहेंगे। " अर्थात् हममेंसे कोई भी शरीरके जन्मके साथ जन्मा है और शरीरकी मृत्युसे मरेगा, वह बात नहीं है। अतः हम सब नित्य हैं। और यदि नित्य हैं तो नित्य पदार्थके लिये शोक करनेका किसीको क्या कारण है ?

वायुके चलनेसे जलपर तरंग उठते हैं, वायु स्तब्ध होनेसे तरंग भी मर जाते हैं। जलके तरंग बनने या नाश होनेसे जिस प्रकार जलमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती है, उसी प्रकार प्राणवायुके चलनेसे प्रकृतिके समुद्रमें यह शरीररूपी एक तरंग उत्पन्न हुआ और प्राणवायु स्तब्ध होनेसे वह तरंग शांत हुआ। उससे देहधारी आत्माकी अनित्यता नहीं मानी जा सकती। जैसे वायु स्तब्ध होनेपर जल और जलका आधार जैसेके वैसेही हैं, उसी प्रकार कुछ अंशमें पाठक यहां आत्माके विषयमें समझें।

सबका तात्पर्य यही है कि शरीरमें रहनेवाला आत्मा अमर है और शरीर नाशवन्त है। शरीरके मरनेपर भी वह जैसाका वैसाही रहता है। शरीरके नाशके साथ आत्माका कुछ भी बिगडता नहीं, यह बात यहां स्पष्ट हो गई। अतः अर्जुनके बाणसे ये भीष्मादि कौरव मरेंगे, ऐसी जो अर्जुनकी शंका थी, उसका यह शास्त्रीय उत्तर है कि वे नहीं मरेंगे। शरीर कितनी वार भी जन्मे या मरे, उनकी आत्माकी अवस्थामें कोई न्यूनाधिक नहीं होता है।

इतना विचार जाननेके पश्चात् यह शंका उपस्थित होती है कि " आत्मा नित्य है और देह अनित्य है। यह सत्य है, परंतु जीवित रहनेतक देहके साथ आत्मा है, यह हम देखते हैं। देहका नाश होनेके पश्चात् उस आत्माका क्या होता है, यह हमें पता नहीं चलता, अतः मरनेका शोक होना योग्य है। "

इस शंकाका उत्तर अगले श्लोकमें श्रीभगवान् देते हैं—

(६) पुनर्जन्म

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा । तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

अन्वयः- देहिनः अस्मिन् देहे यथा कौमारं यौवनं जरा, तथा देहान्तरप्राप्तिः । तत्र धीरः न मुह्यति ॥ १३ ॥

देहधारी (आत्मा) को इस देहमें जिस प्रकार बालपन, तरुणपन और वृद्धपन प्राप्त होता है, उसी प्रकार (आगे उसी आत्माको दूसरी देह भी प्राप्त होती है । इस कारण) इस विषयमें ज्ञानी पुरुष मोहित नहीं होता ॥ १३ ॥

भावार्थ— बालपन, तारुण्य और वृद्धावस्था ये जैसी तीन अवस्थाएं हैं, उसी प्रकार अन्य देहकी प्राप्ति भी एक चतुर्थ अवस्था है । अतः पूर्व तीन अवस्थाओंके पश्चात् क्रमसे चतुर्थ अवस्था प्राप्त होती है, इसमें कोई संदेह नहीं ॥ १३ ॥

पूर्वदेह		वर्तमानसमयका देह				दूसरा देह			
वार्धक्य	मृत्यु जन्म	बालपन	तारुण्य	वार्धक्य	मृत्यु जन्म	बालपन	तारुण्य	वार्धक्य	मृत्यु जन्म

आ त्मा आ त्मा आ त्मा

(१३) शरीरकी तीन अवस्थाएं यहां कहीं हैं, परंतु वस्तुतः यहां छः अवस्थाएं होती हैं । (जायते) उत्पन्न होना, (अस्ति) होना, रहना, (वर्धते) बढना, (विपरिणमते) परिणाम होना, (अपक्षीयते) क्षीण होना और (नश्यति) नाशको प्राप्त होना । इन छः अवस्थाओंमें बालपन, तारुण्य और वृद्धपन क्रमशः होता है । बालपनके पश्चात् तरुणपन और तारुण्यके पश्चात् बुढापा क्रमपूर्वक होता है । किसी शरीरका मरण तारुण्यमें हुआ, तो उसको वार्धक्य नहीं आवेगा और किसीकी मृत्यु बालपनमें हुई तो उसको तारुण्य और वार्धक्य नहीं आवेगा यह सत्य है; परंतु यदि किसीकी दीर्घायु हुई और उसको तीनों अवस्थाएं प्राप्त होनी हैं, तो पहिली आयुमें बालपन, मध्य आयुमें तरुणपन और पश्चात्की आयुमें वृद्धपन आवेगा । इसका तात्पर्य यह है कि यह क्रम कदापि नहीं बदलेगा । एक के पीछे ही दूसरेने और दूसरेके पीछे तीसरेने आना है । यह बात सबके प्रत्यक्ष अनुभवमें होनेसे इस विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता । इस देहकी तीनों अवस्थाएं होनेमें देहधारी आत्मामें कोई हेरफेर नहीं होता है । देहके बालपनसे आत्मा बाल नहीं होता, इसी प्रकार देहके तारुण्य और वृद्धपनके साथ भी आत्मा तरुण या वृद्ध नहीं होता है । वह सदा एक जैसा रहता है । जैसी ये तीनों अवस्थाएं हैं, उसी प्रकार इस देहकी समाप्तिपर दूसरा देह प्राप्त होना भी एक चौथी अवस्था है । आत्मा जैसा पहिले तीन अवस्थाओंमें रहता हुआ एक जैसा रहता है, उसी प्रकार अन्य देहकी प्राप्ति होनेपर भी वैसाही रहता है और इसी प्रकार इस जन्मके पूर्वभी पूर्व देहकी अन्तिम अवस्था में वह था । इस प्रकार ये चारों या पांचों अवस्थाएं क्रम-पूर्वक आत्माको देहके कारण प्राप्त होती हैं, ऐसा साधारणतः समझनेसे आत्मा कैसा नित्य है और देह कैसे अनित्य हैं, यह बात ठीक प्रकार समझमें आसकती है ।

जितने निश्चयसे बालपनके नंतर तारुण्य आता है, उतने ही निश्चयसे उसके बाद वार्धक्य आता है और उतने ही निश्चयसे मृत्युके बाद दूसरा देह भी प्राप्त होता है । पुत्रने बालपनका त्याग किया और तारुण्यको प्राप्त किया, तो कोई रोते पीटते नहीं; इसी प्रकार उसने इस देहका त्याग करके दूसरा देह प्राप्त किया, तोभी उसमें दुःख करनेकी कोई आवश्यकता नहीं । क्योंकि उसकी चार अवस्थाओंमें यह भी एक अवस्था है और वह यथाक्रम प्राप्त होनी ही है । वेदमें यह बात अन्य रीतिसे कही है, देखिये—

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात्पुनर्णवः ॥ २३ ॥ त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ २७ ॥ उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ २८

(अथर्ववेद १०।८)

' यह सनातन है, यह पुनः पुनः (पुनः नवः) नवीन जैसा होता है ॥ २३ ॥ तू स्त्री है और पुरुषभी है, तू कुमार है और कुमारी भी है। वृद्ध होनेपर तू हाथमें सोटी लेकर चलता है और जब तू नवीन जन्मता है, तब तू सर्वत्र देखता है ॥ २७ ॥ तू इनका पिता है और इनका पुत्र है, इनमें ज्येष्ठ है और कनिष्ठ भी है । मनमें प्रविष्ट होकर रहा हुआ तू एक ही देव है । जो पहिले जन्मा था, वही अब गर्भमें पुनः आ गया है '' ॥ २८ ॥

अर्थात् जीवात्मा सनातन अथवा नित्य है, वह स्त्रीके शरीरमें स्त्री और पुरुषशरीरमें पुरुष होता है। वह कुमार–कुमारी वृद्ध–तरुण जरापीडित होता है, वह शरीरकी अवस्था के कारण ही होता है, ऐसा मानते हैं। उसी प्रकार यह किसीका पिता, किसीका पुत्र, किसीका बडा भाई और किसीका छोटा भाई होता है । यह मनमें प्रविष्ट हुआ एक ही देव है, मनके अन्दर बुद्धि और आत्मा विराजमान रहता है और एकवार यही जन्म लेनेपर भी पुनः पुनः गर्भमें आता है अर्थात् वारंवार जन्मता है ।

इसका सच्चा मतलब यही है कि यह आत्मा नित्य है, अतः यह पुरुषके शरीरमें पुरुष होनेपर भी वस्तुतः यह पुरुष नहीं, परन्तु शरीरका गुणधर्म इसपर माना गया है। स्त्रीके शरीरमें स्त्री माना जानेपर भी उसी कारण यह स्त्री नहीं । बालकके शरीरमें यह बालक और कुमारीके शरीरमें यह कुमारी होता है, परन्तु ये भी शरीरके धर्म हैं। वस्तुतः यह न कुमार है और न कुमारी है । इसको कोई पिता कहते हैं, कोई पुत्र और कोई बडा या छोटा भाई कहते हैं, यह कहना भी शरीरकी अपेक्षासे है । वस्तुतः यह किसीका पिता नहीं, किसीका पुत्र या भाई अथवा बहिन भी नहीं है । यह पहिले एकवार जन्मा था और अब पुनः गर्भमें आया है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि इसका पहिला शरीर छूट गया है और यह दूसरा शरीर प्राप्त करनेकी तैयारीमें है। इस प्रकार इसको बाल्य, तारुण्य, वार्धक्य जैसा प्राप्त होता है उसी प्रकार नवीन शरीर भी प्राप्त होता है । यह बात वेदमंत्रोंद्वारा भी उक्त प्रकार कही गई है। वेदमें जीवात्माका जन्म, तारुण्य, क्षय और पुनर्जन्म बतानेके लिये ' चन्द्रमा ' का उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्ल प्रतिपदामें जन्मता, शुक्ल अष्टमीतक बालकसा रहता है, पूर्णिमातक पूरा जवान होता है, पश्चात् कृष्ण अष्टमीसे क्षीणता आती है और अमावास्याकी रात्रिमें इसका देहपात होता है और यह पश्चात् पुनः जन्म लेता है। चन्द्रमाकी जैसी सोलह कलाएं हैं, वैसीही जीवात्माकी भी सोलह कलाएं मानी हैं । इस प्रकार साम्य वेदमें वर्णित है। यह इसीलिये है कि जनताको पता लगे कि जीवात्मा भी (पुनः नवः=पुनर्णवः) पुनः पुनः जन्म लेकर नवीन जैसा होनेवाला है । इसी प्रकार उपनिषदोंमें भी कहा है–

वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते ।
(ऐ० उ० ४।४)

पुनःपुनर्वशमापद्यते मे ॥ (कठ उ० २।६)

'' बडी आयु होनेके पश्चात् इस लोकसे जाता है और पुनः जन्म लेता है । वह पुनः पुनः (जन्म लेकर मुझ मृत्युके) वशमें होता है ।''

पूर्वोक्त स्थानमें ' त्वं स्त्री त्वं पुमानसि० ' इत्यादि मंत्र श्वेताश्वतर उपनिषद्में (४।३ में) आ गया है, पाठक वहां उसका संबन्ध अवश्य देखें । इस श्वेताश्वतर उपनिषद् का एक मन्त्र यहां विशेष रीतिसे देखने योग्य है–

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ (श्वे. २।१६; वा.य.३२।४)

' यही (देवः) प्रकाशमान आत्मा सब दिशाओंमें है। वह (पूर्वः जातः) पहिले जन्मा था, (सः गर्भे अन्तः) वही फिर गर्भमें आया है । (सः जातः) वह एक वार जन्मा हुआ (जनिष्यमाणः) भविष्यमें पुनः जन्म लेगा । यह हरएक मनुष्यमें रहता है। इसका मुख सब ओर है अर्थात् जितने मनुष्य अथवा प्राणी हैं, उतने सब इसके मुखही हैं। '

इसी कारण इसको ' मातरिश्वा ' अर्थात् ' माताके गर्भमें रहनेवाला ' कहते हैं। क्योंकि यह वारंवार माताके गर्भमें जाता है और जन्म धारण करता है। पहिला जन्म लेकर देह प्राप्त करता है, उस देहकी समाप्तिपर उस देहका त्याग कर माताके गर्भमें प्रविष्ट होता है, और वहां नया देह धारण करता है। इस प्रकार यह वारंवार माताके गर्भमें रहकर वारंवार भिन्न भिन्न देह प्राप्त करता है ।

इत्यादि स्थलोंपर पुनर्जन्मके विषयमें उपनिषदोंके अन्दर लिखा है । अर्थात् जीवात्मा निःसंदेह पुनर्जन्म प्राप्त करता

(७) अमर बननेका सामर्थ्य

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः । आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ । समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

अन्वयः— हे कौन्तेय ! मात्रास्पर्शाः तु शीतोष्णसुखदुःखदाः, आगमापायिनः, अनित्याः । हे भारत ! तान् तितिक्षस्व ॥ १४ ॥ हे पुरुषर्षभ ! हि यं समदुःखसुखं धीरं पुरुषं एते न व्यथयन्ति, सः अमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! (इंद्रियोंके) वाह्य सृष्टिके साथ होनेवाले स्पर्श शीत उष्ण, सुख और दुःख देनेवाले हैं, वे कभी होते हैं और कभी नहीं भी होते; अतः वे अनित्य हैं। इस कारण, हे भरतकुलमें उत्पन्न ! उनको तू सहन कर ॥ १४ ॥ हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ ! क्योंकि जिस सुख-दुःखको समान माननेवाले धीर पुरुषको ये पीडा नहीं देते, वह अमरपनके लिये समर्थ होता है ॥ १५ ॥

भावार्थ- शीत उष्ण, सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति अपने अन्दर बढाना मनुष्यको योग्य है; क्योंकि जिसको ये द्वन्द्व कष्ट नहीं दे सकते, वही मनुष्य अमर होनेका सामर्थ्य प्राप्त करता है ॥ १४-१५ ॥

है, इस विषयमें संदेह नहीं। इसी प्रकार इष्ट मित्र, संबन्धी, गुरु आदि नातेका जो संबन्ध है, वह भी शरीरकी अपेक्षासे ही है। वह संबन्ध आत्माकी अपेक्षासे नहीं है। अर्थात् इस तत्त्वज्ञानके उपदेशसे अर्जुनको यह ज्ञान दिया कि जिनको अर्जुन गुरु, पिता, दादा, मामा आदि आप्तजन समझता है, वह नाता केवल इस समयके अनित्य शरीरके संबन्धसे उत्पन्न हुआ है। वस्तुतः उनके अन्दर जो नित्य आत्मा विद्यमान है, उसकी दृष्टिसे इस प्रकारका कोई नातेका संबन्ध नहीं है, क्योंकि वह न कभी किसीका गुरु है और न दादा मामा होता है। अतः यह संबंध अनित्य है। अर्थात् इस अनित्य संबन्धके कारण शोक-मोहमें फंसना किसीको भी योग्य नहीं है।

यहां प्रश्न होता है कि वर्तमान शरीर-संबंधसे उत्पन्न होनेवाला यद दादा, मामा, भाई आदि संबंध भलेही अनित्य हो, यह संबंध इस शरीरके पूर्व भलेही न हो, तथा आगे प्राप्त होनेवाले शरीरके समय भी न रहे, परंतु इस समय तो है ना ? फिर यह प्रत्यक्ष इस जन्मका संबंध नाश होते देखनेसे शोक क्यों न किया जाय ? अर्जुनका मोह भी इसी कारण था। अतः इसका निराकरण करनेके लिये भगवान् कहते हैं-

(१४-१५) जिससे शोक या आनन्द होता है, वह

भासमान होते हैं। यह संबंध न होनेपर ये नहीं होते। यह संबंध कभी होता है, कभी नहीं भी होता है। अर्थात् यह संबंध अनित्य है। (इस कारण इनसे मोहित होनेकी अपेक्षा इन द्वन्द्वोंको सहन करना अधिक लाभदायक है।)

'मात्रा' का अर्थ

'मात्रा' का अर्थ है, ' प्रकृति, प्राकृतिक जगत्, प्राकृतिक तत्त्व, ' [इसी ' मात्रा ' शब्दसे अंग्रेजी Matter मैटर शब्द बना है और ऊर्दूका ' माद्दा ' शब्द भी बना है।] गीतामें-

वाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखं ।
(भ० गी० अ० ५।२१)

अर्थात् " बाह्यस्पर्शके विषयमें जो आसक्ति नहीं धारण करता, उसको आत्मिक सुख मिलता है। " ऐसा कहा है। यहांका " बाह्य-स्पर्श " और इस श्लोकका ' मात्रा-स्पर्श ' ये दोनों शब्द प्रायः एक ही भाव बतानेवाले हैं। बाह्यस्पर्श का अर्थ है " बाह्य जगत्के विषयोंका भोग " यही अर्थ " मात्रास्पर्श "का भी है। इस विषयमें अनासक्ति भी इसी लिये धारण करनी है कि ये बाह्य स्पर्श सुख दुःखादि द्वन्द्व उत्पन्न करनेवाले हैं। मनुस्मृतिमें कहा है-

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।

" लाभ न होनेपर खेद न करे और लाभ होनेपर हर्ष न करे। इस प्रकार (मात्रा-संग-विवर्जितः) प्राकृतिक भोगोंसे अपना संबंध छोडकर जीवन-यात्रा चलावे। " यह कथन भी भ० गीताके समदुःखसुखी होनेके उपदेशके समान ही है। यहां " मात्रासंग " शब्द है। यहां 'मात्रा' शब्दका अर्थ " प्राकृतिक भोग-साधन " स्पष्ट है। मात्रा का यही अर्थ यहां अपेक्षित है। कई लोग मात्रा शब्दका अर्थ इंद्रिय करते हैं। यद्यपि यह इस शब्दका अर्थ है, परंतु वह यहां अभीष्ट नहीं है, ऐसा हमें प्रतीत होता है। मात्रा शब्दका इंद्रिय अर्थ करनेपर " मात्रास्पर्श " का अर्थ इंद्रियोंका स्पर्श जो प्राकृतिक भोगोंसे होता है, वह सुखदुःख देनेवाला है, इत्यादि प्रकार अर्थ करना होगा।

इस प्राकृतिक जगत्के साथ जिस समय मनुष्यकी इंद्रियोंका संबंध होता है, उस समय शीत उष्ण, सुखदुःख आदिका भास होता है। जिस समय यह संबंध नहीं होता, उस समय सुख दुःखादि द्वन्द्वोंका भास भी नहीं होता। संबंध होनेपर ही केवल सुखदुःखादि द्वन्द्वोंका भास होता है, परंतु उस समय सच्चा सुख या सच्चा दुःख होता है वा नहीं, यही एक विचारणीय बात है।

'मात्रा' का स्पर्श

पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश इन पांच महा भूतोंके गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये गुण हैं। इन गुणोंका ग्रहण क्रमशः नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा व कान इन पांच इंद्रियों द्वारा होता है और उससे सुख-दुःख, हानि-लाभ हुआ करता है। इंद्रियोंका महाभूतोंसे (मात्रास्पर्शाः) स्पर्श होता है, स्पर्श होते ही तत्त्वोंके गुणोंसे संबंध होता है और इससे शीत उष्ण आदिकी प्रतीति होती है।

नासिका गंधका ग्रहण कर सकती है। इस कारण पृथ्वीमें रहे सब प्रकारके गंध अर्थात् सुगंध या दुर्गंध उसके अनुभवमें आते हैं। सुगंधसे इसको सुख और दुर्गंधसे दुःख होता है। जिह्वा रसका ग्रहण करती है, आप्तत्त्वसे अनेक रसोंकी प्राप्ति होती है, मधुर रससे इसको आनन्द होता है और कडुवे रससे इसको दुःख होता है। प्रकृतिभेदके अनुसार किसीको खटाई प्रिय होती है, तो किसीको नमकीन चीज पसंद होती है। जिसको जो रस प्रिय होता है उसको उससे सुख और अप्रिय रससे दुःख होता है। नेत्र रूपका ग्रहण करती है, तेजसे रूपकी प्राप्ति होती है। सुंदरतासे इसको आनन्द और कुरूपतासे दुःख होता है। त्वचासे यह स्पर्शका ग्रहण करता है, वायुसे इसको बहुविध स्पर्श अनुभव होते हैं। मृदु स्पर्शसे इसको सुख और कठोर स्पर्शसे दुःख होता है। कानसे इसको शब्द सुनाई देते हैं, आकाशका शब्द गुण है, वहांसे इसको मंजुल और कर्कश शब्द श्रवणमें आते हैं। मधुर शब्दसे यह प्रसन्न होता है और कठोर शब्दसे अप्रसन्न होता है। इस प्रकार यह सुखदुःखके अनुभवका विचार है।

इंद्रियोंका प्राकृतिक तत्त्वोंसे (मात्रास्पर्शाः) स्पर्श होनेपर (शीतोष्ण-सुख-दुःख-दाः) शीत उष्ण, सुख दुःख, आदिकी प्राप्ति होती है। प्राकृतिक तत्त्वोंसे इंद्रियोंका स्पर्श न हुआ, तो शीत उष्ण, सुख दुःख, आदि नहीं प्राप्त होते। उदाहरणके लिये देखिये- एक मनुष्य जन्मान्ध है, उसकी नेत्र इंद्रिय जगत्के रूपका ग्रहण करही नहीं सकती, इसलिये न उसको सुंदर रूपसे संतोष होता है, ना ही कुरूपतासे दुःख होता है। इसी प्रकार बहिरे मनुष्यको कोमल आलापसे सुख भी नहीं होता और कठोर गालियोंसे दुःख भी नहीं होता। इससे सिद्ध है कि जगत्के साथ इंद्रियोंका संबंध हुआ, तो ही सुख दुःख होना संभव है, अन्यथा नहीं।

द्वंद्वोंकी अनित्यता

इसमें और एक बात है कि एकही संबंध देर तक होनेसे उसका सुख जाता रहता है। जैसा जिलेबीका स्वाद प्रारंभमें सुखदायक लगता है, परंतु घण्टा दो घण्टे केवल एकही जिलेबी ही जिलेबी खाई जाय, तो वह पहिले स्वाद देनेवाला पदार्थ ही आगे दुःखदायक होता है। इसी प्रकार मृदु स्पर्श भी वारंवार और लगातार मिलनेसे पहिले जैसा सुख नहीं देता। इसी तरह सब ही स्पर्शजन्य सुखोंके विषयमें है। इसमें दूसरी बात यह है कि सुख लेनेवालेकी आन्तरिक तैयारी भी चाहिये। स्वादु भोजन आनन्द देता है, परंतु पेटमें भूख रही तो ही स्वादु अन्नसे आनन्द मिलता है। जिसकी पाचन-शक्ति बिगडी है और जिसके मुखमें स्वाद नहीं है, उसको उत्तमोत्तम अमृततुल्य अन्नसे कोई सुख नहीं होता। इसी प्रकार संपूर्ण स्पर्शजन्य सुखोंके विषयमें जानना योग्य है। इसमें तीसरी बात यह है कि

किसी पदार्थसे सबको सर्वदा एक जैसा सुख या दुःखका अनुभव नहीं होता है। मनुष्य विष्ठाको त्यागकर सुखका अनुभव करता है, तो उसीकी प्राप्तिसे सुवरको परम आनन्द होता है। मनुष्योंमें भी यह रुचिभेदका अनुभव सार्वत्रिक है।

इस जगत्में जो श्रेष्ठसे श्रेष्ठ सुख कहा जाता है, वह भी लेनेवालेकी आंतरिक अवस्था, इंद्रियकी योग्यता और अनुकूल बाह्य परिस्थिति, इतनी बातें रहनेपर ही मिलता है, अन्यथा नहीं मिलता। अंदर क्षुधा प्रदीप्त रहनी चाहिये, मुख ठीक अवस्थामें चाहिये, अन्न भी उत्तम चाहिये। इनका संयोग होनेसे सुख होगा और इनमेंसे किसी एकका बिगाड होनेसे दुःख होगा।

$$\frac{\text{आन्तरिक स्थिति} + \text{इंद्रियकी अवस्था}}{\text{बाह्य जगत्का संबन्ध}} = \text{सुखदुःख आदि०}$$

(यह सुख दुःख (आगम-अपायिनः) आता है और जाता भी है।) यह हमने ऊपर देखा ही है कि एकही पदार्थ से प्रारंभमें सुख प्राप्त होनेका अनुभव होता है, परंतु कुछ कालके पश्चात् नहीं होता है। सर्दीके दिनोंमें गर्मीसे सुख अनुभव होता है, परंतु गर्मी आनेपर वही गर्मी दुःखदायक होती है और उस समय सर्दी सुख देने लगती है। इस विचारसे सुख दुःखकी अनित्यता (अनित्याः) स्वयं सिद्ध होती है। किसीसे नित्य सुख और नित्य दुःख होगा, ऐसा पदार्थ इस प्राकृतिक जगत्में एक भी नहीं है।

शीत उष्ण, सुख दुःख, हानि लाभ, जय पराजय, उत्क्रान्ति अपक्रान्ति आदि सब द्वन्द्व हैं और इन सब द्वन्द्वोंकी अनित्यता उक्त कारणसे सिद्ध है। मनुष्य इनमेंसे एकका स्वीकार करे और दूसरेका न करे, ऐसा नहीं हो सकता। देखिये, मनुष्यके आंख जब तक खुले हैं, तब तक सुरूप या कुरूप जो सामने आ जायगा, वह उसको देखना ही होगा। कान जबतक खुले रहेंगे, तब तक उसको बुरे भले शब्द सुननेही होंगे। यह मनुष्यकी विवशता है। यदि उसको जगत्के अनुकूल पदार्थोंका ग्रहण करना है, तो प्रतिकूलका न्यूनाधिक अनुभव उसको मिलेगा ही। जगत्से संपूर्ण प्रतिकूल पदार्थोंका हटाना सर्वथा अशक्य है और यह अशक्यता तब बढ जाती है, जब यह बात अनुभवमें आती है कि एकही वस्तु एकके अनुकूल हुई, तो दूसरेके प्रतिकूल रहती है और एकके लिये भी एक समय जो अनुकूल होती है, वहीं थोडे समयके पश्चात् प्रतिकूल हो जाती है !! इसलिये बाह्य जगत्के प्रतिकूल पदार्थोंको सर्वथा हटाना अशक्य है।

तितिक्षा

यदि बाह्य जगत्से प्रतिकूलता नहीं हटाई जाती, तो जिस आंतरिक अवस्थाके कारण बाह्य जगत्में प्रतिकूलताका अनुभव होता है, वह अपने अंदरकी अवस्था सुधारना योग्य है; इसी उद्देश्यसे (तितिक्षस्व) 'सहन कर' ऐसा कहा है। अपनी सहन-शक्ति बढानेसे बाह्य जगत्की सबकी सब प्रतिकूलता हट जाती है। देखिये, मनुष्य घरमें रहता है और सदा वस्त्रोंमें वेष्टित रहता है, इस कारण शीत और उष्ण सहन करनेकी इसके शरीरकी शक्ति न्यून होती जाती है। यदि यह शनैः शनैः कपडे कम पहननेका अभ्यास करेगा और घरके बाहर जितना रहना संभव होगा, उतना रहेगा, धूपमें और सर्दीमें विना कपडे पहने रहनेका अभ्यास बढायेगा, ठंडे पानीसे स्नान करेगा और सूर्यकी धूपसे शरीर तपावेगा तो उसकी शीतोष्ण सहन करनेकी शक्ति बढ जायगी, किसान सर्दी गर्मीमें खेतोंमें काम करते हैं, क्योंकि वे शीत और उष्ण सहन कर सकते हैं। शहरोंमें जो बाबू रहते हैं वे थोडी देर धूपमें घूमें तो उनका सिर चक्कर खाने लगता है और थोडी सर्दीमें भ्रमण करने लगे, तो कई दिन शीत ज्वरसे रोगी होते हैं। उसी सर्दी और गर्मीमें किसान आनंदसे रहते हैं। क्योंकि उनका द्वंद्व सहन करनेका अभ्यास बढा हुआ होता है। यही 'तितिक्षा' है। इसीका अवलंबन करनेका उपदेश इस श्लोकसे भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको किया है।

जो तितिक्षा अर्थात् सहनशीलता शीतोष्णके विषयमें आवश्यक है, वही सुखदुःख, हानिलाभ, जयपराजय, आदि अनेक द्वन्द्वोंके विषयमें आवश्यक है। सहन-शक्तिसे ही इन द्वन्द्वोंके कष्ट दूर किये जा सकते हैं। शीतोष्ण सहन करते हुए मनुष्य ऐसे बनते हैं कि सर्दी गर्मी और वृष्टिमें सदा घरके बाहर रहते हुए बिलकुल कपडा नहीं पहनते, और पूर्ण

(२) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका प्रभाव ।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

अन्वयः— तत् क्षेत्रं यत् च, यादृक् च, यद्विकारि (च), यतः च यत्, सः च यः, यत् प्रभावः च (अस्ति) तत्, (त्वं) समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥ (इदं ज्ञानं) ऋषिभिः बहुधा, तथा विविधैः छन्दोभिः पृथक् हेतुमद्भिः विनिश्चितैः ब्रह्मसूत्रपदैः च गीतं एव ॥ ४ ॥

यह क्षेत्र क्या है, यह किस प्रकारका है, इसमें कौनसे विकार होते हैं, इसमें कहांसे क्या होता है, वह क्षेत्रज्ञ कौन है और उसका प्रभाव क्या है, यह सब तू संक्षेपसे मुझसे सुन ॥ ३ ॥ यह ज्ञान ऋषियोंने अनेक प्रकारसे, तथा विविध छंदोंमें पृथक् पृथक् और हेतु दर्शाकर निश्चित अर्थवाले ब्रह्मसूत्रके पदोंसे भी गाया गया है ॥ ४ ॥

बीज रखनेवाला परम पिता परमेश्वर ही है ।"

यहां भी उत्तम ज्ञान करके जो कहा है वह प्रकृति और पुरुषसे संपूर्ण विश्व होता है यही है । अर्थात् चारों स्थानोंमें एकही ज्ञान कहा है, उसका तात्पर्य यही है कि सर्वव्यापक एक ईश्वर है, उसकी प्रकृति नौ प्रकारकी है, ईश्वरकी शक्तिसे प्रकृतिमें बीजधारणा होकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है । इस सृष्टिमें जीवसृष्टि और जडसृष्टि दोनों आ गई । दोनों की उत्पत्ति प्रकृतिसे ही है और सबमें सूत्रात्मा वही विश्वात्मा है । विश्वात्माके आधारसे ही यह सब सृष्टि है, जैसे मालाके मणि सूत्रके आधारसे रहते हैं, वैसे ही सूत्रात्माके आधारसे यह सब सृष्टि है । यह सब ज्ञान यथायोग्य जानने योग्य है ।

यहां ज्ञान क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की संज्ञासे इस अध्यायमें कहा है । यहां क्षेत्र नाम प्रकृति का है और क्षेत्रज्ञ नाम आत्माका है । आत्मा ही इस प्रकृतिरूपी क्षेत्रको जाननेवाला है । वह इस प्रकृतिको जानता है, उसमें जो चाहे वह निर्माण करता है, अनेक प्रकारके पुरुषार्थ करता है और श्रेष्ठ पुरुष बनता है-

इस अध्यायके प्रारंभमें कई लोग इस श्लोक का पाठ करते हैं-

अर्जुन उवाच-
"प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।"
"एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥"

अर्थ— अर्जुनने पूछा कि –'मुझे प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय के जाननेकी इच्छा है, सो बतलाओ ।' परंतु सब भाष्यकार इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं, अतः हम भी इसको छोड देते हैं । अस्तु ।

इस क्षेत्रका स्वरूप क्या है और क्षेत्रज्ञका प्रभाव क्या है, वह अब देखिये-

भावार्थ— इस खेतका स्वरूप क्या है, यह खेत किस प्रकारका है, इसमें कौनसी विकृतियां होती हैं, इसमें किस कारणसे क्या गुणदोष होते हैं, यहां इस खेतको जाननेवाला कौन है और उसकी शक्ति क्या है, यही सब जानना चाहिये। यही ज्ञान है और यह ऋषिमुनियोंने विविध छन्दोंमें दर्शाया है तथा कार्यकारण दर्शाकर निश्चित सिद्धान्त बतानेवाले ब्रह्मस्वरूपका निर्णय करनेवाले सूचक वाक्योंमें भी वर्णित हुआ है ॥ ३-४ ॥

(३-४) यह क्षेत्र क्या है अर्थात् इसका स्वरूप क्या है, लक्षण कौनसे हैं, वह क्षेत्र किस प्रकारका है, उसमें अन्तर्गत भेद कितने हैं और इस क्षेत्रमें विकार क्या होते हैं? इसमें परिवर्तन कौनसे होते हैं, उसमें अदलबदल किस तरह होता है और उसमें किससे क्या होता है? इतने प्रश्न क्षेत्रके संबंधमें यहां किये हैं। इन सब प्रश्नोंका विचार यहां करना है।

इसी तरह यहां क्षेत्रज्ञ कौन है और उस क्षेत्रज्ञका प्रभाव क्या है? उसका प्रभाव यहां कैसा अनुभवमें आ सकता है?यह संक्षेपसे यहां इस अध्यायमें देखना है। जो ज्ञान और विज्ञान करके कहा जाता है, वह यही है। मनुष्यको यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और इस ज्ञानका उपयोग अपने जीवनमें करना चाहिये। इसलिये मनुष्यके प्रारंभिक आयुमें यह ज्ञान उसको प्राप्त करना चाहिये। प्रारंभिक आयु ब्रह्मचर्याश्रमकी होती है, इसमें विद्याध्ययनका काल आयुकी २५ वर्षकी अवस्थातक माना है अर्थात् आठवें वर्ष उपनयन होकर गुरुगृहमें ब्रह्मचारी जाता है और वहां १६ वर्ष रहकर २५ वें वर्ष विद्या प्राप्त करके वापस आता है। इस कालमें जो ज्ञान उस ब्रह्मचारी को मिलता है,वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ही ज्ञान होता है। प्रकृति पुरुष, स्थूल सूक्ष्म, देह देही, अपरा और परा प्रकृति, इस तरह अनेक शब्दोंद्वारा एकही भाव बताया जाता है। प्रकृतिकी विद्या और पुरुषकी विद्या येही अध्ययन करनेयोग्य विद्याएं हैं और जो भी कुछ पढाया जाता है वह इसीके अन्तर्गत होता है।

आजकल अनेक शास्त्र बहुतही बढ गये हैं, परंतु वे प्रायः प्रकृतिविद्याके ही अन्तर्गत हैं। प्रकृतिके अंशको लोग जानते हैं और उसका एक शास्त्र बना देते हैं। अर्थात् विद्याएं कितनी भी हों उनका समावेश प्रकृति-पुरुष-विद्याके अन्दर होता है। इसलिये क्षेत्रक्षेत्रज्ञके ज्ञानमें सब प्रकारका ज्ञान समाया है, यह बात भूलना नहीं चाहिये।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्।

अनेक ऋषियोंने विविध छंदोंद्वारा पृथक् पृथक्, अनेक ढंगोंसे इस ज्ञानका विवरण किया है। अनेक प्रकारके शास्त्र और विविध ग्रंथ रचे हैं और पढानेकी सुबोधताके लिये अनंत प्रकारके विद्याके अंग-प्रत्यंग निर्माण किये हैं।

ब्रह्मसूत्रमें भी हेतु दर्शाकर निश्चित आशय प्रकट करनेके लिये बादरायणने कई प्रकरण रचे हैं। इस प्रकार अनेकानेक ऋषियोंने विविध शास्त्रों द्वारा इसी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानका विस्तार किया है।

वेद शास्त्र पुराण दर्शन तथा अन्यान्य शास्त्र जो प्रतिपादन करते हैं वह इसी क्षेत्रक्षेत्रज्ञका ही प्रतिपादन है, तथा जो ग्रंथ विविध शास्त्र-प्रतिपादन के लिये बनाये जा रहे हैं और बनाये जायगे, उनमें भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ही विषय होगा।

परंतु यहां इतना ही समझना चाहिये कि प्रकृति विद्याके शास्त्र इस समय बहुत बढ रहे हैं, प्रकृतिविद्यामें बहुत प्रगति हो रही है और आत्मविद्यामें कम प्रगति हो रही है। तथापि जो भी कुछ शास्त्ररचना हो रही है, वह प्रकृति-पुरुष अथवा क्षेत्रक्षेत्रज्ञके संबंधमें ही हो रही है। अब इसका विवरण देखिए—

(३) क्षेत्रका स्वरूप

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इंद्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

अन्वयः— महाभूतानि, अहंकारः, बुद्धिः, अव्यक्तं एव च, दश इंद्रियाणि च, एकं (मनः), इंद्रियगोचराः पञ्च च इच्छा, द्वेषः, सुखं, दुःखं, संघातः, चेतना, धृतिः, एतत् सविकारं क्षेत्रं (मया) समासेन उदाहृतम् ॥५–६॥

पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि (महत्), अव्यक्त (प्रकृति), दस (सूक्ष्म) इन्द्रियाँ, एक मन, तथा पांच विषय; इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धारणा-शक्ति (यह इकत्तीस प्रकारका) विकार होनेवाला क्षेत्र संक्षेपसे वर्णित हुआ है ॥ ५–६ ॥

भावार्थ— पृथिवी, आप, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति, (पांच ज्ञानेंद्रियां और पांच कर्मेंद्रियां मिलकर) दस सूक्ष्म इंद्रिय–शक्तियां, एक मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात अर्थात् सबका समूह, चैतन्यशक्ति और धृति अर्थात् धारणाशक्ति यह इकत्तीस प्रकारका खेत है, और इसमें विविध विकार भी होते हैं । इसका बहुत वर्णन हो सकता है, परंतु यहां इसका नाममात्र उल्लेख किया है । पाठक हरएक विभागका विशेष विचार करके विशेष ज्ञान प्राप्त करें ॥ ५–६ ॥

क्षेत्रका वर्णन ।

(५–६) पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत; अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति; नासिका, रसना, नेत्र, त्वचा और कर्ण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय; हाथ, पांव, मुख, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्मेंद्रिय; मन; गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये पांच विषय; इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति (धारणाशक्ति) ये सात भाव मिलकर इकत्तीस प्रकारका यह क्षेत्र है–

पंच महाभूत	५
अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार	३
ज्ञानेंद्रिय	५
कर्मेंद्रिय	५
मन	१
विषय	५
इच्छाद्वेषादि भाव	७

मिलकर ३१ प्रकारकी प्रकृति है ।

इसी प्रकृतिको क्षेत्र, प्रकृति, क्षर, आदि अनेक नाम दिये हैं । यह (सविकारं क्षेत्रं) विकृति होनेवाला क्षेत्र है । विकृति-विकारका अर्थ परिवर्तन, बदल, हेरफेर है । इनका एक दूसरे पर परिणाम होता है और परिवर्तन होता है । जैसी मिट्टी शुष्क होती है, उसमें जल मिलनेसे

रोग्य संपन्न रहते हैं। इसी प्रकार अन्य द्वन्द्वोंके सहन रनेकी शक्ति भी मनुष्य अपने अन्दर बढा सकता है। ही तप है। इस द्वन्द्व सहन करनेकी शक्तिसे मनुष्य बडा ख प्राप्त कर सकता है।

धीर पुरुष।

जिस पुरुषने इन द्वन्द्वोंके सहन करनेकी शक्ति अपनेमें ढाई है, अर्थात् (एते यं न व्यथयन्ति) ये शीतो–ादि द्वन्द्व जिस पुरुषको व्यथा नहीं पहुंचा सकते; सर्दीका जिसके शरीरपर कोई क्लेशकारक परिणाम नहीं होता और गर्मीका भी नहीं होता, तथा अन्य द्वन्द्वोंका भी हीं होता; उसको (**समदुःखसुखः धीरः**) सुख दुःख-समान समझनेवाला धीर कहा जाता है। सुखसे भी लुब्ध नहीं बनता और दुःखसे भी वह हताश नहीं होता, एक अवस्था प्राप्त होनेपर वह समानतया कर्तव्यनिष्ठ ता है, उसको 'धीर' कहते हैं। सुख प्राप्त होनेपर मंड न करना, और दुःख आनेपर हताश न होना, यही डा धैर्यका कार्य है। इसी प्रकार धनी या निर्धन बनने-मनको समान रीतिसे रखना बडे धैर्यका कार्य है। न्य द्वन्द्वोंके सहनेके विषयमें भी यही बात है।

जिसके मनकी समवृत्ति कोई भी द्वन्द्व हटा नहीं सकते, ही पुरुष (**समदुःखसुखः**) अनुकूलता और प्रतिकूलता-समय मनका समभाव रख सकता है। यह एक बडी ारी शक्ति है, जो प्राप्त करनेसे मनुष्यका असाधारण ामर्थ्य हो जाता है। यही मनुष्य (धी-रः) बुद्धी देनेमें र्थात् दूसरोंको योग्य सलाह देनेमें समर्थ होता है। जो डेसे लाभसे घमंड करता है और थोडीशी हानी हुई तो ाण देनेको तैयार होता है, वह अस्थिर मनका मनुष्य गत्में क्या कार्य कर सकता है और उसकी मंत्रणासे सका लाभ होना है?

अमरपनकी प्राप्ति।

परन्तु जो मनुष्य अपनी अनुकूल परिस्थितिमें अथवा तिकूल परिस्थितिमें अपने मनको स्वाधीन रखता है और रिस्थितिके प्रवाहसे बहा नहीं देता, वही बडा सामर्थ्य-न् है। यही धीर मानसिक समता रखनेवाला मनुष्य (**अमृतत्वाय कल्पते**) अमृतत्वको प्राप्त करनेका सामर्थ्य अपने अन्दर रखता है। वह जिस समय चाहे उस समय अमरपन प्राप्त कर सकता है। द्वन्द्वोंके आघातोंसे अपने मनको चञ्चल होने न देनाही अमर बननेका सामर्थ्य प्राप्त करना है। इस विषयमें एक उदाहरण देखिये-छोटासा दीप थोडीसी वायु चली तो कांपने लगता है, और बुझ भी जाता है। क्योंकि इस वेगको सहनेकी शक्ति उसमें नहीं होती। परन्तु वही ज्योति जब बढती है और बडे जंगल-को जलाने लगती है, उस समय वायुका कोई डर उसको नहीं होता इतनाही नहीं, परन्तु वायु चली, तो वह उसको सहायकारी होती है। इसी प्रकार हानि लाभ आदि द्वन्द्वोंके वेगसे जो कांपता नहीं, परन्तु विपरीत परिस्थितिमें भी धैर्यसे अपने प्रगतिके पथपर स्थिर रहता है, उसका सामर्थ्य विपरीत परिस्थितिसेही अधिकाधिक बढता जाता है। परिस्थितिके कारण वह दबता नहीं, परन्तु वह विपरीत परिस्थितिको दबाता है। यही मनुष्य अमर बननेकी शक्ति अपनेमें बढाता है।

मृत्यु और अमरपन।

मृत्यु क्या है और अमरत्व किसका नाम है, इसका विचार यहां करना आवश्यक है। परिस्थितिके अन्दर दब जाना मृत्यु है और परिस्थितिके दबावको हटा देना अमरत्व है। विभक्त होना मृत्यु है और अविभक्त रहना अमरत्व है। नाशवान के साथ रहनेसे मृत्युका भय होता है और अवि-नाशीके साथ रहनेसे अमरत्व प्राप्त होता है। मनुष्यके पास जो उच्च अमर साधन हैं उनका आश्रय करनेसे अमरपन प्राप्त होता है और उसीके नाशवान् मर्यादित साधनोंके साथ रहनेसे मृत्युके वश होना पडता है देखिये–

[अमर और मर्त्य साधनोंकी तालिका पृष्ठ ८२ देखिये।]

क्रम--उन्नतिका पथ।

साधारणतः सामान्य अवस्थामें मनुष्य अपनी शरीर-स्थितिमेंही रहते हैं, उनको उच्च अवस्थाका कोई अनुभव नहीं होता। ये लोग समझते हैं कि 'मैं शरीरके साथ जन्मता हूं और उसीके साथ मरता हूं।' इससे थोडे उच्च बने मनुष्य शरीरसे भिन्न इंद्रिय शक्तियां हैं ऐसा अनुभव करते हैं। ये लोग इंद्रियोंके वेगोंके साथ वहते जाते हैं, सुखदुःख, शोकमोह आदि द्वन्द्वोंके वशमें ये रहते हैं। इससे ऊपरकी श्रेणीके मनुष्य प्राणायामादि साधन करके

(४) ज्ञानका स्वरूप ।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इंद्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

गीली होती है और जल वहां स्थिर रहनेसे सडना शुरू होता है। इसी तरह सूखे तृणकाष्ठ को अग्नि लगनेसे वह जल जाता है। गीला वस्त्र वायुमें रखनेसे सूखता है। किसी स्थानमें जल हुआ तो कुछ दिनोंके बाद सूख जाता है। वृक्ष बढ जाते हैं और सूख भी जाते हैं। इस रीतिसे अनेकानेक परिवर्तन यहां हो रहे हैं। ये ही विकार हैं।

संपूर्ण सृष्टिभरमें ये विकार हो रहे हैं। (जायते) उत्पन्न होता है, (अस्ति) है, (वर्धते) बढता है, (विपरिणमते) परिणाम होता है, (अपक्षीयते) क्षीण होता है और (विनश्यति) नाशको प्राप्त होता है। ये छः विकार इस सृष्टिमें हो रहे हैं। इनमें अनंत भेद हैं और इन विकारभेदोंका निरीक्षण करकेही अनेक शास्त्र बने हैं।

जैसे भूस्तरशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, वास्तुविद्या, खनिजशास्त्र आदि शास्त्र पृथ्वीके साथ संबंध रखनेवाले हैं। जलविद्या, जलयानविद्या, नौकानयनशास्त्र, जलचिकित्सा, रसविद्या, औषधिविद्या, इत्यादि शास्त्र जलतत्त्वके साथ संबंध रखनेवाले हैं। अग्नि-विद्या, विद्युच्छास्त्र, सूर्यकिरणचिकित्सा, वर्णचिकित्सा, इत्यादि शास्त्र आग्नेय तत्त्वके साथ संबंध रखनेवाले हैं। वायुयानविद्या, विमानशास्त्र, प्राणायामशास्त्र, वायुस्तंभनविद्या, वायुयंत्रनिर्माण आदिका संबंध वायुतत्त्वके साथ है। शब्दशास्त्र, ध्वनिविद्या, शब्दवेध, ध्वनिक्षेपणविद्या, गानविद्या, वक्तृत्वशास्त्र, आदि अनेक विद्याएं शब्दके साथ संबंध रखनेके कारण आकाशतत्त्वके साथ संबंध जोडनेवाली हैं। इंद्रियविज्ञानके शास्त्र अनेक हैं। अहंकार, बुद्धि आदिका विचार और खोज करनेवाले अनेकानेक शास्त्र हैं। भोगविषयोंके शास्त्र तो नित्य प्रति बढही रहे हैं। सूपशास्त्र, रूपशास्त्र, कामशास्त्र आदि अनेकानेक भोगविषयोंके शास्त्र हैं। चैतन्यकी खोज करनेवाले अध्यात्मशास्त्र हैं, इसमें अनंत शास्त्रोंका समावेश होता है। मानसशास्त्रकी खोज होकर मनोविज्ञान, मानसचिकित्सा, विचारसंक्रमण आदि बहुतही शास्त्र बने हैं और बन रहे हैं।

ये सब प्रकृतिपुरुष विषयक शास्त्र हैं। ये शास्त्र इतने हैं कि इनका अध्ययन एक मनुष्य अपनी आयुमें कर नहीं सकता। तथापि संक्षेपसे साधकको इनमेंसे मुख्य मुख्य विषयोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अब इस ज्ञानका स्वरूप देखिये—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अन्वयः— अमानित्वं, अदम्भित्वं, अहिंसा, क्षान्तिः, आर्जवं, आचार्योपासनं, शौचं, स्थैर्यं, आत्मविनिग्रहः । इंद्रियार्थेषु वैराग्यं,अनहंकारः एव च, जन्म-मृत्यु–जरा–व्याधिदुःख–दोषानुदर्शनं । असक्तिः, पुत्र–दार–गृहादिषु अनभिष्वंगः, इष्टानिष्टोपपत्तिषु नित्यं समचित्तत्वं च । मयि च अनन्य-योगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः, विविक्त–देश सेवित्वं, जनसंसदि अरतिः । अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं, तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं, एतत् ज्ञानं इति प्रोक्तं, यत् अतः अन्यथा (तत्) अज्ञानं (इति प्रोक्तम्) ॥ ७–११ ॥

मानी न होना, दम्भ न करना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्ति, अहंकार न करना, जन्म-मृत्यु–जरा–व्याधि–दुःख और दोषोंका विचार करना, अनासक्ति, पुत्र–स्त्री-गृह आदिमें लंपट न होना, प्रिय और अप्रिय के विषयमें समभाव धारण करना, मेरे प्रति (ईश्वरके प्रति) अनन्यभावसे अटल भक्ति, एकान्त देशका सेवन, जनसमूहमें आनेकी अरुचि, नित्य अध्यात्मज्ञानका विचार करना, तत्त्व-ज्ञानका विचार करना,इसको 'ज्ञान' कहते हैं। जो इससे भिन्न है,वह सब अज्ञान है ॥ ७–११ ॥

भावार्थ— घमंडकी वृत्ति न रखना, ढोंग न करना, हिंसा न करना, क्षमाकी वृत्ति धारण करना, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धता, आचारविचारमें स्थिरता, आत्मसंयम, भोगोंके विषयमें अरुची, अहंता छोडना, जन्म–मृत्यु, बुढपा, रोग, दुःख और दोष किस तरह होते हैं इसका नित्य विचार करना, अनासक्ति, स्त्रीपुत्र घरदारके विषयमें लंपटता न धरना, प्रिय और अप्रिय आदि द्वंद्वोंके विषयमें समभाव धारण करना, ईश्वरकी अनन्य और दृढभक्ति करना, एकान्त सेवन करना, जनसमूहमें आनेकी अरुची, सदा अध्यात्मका ज्ञान प्राप्त करना, तत्त्वोंके ज्ञान का मनन करना, यही ज्ञान है। इससे भिन्न जो है, उसे अज्ञान कहना योग्य है ॥७–११॥

ज्ञान और अज्ञान ।

(७–११) इन पांच श्लोकोंमें ज्ञान कौनसा है यह कहा है, इसके अतिरिक्त इससे भिन्न जो है वह अज्ञान है। अतः हम यहां ज्ञान क्या है और उससे भिन्न अज्ञान क्या है, यह देखते हैं। यहां ज्ञानके लक्षण जो कहे हैं, उनके विरोधी लक्षणोंको मनके संमुख खडा करनेसे अज्ञानके स्वरूपका पता लग सकता है । इस तरह विचार करके निम्नलिखित कोष्टक बनाया है। पाठक इसको अधिक मनन करके परिपूर्ण कर सकते हैं—

ज्ञानके लक्षण ।	अज्ञानके लक्षण ।
१ अहिंसा, अक्रूरत्व	१ हिंसा, क्रौर्य
२ अमानित्व	२ मानित्व, घमंड
३ अदम्भित्व	३ दम्भित्व, दंभ
४ क्षान्तिः, क्षमा	४ अशान्ति, असमाधान, क्षमा न करना
५ आर्जव, सरलता,	५ कुटिलता, टेढापन
६ आचार्योपासन, गुरुसेवा	६ गुरुके साथ विरोध
७ शौच, शुद्धता, पवित्रता	७ अपवित्रता, मलिनता
८ स्थैर्य, स्थिरता	८ चंचलता, अस्थिरता
९ आत्मविनिग्रहः, आत्मसंयम मनोनिग्रह, इंन्द्रियदमन	९ असंयम, स्वैराचार, इंद्रियोंकी उच्छृङ्खलता
१० इंद्रियार्थोंमें वैराग्य, भोगोंके विषयमें उदासीनता	१० इंद्रियोंके भोगोंके विषयमें अत्यंत आसक्ति
११ अनहंकारः	११ अहंकार
१२ जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिमें दुःखों और दोषोंको देखना	१२ दुःख और दोष का विचार न करना ।
१३ असक्ति, अनासक्ति	१३ भोगोंपर आसक्ति
१४ पुत्र-दार-गृहादिमें (अनभिष्वंगः) मोह और ममता न रखना	१४ पुत्र, स्त्री, गृहादिकोंमें मोहित होना, इनपर ममत्व रखना
१५ इष्ट-अनिष्टमें सदा समचित्त होना	१५ इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें विषमचित्त होना, इष्टका प्रेम और अनिष्टका द्वेष करना
१६ ईश्वरमें अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति	१६ ईश्वरको न मानना, अन्यभाव धरना, सबको परस्परभिन्न समझना, या तो भक्तिही न करना अथवा व्यभिचारिणी भक्ति करना
१७ एकान्त-सेवन करना	१७ एकान्त-सेवन न करना
१८ जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि	१८ जनसंमर्दमें जानेकी रुचि
१९ नित्य अध्यात्मविचारमें मग्न होना	१९ अध्यात्मका विचार न करना
२० तत्त्वज्ञानके मोक्षरूप उद्देश्यका दर्शन करना	२० तत्त्वज्ञान न सुनना और उसके उद्देश्यका भी विचार न करना
२१ इसका नाम ज्ञान है ।	२१ इसका नाम अज्ञान है ।

यहां ज्ञान और अज्ञानकी व्याख्या की है। ये ही ज्ञानके और अज्ञानके लक्षण हैं, ऐसा समझना नहीं चाहिये। ये उपलक्षण मात्र समझने चाहिये। जैसा यहां 'अहिंसा' यह एक ज्ञानका लक्षण कहा है, अक्रोध, अवैर आदिका समावेश इसमेंही मानना चाहिये। इसी तरह अन्यान्य लक्षणोंके विषयमें विचार करके जानना चाहिये।

वस्तुतः ये ज्ञानके लक्षण नहीं और इसके विपरीत लक्षण अज्ञानकेभी नहीं हैं। परंतु ये ज्ञानके परिणाम हैं। मनुष्यमें ज्ञानका विकास परिपूर्ण रीतिसे होनेपर वह इन लक्षणोंसे युक्त होता है। जो पूर्ण ज्ञानी है, वह अहिंसक, अमानी, अदम्भी, निरहंकारी, अनन्यभक्त, भोगोंके विषयमें विरक्त, सरल सीधा, शुद्धाचाररत, शान्त, इंद्रियदमन करनेवाला, अनासक्त, समचित्त होगा और जो अज्ञानी होगा, वह हिंसक, क्रूर, मानी, घमंडी, दम्भी, विरोधक, भोगोंमें लिप्त हुआ, कुटिल, अशुचि, चञ्चल, स्वैराचारी भोगासक्त, विषमभावयुक्त होगा। इसके साथ साथ जो अन्यान्य सहचारी लक्षण संभव हो सकते हैं, उनका विचार भी पाठक करें और वे लक्षण यहां गिनाये हैं, ऐसा यहां समझें।

सर्व विश्वरूप ही वासुदेवका है, सर्वत्र वही ईश्वर है ऐसा अनुभव करनेसे येही ज्ञानके लक्षण उस साधकमें स्थिर होते हैं और ये स्वभावसे ही लक्षण जिसमें स्थिर हुए तो उसीको सिद्ध पुरुष कहा जाता है।

पाठक ये सिद्ध पुरुषके लक्षण हैं ऐसा समझें और इन लक्षणोंको अपने अन्दर स्थिर करनेका यत्न करें। जिस प्रमाणमें अपने अन्दर ये लक्षण हैं उसका परीक्षण करनेसे अपनी उन्नति कितनी हुई है और शेष कितनी उन्नति होनी चाहिये इसका निश्चय हो सकता है। पाठक इस रीतिसे आत्मपरीक्षण करें।

ये जो ज्ञानके लक्षण यहां कहे हैं, उनकी सामाजिक और राष्ट्रीय सुख-शान्तिके लिये कितनी आवश्यकता है और इनके विपरीत जो अज्ञानके लक्षण अनुमान किये जाते हैं उनसे समाजमें और राष्ट्रमें कैसी अशान्ति वढेगी, इसका विचार पाठक करें और भगवद्गीताका यह तत्त्वज्ञान समाजोपयोगी कैसा है यह जानें। यदि समाज सुख और शान्तिसे युक्त वनाना है, तो उसमें ये ज्ञानलक्षण सुस्थिर होने चाहियें।

श्रीमद्भगवद्गीता आदर्श सामाजिक जीवन का उपदेश कर रही है। समाजके मनुष्य यह आदर्श अपने अन्दर सुस्थिर करनेका प्रयत्न करते रहें। यह आदर्श ऐसा है कि विना परिश्रम यह आचरणमें आना कठिन है। वडे परिश्रम किये जांय तोहि यह आचरणमें आसकता है। सामाजिक, जातीय तथा राजकीय प्रवंध भी ऐसा होना चाहिये कि जिसमें रहते हुए यह आदर्श जीवन मनुष्योंके आचरणमें आ जावे और मनुष्य 'पूर्ण मानव' अथवा 'पुरुषोत्तम' वन सकें। आजकलकी समाजव्यवस्था और राज्यव्यवस्था ऐसी है कि जिसमें रहता हुआ मनुष्य इन दैवी गुणोंके वदले आसुरी भावोंको ही अपने अन्दर वढा सकता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रका वध कर रहा है, एक दूसरेको लूट रहे हैं, जो हिंसा करना नहीं चाहते वे असभ्य गिने जाते हैं और उनको दवानेका यत्न होता है। आसुरी भाव वढनेके कारण ऐसा हो रहा है। अतः भारतीयोंको ऐसा प्रचण्ड यत्न करना चाहिये कि जिससे सव भारतीय जनता अपने अन्दर उक्त दैवी गुणोंका उत्कर्ष कर सके और संपूर्ण जगत् में दैवी गुणोंका विकास करने का विशेष प्रयत्न करे।

इस तरह ज्ञानका विचार हुआ। अव जानने योग्य वातोंका वोध भगवान् करते हैं, वह देखिये-

(९) ज्ञेय क्या है?

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च यज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अन्वयः- यत् ज्ञेयं, यत् ज्ञात्वा (जीवः) अमृतं अश्नुते, तत् प्रवक्ष्यामि । तत् अनादिमत् परं ब्रह्म सत् न, असत् च न, इति उच्यते । १२॥ लोके तत् सर्वतः पाणिपादं, सर्वतः अक्षिशिरोमुखं, सर्वतःश्रुतिमत् (अस्ति), सर्वं च आवृत्य तिष्ठति ॥१३॥ (तत्) सर्वेंद्रियगुणाभासं, सर्वेंद्रियविवर्जितं, असक्तं, सर्वभृत् च एव, निर्गुणं, गुणभोक्तृ च (अस्ति)॥ १४ ॥ तत् भूतानां बहिः अन्तः च (अस्ति), अचरं चरं च एव (अस्ति), तत्, सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयं (अस्ति), दूरस्थं च अन्तिके च (अस्ति) ॥१५॥ तत् ज्ञेयं अविभक्तं भूतेषु विभक्तं इव स्थितं, भूतभर्तृ च ग्रसिष्णु च प्रभविष्णु च अस्ति॥१६॥ तत् ज्योतिषां अपि ज्योतिः (अस्ति), तमसः परं उच्यते, (तत्) ज्ञानं, ज्ञेयं, ज्ञानगम्यं (अस्ति), (तत्) सर्वस्य हृदि धिष्ठितं (अस्ति) ॥१७॥

वह ज्ञेय जिसके जाननेसे जीव अमृतत्व प्राप्त करता है, मैं तुझे कहता हूं। वह अनादि परब्रह्म है, उसे न सत् और न असत् कहते हैं ॥१२। इस लोकमें उसके सर्वत्र हाथ पांव, सब ओर आंख, सिर और मुख और सब ओर कान हैं। वह सर्वत्र व्याप कर रहा है ॥१३॥ उसमें सर्व इंद्रियोंके गुणोंका आभास है, तो भी वह सर्व इंद्रियोंसे रहित है। वह सर्वत्र आसक्तिरहित, सबका भरणपोषण करनेवाला, गुणरहित होनेपरभी गुणोंका भोक्ता है ॥१४॥ वह सब भूतोंके बाहर भी है और अन्दर भी है, वह स्थिर भी है और चर भी है,

... सूक्ष्म होनेके कारण जाननेके लिये कठिन है और वह दूरभी है और पास भी है ॥१५॥ वह ज्ञेय आत्मा अविभक्त होता हुआ भी सब भूतोंमें विभक्त जैसा रहता है। वह सब भूतोंका पोषण करनेवाला, नाश करनेवाला और उत्पन्न करनेवाला भी है ॥१६॥ वह ज्योतियोंकी भी ज्योति है, वह अन्धकारसे परे है ऐसा कहा जाता है, वही ज्ञान है, वही जानने योग्य है और वही ज्ञानसे जानने योग्य है। वह सब के हृदयोंमें रहता है ॥१७॥

भावार्थ- परमेश्वर ही जानने योग्य है, उसके ज्ञानसे जीव अमरभावको प्राप्त होता है। वह परब्रह्म अनादि है, उसको सत् या असत् कहना अयोग्य है। उसके हस्तपाद आदि अवयव सर्वत्र हैं, वह सर्वत्र व्याप्त है, सभी इंद्रियोंके गुण उसमें हैं, तथापि वह सर्व इंद्रियोंसे रहित है, वह सर्वत्र आसक्ति न रखनेवाला, तथापि सबका धारणपोषण करनेवाला, निर्गुण होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है। वह अन्दर बाहर सर्वत्र है। वह हिलनेवाला होनेपर भी स्थिर है, अति सूक्ष्म होनेसे जाननेके लिये कठिन है और वह जैसा दूर है वैसाहि पास भी है। वह अखंडित है, परंतु प्रत्येक भूतमें खण्डित सा दीखता है। वही सबकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश भी करता है। सब तेजस्वी पदार्थोंको उसीसे तेज मिलता है, उसके पास अन्धकार नहीं है, क्योंकि वह उससे परे है। वही ज्ञान, जानने योग्य और ज्ञानसे प्राप्तव्य है। ऐसा यह परमात्मा सबके हृदयोंमें सदा रहता है ॥१२-१७॥

किसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये?

(१२-१७) मनुष्यको किसका ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये? इस जीवनमें मनुष्य का ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य क्या है? इसका विचार अब करते हैं। जिसका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य मात्रके लिये अत्यंत आवश्यक है, वह 'अनादि परब्रह्म' है। इसका वर्णन इस तरह यहां किया है —

(१) सर्वतः पाणिपादं, सर्वतः अक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमत् (१३)

'इस परब्रह्मके हाथ, पांव, आंख, सिर, मुख और कान सब ओर हैं।' पाठक यह विश्वरूपी परमात्माका वर्णन है ऐसा समझें। ये सब ओर जो हाथ पांव और मुखादि अवयव हैं, ये केवल कल्पनाके नहीं हैं, ये सत्य अवयव हैं। क्योंकि परमात्माके विश्वरूप में सब मानव, सब पशु पक्षी और सब अन्य स्थूल सूक्ष्म जीवजन्तु आते हैं। इन सब प्राणियोंके जो हाथपांव, मुख आदि अवयव हैं वे ही इस विश्वात्माके अवयव हैं, अतः कहा है कि इसके हाथ पांव आंख मुख सिर कान आदि अवयव सब ओर हैं। पाठक अपने चारों ओर देखें, उनके सम्मुख अनेक प्राणी दीखेंगे और उनके अनेक अवयव होंगे, वे सब अवयव इस विश्वात्मा अथवा सूत्रात्माके हि हैं, क्योंकि सब प्राणियोंके हृदयमें यही विश्वात्मा अनुस्यूत भरा है, इससे कोई पृथक् नहीं है. सब रूप उसीके हैं और उसीके विश्व रूपमें समाये हैं, इसके विश्वरूपसे भिन्न किसीका रूप नहीं है। अतः उसके मुख नासिकादि अवयव चारों ओर हैं ऐसा वर्णन अनेक स्थनोंपर किया गया है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ (ऋग्वेद १०।८१।३)

"सब ओर चक्षु मुख बाहु और पांव हैं, ऐसा एकही परमात्म देव इस सब विश्वका

उत्पादक है।" यहां भी वही बात कही है। जहां ऋग्वेदमें 'विश्वतः' है वहां गीतामें 'सर्वतः' है, दोनोंका अर्थ एकही है।

(२) सर्वं आवृत्य तिष्ठति (१३)

'यह परब्रह्म, जिसके हाथ पांव मुख सब ओर हैं, वह सब विश्वको घेर कर रहा है।' कोई वस्तु इससे पृथक् नहीं है। इस विश्वके सब वस्तुओंको उसने घेरा है। इससे न घेरा हुआ कोई पदार्थ नहीं है। इसने सबको घेरा है और कोई इससे पृथक् नहीं है, इसी लिये सबके अवयव इसीके अवयव हैं और इसी कारण इसके अवयव सब ओर हैं ऐसा कहा जाता है।

(३) सर्वेन्द्रियगुणाभासं

सर्वेन्द्रियविवर्जितं। (१४)

'सर्व इंद्रियोंके गुणोंका आभास उसमें होता है, तथापि वह सर्व इन्द्रियोंसे रहित ही है।' इससे पूर्व कहा है कि 'सब ओर उसके हाथ-पांव मुख कान नाक आदि अवयव हैं।' इन सर्वत्र स्थित अवयवोंको देखनेसे ही वह है ऐसा दिखाई देता है। यदि ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां तथा अन्तःकरण कार्य न करता, जगत् में किसी स्थानपर इनका कार्य न दिखाई देता, तो आत्माका अस्तित्व भी नहीं माना जाता। अतः हाथ पांव आदि इंद्रियोंके गुणोंका उसमें आभास है, यह बात सत्य है, तथापि ये इंद्रिय क्षर प्रकृतिके हैं, आज हैं और कल नहीं रहेंगे, अतः उस अक्षरमें ये इंद्रिय हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है। उसमें क्षर इंद्रियोंके गुणोंका आभास होता है और इस आभाससे उसका ज्ञान भी होता है, यह सत्य है। तथापि वह अक्षर-तत्त्व इन इंद्रियोंसे रहित ही है। गुडकी मीठास गुडके आकारकी नहीं होती, तथापि गुडके स्थूल आकारमें वह दिखाई देती है। इसी तरह उस परमात्मामें इन इन्द्रियोंका आभास प्रतीत होता है तथापि उसके शुद्ध स्वरूपमें ये इन्द्रिय नहीं हैं। उस निर्गुणमें इंद्रियगुणोंकी संभावना भी कैसी मानी जा सकती है?

जैसा आकाश घडेमें घटाकार और घरमें गृहाकार हुआ दीखता है, परन्तु आकाशको कोई आकार नहीं है; रस जैसा जलमें जलरूप हुआ दीखता है, परंतु उसका आकार नहीं होता; जैसा तेज दीपमें दीपकके आकारका दीखता है तथापि तेजका स्वयं कोई आकार नहीं होता; जलकी धारा तेढी वहने लगी तो जल जैसा तेढा नहीं होता, तथा वह ब्रह्म मन आदि इंद्रियोंमें कार्य करता हुता दीखनेके कारण इंद्रियोंके गुण-धर्मोंसे युक्त होनेके समान दीखता है, परन्तु वस्तुतः वह इंद्रियधर्मोंसे रहित ही है। उपनिषदोंमें कहा है—

कतमः स आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव ॥

(बृ० उ० ४।३।७)

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

(श्वे० उ० ३।१९)

"जो प्राणोंमें विज्ञानमय है, वह हृदयमें अन्तर्ज्योति है व ध्यान करता हुआसा, चेष्टा करता हुआसा दीखता है। उसको हाथ पांव न होते हुएभी वह वेगवान् और सबको पकडनेवाला है, आंख न होते हुएभी वह सबको देखता है, कान न होते हुए भी वह सब कुछ सुनता है, वह सब जानता है, परंतु उसको जाननेवाला कोई नहीं है, इस पुरुषको अग्रगण्य महान् पुरुष कहते हैं।"

यहां इन्द्रियरहित होनेका उसका वर्णन है, परंतु उसी आत्माके कारण सब इंद्रिय कार्य करनेमें समर्थ होते हैं और इन्द्रियोंके कार्य देखकर उस इंद्रका अर्थात् आत्माका अनुमान होता है। इसलिये कहा जाता है कि सब इन्द्रियों

सभी इन्द्रियोंका आभास उस आत्मामें है। सब इन्द्रियोंके कार्य इन्हींसे हो रहे हैं, तथापि उसमें कोई इन्द्रिय नहीं है, यह बात इस तरह स्पष्ट की गयी है।

(४) असक्तं (१४)

यह ब्रह्म सर्वत्र है तथापि वह किसीके साथ आसक्त नहीं है। जैसा सुवर्णका आभूषण किया जाय, तो उस आभूषणमें वह सुवर्ण रहता हुआ भी आभूषणके स्वरूपके अथवा उस आकारके साथ वह आसक्त नहीं होता। उसका वह आकार दूर हुआ और दूसरा कोई आकार उसे प्राप्त हुआ तो उसे उसमें कोई रागद्वेष नहीं होता। इसी तरह वह श्रेष्ठ ब्रह्म सब आकारोंमें समान अवस्थित होने पर भी किसी आकारके साथ वह लिपटा हुआ नहीं है, किसीमें वह आसक्त नहीं है।

(५) सर्वभृत् (१४), भूतभर्तृ (१६)

यह ब्रह्म सब भूतोंका भरण पोषण धारण करता है। उसीसे सबका भरण पोषण-धारण हो रहा है, यही बात अन्यत्र कही है-

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन
जातानि जीवन्ति। यं प्रयन्त्यभिसंविश-
न्ति, तद्विजिज्ञासस्व. तद्ब्रह्मेति : (छां० उ०)

'जिससे ये सब भूत बनते हैं, जिससे बननेपर जीवित रहते हैं और विनष्ट होकर जिसमें लीन होते हैं, वह ब्रह्म है।' यहां मिट्टीसे घडा बनता है, मिट्टीके आधारसे रहता है और टूटनेपर उसकी मिट्टीहि बनती है। तथा जैसे सुवर्णसे आभूषण बनता है, सुवर्णके आधारसे ही आभूषण रहता है और टूटनेपर सुवर्णके ही रूपमें परिणत होता है। इसी तरह ये सब भूत ब्रह्मसे बने, ब्रह्मसे धारण पोषण हो रहे हैं और ब्रह्ममें ही जा मिलेंगे। इस लिये ब्रह्मको सर्वभृत अर्थात् सबका धारण-पोषण-भरण करनेवाला कहा है।

(६) निर्गुणं गुणभोक्तृ च। (१४)

'वह ब्रह्म निर्गुण है, परन्तु गुणोंका भोग करनेवाला है।' यह ब्रह्म स्वयं सत्त्वरजतम आदि गुणोंवाला नहीं है, तथापि इन गुणोंका भास उसमें होता है। जैसा आभूषणका भास सुवर्णमें होता है, सुवर्ण उस आभूषणको धारणभी करता है, परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो सुवर्णका आभूषणके साथ क्या संबंध है? कुछ भी नहीं। ज्ञान, भोग और मोह ये सत्त्व रज तमके गुण हैं, ये विश्वरूपमें ब्रह्मपर दीखते हैं, ब्रह्मके कारण उसीके आधारसे रहे हैं, परंतु वस्तुतः वे उसके या उसमें नहीं है।

(७) भूतानां बहिः अन्तः च। (१५)

वह ब्रह्म 'सब भूतोंके अन्दर और बाहर है।' अर्थात् वह सबको व्याप्त हुआ है, सबके अन्दर, बाहर और बीचमें अर्थात् सर्वत्र है। वह नहीं है ऐसा एक अणुरेणु जितना भी स्थान नहीं है। जो कुछ है वह सूक्ष्म हो या स्थूल हो, वह उसीसे व्याप्त है, उसके अन्दर बाहर वह व्याप्त हुआ है।

(८) तत् दूरस्थं अन्तिके च। (१५)

'वह ब्रह्म दूर भी है और पास भी है।' सर्वव्यापक होनेका ही यह अधिक स्पष्टीकरण है। जो जानते नहीं उनके लिये वह बहुत दूर है, परन्तु जो जानते हैं उनके बिलकुल पासहि वह है। अर्थात् वह स्थानसे भी दूर और पास है और ज्ञानसेभी दूर और समीप है।

(९) तत् अचरं चरं एव। (१५)

"वह ब्रह्म अचल अर्थात् स्थिरभी है और चल भी है।'

वह स्वयं अचल अर्थात् न हिलनेवाला होता हुआ भी सबको चलाता है, इसलिये चल भी है। वह अचल-चल, अचर-चर, स्थिर-चर दोनों प्रकारका भासता है। वह गतिमान् वस्तुओंमें गतिमान्-सा दीखता है और स्थिर वस्तुओंमें स्थिर-सा दीखता है। इसका वर्णन ईशोपनिषद्-

में इस तरह किया गया है-

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्
पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मि-
न्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥
तदेजति तन्नैजति, तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः
॥५॥ (ईश० उ०)

'वह स्वयं न हिलनेवाला एक है, तथापि मन सेभी वेगवान् है। अन्य दौडनेवालोंके आगे जाता है, तथापि वह स्थिर है॥ वह चलाता है तथापि स्वयं हिलता नहीं, वह दूरभी है और समीपभी है, वह सबके अन्दर भी है और सबके बाहर भी है॥'

यह ईशोपनिषद् का और गीताका वर्णन एक जैसा ही है। यही वर्णन मुण्डकोपनिषद् में इस तरह है-

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च सूक्ष्म-
तरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
(मुण्डक उ० ३।१।७)

'वह ब्रह्म बडेसे बडा और सूक्ष्मसे सूक्ष्म है। वह दूर भी है और समीप भी है, देखनेवालोंके लिये वह उनके अंतःकरणमें ही है।' वह सर्व-व्यापक होनेसे सर्वत्र उपस्थित है।

(१०) सूक्ष्मत्वात् तत् अविज्ञेयम्। (१५)

'अति सूक्ष्म होनेसे जाननेके लिये वह कठिन है।' सर्वत्र है,इसी लिये वह सबसे सूक्ष्म है और अति सूक्ष्म, सबसे सूक्ष्म होनेसे ही जाननेके लिये सबसे कठिन है।

(११) (तत्) अविभक्तं, (परन्तु) भूतेषु
विभक्तं इव स्थितम्। (१६)

'वह ब्रह्म वस्तुतः अविभक्त अर्थात् अखण्ड है, उसमें टूकडे नहीं हैं, वह सर्वत्र एकरस है, तथापि सब भूतोंमें विभक्त जैसा होकर रहा है।' अखंड एकरस होनेपर भी खण्डित विभिन्न-रस जैसा दीखता है। एक होनेपर भी अनेक जैसा प्रतीत होता है।

जैसे सुवर्णके आभूषण अनेक बनवाये, कई कानमें धारण करनेके, कई नाकमें, कई गलेमें, कई छातीपर, कई हाथोंमें, कई कमरमें धारण करनेके होते हैं। सुवर्णकी दृष्टिसे सबमें एक-रसता है,तथापि धारणकी रीतिसे उसमें विविधता और भेद है।

जैसा एक ही काल निमेष मुहूर्त दिन पक्ष मास अयन आदि भेदोंसे युक्त प्रतीत होता है, एक ही जीवन बाल्य, तारुण्य, वार्धक्यादि भेदोंमें विभक्तसा प्रतीत होता है, इसी तरह वह एक तत्त्व सब विश्वके रूपमें दिखाई देता है।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।(ऋग्वेद६।४७।१८)

इन्द्र अर्थात् आत्मा एक होता हुआ भी अनेक रूपोंवालासा दिखाई देता है। तथा और देखिये-

यत्र द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति...
शृणोति .. अभिवदति...मनुते...विजनाति,
यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं
जिघ्रेत्, तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं शृणु-
यात्, तत्केन कमभिवदेत्, तत्केन कं
मन्वीत, तत्केन कं विजानीयात्, येनेदं सर्वं
विजानाति तं केन विजानीयात्, विज्ञातार-
मरे केन विजानीयात्॥ (बृ० उ० २।४।१४)

'जहां द्वैतसा होता है वहां ही एक दूसरेको देखता सुनता कहता विचारता और जानता है। परंतु जहां सब आत्मा ही हो जाये, तब कौन किसको देखे, कौन किसको सुने, कौन किसको जाने? जिससे जाना जाता है उसे कौन जाने? और विज्ञाताको कौन कैसा जाने?' यहां दोनों अवस्थाओंका वर्णन है, एक एकत्व की अवस्था का और दूसरा द्वैतकी अवस्थाका। एक ही वस्तु एक ही होती हुई अनेक जैसी प्रतीत होती है,इस कारण ऐसा अनुभव होता है। इसी तरह-

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति
॥ १९ ॥

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः ॥२०॥ बृ ४।४।१९

'मनसे ही यह अनुभव करना चाहिये कि यहां अनेक वस्तुएं नहीं हैं। जो यहां नाना वस्तुएं देखता है वह मृत्युके कष्ट वारंवार भोगता है। यह अप्रमेय ध्रुव आत्मा एक ही है, ऐसा देखना चाहिये। यह आत्मा आकाशसे भी महान् है।'

इस तरह यह आत्मा अनेक नहीं है। वह एक-रस,एक और अखंड है। परंतु एक होता हुआ अनेक सा दिखाई देता है, अखण्ड होता हुआ खण्डित-सा दीखता है, एकरस होता हुआ विविधरसवाला-सा प्रतीत होता है।

(१२) तत् प्रभविष्णु ग्रसिष्णु च। (१६)

'वह ब्रह्म सब की उत्पत्ति करनेवाला और सबका ग्रास करनेवाला अर्थात् नाश करनेवाला है।' और (भूतभर्तृ, सर्वभृत्) सबका पालन करनेवाला है। इस रीतिसे वही सबकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाला है। वह एक ही होता हुआ ये तीनों कार्योंको करता है, इसलिये उसी एक को सृष्टिकर्ता, स्थितिकर्ता और लय कर्ता कहा है। इसी कार्यके कारण उसी एकके नाम ब्रह्मा,विष्णु और रुद्र हुए हैं। ये तीन नाम होते हुए भी वह एक ही है। तीन विभिन्न नाम होनेके कारण वह तीन प्रकारका नहीं है। वह एक होता हुआ भी ये तीनों कार्य करता है।

(१३) तत् ज्योतिषां अपि ज्योतिः।
तत् तमसः परं उच्यते। (१७)

'वह ब्रह्म तेजका भी तेज है और अतः वह अन्धकारसे परे है।' बृहदारण्यकमें कहा है—

तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः। (बृ० ४।४।१६)
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। (श्वे०उ०३।८)
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। (श्वे०उ०६।१४)
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्। (गीता १५।१२)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंकी भी ज्योति है,वह सूर्य-समान तेजस्वी और अंधारसे परे है। उसी ब्रह्मके तेजसे यह सब विश्व प्रकाशता है। जो सूर्य चन्द्र अग्नि आदिमें तेज है, जिस तेजसे यह संपूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है,वह ईश्वर-काही तेज है।' इस प्रकार अन्यत्र ऐसाही इस ब्रह्मका वर्णन है।

(१४) सर्वस्य हृदि धिष्ठितम्। (१७)

'यह ब्रह्म सबके हृदयमें स्थित है।' सबके अन्तःकरणमें, सबकी बुद्धिमें रहा है। गीतामें आगे कहा है कि- 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः (गी० १५।१५)' परमेश्वर सबके हृदयमें रहा है। तथा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥
(गी० १८।६१)

'ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें ठहरा है और सबको घुमाता है।'

इस तरह सर्वत्र ईश्वरके सबके हृदयमें होनेका वर्णन है। यह केवल हृदयमें रहता है और बाहर नहीं ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्वस्थानमें अन्दर बाहर उसके होनेका स्पष्ट उल्लेख है। अतः हृद्देशमें रहनेका तात्पर्य यह है कि उसके सब कार्य अन्दरहीसे होते हैं।

(१५) तत् ज्ञेयं, ज्ञानगम्यं, ज्ञानं (अस्ति)
(१७)

"वह ब्रह्म सबको जानने योग्य है, ज्ञानसे समझमें आनेवाला है,क्योंकि वही ज्ञानरूप है।" यहां ज्ञेय और ज्ञान एकही है। और ज्ञाताभी उसीमें संमिलित होता है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान यहां एक होनेके कारण, इस त्रिपुटीका भेद यहां नहीं होता है, अतः यह विषय समझनेके लिये कठिन है। परंतु पाठक यहां ऐसा समझें कि स्वयं ज्ञाता है, अपनाही ज्ञान प्राप्त करना है,इसलिये ज्ञेय विषयभी स्वयंही है और

[illegible]	आत्मा ... ... की स्थितिमें	स्वाभाविक आनंद ।	[illegible]
	बुद्धि ... ... ,, ,, ,,	ज्ञान	
[illegible]	सुपुप्तिके दिक्कालातीत मन ,, ,,	कालातीत और स्थलातीत अनुभव	[illegible]
	जागृतिके दिक्कालावच्छिन्न मन ,, ,,	देशकालादि भेदोंका अनुभव	
	प्राण ... ... ,, ,,	अपनी नियामक शक्तिका अनुभव	
[illegible]	इंद्रियों ... ... ,, ,,	द्वन्द्वोंका अनुभव	[illegible]
	शरीर ... ... ,, ,,	जन्ममरणका अनुभव	

० अपने प्राणके शरीरपर प्रभुत्व पाते हैं, ये अनुभवसे जानते हैं कि यह एकही प्राण सब शरीरके अवयवों और इंद्रियोंमें जाकर विभक्तसा दीखता है। यहां एकही वस्तु विभक्त स्थानोंपर विभक्तसी किस प्रकार दीखती है, इस बातका अनुभव ये लोग लेते हैं। इस समय इनको विभक्तोंमें व्यापनेवाली अविभक्त वस्तुकी कल्पना आने लगती है। इनसे निचले दोनों मनुष्य शारीरिक विभक्तता और इंद्रियोंकी विभक्तताही देखते हैं, परन्तु प्राणशरीरको स्वाधीन करनेवाला और उसके व्यापारको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य विभिन्न पदार्थोंमें व्यापनेवाली अभिन्न वस्तुका थोडासा अनुभव करने लगता है।

० यहां यह योगी मरनेवाले शरीरको और इंद्रियोंको अपनेसे भिन्न देखता है और अपनी शक्तिसे उन मरनेवालोंका अर्थात् देह और इंद्रियोंका, जीवन होता है, इस बातका निश्चय करता है। तथापि इसमें प्राणापानके भेदका अनुभव होता है।

० प्राणायामसे प्राणकी स्थिरता प्राप्त होकर मन स्थिर होने लगता है। और मनके स्थिरीकरणके साथ यह मनके रथपर सवार होता है। इस अवस्थामें भी संकल्पविकल्प इसके चलतेही हैं और इसका आन्दोलन चलताही रहता है। इस समय इसको बडी शक्ति प्राप्त होती है। यह इसके इच्छित्व प्राप्तिकी अवस्था है। यह इस समय जो कल्पना करता है सिद्ध होती है, मानो यह कल्पवृक्ष-कल्पनाके वृक्षके नीचे बैठा होता है। इतना होनेपर भी इसको स्थिरताका अनुभव नहीं होता है।

० साधन इस समय मनको अशुभ कल्पनाओंसे हटाकर शुभ कल्पनाओंमें स्थिर करता है, ध्यानधारणामें इसकी प्रगति होती है और अन्तमें इसका संकल्पविकल्प करनेवाला तथा दिक्कालमें कार्य करनेवाला जागृतिका मन स्थिर या स्तब्ध हो जाता है। जिस क्षणमें यह मन स्तब्ध होता है, उसी क्षणमें सुपुप्तिका मन (दिक्कालातीत मन) कार्य करने लगता है। भगवद्गीतामेंही कहा है—

जाग्रति और निद्रा।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
(भ० गी० २।६९)

० ' जो सब प्राणियोंकी रात्री होती है उसमें संयमी जागता है, और जिसमें सब प्राणी जागते हैं वह देखनेवाले मुनिकी रात्री होती है। ' अर्थात् साधारण जन या प्राणी अपने जाग्रतिके मनके साथ जागते हैं, इनका तो वह उच्च मन निद्रित रहता है। परन्तु योगी मुनि उसी उच्च मनसे सदा जागते हैं और इस व्यावहारिक मनसे मानो, सोते हैं। यहां पाठक यह समझें की मुनियोंकी जो जाग्रति है, वह सामान्य जनोंकी गाढ निद्रा है, और उनकी जो निद्रा है, वह सामान्य जनोंकी जाग्रति है। इतना विपरीत अनुभव-जाग्रति और गाढनिद्रा जैसा इन दो मनोंके साथ अनुभवमें आता है। जब ध्यानसे यह संकल्पविकल्पात्मक मन थक थककर सोता है, तब वह समरस मन जागता है।

० इस समय मनुष्य ' समत्व ' स्थितिमें पहुंचता है। उसको जगत्के संकल्पविकल्प, हानिलाभ, शोकमोह क्षुद्र हैं, ऐसा अनुभव होता है। जगत्के लोग क्यों लडते हैं, क्यों मोहित होते हैं, क्यों दुःखी होते हैं, इस अवस्थामें आकर काल और देशकी मर्यादाका उल्लंघन क्यों नहीं करते, और साम्यावस्थाका आनंद क्यों नहीं लेते ऐसा वे कहते होंगे !!!

० यहां पाठक स्मरण रखें कि अर्जुन काल और देशके भेदके अन्दर था, अतः उसको बाप दादाओंके मोहमें फंस कर

स्वयं चित्स्वरूप होनेसे ज्ञानभी अपनाही स्वरूप है। इस तरह विचार करनेसे यहांभी ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान 'स्वयं' होता है, जैसा यहां है वैसाही उक्त स्थानमें 'वह ज्ञेय, ज्ञानगम्य और ज्ञान है' ऐसा जो कहा है उस विषयमें समझना चाहिये।

(१६) तत् न सत्, न असत् उच्यते। (१२)

"वह ब्रह्म सत् किंवा असत् है, ऐसा नहीं कहा जाता,' वह सदसत् कल्पनासे परे है। सत् असत् यह वाणीसे कहा जाता है, परंतु ब्रह्म तो वाणीका विषय नहीं है- 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'(तै० उ०२।४।९) उस ब्रह्मसे वाणी निवृत्त होती है, क्योंकि वाणी से वर्णन करनेका विषय ब्रह्म नहीं है, तथा—

अन्यत् एव तद्विदितात् अथो अविदितात् अधि। (केन उ० १।३)

'वह ब्रह्म ज्ञात और अज्ञातसे भिन्न है' अर्थात् वह ज्ञात भी नहीं और अज्ञात भी नहीं है। क्योंकि वह—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं। (श्वेता०उ०६।१९)

'कलारहित और क्रियारहित है।' इसलिये उसका वर्णन करना असंभव है। जो वाणीसे कहा जा सकता है वह सत् है वा असत् है ऐसा कहा जायगा, परंतु जो वाणीका विषयही नहीं है,उस विषयमें क्या कहा जा सकता है? अतः यहां कहा है कि न वह सत् है और न असत् है। गीताके—

सदसच्चाहम्॥ (गीता ९।१९)

इस श्लोकमें बताया है कि 'मैं ईश्वर सत् और असत् हूं' और यहां बताया है कि-

तत् न सत् न असत्। (१३।१२)

'वह ईश्वर सत् भी नहीं और असत् भी नहीं है। क्या यह विरोध नहीं है? इसका विचार करनेके लिये हमें सत् और असत् शब्दोंके अर्थोंका मनन करना चाहिये—

सत्= भला, शुभ, अविनाशी, अमृत, अस्ति, अदृश्य-सूक्ष्म-तत्त्व, अक्षर।

असत्= बुरा, अशुभ, नश्वर, मृत्यु, नास्ति, दृश्य-स्थूल-सृष्टि, क्षर।

ये शब्दोंके अर्थ देखनेसे पता लगता है कि सत् और असत्के अर्थ अनेक हैं, अतः उक्त कथनमें परस्पर असंगति नहीं है।

जहां नवम अध्यायमें कहा है वहां 'सत् असत्' का अर्थ क्रमसे शुभ और अशुभ, अमृत और मृत्यु इस प्रकारका है। उसी श्लोकमें—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन। (९।१९)

'ईश्वर अमृत और मृत्यु है,' ऐसा कहा है। इसी द्वन्द्वके साथ संगत होनेवाला शुभाशुभ सब रूप परमेश्वरका ही है, विश्वरूपमें शुभ भी है और अशुभ भी है, दोनों रूप ईश्वरके हैं, यह आशय वहां है। और यहां अ० १३।१२ में क्षर और अक्षरके परे परमात्मा है, ऐसा कहनेका तात्पर्य है। अतः दोनों स्थानोंमें-यद्यपि 'सत्' और 'असत्' ये ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं, तथापि उनका आशय दोनों स्थानोंमें एक दूसरेसे पृथक् है। अतः यह विरोध नहीं है।

अस्तु। इस प्रकार ज्ञेय वस्तुका वर्णन किया है। इसी ज्ञेय वस्तुको पर-ब्रह्म, ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा आदि अन्य नाम हैं। इसका वर्णन प्रारंभसे इस समयतक अनेक प्रकारोंसे अनेक स्थानोंपर किया गया है। पाठक सबका विचार करके इस ब्रह्मतत्त्वको जानें और उसके साथ अपना अनन्य भाव देखकर उसी अनन्य भावसे उसकी सेवा, भक्ति अथवा उपासना करें।

इस ज्ञेयका और ज्ञेयके ज्ञानका फल कहते हैं सो देखिये—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

अन्वयः- (त्वं) प्रकृतिं पुरुषं च उभौ अपि अनादी विद्धि । विकारान् च गुणान् च प्रकृतिसंभवान् एव विद्धि ॥१९॥ प्रकृतिः कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः उच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते ॥ २० ॥ पुरुषः प्रकृतिस्थः (सन्) प्रकृतिजान् गुणान् भुंक्ते हि । गुणसंगः अस्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं (अस्ति) ॥ २१ ॥

तू प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको अनादि समझ । तथा विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं, यह भी ध्यान रख ॥ १९ ॥ प्रकृति ही कार्य तथा कारण की हेतु कही जाती है और पुरुष सुख-दुःखके भोग का हेतु माना जाता है ॥२०॥ पुरुष प्रकृतिमें रहकर प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंका भोग करता है । यही गुणोंका संग इसके उत्तम अथवा अधम योनिमें जन्म होनेका कारण है ॥२१॥

भावार्थ— प्रकृति और पुरुष ये दोनों न उत्पन्न हुए ऐसे सदासे हैं और प्रकृतिसे गुण तथा विकार होते हैं। सब कार्योंका तथा सब कारणोंका मूल हेतु यही प्रकृति है । पुरुष ही सुखदुःखका भोग करता है । पुरुष प्रकृतिके साथ संबंध करके प्राकृतिक गुणोंका भोग करता है । इसी गुणोंके भोगोंके संगसे पुरुषको उत्तम अथवा अधम योनिमें जन्म लेना पडता है ॥ १९-२१ ॥

(१९-२१) प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि हैं। प्रकृति जड है और पुरुष चेतन है। प्रकृतिमें पुरुष व्यापकर रहता है और पुरुषकीहि यह प्रकृति महा शक्ति है। जैसा जलमें रस, सूर्यमें तेज वैसा ही प्रकृतिमें पुरुष है।

इस प्रकृतिमें सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इसी प्रकृतिके अनेक विकार भी हैं। मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा, पंच-महाभूत, संपूर्ण सृष्टि ये सब प्रकृतिके विकार ही हैं। मूल सूक्ष्म प्रकृति घनीभूत होकर क्रमसे स्थूल होती है और सब विश्वके पदार्थ बनाती है।

इस कार्यकारणपरंपरासे यह रचना चल रही है। प्रकृति कारण है, उसका कार्य महत्तत्त्व है, महत्व कारण है उसका कार्य है अहंकार, अहंकार कारण है उसका कार्य तन्मात्रा, तन्मात्रा कारण है उसका कार्य है पंचमहाभूत, पंचमहाभूत कारण है उसका कार्य है सृष्टि, इस प्रकार यह कार्य-कारण-परंपरा है। जो एक का कार्य है वही दूसरे का कारण होता है। इस तरह कार्य और कारण का विचार करना चाहिये। इस कार्य-कारण-परंपराका मूल हेतु 'मूल प्रकृति' है।

इस तरह यह सृष्टि मूल प्रकृतिसे बनी है। मूल सूक्ष्मद्रव्य घन होते होते मूलप्रकृति ही स्थूल सृष्टिके रूपको प्राप्त हुई है। इस ढंगसे सृष्टिकी उत्पत्तिका विचार पाठक करें।

दूसरा पुरुष है जो जलमें रस रहनेके समान सब प्रकृतिमें रहता है, इसी तरह प्रकृति भी पुरुषके साथ पुरुषकी शक्ति बनके रहती है। यह संबंध पाठक ठीक प्रकार समझें।

यह पुरुष सुखदुःखोंका भोग करता है। सुख

(९) आत्मदर्शन और उपासना ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

अन्वयः— केचित् ध्यानेन आत्मना आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति । अन्ये सांख्येन योगेन (आत्मानं पश्यन्ति) अपरे च कर्मयोगेन (आत्मानं पश्यन्ति) ॥ २४ ॥ अन्ये तु एवं अजानन्तः अन्येभ्यः श्रुत्वा उपासते, ते श्रुति परायणाः च अपि मृत्युं अतितरन्ति एव ॥ २५ ॥

कोई ध्यान–योगसे अपने आत्माद्वारा आत्मामें आत्माको देखते हैं, दूसरे साधक ज्ञानयोगसे आत्माको देखते हैं और अन्य साधक कर्मयोगसे आत्माको देखते हैं ॥ २४ ॥ दूसरे कोई इन मार्गोंको न जानते हुए, अन्य (विद्वानोंसे) सुनकर उपासना करते हैं, वे सुने हुए उपदेशमें तल्लीन होनेवाले साधक भी मृत्युसे पार हो जाते हैं ॥ २५ ॥

शरीरमें आत्मा	ब्रह्माण्डमें परमात्मा
देहमें पुरुष	ब्रह्माण्डमें परम पुरुष

जो परमात्मा ब्रह्माण्डमें है, वही देहमें भी है, कोई दूसरा नहीं। जैसा एकही आकाश घडेमें, घरमें, ग्राममें और विश्वमें है,उसी तरह परमात्मा देहमें है और वही विश्वमें है। देहमें देहरूप धारण किये रहता है और विश्वमें विश्वरूप धारण किये है। देहमें उसे देही कहते हैं और विश्वमें उसेहि विश्वात्मा कहते हैं। विश्वात्माका अंश ही देहात्मा है।'(गी० १५।७)

जो इस तरह पुरुषको यथावत् जानता है और तीनों गुणोंके साथ प्रकृति है ऐसा जो जानता है, उसने कैसाभी वर्ताव किया तो भी उसे वारंवार जन्म लेना नहीं पडता अर्थात् वह मुक्त हो जाता है । यहां जो 'कैसा भी वर्ताव किया तो भी मुक्त होता है' ऐसा कहा है, वह प्रशंसात्मक वाक्य है। उसका सच्चा भाव यह है कि वह इतना परिशुद्ध होता है कि उससे कभी अयोग्य व्यवहार होता ही नहीं। स्वभावसे ही अयोग्य व्यवहार होना असंभव होता है ।

प्रकृति-पुरुषका ज्ञान होनेसे पुरुषकी अद्भुत शक्तिका पता लग जाता है और वह अद्भुत शक्तिवाला पुरुष ही यहां मैं हूं ऐसा निश्चय हो जाता है। और अपने ही सामर्थ्यसे यहां बुरा भला जो कुछ बनना है ऐसा जानकर वह अपना सामर्थ्य बुरे कर्ममें लगाता नहीं और जो कर्म हो रहा है वह प्रकृतिसे हो रहा है, ऐसा देखकर अपने आपको प्रकृति के विना अकर्ता अनुभव करके, वह अपनी परिशुद्ध अवस्थाका अनुभव करता है। इसीसे वह निष्कलंक होकर मोक्षका भागी हो जाता है।

अब इस आत्मदर्शन करनेका वर्णन करते हैं–

(१०) समदर्शनका फल ।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

भावार्थ— कई साधक ध्यान–मार्गसे, कई ज्ञानमार्गसे और कई कर्ममार्गसे अपने अन्दर इस आत्माको देख[illegible] होते हैं । जो इन मार्गोंको जानते ही नहीं, वे विद्वानोंसे जो कुछ सुनते हैं, उसीमें तल्लीन होकर यथा[illegible] उपासना करते हैं, ये साधक भी मृत्युसे परे होते हैं ॥ २४–२५ ॥

(२४ २५) कई साधक ध्यान करते हैं और अपने अन्दर स्वयं अपने आत्माको देखते हैं । ये साधक यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान करते हैं । प्रत्याहारसे बाह्य विषय छूट जाते हैं और अपने आत्मामें अपनेही आत्माका ध्यान करते हैं और आत्मानुभव प्राप्त करते हैं ।

अन्य साधक सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोगसे आत्माका अनुभव करते हैं । प्रकृति किन गुणोंसे युक्त है, आत्माके धर्म क्या हैं, इसका यथावत् ज्ञान प्राप्त करके उसके मननसे प्रकृति और पुरुषको यथायोग्य रीतिसे जानते हैं । ज्ञान-मननके द्वारा ज्ञानमार्गी आत्माका अनुभव करते हैं ।

तीसरे साधक कर्मयोगके द्वारा उन्नतिका साधन करते हैं । अपना स्वभावधर्म जानकर तदनुसार कर्म करते हुए और अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करके, तथा कर्मफलत्याग करके अथवा अनासक्तिसे कर्म करते हुए उन्नतिका साधन करते हैं ।

चौथे साधक ऐसे होते हैं कि जो स्वयं आत्मानात्मका ज्ञान जानते नहीं, स्वयं बहुत विद्वान् नहीं होते, वे दूसरे विद्वानोंके व्याख्यान और प्रवचन सुनते हैं, उनसे उपासनाकी विधि जानते हैं और जैसा सुनते हैं वैसीही उपासना करते हैं । उसमें इतनी श्रद्धा-भक्ति रखते हैं कि मनमें तर्क-वितर्क-कुतर्क कुछ भी न करते हुए, अपने गुरुपर अतुल श्रद्धा रखते हैं, उसके उपदेशमें तत्पर रहकर उपासना करते हैं । किसीने उनकी श्रद्धा हटानेका प्रयत्न किया तो भी वे मार्ग नहीं छोडते और उपासना करते जाते हैं। ऐसे केवल श्रद्धा रखनेवाले भी अपने श्रद्धाबलके सहारे मृत्युके पार हो जाते हैं । क्योंकि इनकी दृढ श्रद्धासे इनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरणकी निर्मलतासेहि वे मुक्तिको प्राप्त करते हैं ।

कई लोग इनको अन्धश्रद्धालु कहके इनका उपहास करते हैं । परंतु उपहास करनेवाले अश्रद्धाके कारण पीछे रह जाते हैं और ये अपनी असीम श्रद्धाके कारण उन्नत होते हैं ।

इस प्रकार साधकोंके उन्नत होनेके ये विविध मार्ग हैं । इन सब मार्गोंमें प्रयत्नही सबका आधार है । जो प्रयत्न करेंगे वे ही उन्नति प्राप्त करेंगे । जो कुछ भी नहीं करेंगे वे कैसे उन्नत होंगे ? ये सब योग हैं और योगका अर्थ ' कुशलताके साथ प्रयत्न करना ' है ।

आगे समदर्शन का महत्त्व बताते हैं—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

अन्वयः— हे भरतर्षभ ! यावत् किंचित् स्थावरजंगमं सत्त्वं संजायते, तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् (संजायते इति त्वं) विद्धि ॥ २६ ॥ यः विनश्यत्सु सर्वेषु भूतेषु समं तिष्ठन्तं अविनश्यन्तं परमेश्वरं पश्यति, सः पश्यति ॥ २७ ॥ (यः) सर्वत्र समवस्थितं ईश्वरं समं पश्यन् हि आत्मना आत्मानं न हिनस्ति, (सः) ततः परां गतिं याति ॥ २८ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो भी कुछ स्थावर जंगम वस्तु निर्माण होती है, वह इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसेही निर्माण होती है ऐसा तू समझ ॥ २६ ॥ जो नाश होनेवाले सब भूतोंमें समभावसे रहनेवाले अविनाशी परमेश्वरको देखता है, वही सत्यको देखता है ॥ २७ ॥ जो सर्वत्र समभावसे रहनेवाले ईश्वरको देखता है, वह स्वयं अपने आत्माद्वारा आत्माका घात नहीं करता, अतः वह परम गतिको प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

भावार्थ— प्रकृति और पुरुषके संबंधसे सब कुछ स्थावर अथवा जंगम वस्तु बनती है। सब नाश होनेवाले पदार्थोंमें कभी नाशको प्राप्त न होनेवाला परमेश्वर है और वह सर्वत्र समभावसे रहता है यह जो देखता है, वही परमेश्वरको देखता है। जो इस तरह आत्माको देखता है, उसके आत्माकी कभी हानि नहीं होती और उसीको परम गति मिलती है ॥ २६–२८ ॥

(२६–२८) इस सृष्टिमें जो भी कुछ वस्तुमात्र बना है, वह स्थावर हो अथवा जंगम हो वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-अर्थात् प्रकृति और पुरुष-के संबंधसे ही बना है। कोई ऐसी वस्तु यहां नहीं है कि जिसमें प्रकृति और पुरुष मिले न हों, अर्थात् सब विश्व प्रकृतिपुरुषके संयोगसे ही हुआ है। इसी लिये इस विश्वके रूपको पुरुषका रूप कहते हैं। वैसा कहा जाय तो रूप प्रकृतिका है, तथापि अधिष्ठाता पुरुष होनेसे और उससे पृथक् प्रकृति न होनेसे अथवा प्रकृति उसीकी शक्ति होनेसे यह विश्वरूप उसी पुरुषका—उसी आत्माका है ऐसा कहते हैं। प्रकृति क्षेत्र कहलाती है और पुरुषको क्षेत्रज्ञ कहते हैं, इनसे संपूर्ण वस्तुमात्र हुआ है। यहां प्रकृतिके साथ पुरुष सर्वत्र, संपूर्ण वस्तुओंमें और संपूर्ण प्राणियोंमें रहता है, यह बात सिद्ध हुई। इसी पुरुषको आत्मा और ईश्वर कहते हैं।

यह आत्मा, परमात्मा अथवा ईश्वर (सर्वेषु भूतेषु समं तिष्ठन्तं) सब भूतोंमें समभावसे रहता है, किसीमें भी विषम भावसे वह नहीं रहता, सर्वत्र समभावसे अवस्थित और विनष्ट होनेवाले वस्तुओंमें भी कभी नाशको प्राप्त नहीं होता, अर्थात् वस्तु टूट गई तो उस कारण वह ईश्वर टूटता नहीं, वस्तु कृश हुई तो उसमें वह कृश नहीं होता और वस्तुका आकार बदल गया तो भी उस कारण इस ईश्वरमें बदल नहीं होता। इसी प्रकार वस्तुका नाश होनेपर भी ईश्वरका नाश नहीं होता। हरएक वस्तुकी हर-एक अवस्थामें वह समभावसे रहता है।

आकाश जैसा किसी स्थानपर कम और किसी स्थानपर अधिक नहीं रहता और सर्वत्र समभावसे रहता है। जलमें रस समभावसे ही

[illegible] यह जल कोई पात्रमें रखा हो अथवा [illegible] जलमें रसका प्रमाण एकसा [illegible] सर्वत्र ईश्वर समभावसे रहता [illegible] अनेक भूषणोंमें जैसा सुवर्ण समान [illegible] मिठाईके पदार्थोंमें मिश्री जैसी समभावसे [illegible] इसी प्रकार सर्व वस्तुओंमें परमेश्वर समभावसेही रहता है। यही भाव प्रकृतिके साथ पुरुष समभावसे रहा है और प्रकृति पुरुष-[illegible] सब वस्तुमात्र बना है, इस कथनमें है। दोनों वर्णनोंमें एकही भाव पाठक देखें।

यह ईश्वरके विश्वरूपकाही स्पष्टीकरण है। हरएक वस्तुमें ईश्वर समभावसे रहा है, अतः ईश्वरनेही हरएक वस्तुका आकार लिया है, अथवा ईश्वरही वस्तुका आकार लिये रहा है, अर्थात् वस्तुका रूप ईश्वरकाही रूप है और सब विश्वका रूपही ईश्वरका विश्वरूप है। प्रकृति-पुरुषकी सर्वत्र सम अवस्थिति, ईश्वरका सर्वत्र सम अवस्थान और विश्वरूपमें परमात्माकी उपलब्धि, इनका अर्थ एकही है। एकही भावके ये तीन वाक्य हैं। पाठक यह आशय इन वाक्योंमें देखें।

वस्तुमात्रके नाश होनेपर ईश्वर सर्वत्र होता हुआ भी नहीं नष्ट होता। यह बात जो देखता है, वही सचमुच देखता है। अन्य लोग आंखें होती हुई भी अंधेही हैं। ईश्वर विषम पदार्थोंमें सम है, भिन्न पदार्थोंमें अभिन्न है, खंडित वस्तुओंमें अखण्डित है, नश्वर पदार्थोंमें अविनाशी, बदलनेवाली सृष्टिमें कभी न बदलनेवाला है। जिसको यह बात प्रत्यक्ष दीखती है वही सत्य देखता है और जिसको यह बात नहीं दीखती वह आंखें धारण करनेपर भी अन्धाही है। प्रायः सभी मनुष्य इस प्रकारके अन्धेही हैं, क्वचित् कोई सत्यको देखता है।

इस तरह सर्वत्र समभावसे अवस्थित ईश्वरको देखना कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है। योग्य गुरुके समीप जाकर दिव्यदृष्टि प्राप्त करके जो मनुष्य देखेगा, उसको ईश्वरका दर्शन इस प्रकार हो सकता है। परंतु मनुष्य इस प्रकार दर्शन करना चाहते ही नहीं और अन्यान्य उपासनामें मस्त रहते हैं। सरल मार्गपर आते नहीं और टेढे मार्गपर जाना पसंत करते हैं।

यह कोई जनताका दोष नहीं है। जो ज्ञाता हैं उनको चाहिये कि वे उपदेश, प्रवचन अथवा व्याख्यान-संभाषण-द्वारा इस दिव्यदृष्टिका प्रचार करें और सत्य ईश्वरका सत्य स्वरूप लोगोंको समझा दें। यदि प्रचारसे विपरीत ज्ञान बढता है, तो प्रचारसेही सत्यज्ञान बढेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

जिस साधकको इस तरह दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई और जिसने उस दिव्यदृष्टिके द्वारा संपूर्ण अनेक विभिन्न पदार्थोंमें एक अभिन्न परमेश्वरका दर्शन किया, उसका जन्म सफल हुआ समझिये। ऐसा परमात्माका सर्वत्र साक्षात्कार करनेवाला साधक अपने आपको भी उससे अन्य नहीं समझता और उसके साथ अपने आपको अनन्य अनुभव करता हुआ, अपने आत्माको उसीमें-उसीका अंश- देखकर, अपने आत्माको भी वैसाही अजर और अमर अनुभव करता हुआ (आत्मना आत्मानं न हिनस्ति) आत्मासे अपने आत्माका नाश नहीं करता, अर्थात् परमात्माके साथ अपने आत्माको अमर देखता है।

जो ऐसा नहीं देखता वही आत्मघाती है, वही आत्माका नाश करता है, आत्महत्यारा है। क्योंकि वह देहके साथ आत्माका नाश हुआ ऐसा मानता है। यह उसके अज्ञानका फल है। अतः जिसने ज्ञानाग्निसे अपने अज्ञानका नाश किया है, उसका आत्मा परमात्माके साथ सदा अनन्य भावसे संलग्न होनेके कारण अमर होता है। इसीका नाम 'आत्माके द्वारा आत्माकी हिंसा न करना' है। यह अहिंसा सिद्ध हुई तो उसे परम गति प्राप्त होती है, ऐसा कहते हैं। आत्मा अमर बन गया तो वह श्रेष्ठ गतिको प्राप्त हुआ, इसमें क्या संदेह है?

(११) अकर्ता आत्मा ।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

(१२) एकमें पृथग्भाव ।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

अन्वयः- यः च प्रकृत्या एव कर्माणि सर्वशः क्रियमाणानि (सन्ति इति पश्यति), तथा आत्मानं अकर्तारं पश्यति, सः पश्यति ॥ २९ ॥

जो प्रकृतिद्वाराहि सब कर्म सब प्रकारसे किये जाते हैं और आत्मा अकर्ता है, ऐसा देखता है, वही सत्यको देखता है ॥ २९ ॥

भावार्थ— आत्मा स्वयं कुछ भी नहीं करता, परंतु प्रकृतिहि सब कुछ कर्म करती है ऐसा जो जानता है, वही ठीक ठीक जानता है ॥ २९ ॥

अन्वयः—यदा भूतपृथग्भावं एकस्थं च ततः एव च विस्तारं अनुपश्यति, तदा ब्रह्म संपद्यते ॥ ३० ॥

जब (कोई साधक) प्राणियोंके भेदभावको एकही आधारमें स्थित (देखता है) और उसीसे सबका विस्तार हो रहा है यह भी देखता है, तब वह ब्रह्मको प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

आत्मा सर्वत्र समभावसे है, ऐसा कहनेसे शंका उत्पन्न होती है कि सबके बुरेभले कर्मोंके कारण आत्माको भी कलंक लगता होगा, इसका निवारण करनेके लिये आत्मा निष्कलंक किस तरह रहता है, इसका विवेचन करते हैं। यह सबके लाभके लिये आवश्यक होनेके कारण पाठक इस विषयको ध्यानसे देखें-

(२९) प्रकृतिही सब कर्म करती है, आत्मा केवल देखता है, कर्मोंका कर्ता आत्मा नहीं है, यह जिसको यथावत् अनुभव होता है, उसीको सत्य ज्ञान हुआ है, ऐसा समझना चाहिये। आंख देखता है और कान सुनता है, क्योंकि आंख और कानका यह प्रकृतिस्वभाव ही है। उनकी घटना ही ऐसी है कि वे वह कर्म करें। आत्मा तो सर्वत्र है, आत्माकी शक्ति या उपस्थितिसे कान सुनता हो और आंख देखता हो, परंतु आत्माकी शक्ति होनेपर भी कान देख नहीं सकता और आंख सुन नहीं सकता, क्योंकि उनकी प्रकृति ही वैसी है। इस तरह विचार करनेपर विदित होगा कि सब कर्म प्रकृतिद्वारा ही होते हैं, अतः आत्मा अकर्ता है। इस कारण आत्मा निर्लेप है, निष्कलंक है, और निर्दोष है।

इस तरह आत्माका अकर्ता होनेके कारण निष्कलंक होनेपर उसको ब्रह्मरूपकी प्राप्ति कैसी होती है, इसका विचार आगे बताते हैं। वह इस प्रकार है-

भावार्थ — सब प्राणी भिन्न भिन्न हैं यह प्रत्यक्ष है । इस भिन्न भावका आधार एक अभिन्न सत्त्वमें है और उसी सत्त्वसे सब भेदोंकी उत्पत्ति है । यह जो ठीक ठीक जानता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥३०॥

इस विश्वमें अनन्त पदार्थ हैं । ये विभिन्न परस्पर पृथक् हैं, ऐसा सामान्य मनुष्य मानता है । परंतु यह भ्रम है । यह विभेद सत्य नहीं है, यह एकही आत्मासे उत्पन्न हुआ है, उसी एक आत्मासे ये सब अनन्त पदार्थ हुए हैं। अतः यह सब भूतोंका पृथक् भाव एक आत्मामें है और उसी आत्मासे इस पृथक्-भावका विस्तार होता है । जैसा—

जल एक है, उसी एक जलसे अनंत लहरियां उत्पन्न होती हैं, ये जलके आधारसे रहती हैं और जलसे ही फैलती हैं । सूर्य एक है, परंतु उसकी किरणें अनंत हैं, उन किरणोंका आधार एक मात्र सूर्य है, सूर्यसे वे किरण निकलते हैं और उसीसे चारों ओर फैलते हैं । शरीरके अवयव विभिन्न हैं, परंतु उनको शरीरकाही आधार है और वे शरीरसे ही विकसित होते हैं। मनके शुभाशुभ भाव कितने विभिन्न हैं, परंतु वे सबके सब मनमें एकरूप होते हैं, मनसे उत्पन्न होते, मनके साथ रहते और मनसे ही फैलते हैं । अग्निसे चिनगारियां उत्पन्न होती हैं, परंतु उन सबका आधार अग्निही है।

इसी प्रकार सब प्राणिमात्र विभिन्न दीखते हैं, परंतु वे सब एकही आत्मासे प्रकट हुए हैं, सबमें एकही आत्मतत्त्व है और एकही आत्मा-का यह फैलाव है । जिसके मनमें यह सिद्धान्त स्थिर होता है वह स्वयं ब्रह्मही बन जाता है। क्योंकि जैसे अन्य प्राणी और अन्य पदार्थ ब्रह्मका विस्तार है, वैसाही यह देखनेवाला भी ब्रह्मसे ही फैला हुआ है । यह जो जानता है वह स्वयं अपने आपको ब्रह्ममें देखता है, ब्रह्मके साथ अनुभव करता है, ब्रह्मसे फैलनेका साक्षा-त्कार करता है और अपने आपको ब्रह्मही जानता है । इस तरहका ज्ञानी अपने आपको ब्रह्मसे भिन्न किस तरह जान सकता है ? जब ब्रह्मसे भिन्न दूसरा कोई पदार्थ ही नहीं रहा, तो वह अपने आपको उससे भिन्न दूसरा किस तरह मान सकता है ? जिसको सबही ब्रह्मरूप दीखने लगा, उसे अपना रूप पृथक् कैसा दीखेगा ?

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।
(ईश० उ०)

'जिस अवस्थामें सब भूत आत्माही हो गये, उस एकत्वका अनुभव करनेवाले ज्ञानीको शोक और मोह कैसे हो सकते हैं?' अर्थात् वह शोक-मोहरहित हो जाता है ।

ग्यारहवें अध्यायमें जो विश्वरूपका वर्णन किया है उससे भी यही ब्रह्मरूपता सिद्ध होती है । कोई उससे पृथक् नहीं है और सबही ब्रह्म-रूपमें संमिलित हुए हैं, यह बात जैसी पूर्व अध्यायोंमें वैसी यहां भी कही है । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ किंवा प्रकृति-पुरुषके वर्णन करते करते सबकी एकरूपतामें किस तरह प्रवेश करते हैं, यह यहां देखना चाहिये । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, तथा प्रकृति और पुरुष यहां कल्पनाका भेद प्रथम वर्णन किया जाता है, यह तो हरएक का अनुभव ही है। परंतु जैसा जलमें रस, खांडमें मीठास वैसाही यह भेद केवल कल्पनाका ही भेद है। जैसी जलके साथ रसकी एकरूपता है, खांडसे मीठास पृथक् नहीं है, वैसी ही क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञ, प्रकृतिसे पुरुष की अभिन्नता है । ऐसा अभेद माननेपर ही ईशोपनिषद्में (अथवा वा० यजुर्वेद अ० ४० में) कही सब भूतोंकी एकात्मरूपता सिद्ध हो सकती है। एकही ब्रह्मसे सबकी उत्पत्ति और उसीमें सबकी स्थिति होती है, यह देखनेपर

(८) अविनाशी सत्।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

अन्वयः– असतः भावः न विद्यते, सतः अभावः न विद्यते। तत्त्वदर्शिभिः तु उभयोः अपि अनयोः अन्तः दृष्टः ॥१६॥

जो 'असत्' है उसका भाव नहीं हो सकता, और जो 'सत्' है उसका अभाव नहीं होता। तत्त्वज्ञानी लोगोंने इस प्रकार इन दोनोंका अन्तिम निश्चय किया है ॥ १६ ॥

दुःखी होना पडा। इस दुःखकी निवृत्ति और इस मोहको दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उसको कालातीत और देशातीत अवस्थाकी कल्पना बता रहे हैं। आत्मा नित्य और देह अनित्य कहकर, इस देहसे भिन्न इनके आत्माकी जो कालातीत और देशातीत स्थिति है, उसकी कल्पना इससे पूर्व बतायी। यहां द्वन्द्वातीत स्थितिकी कल्पना बताते हैं। इस उच्च मनकी भूमिकापर कार्य करनेवाले मनुष्य किसी स्थानपर बैठकर किसी अन्य स्थानकी बात प्रत्यक्ष जैसी देखते हैं, इसी प्रकार अन्य कालकी बात भी उनको प्रत्यक्ष होती है। मानो यह नित्य वर्तमानकालमें रहने लगते हैं। इसके ऊपरकी दो भूमिकाएं इससे ऊंची और अवर्णनीय हैं। जो 'समदुःखसुख' की साम्यावस्था है, उसकी पूर्णता इस अवस्थामें होती है, इसका प्रारंभ तो शारीरिक अवस्थामें भी होता है, परन्तु उसकी पूर्णता यहां होती है।

हठयोग और राजयोग।

हठयोगी यम नियम आसन प्राणायामद्वारा प्राण स्थिर करके इस अवस्थाको प्राप्त करते हैं और राजयोगी सुविचारसे मनकी स्वाधीनता प्राप्त करके इस भूमिकामें जाते हैं, दोनों यहां आकर समान स्थानमें बैठनेके अधिकारी होते हैं। इस स्थितिमें जो होते हैं, उनकोही 'समदुःखसुखी, धीर' आदि शब्द पूर्णतासे लगते हैं। प्राणयोगिको 'योगमार्गी' और राजयोगी या मनोयोगीको 'सांख्यमार्गी' अथवा 'ज्ञानमार्गी' कहते हैं। आगे (भ० गी० ५।४-५ में) कहेंगे कि 'सांख्य और योग एकही है' उसका भाव यही है। जन्ममृत्युसे परे जानेका नाम इस भूमिकामें जाना और कार्य करना है। हरएक मनुष्य सुषुप्तिमें अनजान रीतिसे इस अवस्थामें जाताही है, परन्तु अपने सामर्थ्यसे जिस समय चाहे उस अवस्थाका जाग्रति जैसा अनुभव लेना श्रेष्ठ सामर्थ्यका दर्शक है।

✿

जिसको इस भूमिकाका थोडा भी अनुभव होगा वह तो किसीकी मृत्युसे या जन्मसे दुःखी या सुखी नहीं होगा। जो लोग इस जगत् में रहते हुए अन्योंसे अधिक समदुःखसुखी दिखाई देते हैं, उनका यह कालातीत मन कुछ अंशमें उनके आधीन हुआ होता है। इसके लक्षण ये हैं कि, अन्योंसे पहिले इनको कर्तव्यकर्मका निश्चित ज्ञान होता है, किसी विषयका निश्चय भी इनका अन्योंकी अपेक्षा अति शीघ्र हो जाता है, और ये तर्कवितर्कके विना अपनी हृदयकी वृत्तिसेही निश्चित परिणामतक अति शीघ्र पहुंचते हैं, अर्थात् ये पहिले निश्चित सिद्धांत बोलते हैं और पीछेसे वही तर्कसे युक्तिसे और प्रमाणोंसे सिद्ध हो जाता है!! जिनके व्यवहारमें जिस प्रमाणसे ये लक्षण दिखाई देते हैं, उस प्रमाणसे समझना चाहिये कि, उनके अन्दर यह दिक्कालातीत मन विशेष रीतिसे कार्य करने लगा है।

इस प्रकार मनकी दिक्कालातीत अवस्थाका विचार करनेपर उससे परे रहनेवाला आत्मा भी इसी प्रकार दिक्कालातीत होना चाहिये, इस विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। परन्तु इतना माननेपर भी एक शंका आती है कि, जिस प्रकार यह शरीर साधारणतया १०० वर्ष जीवित रहता है, योगसाधनादिद्वारा ३०० वर्ष या अधिक भी रह सकेगा, पश्चात् नाशको प्राप्त होगा; उसी प्रकार यह आत्मा भी कुछ विशेष अवधिके पश्चात् नाशको प्राप्त होगा या नहीं। इस शंकाके उत्तरमें भगवान् कहते हैं–

(१६-१७) जो सत्य है उसको किसी भी प्रकार असत्य बनाना असंभव है। यह कभी न बननेवाली बात है। इसी प्रकार जो असत्य है उसको भी सत्य बनाना असंभव है। इस जगत् में मनुष्य अपना व्यवहार करते समय सत्यको असत्य और असत्यको सत्य बनानेका प्रयत्न करते हैं, और ऐसे व्यवहारसे अपना लाभ होता है, ऐसा वे मानते भी

(१३) आत्माकी निर्लेपता ।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

अन्वयः— हे कौन्तेय ! अयं परमात्मा अनादित्वात्, निर्गुणत्वात्, अव्ययः (अस्ति, अतः सः) शरीरस्थः (सन्) अपि न करोति, न (च) लिप्यते ॥ ३१ ॥ यथा सर्वगतं आकाशं सौक्ष्म्यात् न उपलिप्यते, तथा सर्वत्र देहे अवस्थितः आत्मा न उपलिप्यते ॥३२॥ हे भारत ! यथा एकः रविः इमं कृत्स्नं लोकं प्रकाशयति, तथा क्षेत्री कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति ॥ ३३ ॥

हे कुन्तीके पुत्र ! यह परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण अविनाशी है, अतः वह शरीरमें होता हुआ भी कुछभी नहीं करता और किसीसे लिप्त भी नहीं होता ॥ ३१ ॥ जैसा सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होनेपर भी किसी तरह कलंकित नहीं होता, वैसाही सब देहोंमें रहनेवाला आत्मा किसी प्रकार कलंकित नहीं होता है ॥ ३२ ॥ हे भारतीय ! जैसा सूर्य इस संपूर्ण जगत्को प्रकाश देता है, वैसाही क्षेत्री सारे क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ— परमात्मा अनादि, अविनाशी और निर्गुण है । वह सब शरीरोंमें है, तथापि स्वयं कुछ भी नहीं करता, अतः किसीके कारण कलंकित भी नहीं होता । जैसा आकाश अतिसूक्ष्म और सब वस्तुओंमें व्याप्त होनेपर किसी कारण मलिन नहीं होता, वैसाही सब देहोंमें आत्मा है । तथापि वह मलिन नहीं होता । जैसा सूर्य सब जगत्के वस्तुओंको प्रकाशित करता है, वैसाही वह पुरुष सब प्राकृतिक विश्वको प्रकाशित करता है, परंतु किसीके संसर्गसे मलिन नहीं होता है ॥ ३१-३३ ॥

देखनेवाला स्वयं ब्रह्मही बनता है । ब्रह्मभाव अपनेमें अनुभव करनेका साधन यह है । ब्रह्म स्वयं निर्लेप है, वह निर्लेपता स्वतःसिद्ध है, इसी की विवेचना अब कहते हैं, वह देखिये-

(३१-३३) यह परमात्मा अनादि है, यह किसी समय उत्पन्न हुआ और उससे पहिले नहीं था, ऐसी बात नहीं है, यह सदासे है । यह अव्यय है, अर्थात् यह अनंत है, इसका नाश नहीं होता। इसका आदि नहीं और अन्तभी नहीं है । अतः यह सदासे एकरस है । अव्यय शब्दमें और एक अर्थ है, वह अर्थ यह है कि इसका व्यय नहीं होता, इसमेंसे कुछ भाग व्यय नहीं होता, इसमें कुछ न्यून नहीं होता है, कम नहीं होता है, इसमें क्षीणता नहीं होती। इस तरह यह परमात्मा सदासे एक जैसा रहता है ।

[illegible] तम ये गुण नहीं हैं। इसमें ये [illegible] हैं, अतः इसको निर्गुण कहते हैं। [illegible] इसमें कोई भी गुण नहीं ऐसा [illegible] क्योंकि कोई गुण न होना यह भी एक [illegible] इसलिये निर्गुण शब्दका आशय [illegible] इन तीन गुणोंमेंसे एक भी गुण [illegible] नहीं, ऐसा है।

इस परमात्माका आदि नहीं, इसकी उत्पत्ति नहीं, इसका व्यय नहीं– इसका नाश नहीं– इसमें [illegible] नहीं होती. अतः यह सदा एक जैसा [illegible] एकरस है। इसी तरह इसमें प्रकृतिके [illegible] गुणात्मक गुण नहीं हैं। इसमें कुछ उत्तम (सत्त्व), कुछ मध्यम (रज), कुछ कनिष्ठ (तम) भाग है, ऐसा भी नहीं, अर्थात् यह सब अखण्ड एकरस सदा सम है।

यह जैसा शरीरमें है, वैसाही बाहरभी है, यह सर्वत्र व्यापक है, सर्वत्र ओतप्रोत भरा है। कोई [illegible] इसके बिना नहीं है।

यह परमात्मा भूतमात्रके शरीरमें है, इस कारण उस शरीरके दोषोंसे वह दोषयुक्त नहीं होता। शरीरमें रहनेपरभी वह न रहनेके समान अलिप्त और अकर्ता है। शरीरसे सब कार्य होते हैं, परंतु उन कार्योंका कर्तव्यसंबंध इस आत्माके साथ नहीं है अतः यह निर्लेप है।

यही बात समझानेके लिये (श्लोक ३२ और ३३ में) उदाहरण देते हैं, वे विचारपूर्वक देखने योग्य हैं। जैसा आकाश सबसे सूक्ष्म है और वह सर्वव्यापक है, वैसाही परमात्मा सबसे सूक्ष्म है और सब विश्वमें व्यापक है। ये दोनोंके समान धर्म हैं। आकाशभी घडेमें रहनेके कारण 'घटाकाश,' घरमें रहनेवाला आकाश 'मठाकाश' कहा जाता है। किसी घडेमें दूध रखा, किसीमें मद्य रखा और किसीमें [illegible] रखा, तो उस कारण उसमें रहनेवाले आकाशको कोई बुरा-भला भाव अथवा लाभ-हानिका भाव नहीं होता। आकाश एक जैसाही निर्लेप और अखण्ड रहता है। घडेकी उत्पत्ति हुई, स्थिति हुई अथवा नाश हुआ, उसमें कुछ रखा या न रखा, तो आकाशकी निर्लेपताके साथ कोई संबंध नहीं आता। घडेमें दूध रखनेपर वह संतुष्ट और गोबर रखनेसे वह असंतुष्ट नहीं होता। घडेके बनने विगडनेपर आकाशकी स्थितिमें कोई भेद नहीं होता है। इसी तरह एकही परमात्मा चूंटीके देहमें, मनुष्यके देहमें और हाथीके देहमें रहता है। ये देह बनने बिगडनेसे *आत्माकी एकरसतामें* कोई न्यूनाधिक नहीं होता। इन देहोंसे जो चाहे बन जाय, अच्छे कर्म हों या बुरे हों, आत्मा बिलकुल अकर्ता और निर्लेप रहता है। देह छोटा बाल्यावस्थामें हुआ तो वह आत्मा बाल नहीं होता और देहकी तारुण्य-वार्धक्य अवस्थाओंसे उसकी स्थितिमें कोई भेद नहीं होता। देहोंकी सब प्रकारकी अवस्थाओंमें वह एक जैसाही रहता है।

दूसरा उदाहरण और अधिक मननपूर्वक देखने योग्य है। सूर्यसेही पृथिवी आदि ग्रह बने हैं, पृथ्वीसे चन्द्र बना है अर्थात् सूर्यकेही ये छोटे छोटे टूकडे हैं। पृथ्वी बननेके पश्चात् उसपरके पर्वत नदियां समुद्र वृक्षवनस्पतियां पशुपक्षी और मनुष्य आदि सब बने हैं। अर्थात् परंपरया इन सबकी उत्पत्ति सूर्यसेही हुई है। तथापि इस समय जो तेज सूर्यमें है वैसा किसी अन्यमें नहीं है।

यही सूर्य सब वस्तुमात्रको प्रकाशित करता है। सूर्य तो सूर्यही है, परंतु अन्य पृथिव्यादि पदार्थभी सूर्यकेही अंश हैं, अतः कोई यह भी कह सकता है कि सूर्यही अपने आपको प्रकाशित कर रहा है, तो वह कथनभी सत्यही है। क्योंकि सब लोकलोकान्तर सूर्यकेही अंश हैं, पूर्ण सूर्य अंशरूप सूर्यको प्रकाशित करता है।

(१४) परमपदप्राप्ति ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अन्वयः— ये एवं ज्ञानचक्षुषा क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरं (ज्ञानं) भूतप्रकृतिमोक्षं च विदुः, ते परं यान्ति ॥३४॥

जो इस तरह अपने ज्ञानचक्षुद्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको और प्राणियोंकी प्रकृतिबंधनसे मुक्ति होनेके उपायको जो जानते हैं, वे परब्रह्मको प्राप्त करते हैं ॥ ३४ ॥

इस लोकमें- इस भूलोकमें कई पदार्थ अच्छे उत्तम कहने योग्य हैं, कई मध्यम हैं और कई निकृष्ट हैं। यह उत्तमता, मध्यमता और निकृष्टता हमने अपनी अपेक्षासे निश्चित की है। सूर्यके वे अंश होनेके कारण सूर्यकी दृष्टिसे उनमें न कोई उत्तम है, न मध्यम और न कोई कनिष्ठ है। मूलतः वे सूर्यकेही अंश थे।

अब सूर्यसे किरण चले और कई किरण उत्तम पदार्थोंपर गिरे, कई मध्यम पदार्थोंपर गिरे और कई निकृष्ट पदार्थोंपर गिरे, तो भी मूलतः यह उत्तम-मध्यम-कनिष्ठता किसी पदार्थमें न होनेके कारण और वह हमने अपनी अपेक्षासे कल्पित माननेके कारण और सूर्यकी दृष्टिसे ये सभी पदार्थ सूर्यके अपने निज अंशही होनेके कारण, सूर्यके किरण किस पदार्थपर गिरनेसे सूर्यको आनन्द होगा और किस पदार्थपर गिरनेके कारण सूर्यको कष्ट होगा, ऐसी बातही नहीं है। क्योंकि वह तो अपने आपपरहि स्वयं प्रकाश रहा है। उसमें हीनता और उत्तमताकी कल्पना तक नहीं है।

अतः कहा है कि जैसा सूर्य सब विश्वको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्री-आत्मा-क्षेत्रका स्वामी-संपूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है। वस्तुतः आत्माही क्षेत्र है, परंतु व्यवहार दर्शानेकी सुबोधताके लिये हमने उसमें यह कल्पना की है। इसी तरह प्रकृति-अर्थात् प्राकृतिक सृष्टिको— यह पुरुष प्रकाशित करता है, परंतु प्रकृति तो पुरुषकी शक्तिही है। क्या शक्ति कभी शक्तिवालेसे पृथक् हो सकती है? पुरुषकी शक्ति ही प्रकृति है।

जैसा बलवानोंका बल, बुद्धिवानोंकी बुद्धि वैसीही पुरुषकी यह प्रकृति है। अतः पुरुष सर्वत्र है और उसकी प्रकृति- उसकी शक्ति- उसीके साथ सर्वत्र है। प्रकृतिसे सब कुछ सृष्टि बन रही है, इसका आशय यही है कि उसीकी शक्तिसे सब कुछ सृष्टि बनी है। अतः इसके सबको प्रकाशित करनेसे इसका न कुछ बनता है और न बिगडता है। जैसी इतनी सृष्टि बननेसे सूर्यका कुछभी बिगडा नहीं है, वैसीहि यहां कल्पना करनी चाहिये।

इस रीतिसे विचार करके पाठक आत्माकी निर्लेपता जानें और वही अपना आत्मा है यह जानकर अपने आपको भी निष्कलंक अनुभव करें और जलमें कमलपत्र रहनेके समान इस संसारमें निष्कलंक होकर विराजें।

इसके पश्चात् परमपदकी प्राप्तिके विषयमें कहते हैं, सो अब एकाग्र होकर सुनिये—

अध्यात्मज्ञानसे ज्ञान-चक्षुसे क्षेत्र और क्षेत्रके जाननेवालेके भेदको जानना चाहिये और प्राकृतिक बंधनसे भूतोंकी मुक्ति कैसे होती है, इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जो इसको जानते हैं, वे परब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए,
योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें **क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग**
नामक तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

---

(३४) ज्ञानचक्षुके द्वारा, दिव्यदृष्टिसे, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके बीचमें जो अन्तर है, जो भेद है, उसको यथावत् जानकर और भूतमात्रकी जो प्रकृति है जो उसका निज स्वभाव है, उससे मुक्त होनेकी युक्ति भी जानकर, जो मुक्त होनेका यत्न करते हैं, वे परम पदको प्राप्त होते हैं।

ज्ञानचक्षु।

पहिले ज्ञानचक्षु प्राप्त करने चाहिये। ज्ञान क्या है यह इसी अध्यायमें श्लोक ७ से ११ तक कहा है। यह ज्ञान है। यह ज्ञान ही एक प्रकारकी नूतन दृष्टि देता है। उस नूतन और दिव्य दृष्टिको प्राप्त करना चाहिये।

" इस ज्ञानदृष्टिसे गर्व, दम्भ और हिंसा दूर होती है।

शान्ति और सरलता आती है।

पवित्रता,स्थिरता और संयमकी सिद्धि होती है।

सद्गुरुकी कृपा प्राप्त होती है।

भोगोंके विषयमें विरक्ति होती है।

अहंकार दूर होता है।

जन्ममृत्युजराव्याधि-दुःखोंमें जो दोष होते हैं, वे दीखते हैं।

भोगोंपर आसक्ति नहीं होती।

पुत्रदारागृह इत्यादिके विषयमें असंगवृत्ति स्थिर होती है।

इष्ट-अनिष्ट कुछभी अवस्था प्राप्त हुई तो भी चित्त सम रहता है।

ईश्वरमें अव्यभिचारिणी अनन्यभक्ति होती है।

एकान्तस्थान पसंद होता है, जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि होती है।

एकान्तमें रहकर अध्यात्म-विचार करनेसे आनन्द होता है।

तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाले परम पदका दर्शन होता है। "

ये ज्ञानके लक्षण हैं। इस ज्ञानसे एक प्रकारकी विलक्षण और दिव्य दृष्टि मिलती है। इस ज्ञान-दृष्टिको प्राप्त करना साधकका पहिला काम है।

इस ज्ञानके चक्षुओंसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुषका जो अन्तर है, वह जानना चाहिये। इसमें पूर्वोक्त प्रकार कल्पनागत भेद है, वस्तुगत भेद नहीं, इसका यथावत् ज्ञान मननसे प्राप्त होता है। खांड और मिठासमें कल्पनागत भेद है, जल और रसमें भी कल्पनागत भेद है, बलिष्ठ और बलमें भी वैसाही भेद है। आत्मा और प्रकृतिमें भी आत्माकी शक्तिहि प्रकृति होनेके कारण वैसाही कल्पनागत अन्तर है, वस्तुगत भेद नहीं है। तथापि इस भेदको देखनेसे व्यवहारका साधन अच्छा होता है, इस कारण क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके भेदज्ञानसे उत्तम अनुष्ठान साधन करके, भूत-प्रकृतिसे मोक्ष प्राप्त करनेका भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, जिससे साधकको परम पद प्राप्त हो सकता है।

यह शरीर मेरा क्षेत्र है, शरीर यह मेराही क्षेत्र है, इसमें शुभाशुभ कर्मफलोंका बीजारोपण किया जाता है, इस क्षेत्रका यथायोग्य उपयोग करनेसे यहां अशुभ फलकी उत्पत्तिहि नहीं होगी, यह बात जानकर जो अनुष्ठान करेगा, उसके लिये यह क्षेत्र तारक बन जायगा, यह ज्ञान

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके योग्य विचारसे प्राप्त होता है। ज्ञानदृष्टिसे यह ज्ञान प्राप्त करना और तदनुसार अनुष्ठान करते हुए आगे बढना सब साधकोंको योग्य है। साधन करनेके लिये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी कल्पना अत्यंत उत्तम है।

इसी साधनसे भूतोंकी प्रकृतिसे मोक्ष हो सकता है। भूतप्रकृतिका अर्थ पंच महाभूत और पंच सूक्ष्म भूतोंका स्वभाव है। यही स्वभाव मनुष्यको भोगोंकी ओर खींचता है। इन भूतोंके शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये जो स्वभाव हैं ये ही भोग बनकर जीवको अपने साथ बांध देते हैं। अतः इन भूतप्रकृतियोंसे अर्थात् पंचमहाभूतोंके गुणरूप भोगोंसे मुक्त होनेका साधन जो जानते हैं, वेही उक्त साधनद्वारा परमगतिको प्राप्त होते हैं।

किस तरह इनसे मुक्ति होगी? असंग-वृत्तिसे ही मुक्ति हो सकती है। यह जानकर अनासक्तिसे सब व्यवहार करके साधक परम श्रेष्ठ गति अर्थात् मोक्षको लाभ कर सकता है।

तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥

तेरहवें अध्यायके सुभाषित।

(१) आत्माकी खेती।

इदं शरीरं क्षेत्रमित्यभिधीयते ॥ १ ॥

'इस शरीरको खेत कहते हैं।' यह आत्माका खेत है, इसमें आत्मा जिस प्रकारकी चाहे खेती करके लाभ उठा सकता है। खेतका स्वामी आत्माही है।

(२) खेतका स्वामी।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥१॥

"इस खेतको जो यथावत् जानता है, उसे ही इस खेतका स्वामी समझदार हैं ऐसा कहते हैं।" प्रत्येक खेतका एक स्वामी होता ही है। परंतु खेतीका कार्य उत्तम करनेवाले स्वामी बहुत ही थोडे होते हैं।

(३) खेतमें बिगाडकी संभावना।

क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

'इस खेतमें बिगाड होनेकी संभावना है, यह बात संक्षेपसे जाननी चाहिये।' खेतका स्वामी सावधान न रहा तो इस क्षेत्रमें अनेक प्रकारके बिगाड होकर खेतीका नाश होगा, अतः खेती करनेवाला सदा दक्ष रहे और अपने खेतमें बिगाड होने न दे।

(४) ज्ञान।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं
तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्त-
मज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

"अध्यात्मज्ञान और तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला जो मोक्ष रूप अर्थ है, इसका प्रत्यक्ष करना इसका नाम ज्ञान है।" अध्यात्मज्ञानसे भिन्न और मोक्षसे विरोधी जो है, वह सब अज्ञान है।

(५) समचित्त।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥९॥

"इष्ट अथवा अनिष्ट इनमेंसे कोई अवस्था प्राप्त होनेपर भी चित्तकी समता स्थिर रखना।" चित्तकी समाधान-वृत्ति हरएक अवस्थामें स्थिर रखनी चाहिये।

(६) सबका पोषण करना।

असक्तं सर्वभृच्चैव ॥ १४ ॥

" स्वयं भोगोंमें आसक्त न होना, परंतु सबका पालन पोषण धारण यथायोग्य करना चाहिये।" स्वयं भोगोंसे निवृत्त होना चाहिये, परंतु सब लोगोंको खानेपीने आदि भोग मिलेंगे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये।

(७) अविभक्त होनेपर विभक्तसा व्यवहार।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् १६

"अन्तर्यामी अविभक्त रहनेपर भी, बाहरके व्यवहारमें विभक्त जैसा आचरण करना।" बाहर विभक्त जैसा व्यवहार करनेपर भी अन्दरसे वस्तुतः अविभक्त ही रहना चाहिये।

(८) समभाव।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

" सब भूतोंमें परमेश्वर सम भावसे रहता है।" ऐसाही साधक सब प्राणियोंके विषयमें समभावना धारण करे।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति
परां गतिम् ॥२८ ॥

' परमेश्वर सर्वत्र समभावसे है, यह जाननेवाला स्वयं आत्मघात नहीं करता और श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है।" जो मनुष्य सबको समभावसे देखता है, उसकी श्रेष्ठता होती है।

(९) पृथग्भावमें एकता।

भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ॥३०॥

" भूतोंके पृथग्भावको भी एकत्वमें आश्रित देखना" चाहिये। प्राणियोंमें भेदभाव कितना भी हो, परंतु उनमें जो एकताका केन्द्र है उसको ही ध्यानमें धारण करना चाहिये।

(१०) निर्लेपता।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥३२॥

'जैसा आकाश सूक्ष्म और सर्वव्यापक होनेपर भी निष्कलंक है, वैसाही आत्मा सब देहोंमें रहनेपर भी कलंकरहित है।' इसी प्रकार साधक सर्वत्र संचार करके भी अपने आपको निर्दोष, निष्कलंक और निर्लेप रखे। सबके साथ संबंध होनेपर भी किसीके दोषसे दोषी न होवे।

(११) प्रकाश दो।

प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री कृत्स्नं प्रकाशयति ॥३३॥

" सूर्य सब लोकोंको प्रकाशित करता है, क्षेत्री संपूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है।" इसी तरह मनुष्य अपने अन्दर प्रकाश बढाकर दूसरोंको देवे।

(१२) श्रेष्ठ गति प्राप्त करो।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥३४

" जो ज्ञानदृष्टि प्राप्त करेंगे, क्षेत्र और क्षेत्री का भेद जानेंगे और पंच भूतोंकी प्रकृतिस्वभावसे अपनी मुक्तता करेंगे, वे श्रेष्ठ गतिको प्राप्त करेंगे।" ज्ञान प्राप्त करो, क्षेत्र और उसका स्वामी इनका परस्पर संबंध ध्यानमें रखो और भोगोंके बंधनसे अपने आपको छुडाओ, इतना करनेसे श्रेष्ठ अवश्य प्राप्त होगी।

श्रीमद्भगवद्गीताके

तेरहवें अध्यायका मनन ।

इस तेरहवें अध्यायमें प्रारंभसे अन्ततक श्री भगवान्काही उपदेश अखण्ड धारा-प्रवाहसे चल रहा है । अतः इस अध्यायका महत्त्व उपदेशकी एकरसताकी दृष्टिसे विशेष है ।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ।

इस अध्यायमें "क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ" का विचार किया है और साधकको अपनी उन्नतिके लिये आवश्यक साधन करनेका उपदेश दिया है । पहिलेहि श्लोकमें कहा है कि (इदं शरीरं क्षेत्रम्)यह शरीर क्षेत्र है और (एतत् यः वेत्ति स क्षेत्रज्ञः) इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं । खेत और खेतका स्वामी इनका विचार इस अध्यायमें किया है । इस 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' के विचारको यथावत् जाननेके लिये इनका अर्थ सबसे पहिले समझना चाहिये, वह देखिये । इस समयतक इस आशयको प्रकट करनेवाले जो शब्द आगये हैं, वे ये हैं—

१ सगुण	निर्गुण (गी० १३।३१)
२ तमः	ज्योतिः (गी० १३।१७)
३ जड	चेतन
४ क्षर	अक्षर (गी० ८।३-४)
५ स्थूल	सूक्ष्म (गी० १३।१५)
६ व्यक्त	अव्यक्त (गी० १२।३)
७ प्रकृति	पुरुष (गी० १३।१९-२१)
८ भूत	आत्मा (गी० ६।२९)
अभिभूत	पुरुष (गी० ८।४)
सर्वभूत	अहं (गी० ६।३०-३१)
भूतपृथग्भाव	एकत्वं (गी० १३।३०)
९ देह	देही (गी० २।२२, ३०)
देह	अधियज्ञः (गी० ८।४)
१० क्षेत्र	क्षेत्रज्ञ (गी० १३।१-२)
,,	क्षेत्री (गी० १३।३३)

इस ढंगसे अनेक शब्दोंद्वारा गीतामें प्रकृति-पुरुषकाही भाव व्यक्त किया है । यद्यपि इन शब्दोंमें मुख्यतः एकही भाव व्यक्त होता है, तथापि हरएक शब्दमें अर्थका कुछ न कुछ भेद अवश्य है । यह भेद देखना, यहां अत्यंत आवश्यक है । अतः हम पहिले प्राकृतिक क्षेत्रकाहि विचार करते हैं–

प्राकृतिक क्षेत्र ।

प्राकृतिक क्षेत्रमें 'प्रकृति, भूत, देह, क्षेत्र,' ये शब्द मुख्य हैं और 'सगुण, तमः, जड, क्षर, स्थूल, व्यक्त' ये शब्द गौण हैं । इनका अर्थ यह है–

१ सगुण– सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंसे युक्त,

२ तमः– अज्ञान, अन्धकार, ज्ञानग्रहणमें असमर्थ,

३ जड– चैतन्यरहित, स्थिर,

४ क्षर– नाशवान्, चूनेवाला,

५ स्थूल– मोटा, बडे आकारवाला,

६ व्यक्त– प्रकट, दीखनेवाला ।

प्राकृतिक वस्तुओंके ये गुण हैं । अपने शरीर में ये शब्द सार्थही होते हैं । हरएक पाठक इनको अपने देहमें घटाकर देखें । अब शेष चार शब्दोंका अर्थ देखिये–

७ प्रकृति– मूल प्रकृति, पुरुषकी सनातन शक्ति, जिससे विशेष कृति होती है ।

[illegible] प्रकृतिसे बना पदार्थ, बनी वस्तु ।
[illegible] प्राणीका शरीर, संचयसे बना ।
[illegible] खेत, जिसमें फल परिपक्व होता है ।

[illegible] शब्द विशेष अर्थके सूचक हैं । इनमेंभी [illegible] ' शब्दका अर्थ ' बना हुआ ' और ' देह ' [illegible] अर्थ 'संचयसे निर्माण हुआ' है । ये शब्द [illegible] विशेष महत्त्वकी सूचना नहीं देते । शेष [illegible] शब्द रहे हैं,जो विशेष विचार करने योग्य [illegible] ' प्र-कृति ' शब्दसे ' विशेष कृति करनेका साधन, जिससे विशेष कर्म हो सकते हैं, जिससे [illegible] पुरुषार्थ किये जा सकते हैं ' यह भाव [illegible] होता है और ' क्षेत्र ' शब्दसे ' खेत, जो [illegible] बीज बोया जा सकता है, खेतका स्वामी [illegible] वृक्ष इसमें लगा सकता है और उसके [illegible] प्राप्त कर सकता है । ' यह आशय व्यक्त होता है ।

प्रकृति और क्षेत्र ।

इस विवरणसे पाठकोंको पता लग सकता है कि, ' प्रकृति और क्षेत्र ' ये दो शब्द विशेषहि महत्त्वका उपदेश दे सकते हैं । ये दोही शब्द (गी० १३।१-३; १९-२१) मुख्यतया यहां इस [illegible] अध्यायमें प्रयुक्त किये गये हैं । इसका स्पष्ट उद्देश्य यही है कि, यह साधक अपने देह-रूप साधनसे विशेष कृति करे और श्रेष्ठ बने तथा देहरूप क्षेत्रमें ऐसे बीज बोवे कि, उससे उत्तम फल तैयार होकर उसे मिले ।

इस क्षेत्रमें जो बीज बोया जाय, वैसेही फल इस साधकको मिलेंगे, यह निश्चय है । यदि इसको दुःख हो रहा है, तो निश्चय जानिये कि [illegible] बुरा बीज बोया था । आगे सावधान रहे और प्रयत्न करके अच्छा बीज बो देवे, जिससे [illegible] अच्छे फल मिलेंगे और आनन्द प्राप्त होगा । [illegible] हेतु कोई दूसरा नहीं है । [illegible] लगानेपर आम नहीं मिलेंगे, [illegible] रखना चाहिये ।

क्षेत्रका महत्त्व ।

केवल एक 'क्षेत्र' शब्दसे कितना सीधा मार्ग उन्नति करनेके लिये सामने खडा होता है, यह देखिये । साधक समझे कि यह मेरा खेत है, इसमें जो चाहे बीज मैं डाल सकता हूं और इस क्षेत्रको अधिक उपजाऊ बनाकर बहुत अच्छा फल प्राप्त कर सकता हूं । यह आशा हर-एक साधकको देनेके लियेही यहां 'क्षेत्र' (खेत) शब्दका प्रयोग इस अध्यायमें किया है ।

अपना एक खेत है, ऐसी कल्पना करनेसे आगेकी कल्पना आपही आप हो जाती है और अपना कर्तव्य स्पष्ट रूपमें सामने आ जाता है । खेतमें भी उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ प्रकारकी भूमि रहती है, वैसा यहां सात्त्विक, राजस और तामस देहप्रवृत्तिसे तीन प्रकारका यह क्षेत्र होता है । निकृष्ट खेतको उत्तम प्रयत्न और उत्तम खाद आदि द्वारा उत्तम बनाया जा सकता है, इसी तरह यहां तामस प्रकृतिको तपस्या यम-नियमपालन, योगसाधन, उपासना आदि द्वारा सात्त्विक प्रकृतिमें रूपान्तरित किया जा सकता है । जैसी उत्तम जलसे उत्तम कृषि होती है, उसी प्रकार यहां उत्तम जीवनसे उत्तम फल प्राप्त हो सकते हैं । जैसे उत्तम कृषिसे धनधान्यसंपन्नता हो सकती है, उसी प्रकार यहां भी इस कुरुक्षेत्रमें किये शुभ यज्ञीय धर्म-कर्मसे शुभ फल अवश्य प्राप्त हो सकते हैं ।

यहांका ' क्षेत्र ' शब्द इतना उत्तम उपदेश दे रहा है और अपनी सच्ची उन्नतिका साधन अपने हाथमें है, यह बात स्पष्ट कर रहा है । पाठक इसका विचार करें और अपना भविष्य स्वयं अपने हाथसे जैसा चाहिये वैसा घडनेका प्रयत्न करें ।

पुरुषका सामर्थ्य ।

क्षेत्रका विचार किया, अब पुरुषका विचार

करना चाहिये। यह पुरुष कैसा है? इसका उत्तर इसके वाचक शब्द दे रहे हैं। यह पुरुष 'निर्गुण' है अर्थात् गुणोंसे मुक्त है, गुणोंसे-रस्सियोंसे बंधा नहीं है, स्वतंत्र है, बंधनरहित है। यह पुरुष 'ज्योतिः' स्वरूप है, प्रकाशयुक्त है, अतः यह अपना उन्नतिका मार्ग स्वयं देख सकता और दूसरोंको दिखा सकता है। 'चेतन' होनेसे प्रेरणा कर सकता है और ज्ञानी हो सकता है। 'अक्षर' होनेसे यह अविनाशी है। सूक्ष्म और अव्यक्त है, अतः सर्वत्र निष्प्रतिबंध गमन कर सकता है। यह 'पुरुष' है (पुरि+वस=पुरुषः) अतः अपनी पुरिमें वसता है, अपने क्षेत्रमें रह सकता है। 'आत्मा' (अतति) होनेसे यह सर्वत्र गमन करके अपने क्षेत्रका यथायोग्य निरीक्षण कर सकता है। 'अहं' (अ-हीन) इसका नाम होनेसे यह हीन नहीं है, यह पूर्ण उच्च है। 'एक' होनेसे इसका कोई वैरी नहीं है, यहां दूसरा कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है, जो इसको दबावे, यह एक होनेसे क्षेत्रका पूर्ण स्वामी यही है। 'देही' और 'क्षेत्री' ये दो शब्द यह अपने क्षेत्रका पूर्ण स्वामी है, यह भाव बताते हैं। 'अधि-यज्ञ' शब्द यह सर्व-पूज्य होनेका आशय बता रहा है और 'क्षेत्र-ज्ञ' शब्द अपने खेतको सब प्रकारसे यह जान सकता है, यह भाव व्यक्त कर रहा है।

ये सभी शब्द महत्त्वके हैं और साधकके कर्तव्य बताते हैं। परंतु इन सबमें 'क्षेत्र-ज्ञ' शब्द सबसे अधिक उच्च भाव व्यक्त कर रहा है। यह 'अपने खेतको जाननेवाला' है। अन्य शब्द अच्छा उपदेश दे रहे हैं। इसमें संदेह नहीं, प्रत्युत यह शब्द इसकी योग्यता निःसंदेह सिद्ध कर रहा है कि, 'यह स्वयं अपने खेतको उत्तम रीतिसे जानता है, इसमें कौनसा बीज कैसा बोना चाहिये, किस समय कैसा जल देना चाहिये, घास आदि कैसे हटाना चाहिये, किस समय धान्य और फल तैयार होता है, वह किस समय कैसा लाना चाहिये और उस प्राप्त फलका उपयोग कैसा करना चाहिये' इत्यादि सब खेती करनेवालेके कर्तव्य इसे उत्तम प्रकार ज्ञात हैं। यह आशय 'क्षेत्रज्ञ' शब्दमें है। यदि किसीको अपने खेतका यथावत् पता नहीं है, तो उसे वह प्राप्त करना चाहिये। यदि वह प्राप्त करना चाहे, तो उसे वह ज्ञान हो सकता है। यह विश्वास इस शब्दने यहां साधकको दिया है। इस कारण इन सब शब्दोंमें 'क्षेत्र+ज्ञ' शब्द अत्यंत महत्त्वका है।

'प्रकृति-पुरुष' वाचक सब शब्दोंमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' ये ही दो शब्द निश्चित पुरुषार्थ सिद्धिके सूचक होनेसे मुख्य हैं। साधक अपनेही प्रयत्नसे सिद्धिको प्राप्त कर सकता है, यह स्पष्ट भाव इन शब्दोंसे बताया है। खेतका यह स्वामी है, खेत इसके अधिकारमें है, यह प्रयत्न करे, बीज बोवे और फल प्राप्त करे।

'मैं स्वतंत्र हूं, अपना क्षेत्र मेरे पास है, मैं खेती करूंगा तो धान्य प्राप्त होगा, नहीं करूंगा तो भूखा रहना पडेगा' यह व्यवहारका सरल तत्त्वज्ञान यहां बताया है। पाठक इसका अधिक विचार करें और अपना कर्तव्य जानें।

'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही सत्य ज्ञान है' (श्लो० २) क्योंकि साधककी सिद्धि और असिद्धि इसीपर निर्भर है।

खेतकी परीक्षा।

खेत अपने अधीन होनेपर (यत् च या-दृक् च) इस क्षेत्रकी मर्यादा कौनसी है, खेतकी जाति कौनसी है, भूमि उपजाऊ है वा निकृष्ट भूमि है, उत्तम भूमि है वा पथरीली है, (यद्विकारी) इस खेतमें विकार-रोग-कौनसे होते हैं, इसमें विगाड कैसा हो सकता है और पुनः सुधार कैसा हो सकता है, (यतः च यत्) किस कारणसे कौनसा कार्य यहां हो सकता है, क्या करनेसे शुभ होगा और किस तरह करनेसे

[illegible] अथवा अनिष्ट होगा। यह सब बातें [illegible] स्वामीको जाननी चाहिये। अपने खेतकी [illegible] परीक्षा करना प्रत्येक स्वामीका कर्तव्य है। (श्लो० ३)

इस [illegible] क्षेत्रकी परीक्षा करनेकी कसौटियां गीता अध्याय १४ से १८ तक सत्त्व-रज-तम-विवेकमें दी हैं। साधक इन कसौटियोंसे अपनी परीक्षा करें और अपना खेत किस योग्यताका है, इसका निश्चय करें और इस आत्म-परीक्षासे यदि हीन योग्यताका क्षेत्र है, ऐसा निश्चय हुआ तो साधक हताश न हो, परंतु योग्य तपस्यादि साधनसे अपने खेतको अधिक उपजाऊ बनावे। प्रयत्न करनेपर निकृष्ट खेतको भी उत्तमसे उत्तम बनाया जा सकता है, अथवा उस भूमिके योग्य बीजकर बोय अधिकसे अधिक लाभ उठाया जा सकता है। अतः हरएकको अपने खेतकी परीक्षा करनी चाहिये।

अनेक ऋषि-मुनियोंने इस खेतका बहुत ही वर्णन किया है। विविध ऋषि अनेक छन्दोंमें [illegible] हैं। इसी तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे [illegible] करनेवाले अनेक मुनि हो गये हैं। उन्होंने अनेक हेतु दर्शाकर इस क्षेत्रकी महत्ता विविध प्रकारसे वर्णन की है। इस तरह प्राचीन ज्ञानी इस क्षेत्रका वर्णन करते रहे हैं, उसको देखनेसे भी इस खेतकी योग्यता सहजहीसे ज्ञात हो सकती है। (श्लो० ४)

क्षेत्रका स्वरूप।

यहां तक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपका विचार किया और इससे जो बोध मिलता है, उसको देखा। अब क्षेत्रमें किसका समावेश होता है, इसका विचार करना है। इसका विचार इस अध्यायके श्लोक ४ और ५ में किया है। यहां जो क्षेत्रका स्वरूप बताया है वह यह है—

१ पंचमहाभूत- पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत, पांच तत्त्व (५)

२ अहंकार- 'अहं' (मैं) ऐसा जो कहना है, यह वैयक्तिक सत्ता स्थिर रखता है। इससे एक वस्तुकी दूसरी वस्तुसे पृथक् सत्ता स्थापित हो रही है। (१)

३ बुद्धि— ज्ञानग्रहणशक्ति, ज्ञानशक्ति (१)

४ अव्यक्त- प्रकृति, मूल प्रकृति (१)

५ ग्यारह इंद्रियगण- पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेंद्रिय। नाक, जिह्वा, नेत्र, त्वचा और कान ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं और हाथ, पांव, मुख, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। मन ग्यारहवाँ इंद्रिय है। (११)

६ पांच विषय- शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच भोगविषय हैं। पांच ज्ञानेंद्रियोंसे इन पांच विषयोंका ग्रहण होता है।

कान से	शब्दका	ग्रहण होता है।
त्वचा ,,	स्पर्शका	,, ,,
नेत्र ,,	रूपका	,, ,,
जिह्वा ,,	रसका	,, ,,
नाक ,,	गंधका	,, ,,

येही भोग हैं और इनके भोगसे ही मनुष्य भोगी होकर बद्ध होता है। (५)

७ इच्छा- वासना, आकांक्षा, भोग प्राप्त करनेकी मनीषा (१)

८ द्वेष— शत्रुत्व, दूर करनेकी मनीषा (१)

९ सुख— (सु+ख) जिससे इंद्रियको समाधान मिलता है। (१)

१० दुःख— (दुः+ख) जिससे इंद्रियको समाधान नहीं होता। (१)

११ संघात- समूह बनाकर रहनेकी चाह, जैसा शरीर और इंद्रियोंका संयोग, संघात है। (१)

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अन्वयः- विद्धि, येन इदं सर्वं ततं, तत् तु अविनाशि। अस्य अव्ययस्य विनाशं कर्तुं, कश्चित् न अर्हति ॥ १७ ॥

यह तू जान, कि जिसने यह जगत् फैलाया है, वह अविनाशी है। इस अव्ययका विनाश करनेके लिये कोई समर्थ नहीं है ॥१७॥

भावार्थ- सत्य कभी असत्य नहीं होता, और जो असत्य है उसका कभी सत्य नहीं बन सकता। तत्वज्ञानका यह अटल सिद्धान्त है।

है। परन्तु यह उनका भ्रम है। 'सत्यमेव जयते नानृतं' अर्थात् सत्यकाही विजय होता है क्योंकि वही सदा रह सकता है। जो असत्य है वह देरतक टिक नहीं सकता।

सत् और असत्।

'सत्' उसीको कहते हैं कि जो 'है' किंवा जिसका अस्तित्व है, जिसकी सत्ता या हस्ती है। जिसका अस्तित्व नहीं है, परन्तु किंचित् काल जिसका अस्तित्व भासमान होता है, उसको असत् कहते हैं। जो भूत भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालोंमें एकसा रहता है उसको 'सत्' कहते हैं और इन तीनों कालोंमें जिसकी सत्ता एक जैसी नहीं रहती, उसको शास्त्रकार 'अ-सत्' (सत् नहीं) अर्थात् पूर्वोक्त 'सत्' से भिन्न पदार्थ कहते हैं। तात्पर्य यह कि इस जगत में केवल दोही पदार्थ हैं, एक 'सत्' और दूसरा 'असत्'। ये परस्पर भिन्न हैं, अलग हैं और विभिन्न गुणधर्मोंसे भी युक्त हैं।

इस विषयका सिद्धान्त (अन्तः तत्त्वदर्शिभिः दृष्टः) तत्त्वज्ञानी लोगोंने अनुभव किया है। अर्थात् 'सत् और असत्' ये दो पदार्थ भिन्न हैं इस विषयमें ज्ञानी लोगोंको संदेह नहीं है। यहां 'अन्त' शब्द है। इसका अर्थ 'अन्तिम निर्णय' है। 'सिद्धान्त (सिद्ध+अन्त), राद्धान्त (राद्ध+अन्त) और अन्त' ये तीनों शब्द अन्तिम निर्णयकेही वाचक हैं।

जो सत् है, जिसका अस्तित्व है, उसका कालान्तरसे भी अभाव नहीं हो सकता और जो असत् है अर्थात् जिसकी हस्ति नहीं उसका कभी भाव नहीं हो सकता। यह अटल सिद्धान्त तत्त्वज्ञानी लोगोंने निश्चित किया है।

जगत्का निर्माता।

(तत् अविनाशि, येन सर्वं ततम्) वह सत्ता अविनाशी है, जिसने इस सब जगत्का विस्तार किया है। इसका कारण यह है कि यह जगत् बननेके पूर्व इसका निर्माण करनेवाला था और इस जगत्का नाश होनेपर भी वह रहेगा; अतः वह तीनों कालोंमें रहता है, इसलिये वह 'सत्' है। परन्तु जगत् भूतकालमें नहीं था, अब बना है परन्तु नाशको अवश्य प्राप्त होगा और नाश होनेके बाद कभी नहीं रहेगा; अर्थात् इसका अस्तित्व केवल वर्तमानकालमेंही है, और वह चञ्चल अस्तित्व है, अतः इसको 'अ-सत्' कहा जाता है।

रचना करनेवाला रचित पदार्थके पूर्वकालमें रहताही है। घडा बननेके पूर्वकालमें कुम्हारका अस्तित्व अवश्य होता है। इसी प्रकार इस जगत्के फैलनेके पूर्वकालमें इसके फैलानेवालेका अस्तित्व अवश्य था। यदि वह पूर्वकालमें न होता, तो इस जगत्को बनाही नहीं सकता था। इससे जगद्रचना करनेवालेका अस्तित्व जगत्के पूर्वकालमें सिद्ध होता है।

जगत्का प्रत्येक पदार्थ बनता है और नाशको प्राप्त होता है, कोई भी पदार्थ ऐसा नजर नहीं आता कि, जो है परंतु जो न बना हो और जो न बिगडता हो। बनने बिगडनेका धर्म प्रत्येक पदार्थका होनेसे सब पदार्थोंके समूहरूप इस जगत्का भी यही धर्म स्वयं निश्चित होता है। इस जगत्के नाशके पश्चात् जगत् नहीं रहेगा यह निश्चित है, परंतु उसका कर्ता रहेगा या नहीं रहेगा, इस विषयमें किसीको संदेह हो सकता है। अतः इस विषयमें विचार करना आवश्यक है।

पूर्वके समान रचना।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥
(ऋ० १०।१९०।३)

१२ चेतना–चैतन्य, हलचल, प्रयत्न, ज्ञानपूर्वक प्रयत्न (१)

१३ धृति—धारणाशक्ति, सबको आधार देकर संभालनेकी सामर्थ्य (१)

यह ३१ प्रकारका विकार होनेवाला क्षेत्र है। इसमें विकार इस प्रकार होते हैं। विकारका अर्थ विगाड है। इन क्षेत्रविभागोंमें जो विकार होते हैं, वे इस तरह होते हैं—

क्षेत्रके विकार।

पंचमहाभूतोंमें पार्थिव भाग और जल भाग एक दूसरेके साथ मिलनेसे, अथवा जलवायुके संयोगसे सडान शुरू होती है, सूर्यकिरणोंसे पृथ्वीपर शुष्कता होती है, वायु भी सबको सुखा देता है। इस तरह अनेक प्रकार इनमें विकार होते हैं। वृक्षवनस्पति, तथा पशुपक्षियोंके शरीर बनते हैं, बढते हैं और बिगडते भी हैं। यह भी पांचभौतिक विकार ही है। एक दूसरेके साथ मिलनेसे अनंत विकार होते हैं, इन विकारोंका शास्त्र ही रसायनशास्त्र है।

बुद्धिमें विकार होते हैं, कई लोग दुष्ट बुद्धिवाले होते हैं। बुद्धिकी दुष्टता एक बडा भारी विकार है। (बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति। मनु) बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है। अर्थात् इसके विकार ज्ञानसे दूर होते हैं।

अव्यक्त–मूल प्रकृति– महत्तत्व– अहंकार इनमें विकार होकर सब सृष्टि होती है, सृष्टिमें भी अनंत विकार हो रहे हैं। यह बात यहां दुबारा कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

ग्यारह इंद्रियोंमें विविध विकार, रोग, आघात आदि होते हैं, यह बात मनुष्यके अनुभवकी है। इन रोगोंके निवारण के लिये आयुर्वेदकी रचना हो गयी है, इनमें विकार होनेकी बात सिद्ध होती है।

शब्दस्पर्शमें विविध विकार होनेकाभी अनुभव मनुष्यको है; विकृत शब्द, विकृत गंध, विकृत रूप मनुष्यके सामने आते हैं। इसी प्रकार इच्छा–द्वेषादिमें भी अनंत विकार हैं, यह बात थोडासा विचार करनेसे हरएक पाठक जान सकता है।

अतः यह सब क्षेत्र 'स–विकार' अर्थात् विकार होनेवाला, विकृत बननेवाला, विगडनेवाला, परिवर्तन होनेवाला है, ऐसा यहां कहा है। साधक इस अपने क्षेत्रको विकारवान् जानें और उसमें विकार कम होने योग्य अपनी खेती का कार्य करें।

खेतमें धान्यके साथ घास उगता है, अवृष्टि अतिवृष्टिसे हानि होती है, अनेक धान्यके रोग होकर विगाड होता है, इस तरह अनेक विकार होनेका अनुभव खेती करनेवालोंको है। उसी प्रकार इस अध्यात्म क्षेत्रमें भी अनेक विकार होते हैं और यहांकी अध्यात्मकी कृषिका विगाड होता है यह साधकको जानना और यह विगाड अपने खेतमें न होनेके लिये सावध रहना चाहिये।

'मेरे इस अध्यात्म क्षेत्रके पंचमहाभूत, उनकी तन्मात्रा, ग्यारह इंद्रिय, इंद्रियोंके भोगविषय, ये विकाररहित हों, मेरा मन, मेरी इच्छा और मेरे प्रयत्न दोषरहित हों, मैं यहां ऐसा आचरण करूंगा कि, मेरे आचरणसे यहां किसी प्रकार भी विगाड उत्पन्न न होगा। मैं सावधान रहकर यहांकी आध्यात्मिक खेती करूंगा और मोक्षरूप फल यहांसे ही प्राप्त करूंगा।' इस प्रकारकी आकांक्षा साधक मनमें धारण करे। जो साधक इस तरह सावध रहेगा, उसके क्षेत्रमें विकार नहीं होंगे। विकार न होनेसे उसका खेत उत्तम रीतिसे फूलेगा और फलेगा। ऐसी सफल खेती करना इसके अधीन है।

इतने विवरणसे पाठकोंके ध्यानमें बात आगई होगी कि, इस क्षेत्रका इतना विवरण करनेका

[illegible] है। जो साधक इस क्षेत्रको यथार्थ जानेंगे और अपने आपको 'क्षेत्री' अर्थात् क्षेत्रके स्वामी तथा 'क्षेत्र-ज्ञ' इस क्षेत्रके ज्ञाता समझेंगे, क्षेत्रका उपयोग करनेकी विद्या जो यथावत् प्राप्त करेंगे, उनके लिये यह क्षेत्र [illegible] होगा। उनको असीम आनन्द मिलेगा और परम श्रेष्ठ स्थान प्राप्त होगा।

साधकोंके पुरुषार्थपर उनकी सिद्धि अवलंबित है, वे साधक पुरुषार्थ करनेके लिये स्वतंत्र हैं, यह बात यहां सिद्ध हो गई है। और यही बात बतानेके लिये उनका शरीर क्षेत्र है और साधक स्वयं उस क्षेत्रके स्वामी हैं, यह उपदेश यहां कहा है।

ज्ञानका परिणाम।

साधक और उनका कार्यक्षेत्र इसका इतना विचार करनेके पश्चात् अब साधकको जो ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, वह कहते हैं। यह ज्ञान साधकको प्राप्त होनेसे, इस ज्ञानसे साधकको क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका निश्चय हो सकता है। अतः इसका विचार यहां विशेष करना चाहिये।

यहां श्लोक ७ से ११ तक जो कहा है, उसको (एतत् ज्ञानं) 'ज्ञान' कहा है, परंतु विचार करनेसे पता लगेगा कि सत्य ज्ञानसे साधकके मनमें यहां कहे भाव स्थिर होते हैं और सत्य ज्ञान न होनेसे इसके विपरीत भाव होते हैं।

'सब कुछ वासुदेव है' (गी० ७।१९); 'नाना प्रकृति ईश्वरकी प्रकृति है, जिससे सब कुछ विश्व बना है।' (गी० ७।४-६) 'विश्वका सब रूप ईश्वरका ही है और उस विश्वरूपमें मेरा रूप संमिलित है, इस लिये मैं उससे अभिन्न हूं, मैं उससे अनन्य हूं।' (गी० अ० ११) इसका नाम ज्ञान है। इस ज्ञानका उपदेश [illegible] अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक किया है। इस ज्ञानकी मनमें स्थिरता होनेसे जिसका मन अनन्य भावसे परिशुद्ध हुआ है, उसके मनमें 'अमानित्व' आदि भाव स्थिर होते हैं। इस ज्ञानी पुरुषका अनन्यभावयुक्त मन इन निम्नलिखित भावोंसे युक्त होता है—

१ अहिंसा।

ज्ञानी पुरुष अहिंसा-वृत्तिवाला होता है। वह समझता है कि, सब विश्व अखण्ड एकरस है, उससे मैं अभिन्न हूं, मैं उससे अनन्य हूं, अतः इसमेंसे किसीकी हिंसा की, तो वह मेरीहि हिंसा होगी। हिंसाभावसे समाज स्थिर नहीं रह सकता। सब प्राणियोंको अभय होना चाहिये। जिस समाजमें निर्भयता रहती है, वही समाज कुछ प्रगति कर सकता है। ऐसा विचार करके ज्ञानी पुरुष (मत्तः सर्वेभ्यः अभयं) 'मुझसे सबको मैं अभय दिया है' ऐसा कहकर पूर्ण अहिंसाशील होता है।

परंतु जो अज्ञानी है, वह कहता है कि, 'मैं हि भोक्ता हूं, दूसरोंका घातपात करके मैं भोग भोगूंगा। दूसरोंका नाश करूंगा, दूसरोंको लूटूंगा और मैं अपने भोग बढाऊंगा।' इस तरह अज्ञानसे हिंसा करनेकी वृत्ति बढती है और विश्वमें अशांति बढती है। विश्वमें लूट, दंगे, फिसाद, युद्ध, घातपात बढते हैं और किसीको भी अपने जीवितकी सुरक्षितता नहीं रहती। अज्ञानसे ऐसे अनर्थ होते हैं।

इस लिये सत्य ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये और अहिंसाशील मनोवृत्ति बनानी चाहिये।

२ अमानित्व।

मानी न होना, अपना बडापन दिखलानेकी जिसे इच्छा नहीं होती, लोगोंमें अपना महत्त्व स्थापित हो जाय ऐसी महत्त्वाकांक्षा जिसे नहीं होती, लोग मेराही सत्कार करें और किसीका न करें, ऐसी जिसमें इच्छा नहीं होती, उसको 'अमानी' कहते हैं। अपने अन्दर विद्या, ज्ञान,

चातुर्य आदि श्रेष्ठ गुण रहनेपर भी, तथा अपनी योग्यता विशेष रहनेपर भी जो अपना दिखावा वढानेका यत्न नहीं करता, उसमें 'अमानित्व' गुण है, ऐसा कह सकते हैं। जो ज्ञानी होते हैं, वे अमानी होते हैं।

परंतु जो अज्ञानी होते हैं, जिनमें सत्य ज्ञान नहीं होता, वे अपना वडापन अत्यधिक दिखानेके लिये यत्न करते हैं, हरएक स्थानमें आगे आगे वढते हैं, अपनेको प्रमुख स्थान मिले, इस के लिये प्रयत्नकी पराकाष्ठा करते हैं और अपनी योग्यता न होनेपर भी वडे स्थानपर जाकर वैठनेका यत्न करते हैं। इससे वह कार्य विगडता है और इनकी भी अप्रतिष्ठा होती है।

३ अदम्भित्व।

दम्भ न होना, दम्भ न करना ज्ञानीका लक्षण है। दम्भ का अर्थ है। मिथ्याचार अपने अन्दर जो धर्मभाव नहीं है, वह है ऐसा जो वताना है, उसका नाम दम्भ है। स्वयं योगाभ्यास न करते हुए 'मैं योगी हूं' ऐसा वताना और योगका उपदेश करना दंभ है। स्वयं साक्षात्कारी न होते हुए अपने आपको साक्षात्कारी वताना दम्भ है। अज्ञानी हि दम्भ करते हैं। ज्ञानी दम्भसे हानि होती है, यह देखकर दंभ कभी नहीं करते। दम्भसे जनता फंसती है, मोहित होती है और दुष्टके पीछे पडकर फंस जाती है। दम्भसे ऐसा अनर्थ होता है, यह देखकर ज्ञानी सदा दम्भसे दूर रहते हैं और जो अन्दर रहता है, वही वाहर वताते हैं। दम्भी लोग वाहरका वडा आडम्वर रचते हैं और जनताको ठगाते हैं। अतः दम्भी अज्ञानी होता है और ज्ञानी कभी दम्भ नहीं करता।

४ आर्जव–सरलता।

ज्ञानी सरलस्वभाव होता है। उसमें कुटिलता नहीं होती। जैसा सरल करना होता है, वैसाही ज्ञानी करता है और कहता है। सरलता और नम्रता ज्ञानीमें सहज स्वभावसे रहती है। इसके विरुद्ध ज्ञानहीन मनुष्य कुटिल होता है, कपट करता है, ठगाता है। बोलता है एक और करता दूसरा ही है।

जैसा फूले हुए फूलका सुगंध सहजहीसे फैलता है, वैसा ज्ञानीका सरल स्वभाव आपही आप जनताके अनुभवमें आता है। वह अपना सरल मत सहजहीसे विनासंकोच प्रकट करता है। जिसमें लोभ, कपट और तेढापन नहीं होता, विनय और नम्रता जिसमें अत्यंत है, जो संदेहरहित भाषण करता है। अन्तःकरणमें एक और वाहर एक ऐसा भाव जिसमें नहीं होता, वह सरल स्वभावी होता है। ज्ञानकी पूर्णतासेही मनुष्य ऐसा होता है।

परंतु जिसमें सत्य, शुद्ध ज्ञान नहीं है, वह कपटी, कुटिल, लोभी, तेढा, अभिमानी घमंडी होता है। इसका यह स्वभाव इसके आचरणमें दीखता है। यह अज्ञानकाही प्रभाव है।

५ क्षान्ति, क्षमा।

'क्षान्ति' का अर्थ 'क्षमा' है, क्षमाका आशय भी सहन करनेका सामर्थ्य है। दूसरोंने अपने अपराध किये तो उनका प्रतिकार न करना, क्षमाका एक आशय है। और धर्मकार्य करनेके समय होनेवाले कष्टोंको सहन करनेका सामर्थ्य भी क्षमाके अर्थोंमें आता है। ज्ञान होनेके पश्चात् मनमें अनन्य भाव स्थिर होता है। इस कारण जिसे दूसरा कहा जाय वैसा कोई रहता ही नहीं, इस लिये जो अपराध दूसरेके द्वारा होते हैं, उनमें भी अपना भाग है, ऐसा प्रतीत होता है। अपनी अपूर्णताके कारण उसमें अपूर्णता रही, अतः उसके दोष मेरी अपूर्णताके कारण हुए ऐसा सिद्ध होता है। ऐसा माननेवाला मनुष्य दूसरेको कैसा दण्ड दे सकता है? वह दण्ड करेगा तो अपनेकोहि करेगा और दूसरोंको क्षमाही करेगा। इसलिये ज्ञानी आत्म-

खण्डन करता है और दूसरोंके विषयमें शान्ति धारण करता है ।

इसके विपरीत ज्ञानहीन मनुष्य दूसरोंका दोष देखतेही क्रुद्ध होता है, चिडता है, आक्रोश करता है, दूसरोंको पीडा देता है। इस तरह जगत्में अशान्ति उत्पन्न करता है। यह स्वयं अशांत होकर दूसरोंको भी अशान्त करता है। सहनशीलता तो इसमें रहतीहि नहीं । अशान्ति और परपीडन ये भाव अज्ञानके कारण बढते हैं और जगत्में अशान्तिको बढाते हैं ।

६ आचार्योपासना ।

सद्गुरुकी सेवा ज्ञानी करता है, सद्गुरुसे ज्ञान प्राप्त होता है, इस लिये वह उसकी भक्ति करता है, सेवा करता है और ज्ञानकी प्राप्ति इससे उसको होती है। ज्ञानसे भक्ति बढती है और भक्तिसे ज्ञान बढता है। इस तरह एक दूसरेकी वृद्धि होकर वह साधक पूर्ण ज्ञानी होता है ।

यहां 'आचार्यकी उपासना' शब्द है। 'आचार्य' उसका नाम है कि जो (आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान् । निरुक्त) सदाचार का ग्रहण कराता है, सत्य अर्थोंका संग्रह करके शिष्यको देता है। यह सदाचार है, यह दुराचार है, सदाचारके ग्रहणसे ये लाभ हैं, दुराचारसे ये हानियां हैं,ऐसा समझाकर जो अपने शिष्योंको सदाचारी बनाता है, उस आचार्यकी योग्यता बहुत बडी है। गुरु और अध्यापक विद्या पढाते हैं, परंतु आचार्य विद्या पढानेके साथ साथ सदाचारकी शिक्षा देता है। ऐसे आचार्यकी सेवा शुश्रूषा करना अथवा उसकी सत्संगतिमें रहना जो शिष्य करते हैं,उनको सत्य ब्रह्मज्ञान मिलता है और उनके जन्मकी सफलता होती है। इस तरह ज्ञानीका व्यवहार है ।

ज्ञानहीन लोग गुरुसे लडते हैं, उनसे असहकार करते हैं, उनकी निन्दा करते हैं । गुरुभक्ति उनमें नहीं होती, अतः वे सत्यज्ञानसे वंचित रहते हैं ।

७ शौच-पवित्रता ।

इस पवित्रताका संबंध केवल शारीरिक स्वच्छताके साथही नहीं है । बुद्धि, मन, इंद्रियां, शरीर, घर, ग्राम आदि सबकी स्वछता और निर्मलता यहां अभीष्ट है । वाणीकी पवित्रता, विचारोंकी शुद्धता, कल्पनाओंकी निर्मलता, व्यवहारकी पवित्रता, आचारकी निष्कलकता, रहनसहनकी स्वच्छता, व्यापारधंदोंकी शुचिता इन सबका इसमें समावेश होता है। जिस समय मानवी आचार व्यवहारमें यह पवित्रता पूर्ण रूपसे सिद्ध होगी, उस समय मनुष्यसमाज उच्च स्थितिमें अथवा आदर्श अवस्थामें रहेगा। यही आदर्श समाज-स्थिति अतिशीघ्र व्यवहारमें लानेके लिये प्रयत्न होना चाहिये। ज्ञानसेही यह समाज-स्थिति सिद्ध हो सकती है।

जिस समाजमें सत्य ज्ञान नहीं है, उस समाजके लोगोंमें अपवित्र विचार होते हैं, उनकी भाषा अमंगल होती है, व्यवहार अशुद्ध होते हैं, कल्पनाएं मलिन होती हैं, आचारविचार कलंकित होते हैं, रहनसहन अपवित्र होता है, व्यापारधंदोंमें तेढापन और दूसरोंको ठगानेकी अपवित्र बुद्धि होती है । इस समाजमें किसीको भी सुख प्राप्त होनेकी आशा नहीं है । दूसरेको ठगाकर कोई एकाध मनुष्य धनवान् या क्षणमात्र सुखी हुआ है ऐसा दीखेगा, तथापि चिरस्थायी सुख अशुचि व्यवहारसे मानवोंको प्राप्त होना असंभव है। इसीलिये शुचिताका अन्तर्भाव ज्ञानमें किया है ।

८ स्थैर्य-स्थिरता ।

चञ्चलताका अभाव, स्थिरता, एक कार्यमें स्थिर रहना, एक छोडना और दूसरा करना, दूसरा छोडकर तीसरा शुरू करना, ऐसा न करना, परंतु एकही शुभ कार्य शुरू करना और

उसीको अन्ततक पहुंचाना, यह ज्ञानसेही हो सकता है । ज्ञान-हीन मनुष्य चञ्चल, अस्वस्थ, अस्थिर बुद्धिवाला होता है । अस्थिरतासे हानि और स्थिरतासे लाभ होता है ।

कोई मनुष्य कुछ व्यापार करता है, यदि उसका वचन विश्वास रखने योग्य स्थिर न रहा, तो व्यवहारमें उसपर कोई विश्वास नहीं रखेगा । और उस कारण उसकी व्यवहारमें असफलता रहेगी । जो अपने वचनपर स्थिर रहेगा वही व्यवहारमें सफल होगा ।

स्थैर्यका अर्थ शरीरकी स्थिरता, जो वलके कारण होती है, है । वलसे मनुष्य अपने स्थानमें स्थिर रहता है, निर्वलही डरसे चंचल होता है, शिथिल होता है और अपना कार्य कर नहीं सकता, न अपने स्थानमें ठहर सकता है । अस्थिरता निर्वलताकी सूचक है और स्थिरता बलशाली होनेकी सूचक है । इसी लिये यहां कहा है कि ज्ञानसे वल प्राप्त करके अपने स्थानपर स्थिर रहना चाहिये । युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये युद्धमें अपने स्थानमें स्थिर रहना चाहिये, ' युधि-ष्ठिर ' का ही ' विजय ' होगा । स्थिरताका ज्ञानके साथ संबंध वडा घनिष्ट है क्योंकि ज्ञानसेहि संसार-युद्धमें विजय प्राप्त होता है ।

९ आत्म-वि-नि-ग्रह ।

ज्ञानसे आत्म-विनिग्रह किया जा सकता है । आत्मविनिग्रहका अर्थ अपना विशेष निग्रह अर्थात् संयम । अपना विशेष प्रकारसे संयम करना ज्ञानसेहि सिद्ध हो सकता है । आत्म-संयम, मनोनिग्रह, इंद्रियदमन यह मानवी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है । इस संयमके विना मनुष्यकी उन्नति असंभव है ।

ज्ञानरहित मनुष्य स्वैराचार करता है, अपने इंद्रियोंको स्वैर छोडकर दुष्ट व्यसनोंमें फंसाता है, इससे न केवल उसीका अहित होता है, प्रत्युत उसके वंशजोंको भी रोगी होना पडता है । व्यभिचारी मनुष्य उपदंशादि रोगोंसे पीडित होता है, इससे उसको पीडा तो होतीहि है, परंतु उसके अस्थिगत रोग उसकी संतानोंको भी पीडा देते हैं । स्वैराचारका हानिकारक परिणाम इसी लोकमें प्रत्यक्ष दीखता है । भोजनके स्वैराचारसे अजीर्ण होता है, इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंके स्वैराचारसे-असंयमसे-भयानक परिणाम भोगने पडते हैं । अज्ञानी लोग स्वैराचारको-हि सुखका साधन मानकर अपनाही नाश करते हैं और अन्तमें पस्ताते हैं ।

अतः यहां कहा है ज्ञानसे आत्मनिग्रह अर्थात् अपना संयम करना, अपने आपको अपने स्वाधीन रखना, भटकने न देना, आचारके सत्पथमें रखना चाहिये । अपना विशेष रीतिसे संयम करनेसेहि शाश्वत सुख प्राप्त हो सकता है । जो स्वैराचारीको कभी नहीं मिल सकता है । आत्मसंयम के विना किसी प्रकारकी उन्नति नहीं हो सकती ।

१० इन्द्रिय-भोगोंके संबंधमें वैराग्य ।

हरएक इंद्रियका भोग निश्चित हुआ है, जैसा नेत्र रूपकाही भोग कर सकता है, कान शब्दका भोग कर सकता है, इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंके भोग निश्चित हुए हैं । ये ही भोग इंद्रियोंके अर्थ हैं । जिसको सत्यज्ञान नहीं है वह समझता है कि अपना जन्म इंद्रिय-भोग भोगनेके लियेही है, वह भोग भोगनेके ग्रंथ पढता है, भोगोंका विचार करता है और विचार वारंवार करनेसे अपने शरीरकी शक्ति क्षीण करता है । स्त्री-भोगकी कथाएं सुननेसे और वारंवार उनके रूपका चिंतन करनेसे मनुष्यका वीर्य क्षीण होता है और उसकी आयुही इस मानसिक भोग-तृष्णासे क्षीण होती है, इसका अनुभव बहुतोंको है । क्या अपनाही नाश करना मनुष्यके लिये योग्य है ? कदापि नहीं ।

[illegible]

अर्थात् अपनी मर्यादासे अधिक भोग करता है, भोजनसे अधिक खाता है, ऋतुमासमें न होता हुआ स्त्रीसहवास अधिक करता है। इस अधिक भोगसे ही वह रोगी होता है और दुःखी होता रहता है। अतः भोगोंका जितना संयम किया जाय उतना लाभदायक है। इसलिये ही कहा है कि इन्द्रियोंके भोगोंके संबंधमें वैराग्य धारण करना चाहिये। इन्द्रियोंको स्वैराचारी और भोगी बनाना हानिकारक है।

ज्ञानहीन लोग भोगोंमें फंसते हैं और अपनी आयुर्वृद्धि नष्ट करते हैं। अतः इन्द्रियोंके भोगोंके विषयमें विरक्त रहना योग्य है। इन्द्रिय भोगोंके विषयमें दोष देखनेसे मनुष्य उन भोगोंसे दूर रह सकता है। जैसा मिष्टान्न देखनेसे खाने की इच्छा प्रबल होती है परंतु उसमें विष मिला है ऐसा ज्ञान होनेसे वह इच्छा निवृत्त होती है। इसी तरह सब भोगोंके विषयमें दोष-दृष्टि होनेसे वैराग्य मनमें स्थिर रह सकता है।

समाजमें सुख और समाधान सुस्थिर होना चाहिये, ऐसी इच्छा होगी तो भोगोंकी प्रबल वासना मर्यादित करनी चाहिये। भोगवासना मर्यादित करनेके लिये भोगोंमें जो दोष हैं उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इससे भोगोंकी वासना मर्यादित होगी। और मर्यादित प्रमाणमें भोग सब को प्राप्त हो सकेंगे और भोगवासनाही मर्यादित होनेके कारण जितने भोग मिलेंगे उतनेमें तृप्ति होगी और समाजमें सुख तथा समाधान सदा सुस्थिर रहेगा।

इस तरह भोगोंके विषयमें वैराग्य समाजके स्वास्थ्यके लिये अत्यंत आवश्यक है। जिस समाजमें भोगोंकी वासना असमर्याद बढाई जाती है, आज यह भोग मिले हुआ, कल यह प्राप्त करेंगे, ऐसी प्रबल वासना जिस समाजमें उठती है, वह समाज असुखमें और आपत्तिमें कष्टोंमें दुःख आपदा और सदा अशान्तिमेंही

फंसता जायगा । इस कारण ज्ञानके द्वारा आत्म-संयमन, इंद्रियदमन, मनोनिग्रह करके इंद्रियार्थों के विषयमें वैराग्य अवश्य प्राप्त करना चाहिये ।

११ निरभिमानता ।

अहंकारका अर्थ गर्व, घमंड, अभिमान है । यह ज्ञानका नाश करता है । अहंकार जहां है वहां ज्ञान नहीं रह सकता । जैसा वायु वहता है, सूर्य प्रकाशता है, गंगानदी वह रही है, वृक्ष छाया देता है, यह सब स्वभावसे होता है, उसमें इनका कोई अभिमान नहीं होता वैसाही निर-भिमानी होकर स्वभावसेहि शुभ कर्म करना चाहिये । मनुष्यके मनमें विचारमें, उच्चारमें और आचारमें निरभिमान-वृत्ति सदा रहनी चाहिये ।

अहंकारसे मनुष्य अपने आपको अन्य विश्वसे पृथक् मानता है । मैं विश्वसे भिन्न हूं, मैं भोक्ता हूं अन्य मेरे उपभोग्य हैं, इस विपरीत कल्पना के कारण मनुष्य अपने आपको विश्वसे पृथक् समझता है और अनन्य भावसे दूर होता है । सब धर्मसिद्धांत मनुष्य अन्य विश्वसे अनन्य-अपृथक् है, उसीका भाग है, इस सिद्धान्तपर अवलंबित हैं । अहंकारसे यह अपने आपको विश्वसे पृथक्, विश्वसे भिन्न, विश्वसे अन्य मानता है, इस कारण इसके मनका अनन्यभाव हटनेसेही इसमें अज्ञानकी वृद्धि होती है और यही पृथग्भाव सब दुःखोंका कारण है । इससे स्पष्ट होगा कि अनहंकार क्यों धारण करना चाहिये ।

जबतक अहंकार मनुष्यके मनमें वास्तव्य करता है, तबतक मनुष्यके मनमें अनन्यभाव उत्पन्नही नहीं होगा, ईश्वरसे जनतासे, सब विश्वसे अनन्य हूं यह भावही सब सदाचारका मूल है, यही हट जानेसे अभिमानी और अहंकारी मनुष्य ज्ञानके अधिकारी हो ही नहीं सकते । इस कारण निरभिमान—वृत्ति धारण करनी चाहिये । स्वभावही निरभिमानी बनना चाहिये ।

१२ जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शन ।

जन्मसे लेकर मृत्युतक जरा, व्याधि, दुःख और दोष होते हैं, उनको पहिलेसे ही देखना और उनके हटाने का उपाय ज्ञानसे करना चाहिये । ज्ञान- सत्यज्ञान होनेसे ही(जरा)वृद्ध-अवस्था दूर की जा सकती है, तारुण्य का संवर्धन योगसाधनसे किया जा सकता है, योग-साधनसे शीघ्र जरा नहीं आती और बुढापेमें भी शक्ति का क्षय नहीं होता है ।

योगसाधन के धौति, बस्ति, नेति आदिसे, तथा आसन-प्राणायामके अभ्याससे व्याधि आते नहीं और आये तो शीघ्र हटाये जा सकते हैं । योगसाधन व्याधिशमनका उत्तम साधन है । मृत्युतक दूर किया जा सकता है फिर जराका दूर होना सहज ही से होनेवाली बात है ।

शारीरिक और मानसिक दुःख कैसे होते हैं, विविध प्रकारके कायिक, वाचिक और सामा-जिक दोष किस कारण होते हैं इसके मूल कारण की खोज ज्ञानसे ही हो सकती है । इसका मूल कारण देखकर उसका नाश करनेसे दुःख और दोषोंका उपशम हो सकता है ।

ज्ञानहीन मनुष्य जरा, व्याधि और दुःख आनेके पश्चात् उपाय करनेके लिये दौडता है, अतः वह अपने आपको इन दुःखोंसे मुक्त नहीं कर सकता । परंतु ज्ञानी मनुष्य जरा आनेवाली है, व्याधि नगरमें फैलनेका संभव है, ये दुःख भविष्यकालमें होना संभव है ऐसा पहिले ही जानकर उसके दूर करनेके लिये जो जो उपाय किये जाने चाहिये वे पहिलेहि करता है । इस कारण अन्य लोग दुःखोंसे दुःखी होनेपर भी यह ज्ञानी दुःखोंसे दूर रहता है । योगदर्शनमें कहा है--

हेयं दुःखमनागतम् । (योगदर्शन)

जो दुःख आया नहीं है, उसका प्रतिबंध आनेसे पूर्व ही करना चाहिये । दुःख आनेपर उसको भोगनाही पडता है। अतः जो ज्ञानी दुःख-दोष होनेके पूर्व ही प्रतिबंधक उपाय करते हैं वे ही दुःखोंसे अपने आपको बचाते हैं ।

जन्मसे लेकर मृत्युतक क्या होता है, शरीर क्षीण होता है, व्याधियोंसे पीडित होता है, अनेक दुःखोंसे पीडित होता है, अनेक दोषोंसे विविध कष्ट होते हैं । मनुष्य विचार करेगा तो जन्मसे लेकर मृत्युतक यही वारवार चल रहा है ऐसा अनुभव आ जायगा । अज्ञानी मनुष्य जानता ही नहीं कि आगामी आपत्तिको किस तरह हटाया जावे, अतः वह आपत्ति आनेतक कुछ भी करता नहीं, आपत्ति आनेपर दुःखसे पीडित होकर छाती पीटता है, दुःखसे विह्वल होता है, कष्टोंसे पागल बनता है और सह लेता है। परंतु ज्ञानीहि पहिले सोचता है कि अब यह दुःख आनेवाला है, इसके प्रतिबंधके लिये यह उपाय करना चाहिये । वह उपाय करता है और उपाय ठीक होनेपर दुःखसे बच जाता है । ज्ञानसेही यह हो सकता है, अतः कहा है कि जरा-व्याधि-दुःख-दोषोंको पहिलेसे देखना चाहिये और उनके निवृत्तिका उपाय सोचना चाहिये ।

१३ अनासक्ति ।

आसक्ति न धरना, भोगोंपर आसक्त न होना, इस जगत्के अन्दर अनासक्तिसे सब व्यवहार करना, लंपटता न धरना आवश्यक है । भोगासक्तिसेही सब कष्ट होते हैं । अतः कष्टोंसे बचनेके लिये अनासक्तिसेही सब व्यवहार करने चाहिये । सब दुःख दूर करनेके लिये अनासक्तिही एक मात्र उपाय है ।

अज्ञानी मनुष्य हरएक कर्म आसक्तिसे करता है और कर्मफलपर आसक्त होता है और दुःख भोगता है । आसक्तिके होनेपर दुःखोंसे बचने का कोई उपाय नहीं है । अतः यहां कहा है कि आसक्ति छोडनी चाहिये ।

इस आसक्ति के साथ 'इंद्रियार्थेषु वैराग्यं' यह श्लोक ८ का विधान अवश्य देखने योग्य है । तथा श्लोक ७ का 'आत्मविनिग्रह' ये भी दो उपदेश अवश्य देखिये, क्योंकि इन दोनोंका अनासक्तिके साथ बडा संबंध है । वैराग्य और आत्मसंयम के विना 'अनासक्ति' सिद्ध होना कठिन है ।

अनासक्त मनुष्य सुखदुःख, हानिलाभ आदि द्वन्द्व प्राप्त होनेपर समचित्त रहता है, क्योंकि वह सुखपर आसक्त नहीं होता, अतः दुःखसे हताश भी नहीं होता। समाजमें भोगी मनुष्य बढ गये तो भोगोंके कारण कलह भी बढ जाते हैं, परंतु समाजमें अनासक्त वृत्तिवाले मनुष्य संख्यामें अधिक हुए तो उस समाजमें उस प्रमाणसे शांतिकी वृद्धि अधिक होगी । क्योंकि भोगासक्तिहि अशान्ति की जड है और वह अनासक्त वृत्तिवाले समाजमें नहीं होती । अतः अनासक्ति समाजहित वर्धक है ।

१४ पुत्र–स्त्री–गृहादिमें असंग ।

पुत्र, स्त्री, घर आदिमें न रहना, आसक्त न होना, प्रेमान्ध न होना चाहिये । क्योंकि प्रायः सब अज्ञानी लोग पुत्र, स्त्री और घरके प्रेमान्धताके कारण ही अनंत अपराध करते हैं। स्त्री–पुत्रादिके भरण–पोषण–भूषणादिके लिये बुरेभले व्यवहारसे धनादिकी कमाई करते हैं और विविध प्रकारके अपराधी होकर अनेक दुःख भोगते हैं । यह पुत्र मेरा है और यह दूसरेका है, इतनेही कारण पक्षपात किया जाता है और पक्षपातसे अन्याय होना स्वाभाविक है । यह मनुष्य मेरी जाति का है और यह अन्यजातिका है, इस कारण कितना घृणित व्यवहार इस जगत्में हो रहा है यह पाठक देखेंगे, तो पता लग जायगा कि स्त्री–पुत्र–गृहादि की प्रेमान्धताके कारण

जगत्में कितना अनर्थ हो रहा है यह सब अज्ञान है। ज्ञानी मनुष्य इनके विषयमें प्रेमान्ध नहीं होता। वह समझता है कि ये परमात्माके विश्वरूपके अंश हैं वैसे ही अन्य अंश हैं। इनमें कोई भेद नहीं है ऐसा मानकर सबपर समदृष्टि रखता है और इस सर्वत्र समदर्शनसे वह मोहित नहीं होता और इस कारण उससे कोई अपराध, अन्याय अथवा दोष नहीं होते। वह निर्दोष होता है और सर्वत्र समभाव रखनेके कारण विषमाचरणसे होनेवाले दोषोंसे दूर रहता है। ज्ञानसे यह अपूर्व लाभ है।

१५ इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति होनेपर नित्य समचित्त होना।

मनुष्य इष्ट वस्तु चाहता है और अनिष्ट से दूर रहने की इच्छा करता है। इष्टसे प्रेम करता और अनिष्टका द्वेष करता है। इसलिये इष्टकी प्राप्ति होनेके समय उसके मनकी प्रवृत्ति जैसी होती है उसके विपरीत स्थिति अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर होती है। यही मनका विक्षेप दुःखका हेतु है। इस विक्षेपके कारण मनकी शक्ति क्षीण होती है और मनुष्यकी उन्नति रुक जाती है।

इसी हेतुके लिये यहां कहा है कि ऐसा अभ्यास करो कि जिससे इष्ट अथवा अनिष्ट की प्राप्ति होनेपर चित्त समस्थितिमें रहे। चित्तपर दोनों अवस्थाओंमें कोई परिणाम न हो। बाहरकी परिस्थिति कैसी भी हो, विपरीत हो अथवा अनुकूल हो, अन्दरका मन सम अवस्थामें रखना चाहिये।

चित्तके विक्षेपसे न केवल मानवी अन्तःकरण का विगाड होता है, परंतु मनुष्यका शारीरिक स्वास्थ्य भी विगड जाता है। अतः मनको सम अवस्थामें रखना स्वास्थ्य की दृष्टिसे भी अत्यंत आवश्यक है। जिस सामाजिक परिस्थितिमें मानवी मन सदा विक्षिप्त सा रहता है वह परिस्थिति मनुष्योंको पागल बनावेगी। अतः यहां उपदेश दिया है कि अनुकूल अथवा विपरीत परिस्थितिमें अपना चित्त सम रखो। चित्त की घबराहट न हो।

१६ अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति।

'अनन्य-योग' का अर्थ (अन्+अन्य-योग) मैं पृथक् नहीं हूं ऐसा समझकर अपना (योग-योगः कर्मसु कौशलं) कर्तव्य करना। परमेश्वर विश्वरूप है और मैं उसका एक अंश हूं अर्थात् उससे भिन्न नहीं हूं, उससे पृथक् नहीं हूं उससे अन्य नहीं हूं, उससे विभक्त नहीं हूं ऐसा अनुभव करके, उसके साथ अपना अखंड संबंध देखकर, उसके साथ अपना अनन्यभाव जानकर अपना कर्तव्य करना। इसका नाम अनन्य-योग है। इस अनन्य-योगके करनेसे मानव सच्चे उन्नतिके मार्गपर चल सकता है।

इस अनन्ययोगमें संपूर्ण मानवप्राणी परस्पर अटूट संबंधसे अखण्डित जीवनमें संघटित हुए हैं, सब अन्य जीवजन्तु भी मानवोंके साथ और परस्पर अटूट संबंधसे संघटित हैं, कोई किसी-से पृथक् अन्य या भिन्न नहीं, सबोंका हित-संबंध एक दूसरेके साथ जुडा है। कोई अन्योंसे पृथक् होकर, अपने आपको अन्य मानकर भिन्न-भावका व्यवहार करेगा तो दुःख बढानेके विना रह नहीं सकता। अतः अन्यभाव दुःख बढानेवाला और अनन्यभाव सुखशान्ति देने-वाला है। सब विश्व इस तरह परस्परसे जुडा हुआ है यह जाननेका नाम ही अनन्ययोग है। इसमें कहां भी 'अन्य' का भाव नहीं होता, एकत्वका भाव ही सर्वत्र है। एक वार इस अनन्य-योग की ठीक ठीक कल्पना ध्यानमें आ गई तो फिर भेदभावके लिये कोई स्थान रहता ही नहीं।

अनन्ययोग जो कर सकते हैं, परमेश्वरके विश्वरूपसे जो अपने आपको अभिन्न अनुभव करते हैं वे जो भक्ति करेंगे वह अनन्यभक्ति ही

होगी, वही अव्यभिचारिणी भक्ति होगी । व्यभिचारका अर्थ दूसरेका संबंध, अन्यसंबंध, विजातीय सहवास । अनन्यभक्ति करनेवालोंमें कोई अन्य न होनेके कारण विजातीय कोई वस्तुहि नहीं है । सब एक अखण्ड, अभिन्न, अनन्य वस्तु है, ऐसा निश्चयसे जाननेपर उससे अव्यभिचारिणी भक्ति ही होगी । व्यभिचार तो भिन्न-भावसे हुआ करता है ।

ज्ञानका साध्य यही अनन्यभाव और परमेश्वरकी अव्यभिचारिणी भक्ति है । पाठक इस अनन्यभावको ठीक प्रकार जानें, क्योंकि भगवद्गीताके मुख्य सिद्धान्तोंमें यह सबसे प्रमुख सिद्धान्त है । सब सफलता, सुफलता, परमसिद्धि इसीसे होती है ।

भक्तिका अर्थ सेवा है । विश्वरूप परमात्माकी विश्वसेवाही भक्ति है । यह विश्वसेवा मैं विश्वसे पृथक् नहीं हूं, विश्वमें ही मैं हूं, ऐसा जानकर करनी चाहिये । मनुष्यकी जो उच्च गति होती है वह अखण्ड विश्वसेवासे ही होती है और यह अखंड विश्वसेवा अनन्यभावसे होनी चाहिये ।

सेवा अनेक प्रकारसे की जाती है, तृषितको जल देनेसे, रोगीकी चिकित्सा करके उसे आरोग्य पहुंचानेसे, अशिक्षितको विद्यादान देनेसे, भयभीतको निर्भय करनेसे, भूखेको अन्न देनेसे, इस तरह विविध विश्वरूपकी विविध प्रकारकी सेवा की जा सकती है। ईश्वरके अनंत रूप हैं, उनमें जिसको जो देकर हम सेवा कर सकते हैं उससे वैसी सेवा करना विश्वसेवा है । यही मनुष्यको कृतकृत्य कर सकती है ।

'स्वकर्मसे उसकी सेवा करनी चाहिये ।' (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः । गी० १८।४६) अपने जो शुभ कर्म कुशलताके साथ कर सकते हैं उससे विश्वसेवा अनन्यभावसे करनी चाहिये । इस विश्वसेवामें हरएकका कर्तव्य अर्पित हो सकता है । हरएकका कर्तव्य यही आवश्यकही है । यह कर्तव्य लोग नहीं करते, विश्वसेवासे पराङ्मुख होते हैं, मैं अलग और पृथक् हूं, मैं दूसरोंकी पर्वा नहीं करता, ऐसा मानकर अपनाहि हित करनेका प्रयत्न करते और विश्वसेवासे दूर होते हैं, इस कारण इस विश्वमें या जगत्‌में अशान्ति, दुःख और असमाधान है ।

यदि लोग इस अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति करते हुए विश्वसेवा करेंगे तो संपूर्ण विश्व शांतिसुखसे अपूर्व समाधान प्राप्त करेगा इसमें कोई संदेहही नहीं है । इस तरह यह अनन्य योगसे होनेवाली अव्यभिचारिणी भक्ति सामाजिक स्वास्थ्यके लिये अत्यंत उपयोगी है । यह सामाजिक सद्गुण है और समाजको सुखी करनेके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है ।

१७ एकान्तसेवन ।

आत्मपरीक्षण, अपने दोषोंका विचार करना और उनको दूर करनेका यत्न करना, किसी गूढ विचार करनेके लिये एकान्तमें जाकर सोचना, ऐसे अनेक कार्योंके लिये एकान्तसेवन करना अत्यंत आवश्यक है । जो ज्ञानहीन होते हैं वे एकान्तसेवन का महत्त्व जानते ही नहीं । किसी प्रकारका अभ्यास करना हो तो एकान्तस्थानमें जाकर रहनेसे अच्छा अभ्यास होता है । यह अनुभव सब कोई ले सकते हैं । इस तरह एकान्तवास लाभदायक है, यह जानकर पाठक इससे अपना लाभ साधन करें ।

१८ जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि ।

यह जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि, एकान्तवासकी रुचि की हि दूसरी बाजू है । जो एकान्तवासमें रहना चाहता है वही जनसंमर्दमें-मेलोंमें जाना नहीं चाहता । मेलोंमें जानेसे अनेक प्रकारके लोगोंके साथ संबंध आता है, जिनसे संबंध

" विधाताने इस जगत्के सूर्यचन्द्र, द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूमि आदि सब पदार्थोंको (-यथापूर्व) पूर्वके समानही बनाया है। " अर्थात् यह सृष्टी अनेक वार बनी है और हरएक वार पूर्वके समान बनायी गई है। जिस प्रकार दिन रात पूर्वके समान होते हैं, उसी प्रकार जगत् बनना यह दिन और प्रलय होना रात्रीके समान है; अतः ये विधाताके दिन रात सदा समानही होते हैं, क्योंकि परमेश्वरके गुण सदा समान रहते हैं, इस कारण वह जो कुछ बनाता है वह पूर्णही बनाता है, पूर्ण बननेके कारण उसमें हेरफेर करनेकी आवश्यकता नहीं होती। अतः वह जो बनावेगा वह एकसाही होगा।

पूर्णकी पूर्ण कृति।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
(उपनिषच्छान्ति)

" वह (विधाता) पूर्ण है, यह (जगत्) पूर्ण है, क्योंकि पूर्णसे जो बनता है वह पूर्णही होता है। पूर्णसे इस पूर्णकी उत्पत्ति होनेपर भी वह पूर्ण जैसाका वैसाही रहता है। " इसी प्रकार—

पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
अथो तदस्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते ॥
(अथर्व० १०।८।२९)

" पूर्णसे पूर्णका उदय होता है, पूर्णसे पूर्णको जीवन मिलता है। अतः इसके उस कारणको हम जानेंगे कि, जिससे इसको जीवन मिल रहा है। "

इत्यादि मंत्रभागोंमें स्पष्ट कहा है कि, इस जगत्का निर्माण करनेवाला ' पूर्ण ' है, उसमें अपूर्णता नहीं है, अतः उसकी जगत् रूपी कृति भी पूर्ण अर्थात् जैसी चाहिये वैसी है। इस प्रकार जगन्निर्माताकी पूर्णता और उसकी कृतिकी पूर्णता सिद्ध होनेपर वह इसी प्रकार जगत् वारंवार बनाता है यह सिद्ध होगा, क्योंकि उसकी जगन्निर्माण करनेकी शक्ति उसके पास सदा रहती है, अतः उसने जिस कारणके लिये इस जगत्का निर्माण किया, उसी कारणके लिये उसने इससे पूर्व भी जगत् निर्माण किया होगा और आगेभी वह वैसाही निर्माण करेगा। (अर्थात् वह निर्माण कर्ता जगत्के पूर्व, जगत्की स्थितिके समय, तथा इसके विनाशके पश्चात् एक जैसा रहेगा। वह पूर्ण होनेसे उसमें घट वध होना असंभव है। आत्माके जगन्निर्माण या जगत्का फैलाव करनेके संबंधमें भगवद्गीताके निम्न लिखित वचन भी यहां देखने योग्य हैं—

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥
(भ० गी० ८।२२)
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ॥
(भ० गी० ९।४)
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ (भ० गी० ११।३८)
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥
(भ० गी० १८।४६)

" जिसके बीचमें सब भूत हैं जिसने इस सबका फैलाव किया है। मैं अव्यक्तमूर्ति (आत्मा) ने यह सब फैलाया है। हे अनन्तरूप देव ! तूने यह विश्व फैलाया है। जिससे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई और जिसने यह सब फैलाया है। "

यहां (मैं, तू, वह इन) तीनों सर्वनामोंसे एकही बात कही है। इससे वही सिद्धान्त सुदृढ हुआ कि, एक अद्वितीय आत्माने इस जगत्का विस्तार किया है।

(अस्य विनाशं कर्तुं कश्चित् न अर्हति) इस आत्माका विनाश करनेके लिये कोई समर्थ नहीं होता है। कोई कितना भी सामर्थ्यवान् क्यों न हो, वह इसका नाश नहीं कर सकेगा। इसलिये इसको ' अ-व्यय ' कहा जाता है। जिसका व्यय नहीं होता, जिसमेंसे कुछ खर्च नहीं होता, उसको ' अ-व्यय ' कहते हैं। इसने इतने बडे विश्वकी रचना करनेपर भी इसकी शक्तिका व्यय नहीं हुआ, क्योंकि यह ' अ-व्यय ' है। इसीलिये पूर्वोक्त उपनिषच्छान्ति मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि- " पूर्ण (आत्मा) से इस पूर्ण (जगत्) की उत्पत्ति होनेपर भी वह पूर्ण (आत्मा) जैसाका वैसाही पूर्ण रहता है। " उसमें कुछभी न्यूनाधिक नहीं होता है। ' अ-व्यय ' शब्दकीही यह व्याख्या है।

इन दो श्लोकोंका विचार करते हुए पाठकोंके मनमें यह बात आजायगी और आगेके कुछ श्लोक देखकर वह दृढ हो जायगी कि, अर्जुनकी शंका तो भीष्मद्रोणादिके जीवोंके नाश होनेके विषयमें थी। उनके देह और आत्मा युद्धमें नष्ट हो जांयगे ऐसा अर्जुन मानता था। इसका उत्तर इस

आना योग्य नहीं है उनसे संबंध करना पडता है, ऐसे अनेक उपद्रव होते हैं, इसलिये योगाभ्यासी लोग एकान्तवास पसंद करते हैं और अभ्यासके समयमें तो मेलोंमें जाते ही नहीं। जनसंमर्दमें जानेसे मनका विक्षेप भी होता है।

परंतु जो लोग साधनसंपन्न होते हैं, अथवा सिद्ध बनते हैं,वे किसी आवश्यक घटनाके लिये परिषदोंमें नहीं जाते ऐसा नहीं है। जनकराजाकी परिषदमें याज्ञवल्क्य जाते ही थे। यज्ञ करनेके समय बडी बडी विराट् सभाएं होती ही थीं। अर्थात् मन एकाग्र करनेके योगसाधन करनेके समय जनसंमर्दमें वारंवार जाना योग्य नहीं है।

१९ अध्यात्मज्ञानमें नित्य रुचि।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्व अर्थात् अध्यात्मज्ञानका नित्य विचार करना चाहिये। अध्यात्मका अर्थ (अधि+आत्मा) आत्माके ऊपर आत्माके आश्रयसे जो कुछ रहता है, आत्मासे जो प्रकट होता है वह अध्यात्म है। आत्माके आश्रयसे क्या रहता है? अपनेही अन्दर देखिये, आत्माके आश्रयसे वुद्धि, मन, चित्त, अहंकार, इंद्रियां (कर्मेंद्रियां और ज्ञानेन्द्रियां), शरीर, शरीरावयव शरीरसे वाहर जानेवाली शक्ति। यह सब अपने आत्माके आधारसेहि रहते हैं। अतः इसका नाम अध्यात्म है। आत्माके आधारके विना इनका होना, कार्य करना और शक्ति प्रकट करना असंभव है। आत्माकीही यह प्रकृति है, आत्माकीहि यह शक्ति है;इसी कारण इनको 'इंद्रिय' कहते हैं।

'इन्द्र' आत्मा है और इन्द्रशक्ति (इन्द्र+य) इंद्रिय कहलाती है। इन्द्रके आधारसे इन्द्रशक्तिका रहना स्वाभाविक ही है। यही भाव आत्मा और उसकी शक्ति आत्माके साथ रहती है इस कथनमें है।

इससे स्पष्ट हुआ कि अध्यात्म क्या है। सब ज्ञानोंमें अध्यात्मज्ञान मुख्य है, इसका कारण यह है कि इसका संबंध प्रत्यक्ष मनुष्यके स्वास्थ्य-सुख-समाधानके साथ है। मनुष्यको स्वास्थ्यादि सुख चाहिये, इसलिये उसको अध्यात्मज्ञान भी अवश्य चाहिये।

अध्यात्मज्ञानमें (१) आत्माका ज्ञान, (२) बुद्धिकी शक्तिका ज्ञान, (३) मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, मानसशक्तिका ज्ञान, (४) चित्त-संकल्प-अहंकार आदि शक्तियोंका ज्ञान, (५) प्रत्येक इंद्रियका ज्ञान। अर्थात् वह क्या है, कैसा कार्य करता है, स्वस्थ आरोग्यसंपन्न कैसा रह सकता है, रोगी और क्षीण कैसा होता है, अधिक कार्यक्षम कैसा हो सकता है, इत्यादि संबंधका ज्ञान, (६) शारीर शास्त्र, शरीरसंबंधी आरोग्य कैसा प्राप्त होगा, रोग क्यों होते हैं, रोगनिवृत्ति कैसी होती है, आरोग्य किस तरह सुरक्षित रह सकता है, इत्यादि विषयका जो शास्त्र है, उसका नाम शरीरविज्ञान है। (७) शरीरसे वाहर जो अपनी शक्ति जा रही है और कार्य कर रही है, अपनी मानसशक्ति वाहर जाकर जो कार्य करती है उसका ज्ञान भी जानना चाहिये। इन सव विज्ञान और ज्ञानका अन्तर्भाव अध्यात्मज्ञानमें है।

इसस पाठकोंको पता लग जायगा कि अध्यात्मज्ञान क्या है और मानवी स्वास्थ्य-सुख-समाधानके लिये इस अध्यात्मज्ञानका संबंध क्या है। हरएक मनुष्यके पास जितना यह ज्ञान होगा, उतनाही उसको स्वास्थ्यका साधन करना संभव हो सकता है। सर्वसाधारण जनताको इस अध्यात्मज्ञानका थोडासा भी अंश ज्ञात नहीं होता, इसी कारण वे सदा दुःखमें डूबे रहते हैं।

उदाहरणके लिये देखिये, शारीर शास्त्रका ज्ञान मनुष्यको हुआ तो शरीरको स्वस्थ, हृष्ट, पुष्ट, नीरोग रखनेमें वह समर्थ हो सकता है।

मनुष्यको दूसरा कुछ भी आवश्यक न हुआ तो शरीरकी स्वस्थता तो आवश्यही चाहिये। शरीर शास्त्रका कुछ भी ज्ञान जिसे नहीं है वह अपना स्वास्थ्य सुरक्षित किस तरह रख सकता है, रोगोंके संचार होनेके समय करना क्या चाहिये, ऋतुपरिवर्तनके समय क्या करना चाहिये, शरीरकी अन्दर बाहरसे पवित्रता कैसी करनी चाहिये। यह सब ज्ञान आवश्यक है। हरएकको यह सब ज्ञान संपूर्णतासे होना कठिन है, तथापि मुख्य आवश्यक ज्ञान तो हरएक मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

अध्यात्मज्ञानका नित्य विचार करना चाहिये, ऐसा जो यहां कहा है उसका अपने आरोग्यके साथ कैसा संबंध है, इसका पाठक यहां विचार करें। और इस अध्यात्मशास्त्रके साथ अपने सुख-समाधानका कितना संबंध है यह देखें।

शरीर शास्त्रकी अपेक्षा मानसशक्तिके ज्ञान का मानवी सुखसमाधानके साथ अधिक संबंध है। शरीरमें बीमारी होनेके पूर्व मन रोगी होता है, और मन रोगी होनेके कारण शरीर रोगी होता है। अतः शरीर स्वास्थ्यके लिये मानसिक स्वास्थ्य सुरक्षित रखनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इसी लिये मनःसंयम, मनमें शिवसंकल्प रखना, सज्जनोंकी संगति करना, दुष्ट विचारोंको दूर रखना आदि धर्मनियम किये गये हैं।

मन सत्यसे शुद्ध होता है, बुद्धि ज्ञानसे पवित्र होती है, इत्यादि जो नियम धर्मशास्त्रमें कहे हैं वे इसी लिये कहे हैं। ये सब मनुष्यका सुख बढानेवाले हैं। अध्यात्मज्ञानका नित्य विचार करनेका अर्थ अपनी शक्तियोंका नित्य विचार करना है। अपनी शक्तिका विचार करनेसे वह शक्ति कैसी उन्नत की जाती है इसका भी निश्चय होता ही है।

कई लोग अध्यात्मज्ञानका अर्थ केवल आत्मा का ज्ञान, केवल ईश्वरका ज्ञान ऐसा मानते हैं, वह अशुद्ध विचार है, अध्यात्मज्ञानमें आत्माका तथा परमात्माका ज्ञान आता है परंतु पूर्वोक्त सब अन्य शक्तियोंका ज्ञान भी उसमें अन्तर्भूत होता है। क्योंकि सबही आत्माकी शक्तियोंका ज्ञान यहां संमिलित होता है।

'आत्मज्ञान' का अर्थ केवल आत्माका ज्ञान है और 'अध्यात्मज्ञान' का अर्थ पूर्वोक्त सब ज्ञान है। क्योंकि जो जो शक्तियां आत्माके आधारसे हैं उन सबका ज्ञान अध्यात्मज्ञान कहलाता है। पाठक थोडासा विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस अध्यात्मज्ञान के साथ मानवी सुखसमाधान का कितना संबंध है। कोई मनुष्य इस ज्ञानके विना पूर्ण सुखी नहीं हो सकता है। अध्यात्मज्ञानसे मनुष्य दुःखसे पूर्ण मुक्त हो सकता है, ऐसा जो कहते हैं उसकी सत्यता यहां इस प्रकार सिद्ध हुई है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

अध्यात्मज्ञानका नित्य मनन करना चाहिये, इसका तात्पर्य यह है कि अपनी शक्तियोंका विचार सदा करना चाहिये। इससे आत्मविश्वास बढता है, अपनी शक्तिके प्रयोग सिद्ध किये जा सकते हैं, अपनी शक्तिमें किसी कारण न्यूनता हो रही हो तो उसकी पूर्णता करनेका योग किया जा सकता है, तात्पर्य अध्यात्मज्ञानके मननसे अनंत लाभ हैं, अथवा जो कुछ उदय होना संभव है वह इस अध्यात्मज्ञानसेही होना संभव है।

पेटमें दर्द हो रहा है, कान दूख रहा है, स्वप्नमें वीर्यनाश होता है, शरीरकी कमजोरी है, मनकी दुर्बलता है, स्मरणशक्ति कम हो रही है, इन सबके लिये अपनी पूर्वोक्त शक्तियोंका मनन करनेसे और उनको नीरोग और स्वस्थ रखनेका विचार करनेसेहि उपाय हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि अपना सब प्रकारका कल्याण अध्यात्मज्ञानसेही हो सकता है, इसलिये इस

ज्ञानको प्राप्त करना चाहिये और उसका मनन करना चाहिये।

२० तत्त्वज्ञानार्थ दर्शन।

पृथिवी, आप, तेज आदि अनेक तत्त्व हैं। उन तत्त्वोंकी विद्याका नाम तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्व-ज्ञानका जो अर्थ दुःखमोचनरूप पुरुषार्थ है, उसको 'तत्त्वज्ञानार्थ' कहते हैं। इस मुख्य ध्येयकोही सदा अपने आंखके सामने रखना चाहिये। अर्थात् यह अपना साध्य है और यह साध्य तत्त्वज्ञानसे हि प्राप्त होना है, ऐसा निश्चय करना और इसकी सिद्धताके लिये तत्त्वोंका ज्ञान यथायोग्य प्राप्त करना चाहिये।

मोक्ष अर्थात् त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति-रूप श्रेष्ठ पुरुषार्थ प्राप्त करना है, यह कदापि नहीं भूलना। जो कुछ करना हो वह इसके लिये ही करना चाहिये।

त्रिविध दुःख ये हैं-एक आध्यात्मिक दुःख, दूसरा आधिभौतिक दुःख और तीसरा आधि-दैविक दुःख। अध्यात्म शक्तियोंका वर्णन '(१९) अध्यात्मज्ञान' के प्रसंगमें किया है अर्थात् आध्यात्मिक दुःख बुद्धि-मन-इंद्रिय-शरीर आदिमें उत्पन्न होनेवाले दुःख हैं। आधि-भौतिक दुःख प्राणिमात्रसे उत्पन्न होते हैं, जैसे मानवोंके आपसके झगडे अथवा सिंह-व्याघ्रादिकोंके उपद्रव आदि। आधिदैविक उप-द्रव भूंचाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अग्निप्रकोप आदि हैं। इन सब तीनों प्रकारके दुःखोंके दूर करनेके लिये तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये। पृथिवी, आप, तेज आदि तत्वोंके गुणधर्मोंका ज्ञान प्राप्त होनेसे उनका उपयोग करके इन दुःखोंको दूर करनेका उपाय समझमें आसकता है। संपूर्ण दुःख इसी तरह दूर किये जा सकते हैं। यह लाभ बडा भारी है।

मनुष्यको तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये और तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाले मोक्षरूप अर्थका लक्ष्य अपनी दृष्टिमें सदा रखना चाहिये अर्थात् अपना ध्यान उससे दूर करना नहीं चाहिये।

यह सब ज्ञान किंवा ज्ञानका साधन है, इससे जो विपरीत है, उसको अज्ञान कहते हैं। (श्लो० ११) इस ज्ञानके वर्णनके साथ साथ अज्ञा-नका भी वर्णन किया है। ज्ञानसे साध्य होने-वाली ये बातें हैं, अज्ञानी लोग जो किया करते हैं, उसका अनुमान इसके विरोधके अनुमानसे पाठकोंको हो सकता है।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि, यह ज्ञान मनुष्यमात्रके हितके लिये अत्यंत आवश्यक है। जो इस ज्ञानका विरोध करते हैं अथवा जो इस ज्ञानसे दूर रहते हैं, वे अनेक प्रकारसे दुःखकेही भागी हो सकते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है।

जाननेयोग्य वस्तु।

अब श्लोक १२ से १७ तक सबको जानने-योग्य वस्तुका वर्णन है। यही आत्मा अथवा परमात्मा है। यही एक मनुष्यमात्रके लिये जानने-योग्य वस्तु है। इसको जाननेसे मनुष्यको (अमृतं अश्नुते) अमरत्व प्राप्त होता है। यह अमरत्व कैसे मिलता है, इसका थोडासा विचार करना चाहिये।

विभक्तोंमें अविभक्त।

भूतेषु अविभक्तं (ब्रह्म) विभक्तमिव स्थितं।
(गी० १३।१५)

सब भूतोंमें ब्रह्म अविभक्त होनेपर भी वह विभक्त जैसा रहा है। अर्थात् वह वस्तुतः अविभक्त, अखण्ड और एकरस है, तथापि वह विभिन्न, खण्डित और अनेकरस जैसा रहा है। वह भिन्नोंमें अभिन्न, खण्डितोंमें अखण्ड, अनेक रसोंमें एकरस है। जो भिन्नता दीख रही है, वह व्यवहारदशामें भिन्नता होनेपरभी वास्तविक दशामें अभेदही है। यह बात एकवार समझना चाहिये।

लकडीके अनेक खिलौने बनाये जाते हैं, अनेक पशुपक्षी, जानवर आदि वस्तुएं बच्चोंके खेलके लिये बनायीं गयीं, तो खेलनेके व्यवहार में प्रत्येक वस्तु भिन्न मानकर हि खेल खेला जाता है। इस व्यवहारदशामें हरएक वस्तु भिन्नही है, परंतु जिस समय लकडीके भावसे उनकी विक्री करनेका समय आजाय उस समय उन सब खिलौनोंकी भिन्नता एक ही लकडीकी एकतामें एकरूप हो जाती है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि व्यवहारदशामें विभेद रहनेपरभी परमार्थदशामें अभेद किस तरह हो जाता है। यह जाननेपर परमात्मा विभक्तोंमें अविभक्त किस तरह रह सकता है, इसका ज्ञान पाठकोंको हो सकता है।

विश्वमें वस्तुभेद कितनाभी हो, परंतु सबमें एकरस परमात्मा है, यह बात जाननेपर, विश्व की वस्तुओंमें 'मैं भी एक हूं और मैं पृथक् नहीं हूं,' यह ज्ञान हो जाता है। 'यदि सबमें एकरस परमात्मा है, तो मुझमेंभी वह है और यदि सब विश्वरूप उसी परमात्माका है, तो मेरा रूपभी उसीमें संमिलित है। किसी तरह मैं पृथक् नहीं हूं।' यह अनन्यभाव जब मनमें स्थिर होगा तब परमात्मा अजर अमर होनेके कारण यह भी अजर और अमर हो जायगा। इसी लिये कहा है कि (यत् ज्ञात्वा अमृतं अश्नुते) जिस ब्रह्मको जाननेसे मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होता है और जिसको न जाननेसे मनुष्य मरणधर्माही रह जाता है।

परमात्माके ज्ञानका यह महत्त्व है। परमात्मा सर्वत्र एकरस है। 'मैं उससे अनन्य हूं, इस लिये मैं उसीका अंश हूं' (मम एव अंशः जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गी० १५।७) क्योंकि परमात्माका एक अंश जीव हुआ है, अतः यह जीव पृथक् नहीं है। जब यह एकरूपताका पता लग जाता है और यह स्पष्ट ज्ञान असंदिग्ध रीतिसे ध्यानमें बैठता है, तब यह साधक भी अमर भावसे युक्त होता है, क्योंकि वह अपने आपको अमर परमात्माके साथ अनन्य अपृथक् अथवा अभिन्न समझता है।

मनुष्यको परमात्मा ही एक ज्ञेय वस्तु है, उसको जाननेसे साधकका इस तरह लाभ होता है। यह ज्ञान होनेकी अवस्थामें जो साधक अपने आपको मरणधर्मा मानता है, वही साधक यह ज्ञान प्राप्त करनेपर अपने आपको अमर मानने लगता है।

यह ब्रह्म (अनादिमत्) अनादि, अनंत, (परं) सबसे श्रेष्ठ, (ब्रह्म) सबसे बडा, सबको व्यापनेवाला, (असक्तं) अनासक्त, (सर्वभृत्, भूतभर्तृ) सब का भरणपोषण करनेवाला, सबका पालक, (गुणभोक्तृ) गुणोंका भोग करनेवाला, परंतु स्वयं (निर्गुणं) गुणत्रयातीत है। यह ब्रह्म (भूतानां बहिः अन्तः च) भूतोंके अन्दर और बाहर है, यह (अचरं चरं) अचल है और चल भी है, स्थावर जंगम भी यही है। (दूरस्थं अन्तिके च) वह जैसा दूर है, वैसाही समीप भी है। यह अति (सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयं) सूक्ष्म होनेसे जाननेके लिये कठिन है, (भूतेषु अविभक्तं अपि विभक्तं इव स्थितं) सब विभिन्न प्राणियोंमें अथवा सब विभिन्न वस्तुओंमें वह अखण्ड अविभक्त रहनेपर भी विभक्त जैसा रहा है, अविभक्त होनेपर विभक्त जैसा दीखता है, (प्रभविष्णु भूतभर्तृ ग्रसिष्णु च) वह ब्रह्म सबकी उत्पत्ति करनेवाला, पालनपोषण करनेवाला और संहार करनेवाला है। वह (ज्योतिषां ज्योतिः) तेजस्वी पदार्थोंको तेज देनेवाला और (तमसः परस्तात्) अन्धकारसे परे अर्थात् स्वयंज्योति है, वही स्वयं ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानसे जाना जाने योग्य है। वह सबके हृदयोंमें रहा है।

वह ब्रह्म सत् और असत्से विलक्षण है, क्योंकि सत् और असत् ये उसीसे प्रगट होनेवाले भाव हैं। वह (सर्व-इंद्रिय-विवर्जितं) सर्व इंद्रि-

योंसे रहित है अर्थात् उसमें एक भी इंद्रिय नहीं है, तथापि सब इंद्रियोंके गुणोंका भास उसमें दिखाई देता है। अर्थात् वह सब ओर हाथ, पांव, मुख, सिर, आंख, कान, नाक आदि अवयवोंसे युक्त है, क्यों कि विश्वरूपी परमात्मा सब प्राणियोंमें है, इस लिये सब प्राणियोंके सब अवयव उसी परमात्माके अनंत अवयव होते हैं। अतः वह सहस्र हस्तपादादि अवययोंसे युक्त है।

यहां सब प्राणियोंके सब अवयव उसी परमात्माके अवयव हैं ऐसा कहा है, इसमें पाठक अपने आपको भी संमिलित समझें। जिस से वे अपने आपको उससे अनन्य-अपृथक् अनुभव करने लग जांयगे और अपने इंद्रिय वस्तुतः उसीके इंद्रिय हैं, ऐसा ज्ञान होकर इनके ऊपरसे अपना अहंकार दूर हो जायगा। साधक अपने आपको इस तरह परमात्मासे एकरूप अनुभव कर सकता है, जिससे वह परमात्माके रूपमें अपने आपको अमर अनुभव करेगा, फिर उसे मरण की भीति किस तरह सता सकती है? इस रीतिसे यह इस ब्रह्मज्ञानसे अमर होता है। यह अतिमानुष अवस्था है जो ज्ञानसे ही प्राप्त होती है। यही सर्वात्मभाव ज्ञानसे प्राप्त होनेवाला है। एकात्मभावमें मरण और सर्वात्मभावमें अमरत्व है। पाठक इसको ठीक रीतिसे समझनेका यत्न करें, क्योंकि इसी ज्ञानसे नरका नारायण बन सकता है।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥

(गी० १३।१८)

परमेश्वर का भक्त इस ज्ञानको प्राप्त करके ईश्वरभावको प्राप्त करता है, ईश्वर ही होता है, ईश्वरस्वरूप में अपने आपको संमिलित अनुभव करता है। ईंटोंका बडा मंदिर बनाया है, उसमेंसे प्रत्येक ईंट अपने आपको अलग मानकर अलग होने लगी तो स्थानपर वह मन्दिर खडा रहेगा ही नहीं। इस कारण ईंटोंके अन्यभावयुक्त होनेसे मंदिर नष्ट होता है। परंतु वही ईंटें अपने आपको पृथक् न मानती हुई अपने आपको मंदिरभावसे युक्त मानने लगीं अपने आपको मंदिरसे अनन्य समझने लगीं, और मंदिरमें मन्दिररूप होनेमें अपने आपको कृतार्थ मानने लगीं, तो ही उनको मन्दिरभाव प्राप्त हो सकता है। इसी तरह नर आपने आपको नारायणसे अपृथक् अनुभव करके, अपने आपको अनन्य समझकर अपना जीवन उसीमें संमिलित देखेगा, तो वह नर नारायणभावको निःसन्देह प्राप्त होगा।

यहांतक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय इनका विचार किया। अब वही ज्ञान प्रकृति-पुरुषके ज्ञानसे देते हैं।

प्रकृति और पुरुष ।

पूर्वोक्त 'क्षेत्र' ही प्रकृति है और पूर्वोक्त 'क्षेत्रज्ञ' ही पुरुष है अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके वर्णनसे प्रकृति-पुरुषका ही विचार पूर्वस्थानमें दिया है। अब वही विचार पाठकोंके मनमें स्थिर रूपसे जम जाय इसलिये पुनः प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका वर्णन करते हैं। पाठक इन दोनों वर्णनोंकी तुलना करें और उन दोनोंका तात्पर्य एकही है, यह बात मननसे जानें।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।

(गी० १३।१९)

'प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि हैं।' यहां क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये दोनों अनादी हैं, यही आशय है। एक पहिले था और दूसरा पीछेसे उत्पन्न हुआ, ऐसी बात नहीं है। दोनों अनादि और सनातन हैं। ये एक दूसरेसे पृथक् हैं या एकरूप हैं, इसका विचार यहां करना चाहिये।

मिश्रीका ढेला और मीठास ये दोनों अनादि हैं, ये दोनों एक साथ रहते हैं, इनमेंसे एक पहिले था और दूसरा पीछेसे हुआ, ऐसी बात नहीं है। यहाँ मीठास और ढेला ये पुरुष और प्रकृतिके वाचक समझिये, जिससे प्रकृतिपुरुषके कल्पनागत भेद और वस्तुगत अभेदकी ठीक

कल्पना होगी। पुरुष प्रकृतिमें कैसा है, जैसा रस जलमें होता है वैसा, अर्थात् रस और जल ये दोनों अनादि हैं, ऐसा कहनेसे कल्पनामें दो वस्तुएं हैं ऐसा हुआ, परन्तु यहां दो वस्तुएं केवल कल्पनामें ही हैं, वास्तविक जल और रसका वस्तुगत अभेदही है। इससे पुरुषकी शक्ति प्रकृति है अतः यहां कल्पनागत भेद होनेपर भी शक्ति और शक्तिमान का वस्तुगत अभेदही है, यह बात सिद्ध हुई। अब प्रकृतिका वर्णन करते हैं—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥
(गी० १३।१९)

'विकार और गुण ये प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं।' गुणका अर्थ सत्त्व-रज-तम ये तीन गुण हैं और विकारका अर्थ जो पंचभूत, मन, बुद्धि, इंद्रिय, इच्छा, कामना, वासना आदिमें विगाड होता है,वह है। ये गुण और ये विकार प्रकृतिमें होते हैं, ऐसा समझना चाहिये और अनुभव करना चाहिये। ये विकार आत्माके नहीं हैं। इसके लिये एक उदाहरण लेते हैं—

मिश्रीका ढेला लिया, उसमें मीठास है, इसका अनुभव पाठक लें। उस ढेलेके चारपांच टुकडे कीजिये, टुकडे होनेपर भी मीठासमें कोई न्यूनाधिक नहीं हुआ। ढेलेकी शकलमें भेद हुआ इतनीहि बात है। उस ढेलेको पिघालकर किसी पशुपक्षीकी आकृतिमें ढाल दिया, तो उस ढेलेको पशुपक्षीका आकर प्राप्त हुआ, परंतु मीठासमें कोई न्यूनाधिकता नहीं हुई। फिर उस ढेलेको पिघालकर पतला कर दिया, तो भी मिश्री पतली बनी, तथापि मीठास वैसीहि रही। यहां ढेला प्रकृति है और मीठास पुरुष है ऐसा समझिये। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये भी नाम यहां समझे जा सकते हैं। प्रकृतिमें या क्षेत्रमें विकार होनेपर पुरुष, क्षेत्रज्ञ अथवा आत्मामें कोई न्यूनाधिक नहीं होता है, अर्थात् प्रकृति विकारी है और पुरुष अविकारी है, यह बात यहां प्रत्यक्ष सिद्ध हुई।

इस प्रकृतिमें विकार होते हैं इसी लिये (कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः। गी० १३।२०) कार्य और कारणपरंपरा इस प्रकृतिमें होती है। जैसा ऊपरकेही उदाहरणमें देखिये कि, मिश्रीको पिघालकर उसका रस बनाया, तो उस रसका कारण मिश्री है और इस मिश्रीका कार्य वह मीठा रस है। यह कार्यकारणभाव इसी लिये सिद्ध होते हैं कि, वह विकारी है। इसी तरह पंचमहाभूतों से सृष्टि बनी है, अतः पंचभूत कारण और सृष्टि कार्य है। यह कार्यकारणभाव इसी लिये सिद्ध होते हैं कि, ये पंचभूत विकारी हैं। इसी तरह सब प्रकृति और उससे बने पदार्थ विकारी हैं। इसलिये कार्यकारणपरंपरा उसमें चल रही है। इस प्रकृतिके विकारी होनेके साथ पुरुषका कोई संबंध नहीं है, क्योंकि पुरुष, आत्मा अथवा क्षेत्रज्ञ विकारी नहीं है, बदलनेवाला नहीं है।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः।
(गी० १३।२०)

"पुरुष सुखदुःखोंके भोगका हेतु है।" क्योंकि यह स्वयं ज्ञानवान् है, चेतन है, जान सकता है। इसलिये इस समय यह सुखदायक है और यह दुःखदायक है, ऐसा यह जान सकता है। प्रकृति जड है, स्थूल है, चेतन नहीं है, इस लिये वह सुखदुःखको जान नहीं सकती और पुरुष स्वयंप्रज्ञ है इसलिये सुखदुःखका ज्ञान कर सकता है। पुरुष प्रकृतिके साथ रहकर (पुरुषः प्रकृतिस्थः प्रकृतिजान् गुणान्भुंक्ते। गी० १३।२१) प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंका भोग करता है। जबतक यह पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंपर मोहित नहीं होता, इन गुणोंका संग करनेमें आसक्त नहीं होता, तबतक यह पुरुष उन गुणोंसे-रसियोंसे-बांधा नहीं जाता। परन्तु जिस समय यह उन भोगविलासोंपर आसक्त हो जाता है, उसी समय यह उन गुणोंसे-उन रसियोंसे-बांधा जाता है और इस कारण

उस पुरुषकी अच्छी या बुरी अवस्था हो जाती है।

अस्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं गुणसंगः।
(गी० १३।२१)

'इस पुरुषका सत् वा असत् योनिमें जन्म होनेका कारण यही गुणोंके साथ होनेवाला इसका संग है।' इसकी आसक्ति जिन गुणोंपर होती है उन गुणोंके अनुकूल इसकी अवस्था होती है। सात्त्विक गुणोंपर आसक्त होनेपर सात्त्विक, राजस गुणोंमें बद्ध होनेपर राजस और तामस गुणोंपर लुब्ध होनेपर यह पुरुष तामस परिस्थितिमें जन्म लेता है अथवा पहुंचता है। अतः इस पुरुषको उचित है कि वह किसी प्रकृतिके गुणोंपर मोहित न हो, आसक्त न हो, गुणोंका संग करनेकी अभिलाषा न करे, अपने आपको स्वाधीन रखे, अपना संयम करे, इंद्रियदमन करे, अपनी वासनाओंको स्वैराचारमें जाने न दे। ऐसा करनेसे उसका सदसद्योनिमें जन्म होनेका कष्ट दूर होगा।

देहमें परमात्मा।

इस देहमें जो पुरुष है, वह जिस समय अहंकाररहित हो जाता है उसी समय उसी पुरुषको परम पुरुष कहते हैं।

ब्रह्म	परब्रह्म
आत्मा	परमात्मा
पुरुष	परम पुरुष, परपुरुष
"	परात्पर पुरुष
ईश	ईश्वर, महेश्वर
समर्याद	अमर्याद

इस तरह आत्माही अमर्याद होनेपर परमात्मा कहा जाता है और मर्यादित क्षेत्रमें उसेही आत्मा कहते हैं। जैसा घटाकाश, मठाकाश और आकाश उपाधिभेदसे ही होता है, सब आकाशहि है, परंतु घडेमें जितना आकाश होता है उतना घटाकाश हुआ करता है। इसी तरह देहाभिमानसे आत्मा और विश्वरूप परमात्मा कहा जाता है।

यही (उपद्रष्टा) सर्व देखनेवाला, (अनुमंता) अनुमोदन देनेवाला, (भर्ता) पालन करनेवाला, (भोक्ता) भोग करनेवाला, (महेश्वर) सबका ईश्वर परमात्मा है। यही पुरुष है और यही सबका अधिष्ठाता है। (श्लोक २२)

इस रीतिसे जो साधक इस पुरुषको जानता है और त्रिगुणयुक्त प्रकृतिको भी यथावत् जानता है, वह कैसा भी व्यवहार करेगा, तोभी वारंवार जन्म नहीं लेता। अर्थात् वह ऐसा असंगभावसे व्यवहार करता है कि, उसको कभी कलंक नहीं लगता, वह सदा निर्दोष रहता है, वह दोषोंमें लिपटता नहीं। (श्लो० २३)

आत्मदर्शन।

कई लोग इस आत्माको, इस पुरुषको ध्यानसे अपने आत्मामें देखते हैं, कई दूसरे सांख्ययोग-ज्ञानयोगद्वारा और कई कर्मयोगद्वारा देखते हैं। दूसरे कई स्वयं ज्ञानविज्ञानको न जानते हुए भी दूसरोंसे अच्छे उपदेश सुनते हैं और उनपर विश्वास करते हुए वैसाही आचरण करते हैं, ये भी मृत्युके पार होते हैं अर्थात् अमरत्व प्राप्त करते हैं, आत्माको प्राप्त होते हैं। (श्लो० २४-२५)

सबकी उत्पत्ति।

जो कुछ वस्तुमात्र यहां है, वह स्थावर हो वा जंगम हो, वह सब प्रकृति और पुरुषके (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात्) संयोगसे बना है। सब स्थावरजंगम वस्तु (स्थावरजंगमं सत्त्वं) प्रकृतिपुरुषके संयोगसे बनी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि, हरएक वस्तुमें जैसी प्रकृति है वैसा ही पुरुष भी है। कई लोग समझते हैं कि, जंगम प्राणियोंमेंहि पुरुष, आत्मा अथवा क्षेत्रज्ञ तथा चेतन जीव है, वैसा स्थावर पदार्थोंमें नहीं है' परंतु वह भूल है। क्योंकि (स्थावरजंगमं

सत्त्वं क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात् संजायते। गी०१३।२६)
संपूर्ण स्थिरचर पदार्थमात्र प्रकृतिपुरुष के संयोगसेही बनते हैं। इस विषयमें कोई संदेह न करें। चर पदार्थोंमें पुरुष है, ऐसा सब मानतेही हैं,अब यहां कहा है कि,स्थिर-जड पदार्थमें भी आत्मा है, पुरुष है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि, जो प्रकृतिपुरुषके संयोगके विना बनी हो। यह असंदिग्ध कथन है और इसको ठीक प्रकार समझना चाहिये।

इस तरह इस कथनसे सभी वस्तु चेतन हो गई हैं और सभीमें प्राकृतिक जडत्वभी है। सभी चेतन और सभी जड है। जो समझते हैं कि कई पदार्थ चेतन हैं और कई जड हैं, वह विचार अशुद्ध है। पाठक यहां पूछेंगे कि यदि सभी पदार्थ प्रकृतिपुरुष, क्षेत्रक्षेत्रज्ञ, जड-चेतनके संयोगसे हुए हैं तो कईयोंमें चेतना दीखती है और कईयोंमें नहीं, यह कैसे?

मनुष्यप्राणी — पूर्ण चेतन
पशुपक्षी — चेतन
वृक्षवनस्पति — सुप्त चेतन
पत्थर आदि — अप्रकट चेतन

चैतन्य या पुरुष इन चार स्थानोंमें चार प्रकारसे प्रकट हो रहा है। मनुष्य प्राणियोंमें वह पुरुष पूर्ण जाग्रत हुआ है और अपना ज्ञान यथावत् जाननेमें समर्थ है। पशुपक्षियोंमें किंचित् जाग्रत है, केवल मैं हूं, मुझे यह चाहिये, इतना ही जान सकता है, इन योनियोंमें यह आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है। वृक्षवनस्पतियोंमें यह सुप्त अवस्थामें है और पत्थर आदिकोंमें अप्रकट अवस्थामें है, घोर निद्रामें पडा है, ऐसा समझिये। इन चार अवस्थाओंमें आत्मा, पुरुष अथवा क्षेत्रज्ञ इस तरह प्रकट हुआ है।

यही विश्वात्माका विश्वरूप है। वही विश्वात्मा मानवोंमें स्वयंप्रज्ञ होकर प्रकट हुआ है,पशुपक्षियोंमें केवल चेतनता प्रकट कर रहा है। वृक्षवनस्पतियोंमें सुप्त स्थितिमें है और पत्थरादि पदार्थोंमें गुप्त रहा है। यही विश्वात्मा मानवोंमें पूर्ण रूपसे प्रकट होकर अपने आपको जानता है, अपनी महिमाका अनुभव करता है और अन्य योनियोंमें केवल सत्तामात्र रहा है। विश्वात्माकी स्थिति यहां चार प्रकारकी वर्णन की गयी है। इसीका अर्थ यह है कि हरएक वस्तु प्रकृतिपुरुषके संयोगसे बनी है। जहां पुरुष-आत्मा नहीं, ऐसी एकभी वस्तु नहीं है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
(गी० १३।२७)

'सब भूत नाश होनेवाले हैं, सब वस्तुएं नाशको प्राप्त होती हैं, इन नश्वर वस्तुओंमें अविनाशी परमेश्वर विराजता है, यह जो यथावत् जानता है,वही सत्य देखता है।' अन्य लोग आंखें रहकर भी अन्धे हैं। नाशको प्राप्त होनेवाली वस्तुओंमें विश्वात्मा अविनाशी है। नाशको प्राप्त होना, विकारको प्राप्त होना अथवा बनना या बिगडना, यह सब प्रकृतिका कार्य है। इस प्रकृतिके साथ पुरुष सदा है और ये दोनों मिलकर सब सृष्टिके पदार्थ बनाती हैं।

जैसा जलमें रस है वैसाही प्रकृतिमें पुरुष है। एक वर्तनका जल दस वर्तनोंमें रखा, तो जलके विभाग हुए, परंतु रस सबमें एक जैसाही है, जलके विभाग होनेपर भी रसके विभाग नहीं हुए। वैसेही प्रकृतिपुरुषके संयोगसे सब विश्वके अनंत पदार्थ बने हैं, प्रकृति विभक्त होकर नाना रूपोंको धारण करनेपरभी आत्मा या पुरुष उन सबमें अविभक्तही रहा है। पाठक इस बातको समझनेका यत्न करें। इसके समझनेसेहि परमात्मा विभक्त होनेवालोंमें अविभक्त कैसा है और विनष्ट होनेवालोंमें अविनाशी कैसा है यह बात समझमें आ जायगी। यही बात सबको जानने योग्य है और इसीके जाननेसे अमरत्वकी प्राप्ति हो सकती है।

सब विश्वके नानाविध विषम पदार्थोंमें परमेश्वर सम है, यह जो जानता है वह विषमतामें भी समता धारण कर सकता है, विषम परिस्थितिमें उसका मन सम रह सकता है, सुख-दुःखमें तथा हानिलाभमें वह समबुद्धि रख सकता है। इस तरह समत्वको प्राप्त हुआ मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है, सबसे उच्च स्थिति प्राप्त कर सकता है। (श्लो० २८)

सब कर्म प्रकृतिसे हो रहे हैं, सब किये जानेवाले उद्योग प्रकृति कर रही है, उन सब कर्मोंके होनेपरभी आत्मा अकर्ता है, निर्लेप है, निर्दोष है ऐसा जो देखता है, वही सत्य देखता है। जिनको यह ज्ञान नहीं है वे आंखें होनेपरभी अन्धे हैं। सूत्रके अनेक वस्त्र बनाये गये तो भी कपासको जैसा वस्त्रपन बाधित नहीं कर सकता, वैसाही प्रकृतिसे विविध पदार्थ बननेपर आत्मा निर्दोष रहता है। (श्लो० २९)

जब भूतोंका पृथग्भाव एकही आत्माके आश्रयसे है (एकस्थं पृथग्भावं अनुपश्यति) ऐसा अनुभव होता है और सबका विस्तार उसी एकसे होता है, (ततः एव विस्तारं) ऐसा जानता है, उस समय अपनाभी विस्तार उसी एक अद्वितीय अखण्ड आत्मासे हुआ है, ऐसा उसको स्पष्ट दीखने लगता है और इससे उसको अपना मूल ब्रह्ममें है और मैं ब्रह्मही हूं ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। यही जीवका ब्रह्म होता है।

जब सभी वस्तुएं ब्रह्मसे विस्तारित हुई हैं ऐसा ज्ञान होता है, तब सब वस्तुओंमें मैं हूं यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है और जो सब वस्तुओंका बीज है, वह ब्रह्म मेरा बीज है यह ज्ञान स्पष्ट हो जाता है और वह अपने आपको ब्रह्मसे अनन्य समझने लगता है। इसीका नाम (तदा ब्रह्म संपद्यते) उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त होता है, यह है। यही ज्ञान सुविचारपरंपरासे जब सुदृढ हो जाता है, उस समय उसे सब पृथक् वस्तुमात्रमें अखंड एकरस ब्रह्मसत्ता दीखती है, अपने आपको उससे अपृथक् देखता है और सब वस्तुओंको ब्रह्मका विश्वरूप अनुभव करता है। उस समय—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।
(वा० यजु० ४०।५)

'जिस समय सब भूत आत्मा ही हुए' यह अवस्था उसे प्राप्त होती है और फिर एकत्वका दर्शन प्रत्यक्ष करनेवाले उस विज्ञानीको शोक और मोह क्यों कर सतायेंगे? शोकमोह तो भेदभावसे ही उत्पन्न होते हैं, जिसे सब भेद एकत्वमें लीन हो चुके उसे शुद्ध आनंद ही प्राप्त होगा, इसमें क्या संदेह है? एक ही ब्रह्मसे अनेकविध विश्व विस्तृत होता है और यह अनेकविध विश्व उस एकही ब्रह्ममें फिर मिल जाता है। जैसे सोनेके अलंकार और फिर अलंकारोंका सोना होना है। दोनों अवस्थाओंमें सोनेका सोनेपन जैसा सदा अखण्ड रहता है, वैसाही पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओंमें ब्रह्मका ब्रह्मपण अखण्ड रहता है। विश्वका विस्तार होने न होनेमें ब्रह्मके ब्रह्मत्वमें कोई भेद नहीं होता।

यही ब्रह्मकी अखण्ड एकरस सनातन सत्ता है। इसमें आप अपना अस्तित्व भी मिलाइये तो अपने आपको उससे अनन्य अनुभव करनेमें आप समर्थ होंगे। (श्लो० ३०)

अनादि अव्यय निर्गुण परमात्मा यही है। यह शरीरमें होनेपर भी न कुछ करता है (शरीरस्थोऽपि न करोति) और न लिप्त होता है (न लिप्यते)। जेवर होनेपर सोनेमें किस तरह दोष होता है, वह सोना जैसा का वैसाही है। इसी तरह निर्गुण परमात्मा शरीरमें रहनेपर भी सगुण थोडाही होता है। यह सगुणता शरीरकी प्रकृतिकी है, आत्मा वैसाही शुद्ध अव्यय और निर्गुण है। मिश्रीके जेवर बनाये तो मिश्री का मिश्रीपन हटता नहीं और न मिठास कम

होती है। इसी तरह अनंत शरीरोंके भेद होनेपर भी उनमें परमात्मा एकरस अखण्ड अनादि अनंत है और वैसाही अपने अन्दर भी है। (श्लो० ३१)

जैसा आकाश सूक्ष्म है और सर्वत्र एक जैसा है, सब घडोंमें घडेके आकारवाला और सब घरोंमें घरोंके आकारवाला है, तथापि किसी घडेके या घरके टूटने न टूटनेसे उस आकाशमें कुछभी न्यूनाधिक नहीं होता, वैसाही सब विभिन्न वस्तुओंमें एकरस आत्मा होनेपर भी वस्तुगत दोषसे वह दोषयुक्त नहीं होता। वस्तु सदोष हो या निर्दोष वह आत्मा सदा निष्कलंक है। (श्लो० ३२)

जैसा एकही सूर्य सब विश्वको प्रकाशित करता है वैसाही यह पुरुष प्रकृतिको प्रकाशित करता है अर्थात् क्षेत्रज्ञ क्षेत्रको प्रकाशित करता है, आत्मा शरीरको चैतन्य देता है। अर्थात् जैसा अनेक बुरेभले पदार्थोंपर प्रकाश डालनेके कारण सूर्यको कोई दोष नहीं लगता, वैसाही भलेबुरे पदार्थोंके अन्दरसे प्रकाश करनेके कारण आत्माको कोई दोष नहीं लगता। (श्लो०३३)

ज्ञानचक्षु।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुष, देह और आत्मा, जड और चेतन, रयी और प्राणका यह अन्तर अर्थात् यह भेद (ज्ञानचक्षुषा। ज्ञानकी आंखसेही मनुष्य देखें, क्योंकि यह कल्पनागत भेद है, वस्तुगत भेद नहीं है। जैसा खांड और मीठासका भेद ज्ञानचक्षुसे देखा जानेवाला है, खांड और मीठास अलग अलग कभी हो नहीं सकते, वे एकही वस्तुके दो पहलू हैं, वैसाही प्रकृति यह पुरुषकी शक्ति होनेके कारण एक दूसरेकेही साथ है अतः उनमें कल्पनाका अन्तर है, वस्तुका अन्तर नहीं। यहां जो यह अन्तर ज्ञानचक्षुसेही देखनेको कहा है, उसकी ओर पाठक विशेष ध्यान दें, क्योंकि यह अन्तर सत्य नहीं है, केवल कल्पनासे ही भासमान होनेवाला है। जो यह जानते हैं कि, यह केवल कल्पनाका भेद ज्ञानचक्षुसे ही दीखनेवाला है, प्रकृति और पुरुष ये अलग रहनेवाली पृथक् दो वस्तुएं नहीं हैं, वे ही भूतप्रकृतिसे मुक्त होनेका उपाय जानते हैं और वे परब्रह्मको प्राप्त करते हैं। (श्लो० ३४)

प्रकृति-मोक्ष।

यहां ' भूतप्रकृति-मोक्ष ' को जानना और ' परब्रह्मको प्राप्त होना ' इसका आशय देखना चाहिये। ' भूतप्रकृतिमोक्ष ' का ठीक ठीक विचार समझनेके लिये दो कल्पनाओंका मनन करना चाहिये।

१ भूतप्रकृति-बंधनं।

२ भूतप्रकृति-मोक्षः।

ये शब्दोंद्वारा व्यक्त होनेवाली कल्पनाएं ठीक तरह समझनेसे भूतप्रकृतिमोक्ष क्या है यह समझमें आसकता है। भूत शब्दका अर्थ ' प्राणीमात्र ' है। वस्तुमात्र अर्थात् जो कुछ बना हुआ पदार्थ है, ऐसा अर्थ भी हम ले सकते हैं, परंतु अपने विचारका निर्णय करनेके लिये ' प्राणिमात्र ' यह अर्थ पर्याप्त है। इन भूतोंकी विशिष्ट प्रकारकी प्रकृति होती है, उदाहरणार्थ सिंहव्याघ्रोंकी क्रूर प्रकृति, गायघोडेकी सौम्य प्रकृति। मनुष्योंमें भी देखिये कि कई मनुष्य सात्त्विक, कई राजस और कई तामस प्रकृतिवाले होते हैं। यह प्रकृतिस्वभाव भूतोंके पीछे लगा हुआ है, यह त्रिगुणात्मक स्वभाव सबके पीछे लगा हुआ है, मनुष्योंके पीछे तो यह लगाही है। कौन इस प्रकृतिस्वभावसे बच सकता है? जो गुणातीत होगा, वही इससे बच सकता है। प्रकृतिके गुणोंसे जो बंधन होता है, उससे मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय गुणातीत होनाही है। यहां भूतप्रकृतिसे मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय इस विचारसे पाठकोंके समझमें आगया होगा।

१७वें श्लोकमें ऐसा दिया है कि, ' जिसने यह विश्व फैलाया है वह अविनाशी है, उस अव्ययका कोई विनाश कर नहीं सकता। ' यह उत्तर विश्वकी रचना करनेवालेके अविनाशी होनेके विषयमें योग्य है। परंतु अर्जुन तो ' विश्वरचक परमात्मा इस भारतीय युद्धसे नाशको प्राप्त होगा ' ऐसा मानता नहीं था। उसको तो अपने संबंधियोंके विनाशकी चिन्ता थी। ऐसी अवस्थामें इस उत्तरसे उसकी चिन्ता कैसे दूर होगी ? देखिये—

अर्जुनका प्रश्न– भगवन्! इस युद्धसे भीष्मद्रोणादिकोंका नाश होगा, इसलिये मैं यह युद्ध कैसे प्रारंभ करूँ ?

भगवानका उत्तर– अरे अर्जुन! जिसने यह विश्व फैलाया है वह अविनाशी है, उस अविनाशीका नाश कोई नहीं कर सकता। (श्लो० १७)

क्या यह उत्तर ठीक है ? भीष्मद्रोणादिकोंने तो (इदं सर्वं ततं) यह सब विश्व फैलाया नहीं था। 'ततं' का अर्थ फैलाना, ढापना, व्यापना और सुरक्षित रखना ' है। कोई अर्थ लेनेपर यह अर्थ भीष्मद्रोणोंपर घट नहीं सकता। जिसने इस विश्वको फैलाया, ढांपा, व्यापा या सुरक्षित रखा है, वह अर्जुनके संबंधियोंमेंसे कोई एक भी नहीं है, वह इन सबसे भिन्न है।

प्रश्न करनेवाला अर्जुन किं-कर्तव्यता–मूढ हुआ है, उसका मोह दूर करके उसको कर्तव्य पथपर लाना है। इस कार्यके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश दे रहे हैं, उसमें प्रसंगको छोडकर उत्तर श्रीकृष्णके मुखसे कदापि आ नहीं सकता। इसलिये इस उपदेशका अन्य रीतिसे मनन करना चाहिये।

पिण्ड ब्रह्माण्डका एक नियम।

पिण्ड ब्रह्माण्डका नियम एक है। यदि ब्रह्माण्डका उत्पातिकर्ता ब्रह्माण्डका विस्तार करके नित्य रह सकता है तो उसी नियमसे पिण्डका चालक भी पिण्ड बननेके पूर्व और पिण्डके नाशके पश्चात् अवश्य रहेगा। जैसा जीवात्माका शरीर यह पिण्ड है उसी प्रकार परमात्माका शरीर ब्रह्माण्ड है। जीवात्मा परमात्माका अंशांशी संबंध भी है, देखिये—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
(भ० गी० १५।७)

हे अर्जुन ! " इस जीवलोकमें मेराही सनातन अंश जीव होकर प्रकृतिकी पांच इंद्रियों और मनको आकर्षित करता है। " यहां जीवात्माको परमात्माका अंश कहा है। अग्निका अंश अग्निके समान होता है, पिताका अंश पुत्र है और वह पिताके समान होता है। यह समानता देखिये—

जीवात्मा	परमात्मा
पुत्र	पिता
पिण्डदेही	ब्रह्माण्डदेही
देह [अंश]	ब्रह्माण्ड [अंशी]
मन	विद्युत्
पांच इंद्रियां	पञ्च महाभूत
नासिका	पृथ्वी
जिह्वा	आप्
नेत्र	तेज
त्वचा	वायु
कर्ण	आकाश

अब पाठकोंके मनमें बात आगई होगी कि दोनों स्थानके नियम एक जैसे किस कारण हैं। ये पिता पुत्र एकही नियमसे कार्य करते हैं। पिताका वर्णन करनेसे पुत्रका वर्णन स्वयं होता है, क्योंकि यह पुत्र भी पिताके समान बननेवाला है। देखिये—

मत्कर्मकृन्मत्परमो……मामेति सोऽर्जुन॥
(भ० गी० ११।५५)

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः॥
(भ० गी० १४।२)

' मेरा कार्य करनेवाला, मुझे परम श्रेष्ठ माननेवाला… मुझे प्राप्त होता है। इस ज्ञानको प्राप्त करके मेरे साधर्म्यको प्राप्त होते हैं। ' इस प्रकार आगे कहा जायगा। इससे यह पुत्र इस समय छोटा होनेपर भी आगे पिताके समान पिताके गुणधर्मवाला निःसंदेह बनेगा। पुरुषका पुरुषोत्तम अवश्य बनेगा। अतः दोनोंके नाम, गुण, धर्म और कर्म वेद और शास्त्रोंमें एक जैसे कहे हैं। अतः परमात्माका

संपूर्ण पदार्थ, संपूर्ण प्राणी अथवा मनुष्यमात्र प्रकृतिके तीनों गुणोंसे बांधे हुए हैं. प्रकृतिके गुणोंके बंधनमें पडे हैं। जो गुणातीत होगा वही भूत-प्रकृतिसे मुक्त हो सकता है। भगवद्गीतामें आगे १४ वें अध्यायमें गुणत्रयविभागका विचार किया है और वहां गुणातीत होनेका उपाय भी कहा है। वहांहि विस्तारपूर्वक पाठकोंको गुणातीत होनेके महत्त्व का पता लग जायगा। गुणातीत होनेसे यह फल मिलता है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥
(गी० १४)

"सुख-दुःख, मिट्टी-सोना, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु इत्यादि द्वन्द्वोंके विषयमें समवृत्ति रखनेसे, परमेश्वरकी अनन्यभक्तिपूर्वक सेवा करनेसे, तथा सकाम स्वार्थभोगोंके लिये कर्म न करनेसे साधक गुणातीत होता है और ब्रह्मका श्रेष्ठत्व प्राप्त करता है।"

गुणातीत होना और ब्रह्मका श्रेष्ठत्व प्राप्त करना एकही बात है, क्योंकि ब्रह्म गुणातीत है इसी लिये श्रेष्ठ है। अतः जो गुणातीत होगा वह श्रेष्ठ बनेगा।

गुणोंके आधीन न रहना चाहिये, गुणोंके बाहर रहकर गुणोंका खेल देखना चाहिये, गुणोंको अपने आधीन करना चाहिये। गुणोंके जालमें मनुष्य फंसे हैं, वे जब गुणोंके स्वामी बनेंगे तब अपनी शक्तिका अनुभव वे कर सकते हैं। गुणोंके जालसे जबतक वे बंधे रहेंगे तबतक उनकी परतंत्रताके कारण अपनी शक्तिका पता उनको लग नहीं सकता। परतंत्रता अपनी शक्तिका नाश करनेवाली है। इसीलिये भूतोंकी प्रकृतिसे अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करनेका उपदेश (भूत-प्रकृति-मोक्षं विदुः) किया है। जो यह साध्य करते हैं, वे (परं यान्ति) श्रेष्ठ ब्रह्मभाव को प्राप्त करते हैं।

अब आगे के १४ वें अध्यायमें प्रकृतिके गुण कौनसे हैं, वे मनुष्यको कैसा बांधते हैं और किस युक्ति से मनुष्य उनके बंधनसे मुक्त हो सकता है, इसका विचार देखिये।

यहां तेरहवें अध्यायका मनन समाप्त हुआ ॥१३॥

तेरहवें अध्यायकी विषयसूची।

संपूर्ण

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	पृष्ठसंख्या	सजिल्द	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	११२५	,,	६। छः रु.	१।)
२ सभापर्व	३५६	,,	२॥) अढाई	।॥)
३ वनपर्व	१५३८	,,	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	३०६	,,	२) दो	॥)
५ उद्योगपर्व	९५३	,,	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	८००	,,	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	१३६४	,,	७॥) साढेसात	१॥)
८ कर्णपर्व	६३७	,,	३॥) साढेतीन	।॥)
९ शल्यपर्व	४३५	,,	२॥) अढाई	।॥)
१० सौप्तिकपर्व	१०४	,,	।॥) बारह आने	।=)
११ स्त्रीपर्व	१०८	,,	।॥) " "	।=)
१२ शान्तिपर्व				
१ राजधर्मपर्व	६९४	,,	४) चार	॥=)
२ आपद्धर्मपर्व	२३२	,,	१॥) डेढ	।≡)
३ मोक्षधर्मपर्व	११००	,,	६) छः	१।)
१३ अनुशासनपर्व	१०७६	,,	६) छः	१=)
१४ आश्वमेधिकपर्व	४००	,,	२॥) अढाई	॥)
१५ आश्रमवासिकपर्व	१४८	,,	१) एक	।=)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहणपर्व	१०८		१ एक	।=)

सजिल्दका मू० ६५) रु०

मिलनेका पता— मन्त्री--स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

चतुर्दशोऽध्यायः।

गुण–त्रय–विभाग–योगः।

(१) उत्तम ज्ञान।

श्रीभगवानुवाच-परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

अन्वयः—श्रीभगवान् उवाच- यत् ज्ञात्वा सर्वे मुनयः इतः परां सिद्धिं गताः,(तत्) ज्ञानानां उत्तमं परं ज्ञानं भूयः (अहं ते) प्रवक्ष्यामि ॥१॥ (ये) इदं ज्ञानं उपाश्रित्य मम साधर्म्यं आगताः, (ते) सर्गे अपि न उपजायन्ते, प्रलये च न व्यथन्ति ॥२॥

श्रीभगवान् बोले, जिसको जान कर सब मुनियोंने यहांसे हि परम सिद्धि प्राप्त की, वह सब ज्ञानोंमें उत्तम श्रेष्ठ ज्ञान फिरसे (मैं तुझे) कहता हूं ॥१॥ (जो) इस ज्ञान का आश्रय करके मेरे (ईश्वरके) समान धर्म को प्राप्त हुए, (वे) उत्पत्तिके समय न जन्म लेते हैं और प्रलयकालमें न कष्ट भोगते हैं ॥२॥

भावार्थ—श्रेष्ठ ज्ञान वह है कि, जिससे परम श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त होती है, वही ज्ञान बार बार सुनना सुनाना चाहिये। जिस ज्ञानसे नर का नारायण बनता है और जन्ममरण के कष्ट दूर होते हैं, वही ज्ञान श्रेष्ठ है और वही प्राप्त करना चाहिये ॥१-२॥

ईश्वरसे साधर्म्य।

(१-२) उत्तमसे उत्तम ज्ञान अब इस अध्यायमें कहा जाता है। इस ज्ञानको प्राप्त करके प्राचीन कालके अनेक ऋषियों, मुनियों, सिद्धों और योगियोंने उत्तमसे उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी। इस तरह यह ज्ञान केवल तर्क में अथवा विचार में हि रहनेवाला नहीं है, प्रत्युत प्रत्यक्ष व्यवहारमें उत्तमसे उत्तम सिद्धि देनेवाला है। इसी कारण इसकी योग्यता प्रत्यक्ष फलदायी होनेके हेतुसे विशेष है।

जो ज्ञान अब कहा जायगा उस ज्ञानसे वारंवार जन्ममरण के दुःख भोगने नहीं पडते। यह एक लाभ तो हैहि,परंतु इससेभी अधिक महत्त्वका एक लाभ है वह–

(ईश्वरस्य) साधर्म्यं आगताः। (२)

ईश्वरके जो धर्म हैं उन धर्मोंके समान इसके धर्म होते हैं। जैसा तपा हुआ लोहा अग्निके गुणधर्मोंसे युक्त होता है, इसी तरह ईश्वरकी पवित्र अग्निमें तपा हुआ यह साधक ईश्वरके पवित्र और शुभ गुणधर्मोंसे युक्त हो जाता है, मानो ईश्वर ही वन जाता है, क्योंकि जो ईश्वरके साथ समानधर्मा हो गया, उसके ईश्वर

(२) पिता और माता।

मम योनिर्महद्‌ ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्‌ ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

अन्वयः- हे भारत ! महद्‌ ब्रह्म मम योनिः (अस्ति); तस्मिन्‌ अहं गर्भं दधामि; ततः सर्वभूतानां संभवः भवति ॥३॥ हे कौन्तेय! सर्वयोनिषु याः मूर्तयः संभवन्ति तासां योनिः महद्‌ ब्रह्म (अस्ति), अहं बीजप्रदः पिता (च अस्मि) ॥४॥

हे भरतकुलमें उत्पन्न वीर ! महत्‌-ब्रह्म अर्थात्‌ मेरी प्रकृति हि मेरा गर्भ रखनेका स्थान है, उसमें मैं गर्भ रखता हूं; वहींसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥३॥ हे कुन्तीपुत्र ! सब योनियोंमें जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं,उन सबका उत्पत्तिस्थान महत्‌-ब्रह्म अर्थात्‌ मेरी प्रकृतिहि है और मैंहि उसमें बीज डालनेवाला पिता हूं ॥४॥

भावार्थ—ईश्वर है, उसकी वडी शक्ति प्रकृति है, ईश्वर अपना बीज इस प्रकृतिमें डालता है, जिससे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है, अर्थात्‌ ईश्वरके वीर्यसे प्रकृतिमातामें गर्भधारणा होकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। अतः सब साधक अपने अन्दर परमात्माका बीज है, यह जानकर, इस बीजका विकास होकर अपने आपको अपने परम पिताके समान समर्थ बनना है, इस बातको न भूलें ॥३-४॥

बननेमें क्या न्यून हो सकता है? अर्थात्‌ यह ज्ञान 'नरका नारायण' करनेवाला है। अतः यह हरएक साधक को अवश्यही प्राप्त करना चाहिये, इसलिये आगे जो ज्ञान कहा जानेवाला है,उसका मननपूर्वक एकाग्रचित्त होकर ग्रहण करिये-

सबका उत्पत्ति-स्थान।

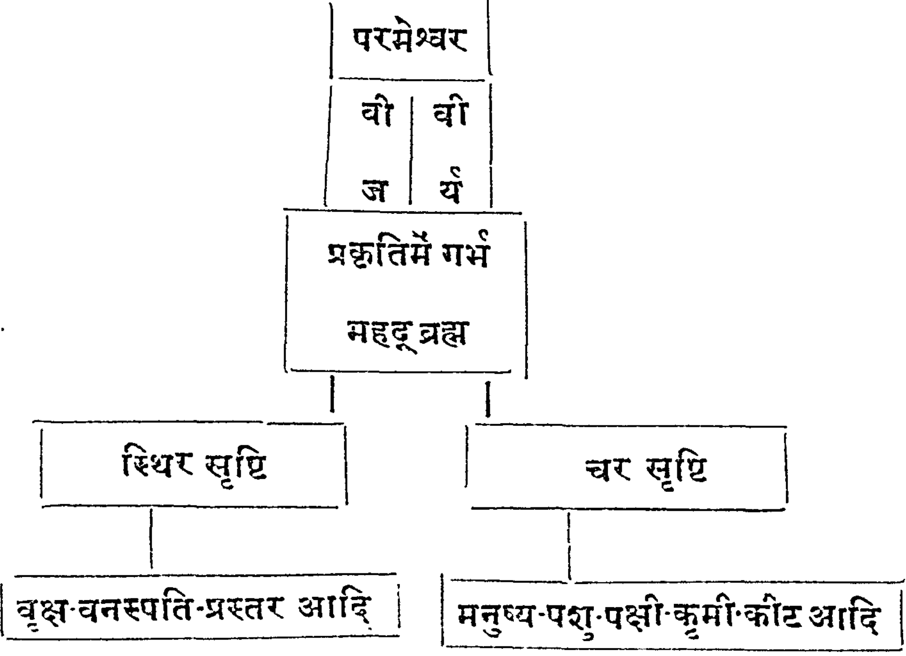
(३-४)सब विश्वका पालक एक ईश्वर है,उस ईश्वरकी एक प्रकृति है, उसको 'महद्ब्रह्म' कहते हैं। यह अनंत शक्ति है। अपरंपार अथांग शक्ति होनेसे तथा इसका पार कोई भी नहीं पा सकता, इस कारण इसको 'महत्‌-ब्रह्म' कहते हैं। 'महत्‌' का अर्थ 'वडा' है और 'ब्रह्म' का अर्थ भी 'विशाल, विस्तृत' है। अतः 'महत्‌-ब्रह्म' का अर्थ 'वडी विशाल, विस्तृत शक्ति' है। यह ईश्वरकीहि शक्ति है। जैसा ईश्वर महान्‌ है, वैसीहि उसकी शक्ति भी महती है।

यही ईश्वरकी महती प्रकृति सब स्थिरचरका (योनिः) उत्पत्तिस्थान है। इसीसे सब पैदा होते हैं और इसीमें अन्तमें जा मिलते हैं। कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि, जो इस प्रकृतिसे उत्पन्न न हुई हो। अर्थात्‌ स्थिरचर, मूर्त, अमूर्त सृष्टिके अन्तर्गत सब पदार्थ इसी ईश्वरीय प्रकृतिसे पैदा हुए हैं।

मानो ईश्वर (बीजप्रदः पिता) गर्भाधान करनेवाला पिता है और यह प्रकृति गर्भका धारण-

पोषण करके प्रसव करनेवाली (ब्रह्म महत्-योनिः) माता है। इस प्रकृतिकी योनिमें ईश्वरका वीर्य जाता है। वहां उससे गर्भधारणा होती है और सृष्टिके सब चल और अचल-सजीव और निर्जीव (मूर्तयः संभवन्ति) पदार्थ बनते हैं। (संभवः सर्वभूतानां ततो भवति। गी० १४।३) संपूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति इस तरह होती है।

इस सृष्टिमें मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, जलचर, स्थलचर, खेचर, वृक्ष, वनस्पति आदि अनंत योनियां हैं। प्रत्येक जातिमें अनंत उपजातियां हैं। इनकी गिनती नहीं हो सकती। प्रत्येक योनिमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंका स्वभाव-धर्म भिन्न भिन्न होता है। प्रत्येक उपजातिमें उत्पन्न होनेवालों का स्वभावधर्म भी विभिन्न होता है। ऐसे संपूर्ण अनंत योनियोंमें उत्पन्न होनेवाली अनंत मूर्तियोंकी महायोनि यह परमात्माकी प्रकृति ही है और परमेश्वर ही सबका बीज इस प्रकृतिमें डालता है, जिससे सब सृष्टिमें दीखनेवाली मूर्तियां उत्पन्न होती हैं। यह इस तरह होता है—



इसका तात्पर्य यह है की, पदार्थ स्थिर हो या चल हो, उसमें प्रकृतिका अंश है और साथ-साथ परमात्मके सारभूत वीर्यकाभी अंश है। परमात्माका वीर्य केवल सजीव सृष्टिमें है और निर्जीव सृष्टिमें नहीं है ऐसा नहीं है, दोनोंमें उसका वीर्य है। सजीव सृष्टि जैसी विविध प्रकारकी है, वैसी हि निर्जीव सृष्टिभी है और दोनोंका परम पिता बीजदाता परमात्माही है। साधक यहां समझे कि, अपने अन्दर परमात्माका बीज है, साथ ही साथ यह भी समझे कि अपने अन्दर परमात्माका बीज होनेसे उसका विकास होकर नरका नारायण बनानेवाला है। मैं परमात्माका अमृत पुत्र हूं, अतः मैं परम पिताके साधर्म्य को अवश्य प्राप्त करूंगा। जैसा प्रत्येक पुत्र पिताके साधर्म्यसे युक्त होता ही है वैसा ही मैं उसका अमृत पुत्र उसके अमृतको अवश्यही प्राप्त होऊंगा। उसके अमरपनको प्राप्त करना ही मेरा जीवन—उद्देश्य है। उस परम पिता परमात्माके वीर्यका स्वभावही ऐसा है कि, वह क्रमशः परमात्माके साधर्म्यसे युक्त होगा (साधर्म्य आगताः। १४-२) कितनेभी विघ्न बिचमें आगये तो भी उन

(३) तीन गुणोंका बंधन ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्माणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

अन्वयः-हे महाबाहो! सत्त्वं रजः तमः इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः,(सन्ति, ते) देहे अव्ययं देहिनं निबध्नन्ति ॥५॥ हे अनघ! तत्र अनामयं प्रकाशकं सत्त्वं निर्मलत्वात् (आत्मानं) सुखसंगेन ज्ञानसंगेन च बध्नाति ॥६॥ हे कौन्तेय ! रागात्मकं रजः तृष्णासंगसमुद्भवं, विद्धि । तत् देहिनं कर्मसंगेन निबध्नाति ॥७॥ हे भारत! तमः तु सर्वदेहिनां मोहनं अज्ञानजं विद्धि । तत् (देहिनं) प्रमाद–आलस्य–निद्राभिः निबध्नाति ॥८॥ हे भारत! सत्त्वं (देहिनं) सुखे संजयति, रजः कर्मणि, उत तमः तु ज्ञानं आवृत्य प्रमादे संजयति ॥९॥

हे महाबाहो! सत्त्व, रज और तम ये गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले हैं, वे देहमें अविनाशी देहधारीको–जीवको–बांध लेते हैं ॥५॥ हे निष्पाप! इसमें नीरोगता देनेवाला और प्रकाश करनेवाला सत्त्वगुण अपनी निर्मलताके कारण आत्माको सुखसे और ज्ञानसे बांधता है ॥६॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! प्रेम करनेवाला रजोगुण होनेसे वह तृष्णा और आसक्ति उत्पन्न करता है,ऐसा तू समझ।

संपूर्ण विघ्नोंको परास्त करके परमपिताके साधर्म्य को यह अवश्य प्राप्त होगा । संपूर्ण विघ्नोंका ही पराजय होगा और यही परमात्माका बीज विजयी होकर पूर्णताके साथ बढेगा।

अपने अन्दर यही अतुल सामर्थ्ययुक्त परमात्मबीज है और जैसा वटबीज का वटवृक्ष होता है, उसी प्रकार मैं भी नरका नारायण, पुरुषका पुरुषोत्तम, जीवात्माका परमात्मा,जीव का शिव अवश्य बनूंगा ।

इस ज्ञानसे साधक के मनमें यह निश्चय हो जायगा और उसका आत्मविश्वास निःसन्देह बढेगा । यहांतक बीजका विचार करके अब इसकी प्रकृतिका विचार करते हैं—

वह देहधारीको कर्मपाशसे बांधता है ॥७॥ हे भरतकुलोत्पन्न! तमोगुण तो सब देहियोंको मोहमें डालनेवाला है और वह अज्ञानसे उत्पन्न होता है। वह देहीको प्रमाद,आलस्य और निद्रा से बांध देता है ॥८॥हे भारत! देहधारीको सत्त्वगुण सुखमें, रजोगुण कर्ममें और तमोगुण ज्ञानको ढक कर प्रमादमें लगा देता है ॥९॥

भावार्थ—प्रकृतिमें सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। ये तीनों गुण देह की उत्पत्तिके साथ देहमें आते हैं और इन गुणोंके मेलसे देहधारी जीवका स्वभाव बनता है। सत्त्वगुणसे निर्मलता, नीरोगता, प्रकाश, सुख और ज्ञान प्राप्त होता है। रजोगुणसे विषयोंपर प्रेम, तृष्णा, भोगोंपर आसक्ति और कर्मोंके साथ संग होते हैं, तथा तमोगुणसे मोह, प्रमाद, अशुद्धियां, आलस्य, निद्रा, अज्ञान आदि होता है। इन गुणोंको अपनेमें देखकर मनुष्य अपने में किस गुणकी प्रधानता है इसकी परीक्षा करे ॥५-९॥

प्रकृतिका स्वभाव।

(५-९) परमात्माकी एक प्रकृति है, जिसमें परमात्मा का बीज जाकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। इसमें परमात्माके बीजका महिमा बताया, अब प्रकृतिका स्वभावधर्म बताना है। इस प्रकृतिमें तीन गुण हैं। उनके नाम सत्त्व, रज और तम हैं। ये तीन गुण जिस समय सम भावमें रहते हैं तब इस प्रकृतिको 'मूल प्रकृति, गुणसाम्या प्रकृति' कहते हैं। इस गुणसाम्यावस्थामें इससे कोई कार्य नहीं होता है, कार्य होनेके लिये इसमें कुछ न कुछ विषमता उत्पन्न होनी पडती है और इस प्रकृतिकी गुण-साम्यता हटकर, गुण-विषमता उत्पन्न होनी आवश्यक होती है।

सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणोंके कुछ विशेष धर्म होते हैं, वे अब देखिये-

सत्त्वगुण।

निर्मल, निर्दोष, प्रकाशक, मार्गदर्शक, अनामय, नीरोगता स्थापन करनेवाला, व्याधियोंको हटानेवाला, सुख देनेवाला, इंद्रियोंकी सुस्थिति रखनेवाला, ज्ञान देनेवाला, (सत्त्व) बल बढानेवाला यह है।

रजोगुण।

यह राग अर्थात् विषयोंपर प्रीति उत्पन्न करता है, तृष्णा-प्यास अथवा चाह उत्पन्न करता है, मुझे यह चाहिये और वह चाहिये, ऐसी जो मनमें वृत्ति उठती है, वह इसी रजोगुण से उठती है। भोगोंके साथ संग करनेकी अभिलाषा होती है। यह रजोगुणी मनुष्य भोगोंका संग छोडना नहीं चाहता, भोगोंको अपने पास इकट्ठा करता जाता है, भोगोंकी प्राप्ति के लिये विविध प्रकारके छोटे-मोटे कर्म करना शुरू करता है, एक कर्म समाप्त होनेपर दूसरा, दूसरेके बाद तीसरा ऐसे विविध कर्मोंका प्रारंभ करता है। यह रजोगुण का स्वरूप है।

तमोगुण।

तमोगुणसे अज्ञान होता है, ज्ञानग्रहणशक्ति ढक जाती है, घेरी जाती है, वह अपना कार्य कर नहीं सकती। ज्ञान न होनेसे मोह होता है, मोह होनेसे कार्य और अकार्य का निर्णय नहीं होता है, क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चहिये, यह वह जान नहीं सकता। इस कारण वह प्रमाद-गलतियां और अशुद्धियां करता है, उसमें आलस्य निरुत्साह सुस्ती उत्पन्न

(४) तीनों गुणोंके लक्षण ।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

होती है। वह रातदिन निद्रा लेता है, कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करता, पडा रहता है। शरीर, वाणी और मनके कार्य करनेमें अरुचि होती है। यह है तमोगुणका स्वरूप।

संक्षेपसे जानना चाहें तो सत्त्वगुणसे सुख, रजोगुणसे विविध कर्म और तमोगुणसे ज्ञान घेरा जानेके कारण प्रमाद होते हैं।

संपूर्ण विश्वमें इन तीन गुणोंका खेल चल रहा है। यह त्रिगुणोंका विलास इस विश्वमें पाठक देखें। प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक वस्तु इन तीनों गुणोंसे बनी है, किसीमें किस गुणका विकास है, तो दूसरेमें न्यूनता है। न्यून हों वा अधिक हों, इन तीनों गुणोंका निवास सब सृष्टिके पदार्थों में है। मूल प्रकृतिमें ही ये तीनों गुण हैं, अतः प्रकृतिसे उत्पन्न हुए विविध पदर्थोंमें ये दीख रहे हैं।

जो सुख चाहता है, वह सत्त्वगुणसे अपने आपको बांधना चाहता है। जो अनेक कर्म करना चाहता है, वह रजोगुणसे अपने आपको बांध देता है और जो सुस्त पडता है, वह तमोगुणसे वेष्टित होता है। किसी एक गुणका प्रभाव हुआ, तो वहां अन्य गुण नहीं होते, ऐसी बात नहीं है, होते तो हैं, परंतु दबे होते हैं।

यदि कोई मनुष्य निर्मल निर्दोष नीरोग और आनंदप्रसन्न है, चतुर है, तो समझो कि उसमें सत्त्वगुण प्रभावशाली हुआ है। यदि कोई मनुष्य यह चाहिये वह चाहिये, ऐसा करता है और भोगवस्तुओं की प्राप्तिके लिये दिनरात प्रयत्न करता है, तो उस सदा अशान्त मनुष्यमें रजोगुणका प्रभाव बहुत बढ गया है, ऐसा समझना उचित है। तथा जिसमें कुछ भी बुद्धि नहीं है, जो बडा सुस्त है, दिनरात सोता रहता है, बिलकुल प्रयत्न नहीं करता, यदि कुछ करने लगता है, तो अनेक प्रमाद ही कर बैठता है, उसमें तमोगुण बढ गया है ऐसा समझो।

इस ढंगसे किस मनुष्यमें कौनसा गुण बढ गया है, इसकी परीक्षा हो सकती है। साधक इस तरह अपनी परीक्षा करे। किसी एक गुणकी वृद्धि होनेका अर्थ अन्य गुण दबे रहे हैं, ऐसा ही ही समझना चाहिये। इसी विषयमें आगे कहा है सो देखो—

(९) नित्य आत्माके अनित्य देह

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः । अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥१८॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

अन्वयः- अ-नाशिनः अ-प्रमेयस्य नित्यस्य शरीरिणः इमे देहाः अन्तवन्तः उक्ताः । हे भारत ! तस्मात् युध्यस्व॥१८॥ यः एनं हन्तारं वेत्ति, यः च एनं हतं मन्यते, तौ उभौ न विजानीतः, अयं न हन्ति, न हन्यते ॥ १९ ॥

अविनाशी, अमाप, नित्य, शरीरधारी (आत्मा) के ये देह नाशवान् हैं, ऐसा कहते हैं । हे भरत-कुलोत्पन्न ! अत एव तू युद्ध कर ॥ १८ ॥ इस (आत्मा) को जो मारनेवाला जानता है, या जो इसको मारा गया मानता है; वे दोनों नहीं जानते हैं । यह (आत्मा) न मारता है और नाही मारा जाता है ॥ १९ ॥

भावार्थ- आत्माका कभी नाश नहीं होता, उसका माप या वर्णन नहीं किया जा सकता । वह नित्य है। इस आत्माके देह अनेक होते हैं इसलिये धर्मयुद्ध करनेमें कोई दोष नहीं है ॥ १८ ॥ जो समझता है कि आत्मा किसीका वध करता है अथवा वह स्वयं मारा जाता है, उसको सच्चा ज्ञान नहीं है । यह आत्मा न किसीको मारता है और न स्वयं मारा जाता है ॥ १९ ॥

वर्णनही अल्प कार्यक्षेत्रमें जीवात्मपरक होता है । यह सनातन नियम है, इसीलिये इस उत्तरसे अर्जुनकी शंका दूर हुई । और अर्जुन समझने लगा कि, इन भीष्मद्रोणादिकोंके आत्मा अजर और अमर हैं और इनके देहही नाशको प्राप्त होनेवाले हैं ।

यही आशय अन्य शब्दोंसे आगेके श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

(१८-१९) आत्मा कैसा है और शरीर कैसा है, इसका अधिक वर्णन इन श्लोकोंमें करते हैं- आत्मा (अ-विनाशी) कभी नाशको प्राप्त नहीं होता, कितने भी शरीर मर चुके और कितने नये प्राप्त हुए, तो भी आत्मा जैसाका वैसा रहता है । इसीलिये इसको 'नित्य' अर्थात् सदा एकसा रहनेवाला कहा जाता है। यह 'अ-प्रमेय' है, अर्थात् इसका माप नहीं लिया जा सकता, इसका यथार्थ वर्णन करना असंभव है, इसको प्रत्यक्ष बताना अशक्य है, तथा इसको किसी अन्य प्रकार समझाना भी अशक्य है। यह 'अ-व्यय' है अर्थात् इसमेंसे कुछ भी खर्च नहीं होता, अतः यह अनादि कालसे एक जैसा है ।

परन्तु इसके देह 'नाशवान्' हैं, ये देह जन्मते, बढते क्षीण होते और नाशको प्राप्त होते हैं । अतः उनको 'अ-नित्य' कहते हैं । ये 'प्रमेय' हैं अर्थात् इनका माप-लंबाई चौडाई, मोटाई आदि-किसी प्रमाणसे लिया जाता है । शरीरका वर्णन किया जा सकता, शरीरको प्रत्यक्षरूपसे बताया जा सकता है । इसका स्पर्श करना, सूंघना, आदिसे भी ज्ञान होता है इसका 'व्यय' होता है, प्रतिदिन इसका व्यय हो रहा है, इसी कारण अन्नादिसे इसकी पुष्टी करना प्रतिदिन आवश्यक होता है । यह शरीर पूर्वकालमें नहीं होता, भविष्यमें भी नहीं होता, मध्य समयमें रहता है।

नाशवाले देहका नाश हुआ तो उसमें शोक करनेका कोई कारण नहीं है, आत्माका किसी अवस्थामें— [अर्थात् देह रहनेपर अथवा नाश होनेपर]— नाश नहीं होता, इस कारण उसके विषयमें शोक करनेका कोई कारण नहीं है । इसलिये हे अर्जुन ! जिस कार्यके लिये इतनी तैयारी तूने की, वह युद्ध कर और विजय प्राप्त करके अपने स्वराज्यको प्राप्त कर और प्रजा कल्याण करनेके यशका भागी बन ।

केवल आत्मा किसीका वध नहीं कर सकता, और केवल शरीर भी जड होनेसे किसीका वध नहीं कर सकता । वध करने करानेवाला इनसे भिन्न है । आत्मा अकर्ता है । इस आत्माको यदि तू मारनेवाला या मरनेवाला समझता है, तो तुझे कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ, यह सत्य है । हे अर्जुन ! तू इन शत्रुओंको मारनेवाला नहीं और ये शत्रू तेरे शस्त्रास्त्रोंसे मरनेवाले भी नहीं हैं । इन सबका आत्मा अविनाशी और नित्य है । उसका नाश करनेमें तू अथवा दूसरा कोई

अन्वयः- हे भारत! सत्त्वं, रजः तमः अभिभूय (स्वयं) भवति; रजः, सत्त्वं तमः च (अभिभूय स्वयं भवति); तथा तमः, सत्त्वं रजः च (अभिभूय स्वयं भवति) ॥१०॥ उत यदा अस्मिन् देहे सर्वद्वारेषु प्रकाशः ज्ञानं च उपजायते, तदा सत्त्वं विवृद्धं इति विद्यात् ॥११॥ हे भरतर्षभ! लोभः, प्रवृत्तिः, कर्मणां आरंभः, अशमः, स्पृहा एतानि (चिह्नानि) रजसि विवृद्धे (सति) जायन्ते ॥१२॥ हे कुरुनंदन! अप्रकाशः,अप्रवृत्तिः च प्रमादः, च मोहः एव, एतानि (चिह्नानि) तमसि विवृद्धे (सति) जायन्ते ॥१३॥

सत्त्वगुण रज और तमोगुणका पराजय करके (स्वयं प्रभावित) होता है, वैसाहि रजोगुण सत्त्व और तम का (पराजय करके स्वयं प्रभावी होता है), वैसाही तमोगुण सत्त्व और रजोगुण को (परास्त करके स्वयं प्रभावी) होता है ॥१०॥ जब इस देहमें सब इंद्रियोंमें प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न होता है, तब सत्त्वगुण बढ गया है,ऐसा समझना चाहिये॥११॥ हे भरतश्रेष्ठ! लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका आरंभ, इंद्रियोंकी अशान्ति और इच्छा ये चिह्न रजोगुण बढनेपर होते हैं ॥१२॥ हे कुरुपुत्र अर्जुन! प्रकाशका अभाव, कर्म करनेकी प्रवृत्ति न होना, प्रमाद,और मोह ये चिह्न तमोगुण बढनेपर होते हैं ॥१३॥

भावार्थ-यद्यपि मनुष्यमें तीनों गुण सदा रहते हैं,तथापि समय समयपर अन्य गुण दब जाते हैं और किसी एक गुणका विशेष प्रभाव होता है। किसी समय रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं और सत्त्वगुण प्रभावशाली होकर कार्य करता है। दूसरे समय सत्त्वगुण और तमोगुण दब जाते हैं और रजोगुण बढकर प्रभावी हो जाता है। तीसरे समय सत्त्वगुण और रजोगुण दब जाते हैं और तमोगुण बढकर प्रभावी होता है। इस तरह इन प्राकृतिक गुणोंका खेल चलता रहता है। जब देहमें प्रकाश और ज्ञान होता है तब सत्त्वगुण का प्रभाव है; जब लोभ, प्रवृत्ति, भोगलालसा, कर्मोंकी प्रवृत्ति, असंयम आदि चिह्न होते हैं, तब रजोगुण का प्रभाव है, तथा जब अज्ञान, अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद, मोह आदि होते हैं, उस समय तमोगुणका प्रभाव हुआ है, ऐसा समझना चाहिये। इससे साधक अपने अन्दर किस समय किस गुणका प्रभाव हुआ है, यह जान सकता है ॥१०-१३॥

(१०-१३) एक गुण प्रभावशाली हुआ तो दूसरे दब जाते हैं। अर्थात् दूसरे गुणोंको दबाकर ही कोई एक गुण प्रभावी होता है, जैसा—

सत्त्वप्रभाव	रजःप्रभाव	तमःप्रभाव
रज-तम	सत्त्व-तम	सत्त्व-रज

जो प्रभावी होता है, वह दूसरोंको दबाए रखता है और उनको उठने नहीं देता। इसलिये उन दबे हुए गुणोंमें उठनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और वे यत्न करते हैं और जो अधिक जोर पकडता है, वह अधिक प्रभावशाली बनता है और दूसरों को दबाये रखता है। ऐसा तीनों गुणोंका खेल चलता रहता है। (श्लो०१०)

इस देहके संपूर्ण इंद्रियद्वारोंमें जब प्रकाश होता है,सर्वत्र प्रसन्नता अनुभव होती है, असाधारण आनंद होने लगता है, स्वाभाविक नीरोगता रहती है, संदेहरहित ज्ञान ज्ञानेंद्रियोंके द्वारा होता है, उस समय सत्त्वगुण उस देहमें बढ गया है और प्रभावशाली हुआ है, ऐसा जानना योग्य है। (श्लो०११)

जिस समय इस देहमें लोभ उत्पन्न होता है, यह मुझे मिलना चाहिये, ऐसी इच्छा प्रबल हो जाती है, उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये कर्म करनेकी प्रवृत्ति होती है,उस भोगलालसा की तृप्तिके

(५) तीनों गुणोंका फल।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥
सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं गछन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

अन्वयः-यदा तु सत्वे प्रवृद्धे (सति) देहभृत् प्रलयं याति तदा उत्तमविदां अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥ (देहभृत्) रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते। तथा (सः) तमसि प्रलीनः मूढयोनिषु जायते ॥१५॥ सुकृतस्य कर्मणः सात्विकं निर्मलं फलं, रजसः फलं तु दुःखं, तमसः च फलं अज्ञानं (इति) आहुः॥१६॥ सत्वात् ज्ञानं संजायते, रजसः लोभः एव च (संजायते), तमसः प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानं च एव भवति ॥१७॥ सत्वस्थाः ऊर्ध्वं गछन्ति, राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति, जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति ॥१८॥

लिये विविध कर्मोंका प्रारंभ किया जाता है, एक कर्मसे भोग न मिले तो दूसरे अनेक कर्म एकके पीछे दूसरा ऐसे आरंभ किये जाते हैं, इंद्रियोंका संयम करनेका यत्नतक नहीं होता, परंतु अशान्तिहि उन्नतिका साधन समझा जाता है, मुझे यह चाहिये आज मेरे पास यह है, कल उसको प्राप्त करूंगा, परसूं वह मिलेगा, और उस समय मैं बहुत ही सुखी हो जाऊंगा, इस तरह की वासना, कामना तथा भोगस्पृहा जब बढती हि जाती है, उस समय उस देहमें रजोगुण बढ गया है, ऐसा समझना योग्य है। (श्लो०१२)

जब देहमें कुछ कार्य न किये जांय, चुपचाप पडे रहें, कुछभी हलचल न करें, सो जाय, आलस्यमें पडे रहना ही सुखदायक है, ऐसी मनोवृत्ति हो जाती है, क्या करना चाहिये और क्या करना नहीं चाहिये, इस विषयमें कुछभी निश्चय नहीं होता, भविष्यके विषयमें अपने आंखोंके सामने बिलकुल अन्धेरा ही रहता है, उजालेका एकभी किरण सामने नहीं होता, जो किया जाता है उसमें प्रमाद गलतियां और अशुद्धियां ही होती है, कभी कुछ कर्म निर्दोष नहीं होता, मोह, अज्ञान अविद्या ही मनको घेरी रहती है, उस समय वहां तमोगुण प्रबल हुआ है, ऐसा समझना चाहिये।

इस वर्णनसे अपने अन्दर किस समय कौनसा गुण प्रबल हुआ है और किस समय अपना जीवन किस गुणके प्रभावके अन्दर गया है, यह निश्चित होता है। साधक इस तरह अपनी परीक्षा करे और जाने कि अपने जीवन को घेरनेवाला गुण कौनसा है। इसी विषयमें और आगे देखिये-

जब सत्त्वगुण की वृद्धि होनेपर देहधारी देहको छोड देता है, तब वह उत्तम ज्ञानियोंके निर्मल लोकोंको प्राप्त करता है ॥१४॥ रजोगुण की वृद्धि होनेके समय जब मृत्यु हो जाती है, तब वह कर्मसंगी लोगोंमें जन्म लेता है । वैसा ही तमोगुण के बढनेपर मृत्यु हो गयी, तो मूढ योनियोंमें उत्पन्न होता है॥१५॥ सत्कर्मका फल सात्त्विक और निर्दोष होता है, रजोगुणका फल दुःख और तमोगुण का फल अज्ञान है, ऐसा कहते हैं ॥१६॥ सत्त्वगुणसे ज्ञान होता है, रजोगुणसे लोभ होता है और तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान होता है ॥१७॥ सात्त्विक उन्नत होते हैं, राजस बीचमें रहते हैं और अधोगतिको जानेवाले तमोगुणी लोग नीचे गिरते हैं ॥१८॥

भावार्थ-सत्त्वगुणका प्रभाव रहनेपर मृत्यु हो गयी, तो अगला जन्म ज्ञानियोंमें होता है, रजोगुणके प्रभावके समय मरण हुआ तो कर्म करनेवालों में जन्म होता है और तमोगुणके प्रभावके समय मृत्यु हुई, तो मूढ जातियोंमें उत्पत्ति होती है । अतः सत्त्वगुण अपनेमें बढाना लाभदायक है । सत्त्व, रज और तमोगुणोंका फल क्रमशः सुख अशान्ति और अज्ञान है । सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुणसे असावधानी, मोह और अज्ञान होता है। सत्त्वगुणी लोग उन्नत होते हैं, रजोगुणी बीच की अवस्थामें प्रयत्न करनेमें दत्तचित्त होते हैं, और तमोगुणी लोग अधोगतिको प्राप्त होते हैं । इसलिये साधक को अपनेमें सत्त्व गुणकी वृद्धि करनेका यत्न करना चाहिये ॥१४-१८॥

(१४-१८) सत्त्व, रज और तम ये गुण प्रभावशाली रहनेपर मृत्यु हो गई तो अगला जन्म किस प्रकार की परिस्थितिमें होता है, इसका विचार अब बताते हैं ।

सत्त्वगुण प्रबल रहनेके समय मृत्यु होनेसे वह जीवात्मा उत्तम निर्मल निर्दोष ज्ञानी लोगोंके घरमें उत्पन्न होता है, वहां उसको सब प्रकारकी सात्त्विक परिस्थिति मिलती है और वह उत्तम उन्नतिको प्राप्त होता है ।

जिस समय रजोगुण का जोर होता है, उस समय मृत्यु आनेपर वह जीवात्मा विविध कर्म करनेवालोंके घरमें जन्म लेता है और वहां विविध श्रेष्ठ पुरुषार्थ करता हुआ अनेकानेक भोग प्राप्त करता है।

इसी तरह तमोगुण की वृद्धि होनेके समय जिसकी मृत्यु होती है, वह मूढ जातियोंमें जन्म लेता है और वहां अज्ञानसे युक्त होकर प्रमाद और आलस्यमें सडता हुआ अत्यंत दुर्गतिको प्राप्त होता है ।

यहां प्रश्न हो सकता है कि, मृत्यु होनेके पश्चात्भी पूर्व जन्मके गुणका परिणाम कैसे भोगना पडता है, इसका उत्तर इतनाही है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण ऐसे तीन देह देहधारीके होते हैं । जो गुण प्रभावशाली होता है, वह इन तीनों देहोंमें प्रभावशाली होता है । स्थूल शरीर अन्नमय देह है, सूक्ष्म देह वासनामय देह है, मनोमय देह है और ज्ञानमय देह है । ये देह एक दूसरेके अन्दर होते हैं । सबसे बाहर स्थूल देह, यह अन्नका बनता है, इसके अन्दर सूक्ष्म वासनादेह और मनोमय देह है और इसके अन्दर कारणदेह अथवा बुद्धिरूप-ज्ञानरूप देह है । जिस समय सत्त्वगुण प्रधान होता है उस समय शरीर ही सात्त्विक गुणयुक्त होता है और मन आदि रज या तम गुणसे युक्त होते हैं, ऐसा नहीं

(६) द्रष्टाका गुणातीत होना।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अन्वयः—यदा द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यं कर्तारं न अनुपश्यति, गुणेभ्यःच परं (आत्मानं) वेत्ति, तदा सः मद्भावं अधिगच्छति ॥ १९॥ देही एतान् देहसमुद्भवान् त्रीन् गुणान् अतीत्य, जन्म-मृत्यु-जरा-दुखैः विमुक्तः (सन्) अमृतं अश्नुते॥२०॥

है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन देहोंमें एक ही गुण प्रभावशाली होता है। इस कारण स्थूल शरीर छूटनेपर अन्य दो शरीर जीवचैतन्यके साथ रहते हैं और उनमें वही गुण प्रभावशाली रहता है, जो मृत्युके समय प्रभावी हुआ था। वस्तुतः देखा जाय तो स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म और कारणदेहके गुणोंका प्रभाव अत्यधिक हुआ करता है। अतः मृत्युके पश्चात् सूक्ष्म देहोंके अन्दर के गुण इसको अपने साथ आकर्षित करके जहां पहुंचाना हो, वहां पहुंचा देते हैं। इससे स्पष्ट होगा कि, मृत्युके समय प्रभावशाली हुआ गुण मृत्युके पश्चात् दूसरा देह मिलनेतक और दूसरा देह धारण होनेके पश्चात् भी प्रभावशाली होता है। इसी लिये मरण के समय जो गुण प्रभावशाली रहेगा, उसका महत्त्व अधिक है।

जैसा निद्रा आनेके समय जो गुण प्रभावी रहेगा, उसका परिणाम पुनः जाग्रत होनेतक रहता है और सत्त्वगुणके समय निद्रा आ गयी, तो शान्त और गाढ निद्रा आती है, उत्तम स्वास्थ्य रहता है और आनन्द अनुभवमें आता है। रजोगुण के समय निद्रा आ गयी, तो अनेक स्वप्न आते हैं, भयभीत होनेके दृश्य दीखते हैं, भोग भोगनेके स्वप्न आते हैं और अशान्त नींद लगती है। इसी तरह तमोगुणके समय निद्रा आ गई तो बेहोषी जैसी छायी रहती है। इस तरह जितनी देरतक निद्रा आवेगी, उतनी देरतक उसी गुणका प्रभाव रहता है, जो गुण निद्रा आनेके समय प्रभावी रहता है। ऐसाही महानिद्रा-मृत्युके समय समझना उचित है। (श्लो०१४-१५)

सात्त्विक कर्मका निर्दोष सुखदायी फल, रजोगुणयुक्त कर्मका फल दुःख और तमोगुणी कर्मका फल अज्ञान और सुस्ती है। सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे अज्ञानजन्य प्रमाद और मोह होते हैं। इसकारण सत्त्वगुणसे उन्नति, रजोगुणसे मध्यम स्थिति और तमोगुणसे अधोगति होती है। (श्लो०१६-१८)

इस तरह इन तीनों गुणोंका प्रभाव और परिणाम जान कर साधक मनुष्य अपने आपको अवनति करनेवाले गुणोंसे बचावे और उन्नति करनेवाले गुणोंकी वृद्धि अपने अन्दर करनेका यत्न करे। इस तरह यत्न करनेपर निश्चयसे साधक की उन्नति होनेका उपाय उसके हाथमें आवेगा।

आगे इन गुणोंके बंधनोंसे मुक्त होनेके उपाय का उपदेश करते हैं। सो अब देखिये—

जब द्रष्टा इन गुणोंको छोडकर दूसरा कोई कर्ता नहीं है, यह प्रत्यक्ष देखता है, और गुणोंके परे रहनेवाले (आत्माको भी) देखता है, तब वह मेरे (ईश्वर के) स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ देह-धारी इन देहसे उत्पन्न होनेवाले तीनों गुणों के पार होकर जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखसे मुक्त होता है, तब वह अमरत्व को प्राप्त होता है ॥२०॥

भावार्थ-जब साधक देखता है कि,यहां ये तीन गुण ही सब कुछ कर रहे हैं, इनको छोड कर यहां दूसरा कोई कर्ता नहीं है, तब वह जानता है कि, इन गुणोंसे सदा पृथक् रहनेवाला आत्मा अकर्ता है और वही ईश्वर है तो स्वयं अकर्तृत्वको अपने आत्मामें अनुभव करके ईश्वरीय भावसे युक्त होता है। जब साधक इन तीनों गुणोंके पार होता है, तब वह जन्म,मृत्यु,जरा दुःखोंसे मुक्त होकर ईश्वरीय अमर भावसे युक्त होता है ॥१९-२०॥

(१९-२०) साधक ऐसा विचार करे कि मेरे शरीरके अन्दर अर्थात् मेरे स्थूल देहमें, सूक्ष्म देहमें और कारण देहमें किंवा मेरे इंद्रियोंमें, मनमें, वासना और आकांक्षामें तथा बुद्धिमें जो गुण प्रबल रहते हैं, वैसेही उसमें कर्मविचार और वासना कामना आदि होते रहते हैं। यह तो इन गुणोंका ही खेल है, तमोगुणी देह और तमोगुणी मनसे सत्वगुणी कर्म और विचार होना असंभव है। इस कारण यही सत्य है कि, ये गुण यहांके सब व्यवहारोंके सच्चे कर्ता हैं। और जो आत्मा यहां है, वह इन गुणोंके परे है, इन गुणोंसे ऊपर है, अतः वह अकर्ताही है।

ये गुण प्रकृतिके हैं, प्रकृतिका यह सत्वरजतमात्मक स्वभावगुणधर्म ही है। येही एक दूसरे को दबाते और स्वयं प्रभावशाली बनते हैं और कार्य करते हैं। परंतु जो कार्य होता है, उसका फल जीवको भोगना पडता है, जैसा तमोगुणके प्रभावी रहनेपर मृत्यु हो गयी तो उसका जन्म अनाडी लोगोंमें होगा, इस कारण जो हीन परिस्थिति होगी, उसके कष्टोंका अनुभव देहधारी जीवको ही करना पडेगा। अतः कहा है—

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥
(गीता-अ० १३)

" प्रकृतिसे कार्यकारणपरंपरा शुरू होती है और पुरुष सुखदुःख भोगता है। पुरुष इस प्राकृतिक शरीरमें रहकर प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणोंका भोग करता है, इसके इस गुणसंग के कारण इस पुरुषको उत्तम और हीन योनियोंमें जन्म लेना पडता है।"

पुरुष जीव और द्रष्टा एकही है। प्रकृतिके गुण सब कुछ कर्म करते हैं और द्रष्टा केवल देखनेवाला है। जब वह द्रष्टा अपने आपको केवल द्रष्टा मानता है, कर्मके साथ अपना कोई संबंध नहीं, कर्म तो उक्त तीनों गुणोंसे होते हैं,यह बात असंदिग्ध रीतिसे वह अनुभव करता है, तब उस द्रष्टाको परमात्मभाव प्राप्त होता है। उस समय वह नरका नारायण बनता है। ईश्वरभावसे वह युक्त होता है।

साधक जब देहसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंको नीचे छोडकर ऊपर उठता है, तब वह जन्म-मृत्यु-बुढापा और मृत्यु से मुक्त हो कर अमृतत्वको प्राप्त होता है। अर्थात् ईश्वरभावको अपनाता है। ये तीनों गुण प्रकृतिके हैं, इनका खेल ऐसा ही होता रहेगा, मैं इनसे पृथक् हूं, ऐसा जब वह स्पष्ट देखेगा,तब वह इन गुणोंका बंधन तोडकर स्वतंत्र होगा और यही अमृतत्व है, न

(७) गुणातीत कैसा होता है ?

अर्जुन उवाच—लैंगिकैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥
श्रीभगवानुवाच- प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ॥
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

अन्वयः—अर्जुनः उवाच—हे प्रभो! एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः (जीवः) कैः लिंगैः (ज्ञातः) भवति? (सः च) किमाचारः? (सः) एतान् त्रीन् गुणान् कथं अतिवर्तते ॥२१॥ श्रीभगवान् उवाच-हे पाण्डव! प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहं एव च संप्रवृत्तानि न द्वेष्टि, निवृत्तानि च न कांक्षति॥२२॥ यः उदासीनवत् आसीनः गुणैः न विचाल्यते, यः च गुणाः वर्तन्ते इति (मत्वा) एव अवतिष्ठति, (च) न इंगते ॥२३॥ (यः) समदुःखसुखः, स्वस्थः, समलोष्टाश्मकांचनः, तुल्यप्रियाप्रियः, धीरः, तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥ (यः) मानापमानयोः तुल्यः, मित्रारिपक्षयोः तुल्यः, सर्वारंभपरित्यागी (च अस्ति) सः गुणातीतः उच्यते ॥२५॥

यहां मृत्यु है और न दुःख है। यही सबसे उच्च प्राप्तव्य अवस्था है।

यहां का सब उपदेश प्रकृतिपुरुष को परस्पर भिन्न मानकर साधक को सुबोधतया ज्ञान देनेकी इच्छासे किया है। वस्तुतः सत्व-रज-तम ये गुण क्षर प्रकृतिके हैं, प्रकृति यह पुरुष की शक्ति है, शक्ति शक्तिधारीसे पृथक् कदापि नहीं होती, इसी कारण पुरुष और प्रकृति ये एकही पुरुषोत्तम के दो पहलू हैं। ऐसा होनेके कारण ये तीनों गुण पुरुषसे पृथक् नहीं है, तथापि साधक को बोध सहज प्राप्त करानेके लिये द्रष्टा जीव और प्राकृतिक गुण का भेद यहां वर्णन किया है। वह भेद बुद्धिगम्य है, वस्तुगत नहीं।

मैं गुणोंके आधीन नहीं हूं, परंतु गुण मेरे आधीन हैं, मैं हाथोंके आधीन नहीं; परंतु हाथ मेरे आधीन हैं, ऐसा माननेपर जैसा अपना प्रभुत्व सिद्ध होता है और अपना प्रभुत्व सिद्ध होनेपर जैसी अपनी शक्ति बढती है, वैसीहि गुणातीत होनेसे साधक की शक्ति बढती है, अखंड शक्तिका उसे अनुभव मिलता है। यही अमृतत्वकी प्राप्ति है और यही ईश्वरभाव की प्राप्ति है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि, गुणातीत कैसे हो सकते हैं और गुणोंका खेल कैसा देख सकते हैं और अपने आपको उनसे पृथक् द्रष्टाके स्वरूपमें किस रीतिसे अनुभव कर सकते हैं ? येही प्रश्न अर्जुन करना चाहता है और भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन का समाधान करते हैं, वह मनोहारी प्रश्नोत्तर अब देखिये-

अर्जुनने पूछा कि—हे प्रभो! इन तीन गुणोंसे परे रहनेवाले की पहचान किन लक्षणोंसे होती है ? वह कैसा आचार करता है? और वह इन तीनों गुणोंसे परे किस तरह पहुंचता है ? ॥२१॥ श्रीभगवान्‌ने कहा कि—हे पण्डुके पुत्र ! प्रकाश (सत्त्व), प्रवृत्ति (रजः), और मोह (तमः) ये तीनों गुण प्राप्त होनेपर जो दुःख नहीं मानता, और इन तीनोंके निवृत्त होनेपर जो इनको चाहता नहीं, जो उदासीन के समान रहनेके कारण इन गुणोंसे हिलाया नहीं जाता, गुणही अपना कार्य करते हैं ऐसा मानकर जो स्वस्थ रहता है, और कंपायमान् नहीं होता है। जो सुखदुःख को सम मानता है, जो अपनेमेंहि आनंदित रहता है, जो मिट्टी पत्थर और सुवर्णको समान मानता है, जो प्रिय अथवा अप्रिय की प्राप्ति होनेपर सम अवस्थामें रहता है, जो धैर्यवान् रहता है, जिसको अपनी निन्दा और स्तुति समान प्रतीत होती है, जिसको अपने मान और अपमान समान होते हैं, जो मित्र और शत्रुके साथ समभावसे वर्तता है, जो सब कार्यारंभोंको त्यागता है, वही इन तीनों गुणोंसे परे होता है ॥२२-२५॥

भावार्थ- जिसको सुख-दुःख, हानि-लाभ, धनी-निर्धन, स्तुति-निंदा, जय-पराजय, प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान शत्रु-मित्र समान होते हैं, जो इन द्वन्द्वोंसे विचलित नहीं होता, जो इनको उदासीन जैसा देखता है, वह गुणातीत है । गुणातीतके ये लक्षण और ये आचरण होते हैं और इसी तरह साधक गुणातीत होता है ॥ २१-२५ ॥

(२१-२५) अर्जुन प्रश्न करता है कि गुणातीत की पहचान किन लक्षणोंसे होती है? वह आचार कैसा करता है ? और कैसे इन गुणोंसे ऊंचा उठता है? (श्लो० २१)

यह प्रश्न श्रवण करके भगवान् श्रीकृष्ण यह गुह्य ज्ञान भक्तका कल्याण करनेकी इच्छासे उसे सुबोधशब्दोंकेद्वारा प्रदान करते हैं ।—

सत्त्वगुणसे प्रकाश, रजोगुणसे कर्मप्रवृत्ति और तमोगुणसे मोह उत्पन्न होना स्वाभाविक है । इन गुणोंसे ये परिणाम होतेही रहते हैं । (संप्रवृत्तानि न द्वेष्टि) ये हुए तो जो उसका द्वेष नहीं करता और (निवृत्तानि न कांक्षति) ये न हुए तो जो इनकी आकांक्षाभी नहीं करता वह गुणातीत कहलाता है । स्वभावसे जो चल-रहा है, उसमें न्यून करनेकी वा अधिक करनेकी जो अभिलाषा नहीं करता, परंतु जो गुणोंका खेल चल रहा है उसे केवल द्रष्टा होकर देखता है, जो (उदासीनवत् आसीनः) उदासीन जैसा देखता रहता है, फलना ही सत्त्वगुण का खेल मेरे सम्मुख हो और तमोगुणका न हो ऐसा आग्रह जो नहीं धरता, सत्त्वगुण के भाव सम्मुख आनेसे जो प्रसन्न नहीं होता और तमोगुणके भाव सम्मुख आनेसे जो क्रोधित नहीं होता, जो भी भाव आ जाय वह इन गुणोंका स्वाभाविक खेल चल रहा है ऐसा जो मानकर उदास जैसा देखता है और (गुणैः न विचाल्यते) गुणोंके कारण जिसमें हलचल या घबराहट नहीं होती, (गुणाः वर्तन्ते) ये गुण हैं और ये ऐसेही खेल खेलते रहेंगे ऐसा जो मानता है

(८) शाश्वत धर्मका आधार।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ॥
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रय-विभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अन्वय- यः मां च अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते, सः एतान् गुणान् समतीत्य, ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥ अमृतस्य अव्ययस्य च ब्रह्मणः, शाश्वतस्य च धर्मस्य, ऐकान्तिकस्य सुखस्य च हि अहं प्रतिष्ठा (अस्मि) ॥२७॥

जो मेरी (ईश्वरकी) एकनिष्ठ भक्तिभावसे सेवा करता है, वह इन गुणोंको लांघकर ब्रह्मके महत्त्वको प्राप्त करने योग्य बनता है ॥ २६ ॥ अमर और अव्यय ब्रह्मका, शाश्वत धर्मका और उच्च सुखका स्थान मैं (ईश्वर) ही हूं ॥ २७ ॥

और इस गुणोंके खेलमें जो आसक्त नहीं होता, वह गुणातीत कहलाने योग्य है। (श्लो०२३)

सुख देनेवाले सत्त्वगुण और दुःख देनेवाले रजोगुण के साथ जिसका रागद्वेष नहीं है, जो इनके संमुख आने न आनेपरभी एक जैसा रहता है, जो (स्व-स्थः) अपने ही शक्तिसे रहता है, जिसको ये गुण हिलाते नहीं, जो इन गुणोंके कारण अपने स्थानसे भ्रष्ट नहीं होता, जो सुख प्राप्त होनेपर गर्व नहीं करता, दुःख प्राप्त होनेपर विषाद नहीं मानता, कर्म करनेके समय त्रस्त नहीं होता, प्रिय वस्तु मिली तो हर्षित नहीं होता और अप्रिय स्थितिमें रहनेका अवसर आया तोभी जो दुःखी नहीं होता, प्रशंसा होने लगी, तो जिसकी छाती आगे नहीं आती और निन्दा हुई तो जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, जो पत्थरमिट्टी और सोनेको सम भावसे देखता है, अर्थात् बहुत सुवर्ण मिल गया तो हर्षवायुसे उन्मत्त नहीं होता और अपने पासका सुवर्ण चला गया और हाथमें मिट्टी आ गयी तो जिसका हृदय फट नहीं जाता, वह गुणातीत कहलाता है।

मान हो अथवा अपमान, मित्र साथ रहे अथवा शत्रु का सामना करना पडे, दोनों अवस्थाओंमें जो मनकी समान स्थिति रखता है, वह गुणातीत है। तथा जो मैं कर्ता हूं, ऐसा अहंकार धारण करके कर्म नहीं करता, वह गुणातीत कहलाता है।

यहां तक गुणातीत के लक्षण कहे, गुणातीत कैसा आचरण करता है, कैसा बोलता और चालता है, कैसा व्यवहार करता है, इसका वर्णन हुआ। इससे गुणातीत पहचाना जा सकता है। इन लक्षणोंसे साधक अपनी परीक्षा करें और उन्नतिमें कहांतक पहुंचा हूं, इसका निश्चय करें, अब ईश्वरसेवा का व्रत कहते हैं—

भावार्थ- जो एकनिष्ठ भक्तिसे ईश्वर की सेवा करता है, वह तीनों गुणोंको पीछे छोड कर आगे बढता है और ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त होता है। अमर ब्रह्म, शाश्वत धर्म और उच्च सुख का स्थान ईश्वरही है ॥ २६—२७ ॥

(२६-२७) जो अनन्य भक्तिसे परमेश्वरकी सेवा करता है, वह इन गुणोंको पीछे छोडता है, और आगे बढकर ब्रह्मभाव प्राप्त करता है। ब्रह्म, अमृत, उत्तम सुख और शाश्वत धर्म का आधार यही एकमात्र परमेश्वर है। इस परमेश्वरके साथ जो अनन्य हुआ, वह उससे अन्य न रहनेके कारण, उससे पृथक् न रहनेके कारण, उसी ईश्वरीय भावसे युक्त होता है। क्योंकि सब एकही अखण्ड सत्ता है, उसमें खण्ड नहीं है। उसमें यह मैं यह दूसरा, ऐसा भेदही नहीं है। इसतरह जिसके अन्दर यह अनन्यभाव स्थिर हुआ, वह ईश्वरके साथ अनन्य अभिन्न होनेके कारण ईश्वरभावसेही युक्त होता है।

श्रेष्ठ प्रकार की सेवा वही करता है कि, जो अपने आपको उससे अनन्य अथवा अभिन्न समझता हो। जो अपने आपको भिन्न तथा अन्य मानता है,वह सच्ची अनन्यसेवा अथवा अनन्यभक्ति करही नहीं सकता। अतः यह सच्ची अनन्यभक्तिहि ब्रह्मभावको प्राप्त करनेवाली है। यही अनन्य भावसे की जानेवाली विश्वसेवा सबको शाश्वत सुख देनेवाली है, क्योंकि ब्रह्म अमृत शाश्वत धर्म अखण्ड सुखका एकही आधार है, जो विश्वरूपी विश्वात्मा है, उसके साथ अनन्य अभिन्न और अखण्डित होनेसे ही साधक ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त करता है। यही जीवका अन्तिम साध्य है,जो गुणातीत होनेसेहि सिद्ध हो सकता है। सब जीव इसी सिद्धिके लिये यत्न कर रहे हैं। जो अनन्यभावसे प्रयत्न करेंगे वेही सफलता प्राप्त करेंगे।

चतुर्दश अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्दश अध्याय का

थोडासा मनन ।

इस अध्यायमें 'सत्त्व-रज-तम' ये तीनों गुण विश्वके संपूर्ण पदार्थोंमें कैसे हैं, इसका वर्णन उत्तम प्रकार किया है। प्रत्येक गुणका लक्षण क्या है और परिणाम क्या है,यह भी यहां दर्शाया है। ये गुण मनुष्यमें हैं और मनुष्यका स्वभाव इनसे ही बनता है। मनुष्यकी उच्चगति अथवा अधोगति होना इन गुणोंपर सर्वथा निर्भर है। इस कारण इस त्रिगुणविषयक ज्ञानकी साधकको बडी आवश्यकता है।

इस ज्ञानसे साधक को परम सिद्धि मिलती है और साधक परमेश्वरके गुणधर्मोंको अपने अन्दर धारण करके परम उच्च अर्थात् 'नरका नारायण' बन सकता है।

शुद्ध बीज ।

संपूर्ण विश्वका एक ही स्वामी परमपिता परमात्मा है और उसकी महाशक्ति अथवा आदिशक्ति है, जिसका नाम मूल प्रकृति है। इसीका नाम आदिमाता है और परमेश्वरका नाम आदि पिता है। ये दो मिलकर संपूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति करते हैं। परमेश्वरका शुद्ध बीज प्रकृतिमें जाकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। यह बीज ही वीर्य है। वीर्यमें पिताके सब गुणधर्म अंशरूपसे आते हैं और पुत्रके विकास के साथ उन गुणोंका विकास होता है।

पिताके अवयवोंके सदृश पुत्रके अवयव कईवार होते हैं, इसका कारण यही है। पिताके वीर्यमें पिताके अवयवोंका अंशरूप सार रहता है और वह विकसित होकर पिताके जैसे अवयव पुत्रके होते हैं। पिताके वीर्यका प्रभाव यहां पाठक देखें और अपने अन्दर परमपिता परमात्माका वीर्य है, इसलिये मेरा विकास होकर, मैंभी परमपिता परमात्मा के सदृश होनेवाला हूं, मैं इस समय नर हूं परंतु भविष्य में नारायण बनूंगा क्योंकि मेरे अन्दर नारायणका वीर्य कार्य कर रहा है, मैं पुरुष हूं अतः मैं पूर्ण उन्नत होकर पुरुषोत्तम बनूंगा, मैं जीव हूं और शिव बनूंगा। इस तरह विचार करनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि, जगद्बीज परमात्मा का वीर्य प्रकृतिमें आकर यह सब संसार बना है,ऐसा कहनेसे यहां कौनसा महान् सिद्धान्त कहा है।

जिसका वीर्य होता है, वैसा पुत्र होता है। यह नियम संपूर्ण विश्वमें सदा अनुभवमें आता है, मनुष्यके वीर्यसे मनुष्यरूप पुत्र होता है, इसी तरह परमात्माके वीर्यसे जो पुत्र होगा,वह परमेश्वर स्वरूप ही बनेगा इसमें कोई संदेह नहीं है। जिस कारण मेरे अन्दर परमात्माका वीर्य है, उसी कारण मेरी पूर्णता परमेश्वर बननेमें होगी। हरएक मनुष्यके अन्दर परमात्माका वीर्य है, यह उपदेश यहां देकर भगवद्गीताने हरएक मनुष्यको यह विश्वास दिया है कि, वह अवश्यही नरका नारायण बनेगा, अथवा वह नररूपसे नारायण ही अवतीर्ण हुआ है।

इस उपदेशको ग्रहण करके, इस समयतकके ऋषि,मुनि,साधुसंत सब परमसिद्धिको प्राप्त हुए और परमेश्वर के साधर्म्यसे युक्त हुए, ऐसा जो यहां कहा है,उसका तात्पर्य यह है।पिताके वीर्यसे

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

अन्वयः— अयं कदाचित् न जायते, न वा म्रियते, (अयं) भूत्वा भूयः अभविता न। अयं अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः, शरीरे हन्यमाने न हन्यते ॥ २० ॥

यह (आत्मा) न तो कभी जन्मता है, और न मरताही है। यह होकर फिर अभावको प्राप्त होगा ऐसा भी नहीं है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता है ॥ २० ॥

किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हो सकते। अतः तू अपना कर्तव्य कर।

इस प्रकारका वर्णन उपनिषद्में है, वे उपनिषद्वचन अब देखिये—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥ हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥
(कठ उ० २।१८–१९)

'यह आत्मा न जन्मता है और न मरता है, यह कहां नहीं है ऐसा भी नहीं है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, और पुराणा है। शरीरका नाश होनेपर भी इसका वध नहीं होता है। वधकर्ता यदि इसका वध करनेकी इच्छा करे और मरनेवाला भी यदि अपने आपको मारा गया माने, तो उन दोनोंको सत्य-ज्ञान नहीं है। यह न मारता है और न मारा जाता है।'

आत्माके अमरत्वके विषयमें उपनिषद्का यह वचन यहां मनन करने योग्य है। मरने मारनेके लिये 'काल' कारण है यह विषय महाभारत शांतिपर्व अ० २५ में विस्तारपूर्वक कहा है वहांके कुछ श्लोक अब देखिये—

कालका कार्य।

नाकालतो म्रियते जायते वा
नाकालतो व्याहरते च बालः ॥ ११ ॥
कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वपार्थिवाः॥१४॥
घ्नन्ति चान्यान्नरान्राजंस्तानप्यन्ये तथा नराः।
संज्ञैषा लौकिकी राजन्न हिनस्ति न हन्यते ॥१५॥
आत्माऽपि चायं न मम सर्वाऽपि पृथिवी मम।
यथा मम तथाऽन्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ॥१९॥
(म० भा० शां० अ० २५)

'कालके विना कोई नहीं जन्मता है और नाहि मरता है। कालसेही बालक बोलने लगते हैं। कालसे परिपक्व हुए राजा लोग मरते हैं। एक दूसरेको मारता है और वह मरता है यह लौकिक अर्थात् अज्ञानी लोगोंकी भाषा है। वस्तुतः आत्मा न मरता है और न मारा जाता है। जिस प्रकार यह पृथ्वी मेरी है और सब अन्य प्राणियोंकी भी है, उसी प्रकार यह आत्मा मेरा है और अन्योंका भी है।'

यहां कालसे प्राणी जन्मते और मरते हैं ऐसा कहा है और यही मत भ० गीतामें भी कहा है—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तु-
मिह प्रवृत्तः। ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥
(भ० गीता ११।३२)

'मैं लोकोंका नाश करनेवाला महाकाल हूं। लोकोंका नाश करनेके लिये यहां आया हूं। जो प्रतिपक्षी यहां आये हैं वे तेरे विना भी जीवित नहीं बचेंगे।' अर्थात् ये कालसे परिपक्व होकर मरनेवालेही हैं। अतः हे अर्जुन! तू अपने आपको इनका वधकर्ता न मान। इतनेसे समझमें न आया तो और देखो—

(२०–२१) [बीसवां श्लोक कुछ पाठभेदके साथ कठोपनिषद्में आगया है, वह पूर्व श्लोकोंकी टिप्पणीमें दिया है। पाठक उसको वहां देखें।]

यह आत्मा कभी जन्मको नहीं प्राप्त होता है। यह कभी मरता भी नहीं। (भूत्वा अभविता न) यह एकवार

उत्पन्न हुआ बालक अंशरूपसे पिताही होता है, पिताही बालकरूपसे अवतीर्ण हुआ होता है, वह दूसरा कोई नहीं होता, परंतु वह स्वयं पुत्र-रूपसे आया होता है। इसी तरह परमपिता संपूर्ण विश्वरूपसे अवतीर्ण हुआ है, उसीमें वह मानवरूपसे भी अवतीर्ण हुआ है। और साधक-भी वही है।

पाठक यह शुद्ध ज्ञान अन्तःकरणमें धारण करें और विचारें, मनन करें, पुनः पुनः मनमें स्थिर करें और देखें कि इस ज्ञानसे कितना आत्मशक्तिका विश्वास बढता है। पहिले जो प्रतीत होता था कि, मैं यःकश्चित् क्षुद्र बलहीन हूं, तुछ हूं,वह विचार दूर होता है और मैं परमात्माके वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण परमात्मशक्तिसे संपन्न हूं और परिपूर्ण होकर परमेश्वरके साधर्म्यसे युक्त होऊंगा, इस समयभी यद्यपि मैं परमेश्वर का पुत्र हूं, तथापि वही इस रूपसे अवतीर्ण हुआ है, इत्यादि विचार प्रबल होनेके कारण अपनी सच्ची शक्ति का पता लगता है। और यही आत्मविश्वास मानवोंकी सच्ची उन्नतिका हेतु है।

रजःसामर्थ्य ।

जैसा बीज उत्तम चाहिये, वैसा रजभी उत्तम चाहिये। पूर्वोक्त स्थानमें बीजके प्रभाव का वर्णन किया, अब रजके प्रभाव का विचार करते हैं। परमात्माकी आदिशक्ति ही यहां रजःशक्ति है, परमात्माके बीजको यह रज अपने अन्दर लेता है और उनके मेलसे पुत्र उत्पन्न होता है। यह रजः परमात्मा की आदिशक्तिका ही होनेसे यहां का रजःसामर्थ्यभी बडा विलक्षण है। परमात्माका बीज वीर्य और परमात्मशक्तिका ही रज ऐसा शुभ संयोग यहां हुआ है। अर्थात् बीजरूपसे परमात्मा हमारे अन्दर है और रजः स्वरूपसे परमात्मशक्ति हमारे अन्दर है। अतः पिता और माता की ओरसे देखा जाय, तो हमारा सामर्थ्य कम नहीं है। यह निश्चय जानना चाहिए।

जो आदिशक्ति मूल प्रकृति है, उसमें तीन गुण हैं, जो सत्त्व-रज-तम नामसे प्रसिद्ध हैं। सत्त्वगुण सुख देनेके कारण सुखसंगसे देहधारी को बांध देता है, रजोगुण विविध कर्मोंमें प्रेरित करनेके कारण विविध पुरुषार्थों में देहधारी को बांध देता है,और तमोगुण प्रमाद,आलस्यादि दोषोंसे बांध देता है। इस तरह ये तीनों गुण देहधारीको बांध देते हैं। और इनके पाशोंके बंधनसे छूटनाही इसका पुरुषार्थ है और यही मुक्ति इसे प्राप्त करनी है।

सब प्रकारके बंधन इन प्राकृतिक तीनों गुणोंसे होते हैं, सब प्रकारके दुःख इन गुणोंके संगके कारण होते हैं, और सब प्रकारकी रुकावटें इन गुणोंसे होती हैं, इस कारण इनका बंधन दूर किस तरह हो सकता है और इस साधक को इन गुणोंकी सहायता किस रीतिसे हो सकती है, इसका विचार करना अत्यंत आवश्यक है। अतः इन तीनों गुणोंका स्वभाव कैसा है, वह देखेंगे-

तीन गुणोंका स्वभाव।

सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
निर्मल (६, १६)	मलिनता	मलीन
निर्दोष	दोषयुक्त	दोषयुक्त
निष्कलंक	कलंकित	कलंकित
प्रकाश (६,११)	धूंधलापन	अन्धकार
दिन	संधिसमय	रात्री, अप्रकाश (१३)

अनामय (६)	रोग होकर निवृत्त होना,	आमय, रोगी होना।
नीरोगिता	,, ,,	रोगमय
सुख (९)	दुःख (१६)	दुःख
ज्ञान (११, १७)	कर्मप्रवृत्ति (९)	अज्ञान (८, १६)
वैराग्य	राग (प्रीति) (७)	—
तृष्णा न होना	तृष्णा	—
निष्काम कर्म	कर्मसंगसे बंधन	कर्महीनता
उत्साह	सदा प्रयत्न	आलस्य, निद्रा (८)
मोह न होना	किंचित् मोह	मोह (१७)
अप्रमाद	,, प्रमाद	प्रमाद (९,१७)
निर्लोभता	लोभः (१२, १७)	—
शान्ति	प्रवृत्तिः	अप्रवृत्ति (१३)
निष्काम भाव	कर्मोंका प्रारंभ	प्रमाद, मोह,
शम, दम	अशमः	—
उत्तम लोगों में जन्म (१४)	कर्मसंगियोंमें जन्म	मूढयोनिमें जन्म
ऊर्ध्वगति (१८)	मध्यम स्थिति (१८)	अधोगति (१८)

इस तरह यह गुणोंका प्रभाव है। सत्त्वगुणके विरुद्ध तमोगुण है और रजोगुण दोनोंके मेलसे होता है। तमोगुण में आलस्य होनेसे उससे रजोगुण उसकी कर्मप्रवृत्तिके कारण अच्छा है, परंतु इस रजोगुणमें अशान्तिके दुःख हैं। अतः उससेभी सत्त्वगुण नित्यसुखदायी होनेके कारण अच्छा है। परंतु ये तीनों गुण न्यूनाधिक प्रमाणसे प्रत्येक स्थानमें रहते ही हैं।

प्रत्येक मनुष्य तमोगुण का आश्रय करके विश्रान्ति लेता है, रजोगुणके आश्रयसे प्रयत्न करता है और सत्त्वगुणके आश्रयसे आनन्दका अनुभव करता है। ये तीनों इस तरह मनुष्यके सहाय्यकभी हैं। परंतु जब इनका प्रमाण विगड जाता है तब इनहीसे बंधन होता है, जैसा मनुष्य-को विश्राम-निद्रा चाहिये, परंतु यदि कोई मनुष्य दिनरात विश्रामही करता रहेगा, तो वही बंधन होगा। इसी तरह मनुष्यको प्रयत्न करनाही चाहिये, परंतु अविश्रांत रहकर रातदिन प्रयत्न करता रहेगा, तो विश्रामके अभावके कारण यह प्रयत्नशीलता उसकी हानि करेगी और बंधन-रूप हो जायगी। इसी प्रकार मनुष्यको सुख और आनन्द चाहिये, परंतु जब यह सुखलालसा बढ जाती है, तब स्वार्थमें परिणत होनेके कारण यह अपने सुखके लिये संघकी हानि करता है, तब इसका यह सुख सबकी हानि करने लगता है और बंधनका हेतु होता है। इस रीतिसे येही सत्त्व, रज तम मनुष्यके सहायकभी होते हैं और विनाशकभी होते हैं।

मनुष्योंके सब कार्य इन गुणोंसेही होते रहते हैं। परंतु मनुष्यको इनके आधीन होना नहीं चाहिये और मनुष्यके स्वाधीन इनका रहना योग्य है। साधक इस जगत्में इन तीनों गुणोंके कार्य कैसे चल रहे हैं यह देखे और अपने आपको उनका द्रष्टा, उनसे स्वतंत्र, उनका निरीक्षक अनुभव करे। तब यह गुणोंके परे रहेगा और संपूर्ण दुःखोंको दूर करके परमात्मभावको अपने अन्दर धारण करेगा। जब तक यह साधक इन गुणोंके द्वारा घसीटा

जा रहा है, उनके पीछे उनका अनुगामी होकर उनसे बांधा जाकर पराधीनसा हो रहा है, तब तक इसके परतंत्र होनेके कारण इसको आनंद प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं है। अतः इसको अपना स्वातंत्र्य स्थापन करना आवश्यक है। इस स्वातंत्र्यके प्राप्त करनेकी युक्ति यह है-

स्वातंत्र्यकी स्थिति ।

साधक जब पूर्ण उन्नत होता है, तब उसको सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है, इस सिद्ध स्थितिमें वह इन तीनों गुणोंका कार्य देखता रहता है, सत्त्वसे होनेवाले प्रकाश और ज्ञान, रजोगुणसे होनेवाले लोभ और कर्म तथा तमोगुणसे होनेवाले प्रमाद और मोहको यह देखता है। इनमेंसे किसीको यह चाहता भी नहीं और नहीं चाहता ऐसाभी नहीं, इनमेंसे कोई इनके पास आये, तो यह न उनका द्वेष करता है और न उनसे प्यार करता है, जैसा कोई उदासीन मनुष्य स्वस्थ रहता है, वैसा यहभी स्वस्थ रहता है।

ये गुण अपना कार्य कर रहे हैं ऐसा यह देखता है और उनसे अपना कोई संबंध स्थिर करना नहीं चाहता। इनमेंसे कोई गुण आ गये, तो भी ठीक है और न आ गये तोभी ठीक है, ऐसी उदास वृत्तिका धारण यह करता है। यह अपनी प्रकृतिकाही खेल है, यह किसी दूसरेकी प्रकृति नहीं है, अतः यह जैसी है वैसी रहे, ऐसा यह मानता है और इनके कारण अपने अन्दर ईर्ष्या, द्वेष होने नहीं देता। इनके वेगसे यह चंचल नहीं होता है, इनका वेग कितना ही क्यों न बढे, यह वायुवेगसे पर्वतके न हिलनेके समान स्थिर रहता है।

सुख-दुःख, प्रियाप्रिय, निन्दास्तुति, मानापमान, मित्रशत्रु, सुवर्णमिट्टी आदिकी प्राप्ति होनेपर यह सम स्थितिमें रहता है। किसी भी परिस्थितिसे इसमें कोई हेरफेर नहीं होता, इसकी मनोवृत्ति विपरीत परिस्थितिमेंभी सम रहती है। ऐसा जो झंझावातमें स्थिर रहनेवाले मेरुपर्वतके समान सुस्थिर रहता है उसको गुणातीत कहते हैं, यही इन गुणोंका स्वामी है, यही गुणोंके परे है और यही ईश्वरभावसे युक्त है।

अनन्यभावसे ईश्वरभक्ति करनेवालाभी इसी तरह ईश्वरभावसे युक्त होता है, क्योंकि अमृत, सुख और ब्रह्मका वही एक आधार है, वही आधार इसे प्राप्त होता है। अतः वह ईश्वरभावयुक्त हुआ ऐसा कहते हैं।

आगे अठारहवें अध्यायतक इन तीनों गुणोंका विचार विविध प्रकारसे होनेवाला है। इसलिये इसका मनन हम आगे विशेषरूपसे करेंगे, अतः यहां इतनाही पर्याप्त है।

चौदहवें अध्यायका मनन समाप्त ॥ १४ ॥

चौदहवें अध्यायके सुभाषित ।

(१) सात्त्विक भावसे उन्नति ।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था
मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था
अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

" सात्त्विक लोगोंका उत्कर्ष होता है, राजस

लोग मध्य स्थितिमें रहते हैं, और तामस लोगोंकी अधोगति होती है।' अतः मनुष्य अपने अन्दर सात्त्विकभाव बढावे।

(२) त्रिगुणोंमें न फंसो।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्
देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखै—
र्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

" देहमें उत्पन्न होनेवाले इन तीनों गुणोंको उलांघ कर जन्ममृत्यु, जरादुःखोंसे मुक्त होकर मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होता है।" अतः इन गुणोंमें न फंसना साधकको योग्य है।

(३) अव्यभिचारिणी भक्ति।

मां च योऽव्यभिचारेण
भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्
ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

"अव्यभिचारिणी भक्तिसे जो ईश्वरकी सेवा करता है, वहभी तीनों गुणोंके बंधनोंको तोडकर ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त करता है।" ईश्वरभक्तिकी यह महिमा है।

श्रीमद्भगवद्गीताके

चतुर्दश अध्यायकी विषयसूची

पंचदशोऽध्यायः ।

पुरुषोत्तम-योगः ।

(१) अश्वत्थ वृक्ष ।

श्रीभगवानुवाच- ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

अन्वयः—श्रीभगवान् उवाच- छन्दांसि यस्य पर्णानि (सन्ति तं) अश्वत्थं ऊर्ध्वमूलं अधःशाखं अव्ययं प्राहुः। यः तं वेद, सः वेदवित् (इति उच्यते) ॥ १ ॥ तस्य गुणप्रवृद्धाः विषयप्रवालाः शाखाः अधः ऊर्ध्वं च प्रसृताः (सन्ति); अधः च मनुष्यलोके कर्मानुबंधीनि मूलानि अनुसंततानि (सन्ति) ॥ २ ॥

श्रीभगवान् कहते हैं- सब छन्द जिसके पत्ते हैं, उस अश्वत्थकी जड ऊपर है और शाखा नीचे फैली हैं, इसे अविनाशी कहते हैं। जो इसे जानता है, वही वेदवित् कहा जाता है ॥ १ ॥ उसकी (सत्त्वादि) गुणोंसे बढी हुई और (शब्दादि) विषयोंके कोमल पल्लवोंसे युक्त शाखाएं नीचे और ऊपर फैली हुई हैं, और नीचे मनुष्यलोकमें कर्मोंके साथ संबंध रखनेवाली जडें बहुत फैली हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— संसारका वृक्ष अनादि अनंत चारों ओर फैला है, इसके ज्ञानरूपी पत्ते सबको शीतल छाया देनेवाले हैं, शाखाएं ऊपर नीचे फैली हैं, इनमें सत्त्व-रज-तम गुणोंका रस भरपूर भरा है, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधरूप विषयोंके सुखदायी कोमल अंकुर लगे हैं और इनकी कर्मोंसे संबंध जोडनेवाली जडें चारों ओर फैली हैं ॥ १-२ ॥

संसार का वृक्ष ।

(१-२) यहां इस पंदरहवें अध्यायमें इस संसारको अश्वत्थ वृक्ष मानकर बडा सुंदर वर्णन किया है। "इसका मूल ऊपर है, शाखाएं नीचे हैं, इसके पत्ते सब प्रकारके छन्द हैं, ऊपर नीचे इसकी शाखाएँ फैली हैं । सत्त्व-रज-तम ये तीन गुणोंसे इन सब शाखाओंका पालन होता है, शब्द -स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये विषय इन शाखाओंके कोमल अंकुर बढ रहे हैं, इसकी जडें बहुत गहरीं गयी हैं और आगे उनका कर्मोंके साथ संबंध हुआ है। मनुष्यलोकमें यही अव्यय वृक्ष है जिसके आश्रयमें सब मानव हैं।"

यह वर्णन बडा अर्थपूर्ण है। इसका विचार हम आगे करेंगे । उससे पूर्व इस तरह संसारको वृक्ष कहकर कहां कहां वर्णन किया है वे वर्णन देखेंगे । पहिले कठोपनिषद् का वर्णन देखिये—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत् ॥ कठ उ० ६ । १

"जिसकी जडें ऊपर हैं और शाखाएं नीचेकी ओर हैं, वह सनातन अश्वत्थ वृक्ष यह है। वही शुक्र, वही ब्रह्म और वही अमृत है ऐसा कहते हैं। इसीमें सब लोक आश्रय किये हुए हैं। इसको कोई उल्लंघ नहीं सकता, यही निश्चयसे वह है।"

भगवद्गीताके श्लोक का अर्थ समझनेके लिये इस वचनका अनुसंधान अवश्य करना चाहिये। इस वृक्षको यहां 'सनातन' कहा है और गीतामें 'अव्यय' कहा है, दोनोंका अर्थ एकही है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह वृक्ष क्षणभंगुर नहीं है। यह सनातन है और अव्यय अर्थात् अविनाशी है। बहुत लोग इसको क्षणभंगुर कहते हैं, परंतु यह क्षणभंगुर संसारकी कल्पना वेद, उपनिषद् और गीताकी नहीं है। भगवद्गीता तो परमात्माको 'विश्वरूप' मानती है, अतः परमात्मा अनादि अनंत है और अविनाशी है वैसाही परमात्माका विश्वरूप-संसारभी अनादि अनंत और अविनाशी है। यही भाव इस वृक्षको सनातन और अव्यय कहनेसे व्यक्त हो रहे हैं। पाठक ये शब्द अवश्य देखें।

इसी उद्देश्यसे यहां इस उपनिषद्के वचनमें इसी अश्वत्थ वृक्षको 'शुक्र ब्रह्म और अमृत' कहा है। यह वृक्ष ब्रह्मका ही रूप है, यही शुद्ध तथा बलशाली है और अमृत अर्थात् मरणधर्मरहित है। इसको जो बंधनकारक समझते हैं वे गलतीपर हैं, इसका विचार आगे किया जायगा। यहां प्रथम अन्यान्य स्थानोंपर इस वृक्षके विषयमें क्या कहा है वह देखेंगे। मुण्डक उपनिषद्में वृक्षका वर्णन इस तरह है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्व-
त्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥
(ऋग्वेद १ । १६४ । २२; मुण्डक ३।१)
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया
शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य
महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥
(मुण्डक उ० ३।२)

"उत्तम पंखवाले, साथ साथ रहनेवाले दो पक्षी एक वृक्षपर साथ साथ रहते हैं, उनमें से एक पक्षी उस वृक्षका मीठा फल खाता है और दूसरा कुछभी न खाता हुआ प्रकाशता है॥ इस वृक्षपर रहनेवाला पुरुष इस वृक्षके फल में निमग्न हो कर मोहित होता है और अपने स्वामी न होनेके— अपने सामर्थ्यहीन होनेके- अपने निर्बल होनेके विषयमें शोक करता रहता है। जब यह दूसरे सच्चे स्वामीका दर्शन करता है और उसका ही यह महिमा है ऐसा जानता है, तब इसका शोक दूर होता है।"

यहां भी एक वृक्ष है और उसपर एक जीव और दूसरा शिव ऐसे दो पक्षी बैठे हैं, जीव नामक पक्षी इसका फलभोग करता है, इस लिये इसमें फलभोग की आसक्ति रहती है, और आसक्तिके कारण मोहशोक होते हैं और अपने बलहीन होनेका विचार वारंवार उसे कष्ट देता है। पश्चात् जब अपने साथी दूसरे शिवसंज्ञक पक्षीकी यह सब महिमा है, ऐसा यह जीवपक्षी जानता है, तब फलभोगके संगमें फंसता नहीं और शोकरहित होता हुआ जीवन की सफलता प्राप्त करता है।

इन मंत्रोंकी तुलना गीताके श्लोकोंके साथ करनेसे अर्थकी पूर्णता होती है और मुक्तिके मार्गका भी पता लगता है। असंगशस्त्र (श्लो०-१५।३) से वृक्षका छेदन करनेका जो उपाय गीतामें बताया है उसका संबंध उसके फलभोगके

साथ है, यह बात (पिप्पलं स्वाद्वत्ति) मीठा फल खाता है, इस ऋग्वेदके वचनसे स्पष्ट होती है।

महाभारतके आश्वमेधिक पर्वमें ब्रह्मारण्यका वर्णन इस तरह किया है-

प्रज्ञावृक्षं मोक्षफलं शान्तिच्छायासमन्वितम्।
ज्ञानाश्रयं तृप्तितोयमन्तःक्षेत्रज्ञभास्करम् ॥१६॥
येऽधिगच्छन्ति तत्सन्तस्तेषां नास्ति पुनर्भवः।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक्च तस्य नान्तोऽधिगम्यते ॥
॥१७॥

महाभा० आश्व० अ० २८ (अनुगीता०)

" इस विद्यारण्य अथवा ब्रह्मारण्यमें प्रज्ञा नामक वृक्ष हैं, उनको मोक्षरूपी फल लगे हैं शान्तिरूप छाया वहां है, ज्ञानका आश्रय करने योग्य स्थान है, तृप्ति देनेवाला जीवन-जल वहां है। और क्षेत्रज्ञ आत्माका प्रकाश यहां पडा है। जो लोग इस वनमें जाते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता, इस वनका ऊपर नीचे तिरछा तथा किसी-भी ओर अन्त नहीं प्रतीत होता।" ऐसा यह वडा भारी अरण्य है। एक अश्वत्थ वृक्षके स्थानपर यहां अनन्त वृक्षोंका महावन कहा है। इस वृक्षपर वे जाते हैं कि जो मुक्तिके अधिकारी होते हैं, इन्हींको मोक्षरूपी फल प्राप्त होता है। भगवद्गीतामें जिस अश्वत्थ वृक्षका वर्णन है उसको असंगशस्त्रसे काटना है, वह वृक्ष इस वनमें नहीं है. इस वनमें पहुंचनेवालोंको मोक्षरूपी अमृतफल मिलता है और किसी वृक्षके किसी टहनीको काटनेकी आवश्यकता नहीं है। अर्थात् ये वृक्ष मानवी प्रगतिमें रुकावट डालनेवाले नहीं है और भगवद्गीतामें कहा अश्वत्थ वृक्षका विस्तार साधक की उन्नतिमें रुकावट करनेवाला है। अतः वह असंगशस्त्रसे काटना पडता है।

इन दोनों वृक्षोंके स्वरूपमें यह भेद है जिसका विचार पाठकोंको करना चाहिये। अब वेदके कतिपय मंत्रोंका विचार करते हैं—

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥१॥
पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः ॥२॥
(ऋग्वेद १० । १३५)

(ऋषिः—कुमारो यामायनः। देवता-यमः)

"जिस उत्तम पानोंसे युक्त वृक्षपर वैठकर सब प्रजाओंका पालनकर्ता पिता यम अन्य देवोंके साथ रसपान करता है और अपने साथ प्राचीन पितरोंको चाहता है। प्राचीन पितरोंको चाहनेवाले और पापी वद्धिके साथ विचरनेवालोंको न चाहनेवाले यमका मैंने एकवार दर्शन किया और उसका फिर दर्शन करना चाहता हूं।" इस मंत्रमें एक वृक्ष है, उसपर सबका पालक देव वैठा है और उसके साथ अन्य देव भी हैं ये सब वहां रसपान कर रहे हैं और वह पालनकर्ता देव पुराने लोगोंको वहां चाहता है, संभवतः उनको भी रस पिलाता ही होगा, और वह पापी वद्धिके साथ रहनेवालोंको नहीं चाहता अर्थात् निष्पाप वुद्धिवालोंकोही चाहता है। यहां का यह वृक्ष असंगशस्त्रसे काटने योग्य नहीं है; क्यों कि यहां सद्‌वुद्धिवाले सत्पुरुष जाते हैं और परमपिता के साथ जो देवसभा वैठी है उसमें प्रवेश पाते हैं तथा ये सब मिलकर अमृत रसका पान करते हैं। इस कारण यह वृक्ष पूर्वोक्त महाभारतमें कहे प्रज्ञावृक्षके सदृश दीखता है; इसको यहां 'पलाश' कहा है. गीतोक्त वृक्ष 'अश्वत्थ' है परंतु 'वड' के समान उसका वर्णन है।

रुशत्पिप्पलं मरुतो वि धूनुथ॥ (ऋ० ५।५४।१२)

'पीपल वृक्षको मरुत् देव हिलाते रहते हैं।' ऐसा एक स्थानपर कहा है। संभवतः ऊपरके मीठे फल गिरानेके लिये ही ये इस वृक्षको

हिलाते होंगे। यह स्वर्गीय पीपल है इसमें संदेह नहीं है। और देखिये—

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत॥
(अथर्ववेद ५।४।३; १९।३९।६)

"अश्वत्थ वृक्ष देवोंके रहनेका स्थान है, वह तीसरे द्युलोकमें रहता है, उस अमरत्व देनेवाले कुष्ठको देवोंने प्राप्त किया।" इस मंत्रमें अश्वत्थको देवोंका घर बताया है और इसका मूल स्थान तृतीय द्युलोक है। चूंकि इसके आश्रयसे देवताएं रहती हैं इसलिये इस वृक्षकी शाखाएं छेदन करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, जैसा कि गीतामें असंगशस्त्रसे अश्वत्थ वृक्षको काटनेको कहा है। अस्तु।

इस तरह वैदिक सारस्वतमें वृक्षके आश्रयसे देवताओंका निवास आदिके विषयमें कहा है। यहां 'वृक्ष' आदि शब्द आलंकारिक भाव दर्शाते हैं, और यहांके 'पक्षी' भी आकाशमें उडनेवाले पंखयुक्त प्राणी नहीं है, यह बात स्पष्ट ही है। अतः इसको आलंकारिक मानते हुए यहांतक जो वचन हमने देखे उसका संक्षेपसे आशय देखेंगे और उसका थोडासा मनन भी करेंगे—

अलंकारका स्वरूप।

१ जिसकी जडें ऊपर हैं और नीचे शाखाएं हैं ऐसा एक अश्वत्थ वृक्ष है, इसके पत्ते छन्द-वेद-हैं। (गीता १५-१, कठ ६।१)

२ इस वृक्षकी शाखाएं नीचे और ऊपर फैली हैं, इनमें सत्त्व-रज-तमका भाव रसरूप होकर भरपूर भर गया है, मानों इस रससे ही इस शाखाविस्तारका पोषण हो रहा है। (गी० १५।२)

३ इन शाखाओंपर विषयरूपी सुंदर पल्लव इसकी शोभा वढाते हैं और मोक्षधामके पान्थस्थोंको सुख देते हैं। इनके कारण ही इस वृक्षकी सुंदरता वढ गयी है। (गी० १५।२)

४ इस वृक्षकी जडें मनुष्योंके कर्मोंके साथ संबंध रखती हैं अर्थात् कर्मरूपी भूमिमें जडें जातीं हैं और वहांसे इस वृक्षका पोषण और संवर्धन होता है। (गी० १५।२)

५ जिसकी जडें ऊपर हैं और शाखाएं नीचे हैं वह अश्वत्थ वृक्षही सामर्थ्ययुक्त 'अमृत ब्रह्म' है, इसीके आश्रयसे सब लोग सुरक्षित रहे हैं और कोई इसको उल्लांघ नहीं सकता। (कठ उ० ६।१)

६ एक वृक्षपर दो पक्षी बैठे हैं, उनमें एक फल खाता है और दूसरा कुछभी न खाता हुआ चमकता रहता है, अर्थात् भोग न करनेवाला तेजस्वी है और भोग करनेवाला भूखा है। (ऋ० १।१६४।२२; मुण्ड० ३।१)

७ इस वृक्षके फलका भोग करनेमें जो तत्पर होता है वह मोहसे शोक करता है, अपनी निर्बलतासे दुखी होता है, जब दूसरे तेजस्वी पक्षीका दर्शन करता है और जानता है कि वह फलभोग न करनेके कारण तेजस्वी और समर्थ है तब उसकी यह सब महिमा है ऐसा जानकर शोकरहित अर्थात् सुखी होता है। (मुण्ड० ३।२)

८ इस हरेभरे वृक्षके नीचे बैठकर सब देवोंके साथ यम रसपान करता है, वहां हमारे प्राचीन पूर्वज जिन्होंने देवत्वको प्राप्त किया वे भी उस सभामें विराजते हैं। (ऋ० १०।१३५।१)

९ यह सब विश्वका देव पापमयी बुद्धिको नहीं पसंद करता वह पुण्यमयी बुद्धिहि पसंद करता है। इस देवताका जो एकवार दर्शन करता है उसको उसका वारंवार दर्शन करनेकी तीव्र इच्छा होती है, क्योंकि उसका दर्शनही ऐसा सुंदर है। (ऋ० १०।१३५।२)

१० अश्वत्थ वृक्षपर देव रहते हैं और वह अश्वत्थ तृतीय द्युलोक में है। वहां ही अमृत का स्रोत है। (अथर्व० ५।४।३)

संक्षेपसे यह आशय यहां तक दिये वचनोंका है। यहांका वृक्ष यही संसार है। इस संसार-वृक्षपर कई जीवरूपी पक्षी बैठे हैं, उनमें कई नित्यतृप्त आप्तकाम और असंग वृत्तिसे रहनेवाले हैं, जो आनंदी और तेजस्वी हैं। अन्य जीव भोगी हैं वे चिन्तामें मग्न, मोहसे ग्रस्त, दुःखसे संतप्त और आधिव्याधियोंसे पीडित हैं। यहां पता लगता है कि भोगलालसासे दुःख और अनासक्तिसे सुख प्राप्त होता है।

जो आत्मा सुखी है वह (अनश्नन्) भोगमें अनासक्त है और (यमः) संयमी है। इसीमें उसके सुखका बीज है। अनासक्ति ही सुखका हेतु है। एकही वृक्षपर बैठनेवाले दो पक्षियोंमें जब अनासक्तको सुख और आसक्तको दुःख होता है, तब दुःखी जीवोंको उचित है कि वे अनासक्तिसे रहें और सुखी हो जांय। जो अनासक्त और संयमी है, वही ईश है। भोगी ईश होही नहीं सकता, क्योंकि भोगी होनेका अर्थ वह अपने आपको हीन दीन और अपूर्ण समझता है। जो अपूर्ण है और बाहरसे वस्तु आनेपर जिसकी तृप्ति होनेकी कल्पना है वह समर्थ और पूर्ण किस तरह हो सकता है? और समर्थ न होगा, वह ईश भी किस तरह हो सकता है?

यहां 'कर्मफलत्याग' के गीताके सिद्धान्त का वैदिक मूल हमें प्राप्त हुआ। इस संसारमें जीवोंको सुख देनेवाली छाया वेदोंसे ही प्राप्त होती है। छन्द ही यहांके (पर्णानि) पल्लव हैं, शाखाविस्तार सब यही वेदविस्तार है। आनंदसे और सुखसे इस छायामें जीव रहते हैं और वेदमार्गके अनुसार चलते चलते आगे मार्ग मिलता जाता है।

शाखाएं, पल्लव, जडें और वृक्षकी टहनियां ऐसी एक दूसरेके साथ मिलीं हैं कि उनके अन्दर अटका हुआ पक्षी बाहर खुली वायुमें आ नहीं सकता, क्योंकि उसको मार्गही नहीं मिलता। कर्म करो, उसका सुख भोगो, आगे भी कर्म करो और फिर सुख भोगो, फलसंग्रह करो, उसका रक्षण करो, उसको भोगो, इस तरह अनेक कष्टों और यातनाओंमें फंसा हुआ यह जीव बाहर कैसा निकल आवे? इसके पाश इतने हैं कि उनसे बाहर निकलना बिलकुल उसे कठिन होता है।

छोटेपनमें अज्ञानमें रहता है, तारुण्यमें स्त्रीभोगमें लिपट जाता है, आगे बालबच्चे होते हैं, पीछे उनके विवाहके मंगलकार्य हैं, मित्र हैं, सगे हैं, संबंधी हैं, दुःख और शोक हैं, वैयक्तिक और सामूहिक कार्य हैं, एक कार्य समाप्त होता है तो दूसरा शुरू होता है, इस तरह इसे इससे छूटनेका मार्ग नहीं दीखता। एकही मार्ग है जो यह (यम) संयमी बने और (अनश्नन्) भोग भोगनेका इच्छुक न रहे, इस असंगवृत्तिसे रहनेसे ही इसका मार्ग खुल जाता है।

कठ उपनिषदमें जो कहा है कि यह अश्वत्थ वृक्षही (शुक्र अमृत ब्रह्म) सामर्थ्ययुक्त अमृतमय ब्रह्म है वह सत्य है, क्योंकि (वासुदेवः सर्वं। गी० ७।१९) वासुदेवही सब कुछ है और (पुरुष एवेदं सर्वं। ऋ० १०।९०।२) पुरुष परमेश्वरही सब कुछ है, तब तो यही वृक्ष है और दूसरा कुछ भी नहीं है, यही सब कुछ है। हम अलग होकर भोग भोगना चाहते हैं। इस भोगी वृत्तिमें दुःख है। मुझसे दूसरे भिन्न हैं और मैं उनको दबाकर भोग भोगूंगा, इस वृत्तिमें सब दुःख है। यदि इसके मनमें अनन्यभाव स्थिर होगा और यहां अन्य कोई नहीं है, सब एकही सत्यवस्तु है, मैं और अन्य सब उसीमें अन्तर्गत हैं, यहां कोई पृथक् नहीं है, इस तरहके अनन्यभावसे यदि मनुष्य रहने लगें, तो असंगवृत्ति होनेके कारण सर्वत्र आनंद और एकरस सुखही सुख प्राप्त होगा। अतः अनन्यभाव और असंगवृत्ति धारण करना उचित है।

(२) असंग शस्त्रसे वृक्षका छेदन ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

अन्वयः— (यथा अयं वर्णितः) तथा अस्य रूपं इह न उपलभ्यते । (अस्य) अन्तः न, आदिः च न, संप्रतिष्ठा च न (उपलभ्यते), सुविरूढमूलं एनं अश्वत्थं दृढेन असंगशस्त्रेण छित्वा, ततः ' यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता तं एव आद्यं पुरुषं अहं प्रपद्ये ' (इति)तत् पदं परिमार्गितव्यं, यस्मिन् गताः भूयः न निवर्तन्ति ॥ ३–४ ॥

(इस अश्वत्थ वृक्षका यहां जिस तरह वर्णन किया है) उस तरह इसका स्वरूप यहां व्यक्त रूपसे दीखता नहीं, अर्थात् इसका न अन्त, न आदि और न आधार दीखता है, अत्यंत गहरी जडोंसे युक्त इस अश्वत्थ नामक वृक्षको सुदृढ असंगरूप शस्त्रसे काटकर, 'जिससे पुरातन कालसे प्रवृत्ति चली आ रही है उसी आद्य पुरुषको मैं शरणागत होता हूं।' (ऐसी भावना करके) पश्चात् उस पदको ढूंढना चाहिये कि जिसमें गये हुए फिर वारंवार वापस नहीं आते।

भावार्थ— इस संसारवृक्षका आदि अन्त और आधार कहां है इसका पता नहीं लगता और इसका ठीक ठीक स्वरूप भी सर्वसाधारण के समझमें नहीं आता। इसलिये वैराग्यरूपी शस्त्रसे इसको काटना चाहिये और जिस बीजसे यह वृक्ष अनादि कालसे इतना फैल रहा है, उस आद्य जगद्बीज ईश्वरको मैं शरण जाता हूं ऐसी नम्र भावनासे उसे शरण जाकर, उस स्थानको ढूंढना चाहिये कि जहां पहुंचनेपर वारंवार वापस आकर दुःख भोगना नहीं पडता, अर्थात् जहां जाकर अखण्ड आनंद मिलता रहता है ॥ ३—४ ॥

जो पाश हमारे पीछे लगे हैं वे और किसीके बनाये नहीं हैं, वे तो सब भोगासक्तवृत्तिसे, संगभावसे अर्थात् हमारेहि कारण बनाये गये हैं। भोगी लोग अपने पाशोंको स्वयं बनाते हैं और अपने आपको उसीमें बांध देते हैं, बांधा जाने पर स्वयं रोते हैं, चिल्लाते हैं और पीटते हैं और कहते हैं कि 'हे देव! हमें छोड दो।' परंतु विचार नहीं करते कि बांधा किसने है ? पाश किसने निर्माण किये हैं? यहां तो बांधनेवाला और छोडनेवाला दूसरा कोई नहीं है। स्वयंही संगवृत्तिसे बांधा जाता है और असंगवृत्तिसे स्वयं बंधन टूट जाते हैं। अतः कहा है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ।

'मन ही मनुष्योंके बंधन और मोक्षका हेतु है।' फिर भाई! कष्टोंसे बचानेवाला और कष्टोंमें डालनेवाला कौन है ? अपने मनकी वृत्ति है, जो सब करती है, उद्धार करनेवाला भी स्वयं और अवनति करनेवालाभी स्वयंहि है।

असंगभावसे सब प्रकारकी उन्नतिका मार्ग खुला हो जाता है और संगवृत्तिसे सब प्रकारके कष्ट होते हैं। यही भाव भगवान् श्रीकृष्ण आगे बताते हैं—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् । कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

(१०) वस्त्र बदलना ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

अन्वयः- हे पार्थ ! यः एनं अविनाशिनं नित्यं अजं अव्ययं वेद, सः पुरुषः कथं कं घातयति, कं हन्ति ? ॥२१॥ यथा नरः जीर्णानि वासांसि विहाय, अपराणि नवानि गृह्णाति; तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय नवानि संयाति ॥ २२ ॥

हे अर्जुन ! जो इसको अविनाशी, नित्य, अजन्म और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसा किसको मरवाता है और किसको मारता है ? ॥ २१ ॥ जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रोंको त्याग कर, दूसरे नये वस्त्रोंका ग्रहण करता है, उसी प्रकार देहधारी आत्मा जीर्ण शरीरोंका त्याग करके नये शरीरोंको धारण करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ- अजन्मा आत्माका जन्म नहीं होता, अमरकी मृत्यु नहीं होती, अव्ययका कुछभी व्यय नहीं हो सकता, नित्य वस्तुका कभी अभाव नहीं होगा॥२१॥ जैसा मनुष्य अपने वस्त्र बदलता है, वैसाही आत्मा अपने देहोंको बदलता है॥२२॥

होकर पुनः इसका अभाव नहीं होगा । जो जन्मता है और मरता है उसके विषयमें ऐसा कहा जा सकता है कि, (भूत्वा अभविता) यह होकर कुछ कालके पश्चात् अभावको प्राप्त होगा, जैसा देह; यह एकवार जन्मता है अर्थात् जन्म कर ' भाव ' को प्राप्त होता है, और पश्चात् (अ-भविता) यह देह अभावको प्राप्त होता है । संपूर्ण देहोंके विषयमें ऐसाही कहा जाता है । परन्तु आत्माका कभी अभाव नहीं होता ।

इसी प्रकार (अ-भूत्वा भविता न) पहिले न होता हुआ भी पीछेसे बनता है, ऐसीभी बात नहीं है । जो जन्मता है उसके विषयमें ऐसा कहा जा सकता है, परंतु जिसको जन्म नहीं है उसको 'न होकर भी पीछेसे होनेवाला' ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

यदि इसका जन्म शरीरके साथ होता है और शरीरके साथ इसकी मृत्यु होती है ऐसा माना जायगा, तोही (भूत्वा भविता) होकर फिर होनेवाला यह आत्मा है, ऐसा माना जा सकेगा । परंतु यह बात तभी होगी जब देहके धर्म इसपर आरोपित किये जायँगे । परंतु एकके धर्म दूसरेपर आरोपित करना यह अज्ञानका द्योतक है, इसलिये यह आत्मा एकवार होकर फिर वारंवार होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

(न भूत्वा न भविता) वस्तुतः देखा जाय तो यह एकवार न होकर फिर होनेवाला भी नहीं । तात्पर्य किसी प्रकार यह आत्मा जन्म मृत्युको प्राप्त नहीं होता । इस बीसवें श्लोकके द्वितीय पादके विषयमें बहुत टीकाकारोंमें मतभेद हैं । यहां कई 'भूत्वा भविता' ऐसा पद मानते हैं और कई 'भूत्वा अभविता' ऐसा मानते हैं । यहां टिप्पणीमें दोनों प्रकारके पदोंकी संगति बतायी है । पाठक इसका विचार करें ।

यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत अर्थात् चिरकाल रहनेवाला है । यह ' पुराण ' (पुरा+णवः = पुरानवः = पुराणः) पूर्व कालसे होता हुआ भी इस समय नवीन जैसा है । यह अत्यंत पुराना होता हुआ भी अत्यंत नवीन जैसा सदा रहता है । यह कभी जीर्ण, क्षीण या दुर्बल नहीं होता ।

इसका शरीर जन्मवाला, अनित्य, अशाश्वत है और जब यह शरीर पुराण अर्थात् वृद्ध होता है, तब नवीन जैसा नहीं रहता है । अर्थात् शरीरके गुणधर्म उसके गुणधर्मोंके साथ बिलकुल विपरीत हैं । इस शरीरके काटे या मारे जानेपर भी वह आत्मा मारा नहीं जाता अर्थात् शरीर मरनेपर भी वह अमर रहता है ।

हे अर्जुन ! जो इस आत्माको इस प्रकार अविनाशी, अव्यय, अजन्मा अतएव नित्य जानता है, वह किसको मार सकता है ? और ऐसा आत्मा मारनेका यत्न करनेपर भी कैसे मर सकता है ? अर्थात् आत्माके मरने मारनेकी कल्पना असत्य है । इस विषयमें और देखिये —

(३–४) यहां जिस अश्वत्थ वृक्षका वर्णन किया गया है, उसका रूप साधारण मानव जानते नहीं। वे तो चारों और देखते हैं और उनको सर्वत्र सुंदर रमणीय भोग ही भोग दीखते हैं, सब ओर सुंदर जगत् है, उसमें भोगविलास भरे हैं, प्रयत्न करो, भोग भोगो, आनंद करो, दूसरोंको मारो काटो, जो मर्जी हो वह करो, खाओ, पीओ आनंद लुटो, मरनेके पीछे किसने देखा है ? ऋण करो और घी खाओ, इस तरहके विचारोंसे चलनेवाले लोग मोहवश अनेक अनर्थ करते हा रहते हैं, उनको तो इस वृक्षका (न रूपं उपलभ्यते) दर्शन भी नहीं होता। यहां दर्शन न होनेका तात्पर्य यही है कि उनको इसकी कल्पनातक नहीं है। वे तो दुःखको सुख माननेवाले अनित्यको नित्य मानकर विचार न करते हुए चलते हैं।

परंतु जो जीवनका विचार करते हैं उनको अपने बंधनकी कल्पना होती है और वे सोच विचार करने लगते हैं, सोचने लगते हैं और विचार करते करते उनको पता लगता है कि (न अन्तः न आदिः न संप्रतिष्ठा) जिसका आदि अन्त नहीं है और जिसका आधार भी नहीं है ऐसे घने जंगलमें हम अटक गये हैं। चारों और वृक्षवल्लियां हैं, मार्ग तो किसी जगह नहीं दीखता, कहां जांय, क्या करें, इस जंगलसे मुक्त किस तरह हो सकते हैं ? ऐसा सोचते सोचते उसको पता लगता है कि (असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा) असंगरूप सुदृढ शस्त्रसे इस वनको काटा जा सकता है। जब इसका पता उनको लग जाता है और आगे चलकर कई पुरुषार्थी जीवोंने इसी असंगशस्त्रसे इस वनको काटा और मार्ग खुला किया है ऐसा ये देखते हैं, तो येभी पांथस्थ जीव अपने लिये मार्ग तैयार करते हैं। इस रीतिसे मार्ग बनता है और बद्धों को स्वतंत्रता इसी असंगवृत्तिसे प्राप्त हो सकती है। कितना भी घना जंगल क्यों न हो, वह सुदृढ शस्त्रसे काटा जाता है। और उसमेंसे सीधा मार्ग बनाया जा सकता है। इसीका नाम पुरुषार्थ है और यह हरएक मनुष्यको करना ही चाहिये।

यह प्रपंच अथवा संसाररूपी वृक्ष है और यह (सु–वि–रूढ मूल)बडा सुदृढ मूलोंवाला है, अर्थात् इसके जड बडे गहरे गये हुए हैं। तथापि किसीको डरना उचित नहीं है, क्योंकि यह कितनाही सुदृढ क्यों न हो, असंगशस्त्र चलानेपर यह प्रतिबंधक नहीं होता। असंगशस्त्र उठाते ही पथिकका मार्ग सीधा हो जाता है। इसलिये भोगी वृत्ति रहनेतक ही इसका बंधन कष्ट देता है, भोगवृत्ति छोड दी और असंग अथवा अनासक्त वृत्ति बन गयी तो यह वृक्ष ऐसा ही रहनेपर कोई कष्ट नहीं होता। ऋग्वेदमें जहां एक वृक्षपर दो पक्षी बैठनेका वर्णन है, वहां जो फलभोग करनेवाला पक्षी है, वही शोकग्रस्त है, परंतु जो फलभोग नहीं करता वह आनंदसे चमकता रहता है। एकहां वृक्षपर एक सुखी और दूसरा दुःखी है और इसका कारण एक भोगी है और दूसरा त्यागी है। यह ऋग्वेदका पाठ ही श्रीमद्भगवद्गीतामें अधिक विस्पष्ट कर दिया है। अर्थात् यहां स्पष्ट हुआ कि वृक्ष जैसा का वैसा रहनेपर भी संगवृत्ति और असंगवृत्तिसे बंध और मोक्ष होते हैं और यही असंगशस्त्रसे वृक्ष के काटनेका सच्चा तात्पर्य है।

असंग नामक कोई शस्त्र नहीं है जिससे वृक्षके काटने की संभावना है। वृक्ष के फल के भोग का त्याग करनेका ही नाम असंगशस्त्रसे वृक्षको काटना है। अतः पाठक यह न समझें कि यह अश्वत्थ वृक्ष किसी समय काटा जायगा और कभी यह वृक्ष बिलकुल न रहेगा। ऐसा कभी नहीं होगा। यह अश्वत्थ वृक्ष, यह संसारवृक्ष सदा रहेगा, परंतु जो यहां फलभोग करनेकी वासना त्याग देगा, उसके लिये यह न रहने के समान उपद्रवरहित अथवा सहायक बनकर रहेगा और इससे उसको कोई बंधन नहीं होगा। इतना ही आशय असंगशस्त्रसे इस वृक्षके काटने

(३) शाश्वत पदके अधिकारी ।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

अन्वयः— निर्मानमोहाः, जितसंगदोषाः, अध्यात्मनित्याः, विनिवृत्तकामाः सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः, अमूढाः, तत् अव्ययं पदं गच्छन्ति ॥ ५ ॥ न सूर्यः, न शशांकः, न पावकः (च) तत् (पदं) भासयते । यत् गत्वा न निवर्तन्ते तत् मम परमं धाम ॥ ६ ॥

जिनका अभिमान और मोह नष्ट हो चुका है, जिन्होंने विषयासक्तिके दोषोंको जीत लिया है, जो आत्मामें नित्य रमते हैं, जिनकी कामनाएं दूर हो चुकी हैं, जो सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त हो चुके हैं और जो ज्ञानी हैं, वे ही उस अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥ सूर्य चन्द्र अथवा अग्नि उस पदको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं है। जहां जानेपर वापस आना नहीं पडता, वही मेरा (ईश्वरका) परम धाम है ॥ ६ ॥

में है। पाठक विचार करके इसका ठीक ठीक आशय जाने।

ईश्वर उपासना।

फलभोगकी वासना छूट गयी और नित्यतृप्त रहनेकी स्थिति प्राप्त हो गयी, तो यह स्थिति चिरकाल रखने के लिये ईश्वरउपासना का अभ्यास करना चाहिये, अन्यथा मनका स्वभाव चंचल होने के कारण यह असंगवृत्ति कदाचित् स्थिर रूप से नहीं रहेगी और फिर भोगवृत्ति बढ जायगी। ऐसा न हो इस लिये कहा है—

यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता
तं आद्यं पुरुषं एव प्रपद्ये।

'जिससे पुरातन कालसे इस संसारकी प्रवृत्ति चली आयी है उसी आद्य पुरुष-परमात्मा -परमेश्वर को मैं शरण जाता हूं' और वह मुझे उस अमृत स्थानमें चिरकाल रखे। ऐसी मनोभावना से उस साधकको ईश्वरकी प्रार्थना करते हुए शरण जाना चाहिये। शरण जानेमें अपनी सब अहंकार की वृत्तिका त्याग होता है। अपने आपको परमात्माके लिये समर्पित करना भगवच्छरणागतिसे ही होता है।

जिस स्थानको पहुंचनेसे फिर वापस आना नहीं होता है, उस पद को प्राप्त करना मनुष्यका कर्तव्य है और वह इस तरह प्राप्त किया जाता है, ढूंढा जाता है. खोज किया जाता है और भगवच्छरणागतिसे वह निश्चयसे प्राप्त भी होता है। अपने अहंकार का इस तरह यज्ञ किया जाता है और पूर्ण अनन्यभाव मनमें स्थिर होता है। जिनको यह स्थिति प्राप्त होती है, वेही शाश्वत पद के अधिकारी हैं। इसका वर्णन आगे के दो श्लोकों में किया है वह मननीय वर्णन अब देखिये–

भावार्थ— जो अभिमानरहित, मोहरहित, अनासक्त, आत्मनिष्ठ, भोगवासना-रहित, द्वन्द्वभावसे दूर और ज्ञानी हैं वे उस अविनाशी परम पदको प्राप्त होते हैं। जहां सूर्य, चन्द्र अथवा अग्निका प्रकाश नहीं पहुंचता, वहां ईश्वरका परम धाम चमक रहा है, क्योंकि इसके प्रकाशसेही सूर्य चन्द्र और अग्नि प्रकाशित होते हैं ॥ ५-६ ॥

अव्यय पदके अधिकारी ।

(५-६) अव्यय परमात्मा के स्थानको कौन प्राप्त करते हैं इस का वर्णन यहां किया है-

अमूढाः अव्ययं पदं गच्छन्ति ।

' जिनकी मूढता दूर हुई है वे ही परमात्माके अव्यय पद को प्राप्त होते हैं।' मूढता रहने तक, अर्थात् अज्ञान रहनेतक परमात्माका अव्यय पद प्राप्त नहीं हो सकता। जिनका अज्ञान दूर हुआ है उनके लक्षण पाठक इसी श्लोकमें देखें-

(१) निः-मान+मोहाः ।

जिनसे अभिमान दूर हुआ है और मोह भी दूर हुआ है वे परम पद के अधिकारी हैं। अज्ञानसेहि अभिमान और मोह होते हैं, अभिमान घमंड अहंकार ज्ञान प्राप्त होने तक ही रहते हैं। अभिमान का अर्थ ' मैं हूं, मैं दूसरोंसे पृथक् हूं, मैं भोग भोगूंगा, इससे दूसरोंकी हानि हुई तो भी मुझे उसकी पर्वाह नहीं है। ' इत्यादि भाव अहंकार से होते हैं। यह सब अज्ञान ही है, मोह भी इसी कारण होता है, मैं और दूसरा इस द्वैतभाव का ही फल मोह है, यह मेरा है और यह दूसरेका है, इस कारण ही मनुष्य मोहित होते और पाप करते हैं। यह सब अज्ञान है। ज्ञान वही है जिससे सर्वत्र अनन्यभाव प्रतीत होता है, सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व है उसे छोडकर उसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, ऐसी एकात्मदृष्टि स्थिर हो गई, तो उस में अहंकार और मोह के लिये कोई स्थान नहीं मिलेगा, जहां सर्वत्र एकात्मप्रत्यय आगया वह किसको पास करेगा और किससे दूर होगा? अतः घमंड, शोक, मोह, उसके पास नहीं रहेंगे।

(२) सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः ।

' सुख और दुःख नामक द्वन्द्वोंसे जो मुक्त होते हैं, ' सुखदुःख, हानिलाभ, जयपराजय, आप-पर, आदि अनेक द्वन्द्व हैं, वे अज्ञानीको ही कष्ट देते हैं, जिसमें सभी ब्रह्मके रूप हुए' विश्वात्मा के विश्वरूप में जिसने सबकी एकता देखी, उसको द्वन्द्वके सब प्रकार एकही अभिन्न ब्रह्मके अखंड रूप होनेके कारण उस अनन्यभाव धारण करनेवालेके सामने कोई द्वन्द्व भेदरूपसे रहते ही नहीं, अतः द्वन्द्वोंसे वह मुक्त होता है। जब सब द्वन्द्व ब्रह्मरूप होंगे, तब उनका द्वन्द्व होनेका दोष दूर होता है और द्वन्द्वभावसे यह मुक्त होगा।

(३) वि-निवृत्त-कामाः ।

जिनके अन्तःकरणसे भोगोंकी कामनाएं जिनके मनसे सब प्रकारकी कामनाएं दूर हो चुकी हैं, जो निष्काम हुए हैं, जिनमें तृष्णा रही नहीं, वे परम पदके अधिकारी हैं।

(४) जित-संग-दोषाः ।

भोगासक्तिके दोषोंको जिन्होंने जीत लिया है, अर्थात् जिनमें फलभोगवृत्ति रही नहीं, जो नित्यतृप्त हैं, आप्तकाम हैं, असंग हो चुके हैं वे परम पदके अधिकारी हैं।

(५) अध्यात्मनित्याः ।

(अधि+आत्मा) आत्माकी जो शक्तियां प्रकट होती हैं उनका नित्य मनन जो करते हैं, उनको आत्माकी अद्भुत शक्तिका पता लगता है, और उस कारण आत्मामें उनकी श्रद्धा दिनो दिन बढ जाती है। इन लोगोंको आत्माका ही यह सब आविष्कार है ऐसा निश्चय होता है और वे एक आत्मतत्त्वका सर्वत्र दर्शन करते

(४) ईश्वरीय अंश जीव।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

हैं अतः इसतरह आत्माका सर्वत्र साक्षात्कार करनेवाले आत्माके अव्यय पदको प्राप्त होते हैं; अर्थात् मैं उस आत्मासे पृथक् नहीं हूं यह ज्ञान उनमें सुदृढ होनेके कारण वे आत्मारूप बनते हैं :

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि,
आत्मा एव अभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक,
एकत्वमनुपश्यतः ॥ (ईश उ० ९)

'जिस समय सब भूत आत्माही हो चुके, उस समय उस एकतत्त्वका दर्शन करनेवाले विज्ञानी पुरुषको शोक और मोह किस तरह हो सकते हैं ?' ऐसी अवस्था जिनकी होती है, वे परम अव्यय पदके अधिकारी होते हैं।

निरभिमानी, मोहरहित, द्वन्द्वोंको समभावसे देखनेवाले, निष्काम, भोगोंके विषयमें अनासक्त और आत्माकी शक्तिका सतत मनन करनेवाले, आत्माको यथायोग्य रीतिसे जानते हैं और आत्मज्ञान होनेसे वे स्वयं आत्मारूप बनते हैं, स्वयं आत्मा बनने से वे आत्मासे अनन्य होते हैं और पूर्ण रूपसे अनन्य होनाही परमात्माका अव्यय पद प्राप्त करना है।येही शब्द इस समयतक भगवद्गीतामें अनेक वार आ चुके हैं, अतः इनका अधिक स्पष्टीकरण जो वहां किया है, वह भी पाठक यहां देखें और इन निरभिमानिता आदि गुणोंका महत्त्व जानें। ये गुण प्राप्त होना ही श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होनेका लक्षण है।

परम पदका लक्षण।

अब परम पदका लक्षण बताते हैं। 'वहां सूर्य का प्रकाश नहीं पहुंचता, न वहां चन्द्रमा और अग्निकी ज्योति उजाला करती है। जहां पहुंचनेसे वापस नहीं आते, वही परमात्मा का श्रेष्ठ धाम है।', यह परमधाम का लक्षण है।

सूर्य, चन्द्र और अग्निका प्रकाश वहां नहीं पहुंचता अथवा वहांके तेजके सामने इनका प्रकाश बहुतही फीका है, क्योंकि उसीके तेजसे सूर्यादि पदार्थ तेजस्वी हुए हैं, अतः सूर्यादि पदार्थ वहां प्रकाश नहीं डाल सकते।

जहांसे वापस आना नहीं होता, वह परमात्म पद है। वापस आनेका तात्पर्य दुःखमें गिरना है। दुःख तो द्वैतका ही परिणाम है, जहां द्वैत न रहा, एकत्वानुभव का अनन्यभाव जहां स्थिर हुआ, वहां वापस आकर दुःखका अनुभव पाना कैसा संभव हो सकता है? एकवार जिसे अद्वैतका अनुभव हुआ, वह द्वैत में आवेगा ही नहीं, क्योंकि उसकी कल्पनामें द्वैत रहेगा ही नहीं। जैसा अनेक वस्तु मिश्रीकी बनाई हैं, जिसके मनमें उन सब का मिश्रीरूप स्थिर है, वह उन में विविधता कैसी अनुभव कर सकता है। अतः एकवार अद्वैतका अनन्य होनेका अनुभव हुआ, तो उसे द्वन्द्वका भान होना असंभव है। अतः यह परम पद ऐसा है, कि जिसे एकवार पहचाननेसे फिर शोक मोह होते ही नहीं। यहां पाठक पूछेंगे कि यदि ऐसा एक तत्त्व है, तो जीवका जीवभाव कहां सिद्ध हो सकता है, इस शंका के उत्तरमें कहते हैं, कि जीवभी परमात्मा का ही अंश है, देखिये–

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

अन्वयः- (अस्मिन्) जीवलोके मम एव सनातनः अंशः जीवभूतः (अस्ति सः) प्रकृतिस्थानि मनः षष्ठानि इंद्रियाणि कर्षति ॥ ७ ॥ यत् (एषः) ईश्वरः शरीरं अवाप्नोति, अपि च यत् उत्क्रामति (तत्) वायुः आशयात् गंधान् इव, एतानि गृहीत्वा संयाति ॥ ८ ॥ अयं (जीवः) श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च, रसनं घ्राणं मनः च एव अधिष्ठाय विषयान् उपसेवते ॥ ९ ॥ उत्क्रामन्तं स्थितं वा, भुञ्जानं गुणान्वितं वा अपि विमूढाः न अनुपश्यन्ति, ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति ॥ १० ॥ यतन्तः योगिनः आत्मनि अवस्थितं एनं पश्यन्ति, अचेतसः अकृतात्मानः च यतन्तः अपि एनं न पश्यन्ति ॥ ११ ॥

इस मनुष्यलोकमें मेरा (ईश्वर का) ही सनातन अंश जीव बन कर रहा है, वह प्रकृतिमें स्थिर रहनेवाले पांच इन्द्रियों और छठें मनको अपने पास आकार्षित करता है ॥ ७ ॥ जब यह शरीरका स्वामी शरीरको प्राप्त करता है अथवा जब उसे छोडता है, तब वह, वायु पुष्पोंसे सुगंध ले जाने के समान, इन इंद्रियोंको अपने साथ ले जाता है ॥ ८ ॥ यह जीव कान, नेत्र, त्वचा, जीह्वा, नाक और मन का आश्रय करके विषयोंका उपभोग करता है ॥ ९ ॥ शरीरको छोडनेवाले, शरीरमें रहनेवाले, विषयोंको भोगनेवाले, अथवा गुणोंसे युक्त होनेवाले इस जीव को मूढ जन देखते नहीं, परंतु ज्ञानी लोगही इसे देखते हैं ॥ १० ॥ यत्न करनेवाले योगी अपने अन्दर रहनेवाले इस आत्मा को देखते हैं, परंतु जो विचारहीन और संस्कारहीन होते हैं वे प्रयत्न करनेपर भी इस आत्माको देख नहीं सकते ॥ ११ ॥

भावार्थ- जीव ईश्वर का ही एक अंश है, वही नाना शरीरोंमें जीवभावसे रहता है, वह अपने पास इंद्रियोंको खींच कर रखता है। जैसा वायु अपने साथ सुगंध लाता है, वैसा यह जीव शरीरधारण के समय अपने साथ

इंद्रियोंको लाता है और शरीर छोडनेके समय इनको अपने साथ ले जाता है। यह जीव इन इंद्रियोंका आश्रय करके ही सब प्रकारके विषय भोगता है। यह किसी समय शरीरको छोडता है, किसी समय शरीरमें रहता है, रहकर भोग भोगता है, गुणोंको अपने पास लाता है, इतना करने पर भी मूढ मनुष्य इसे पहचानते नहीं, परंतु जो ज्ञानचक्षुसे देख सकते हैं, वे ही इसे देख सकते हैं। योगी लोग प्रयत्न करने पर इसे देख सकते हैं, परंतु अज्ञानी और संस्कारहीन मनुष्य यत्न करने पर भी इसे जान नहीं सकते ॥ ७–११ ॥

ईश्वरका सनातन अंश।

(७-११) 'ईश्वरका सनातन अंश इस मानव लोकमें जीवभावको प्राप्त हुआ है।' अर्थात् जीवात्मा पृथक् नहीं है, वह ईश्वर का ही अंश है। यह श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त है। जैसा महासागरमें एक जलबिन्दु, जैसा सूर्यप्रभामें एक किरण, जैसी बडे प्रज्वलित अग्निमें एक चिनगारी, वैसा परमात्मामें जीवात्मा है। संपूर्ण सचेतन-अचेतन का अन्तर्यामी आत्मा ही ईश्वर है, उसीका व्यक्तिगत अंश जीवात्मा है। जैसा आकाशमें मठाकाश और मठाकाशमें घटाकाश होता है वैसाही विश्वात्मामें राष्ट्रात्मा और राष्ट्रात्मामें वैयक्तिक आत्मा है। वेदमें कहा है—

> एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
> पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
> स एव जातः स जनिष्यमाणः
> प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥

'यह एकही प्रभु सब दिशा-उपदिशाओंमें है, वही पूर्व समयमें और इस समयमें गर्भमें आता है। वही पहिले जन्मा था, वही इस समय जन्मता है और आगेभी वही जन्मेगा। उसीका मुख सब ओर है और वही प्रत्येक मनुष्यके अन्दर रहता है।' तथा— (वा०यजु०३२।४)

> प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर्-
> अजायमानो बहुधा वि जायते।
> तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा-
> स्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
> (वा० यजु० ३१।१९)

'प्रजापति परमपिता परमेश्वर गर्भके अन्दर संचार करता है, वह स्वयं अजन्मा होता हुआ भी अनेक प्रकारसे और विशेष रीतिसे जन्मता है। इसका मूल स्थान ज्ञानी लोग देखते हैं और इसीमें सब भुवन रहे हैं।'

परमात्माका वर्णन करते हुए ही 'वह न जन्मनेवाला होनेपर भी जन्म लेता है' ऐसा कहा है। आत्मा तो 'अज' है अर्थात् अजन्मा है, फिर भी घटमें आये आकाशके समान शरीरमें आया आत्माका अंश शरीरके साथ जन्मता है। यह एक रूपक है, इससे इतनाही बताना है, कि विभु एकरस आत्माके अंश ही जीव रूप बन कर (मम एव अंशः जीवभूतः) इस विश्वमें नानारूप धारण करते हैं, इसी कारण उसको 'सर्वतो मुखः, विश्वतो मुखः, विश्वतश्चक्षुः, विश्वतस्पात्, विश्वतो बाहुः' कहा है—

> विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो
> विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
> सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी
> जनयन्देव एकः। (वा० यजु० १७।१९)

यदि वह प्रभु सब शरीरोंमें न होगा तो उसके सब ओर मुख, सब ओर हाथ, सब ओर चक्षु और सब ओर पांव कैसे हो सकते हैं। जो द्वैती परमात्माका अंश जीवात्मा है ऐसा नहीं मानते और जीवात्माको परमात्मासे सर्वथा पृथक मानते हैं उनका परमात्मा 'विश्वतो मुख, विश्वतो बाहु विश्वतस्पात्' किस तरह हो सकता है? क्योंकि जो मुख बाहु पांव चक्षु आदि अवयव दीखते हैं वे द्वैतियोंके पक्षमें जीवात्माओंके हैं, न कि परमात्माके। अतः हाथपांवबाहुमुख ये अवयव जीवात्माके होनेके कारण किसी तरह परमात्मा

के हो नहीं सकते। परंतु वेदोंमें परमात्माका ही वर्णन 'विश्वतो मुख' आदि शब्दोंद्वारा किया है, अतः मानना पडेगा कि 'न जन्मने वाला परमात्मा विशेष रीतिसे जन्म लेता है, (अजायमानः बहुधा विजायते) और विश्वतो मुखी बनता है।' यही भगवद्गीताकी भाषामें परमात्माका विश्वरूपवर्णन है, सब रूप उसीने धारण किया है। अस्तु।

परमात्माका अंश जीवात्माके रूपमें जीव-सृष्टिमें जन्मता है, यह गीताका कहना इस तरह वेदसे भी प्रमाणित होता है। 'परमात्मा का अंश' ऐसा कहनेसे खण्डित अंश नहीं समझा जाता, परंतु जैसा आकाशका अंश मठाकाश या घटाकाशमें खंडित न होनेपर भी अंश कहा जाता है, वैसा यहां भी समझना चाहिये, क्यों कि परमात्मा अखंड एकरस है उसका टुकडा हो नहीं सकता। परंतु शरीरमें व्यापार करनेके कारण उसका अंश ऐसा समझानेके लिये यहां कहा है, वेदमें भी ऐसाही कहा है–

पादोऽस्य विश्वा भूतानि
त्रिपादस्याऽमृतं दिवि ॥ ३ ॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः,
पादोऽस्येहाभवत्पुनः ॥ ४ ॥ (वा०यजु०३१)

'पुरुष अर्थात् परमात्माका एक पाद अर्थात् अंश इस विश्वमें विश्वरूप बना है, और वारंवार विश्वरूप बनता है और तीन पाद अर्थात् तीन अंश द्युलोकमें अपने स्वरूपमें रहते हैं' यहां भी पाद शब्द अंशवाचकही है और यह अंश या पाद शब्द टुकडेका वाचक नहीं है, परंतु एकरस पदार्थके कुछ अंशका वाचक है।

यह परमात्माका सनातन अंश मन, कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका इन छः इन्द्रियोंका अपने पास आकर्ष करके इन छहों इंद्रियोंको अपने पास रखता है और इन इन्द्रियोंसे शब्द–स्पर्श–रूप–रस गंध विषयोंका भोग करता है। जीव इन इन्द्रियोंको अपने पास आकर्षण करके विविध भोग भोगता है। मनके साथ छः इंद्रियां मिलकर जीवात्माका लिंगदेह होता है। वायु जैसा फूलोंका सुगंध अपने साथ ले जाता है, इसी तरह जीव एक शरीरको छोडता और दूसरे शरीरको प्राप्त करता है, उस समय इस लिंगदेहके साथ अर्थात् मन आदि छहों इंद्रियोंके साथ एक शरीरसे दूसरे शरीरको जाता है। जब यह एक शरीर छोडता है तब उस देहके मन आदि छः इन्द्रियोंको अपने साथ आकर्षण करके लेता है, और जब यह दूसरे देहमें प्रवेश करता है, तब उस देहमें इन छः इंद्रियोंको सुरक्षित रखता है। अर्थात् अकेला जीवात्मा किसी देहको छोडता नहीं और किसी देहको पकडता भी नहीं। जब देहको छोडता है उस समय मनके साथ छः इंद्रियोंके साथ छोडता है और जब किसी देहमें प्रवेश करता है तब भी इन छः इंद्रियोंके साथ ही प्रविष्ट होता है।

यहां पाठक स्मरण रखें कि जो आत्मा है वह 'सर्वगत' (गी० २।२४) अर्थात् सर्वव्यापक है तथा उसका अंश या टुकडा होता नहीं क्योंकि वह अखण्ड एकरस है। तथापि बृहदाकाशमेंसे अनेक घटोंमें आकाश रहनेके समान, सर्वगत आत्माका अंश अनेक देहोंमें विराजता है। यदि केवल आत्माका अंश शरीरकी उपाधीमें रहता, तो भी उसको जीवभाव कदापि प्राप्त न होता, क्योंकि अखण्ड एकरस आत्मामें एक या अनेक शरीर आये अथवा न आये, तो उसमें कोई परिवर्तन होनेका संभवही नहीं है।

परंतु जब यह आत्मा अपने साथ मन आदि छः इंद्रियोंको आकर्षित करता है और उन छः इंद्रियोंसे नाना भोग भोगनेका कार्य करता है, तब 'मैं भोक्ता' हूं ऐसा उसे अनुभव होता

है और यही जीवभाव है। अर्थात् मन आदि छः इंद्रियोंके साथ रहनेसेहि अपने भोक्ता होनेका अनुभव उसे हुआ और इसी कारण जीवभाव उसमें प्रतीत होने लगा। अतः यह मनके कारण प्रतीति है। मनके विना इंद्रियां कुछभी कार्य कर नहीं सकती, अतः मनके साथ रहनेसे आत्माके अंशमें 'मैं भोक्ता हूं और अन्य भोग्य हैं' ऐसा भान हुआ और जीवभावका प्रारंभ हुआ। यह मनका खेल है अतः मनकोही बंधन और मोचनका हेतु कहा जाता है।

कान, त्वचा, आंख, रसना, नासिका और मनके ऊपर अधिष्ठाता होकर इनके द्वारा यह शब्दस्पर्शरूपरसगंध आदि विषयोंका उपभोग लेता है, और मैं उपभोग करनेवाला हूं तथा ये उपभोगके विषय हैं, ऐसा अनुभव करता है। यही जीवभाव है। भोगकामना जीवभावका महत्त्वका लक्षण है। इसी कारण वासनाक्षयसे मोक्षकी प्राप्ति संभवनीय होती है।

शरीरको छोडते समय, शरीरमें रहते समय, भोग करते समय, तथा सत्त्वादि गुणोंसे युक्त होते समय आत्माको ज्ञानदृष्टिसे देखनेवालेही देखते हैं, परंतु जो ज्ञानदृष्टिसे रहित मूढ हैं उनको आत्माका पता तक नहीं होता।

शरीरमें जो कर्म होते हैं उनके देखनेसे आत्माका पता लगता है, यदि शरीरमें होनेवाले कर्मोंका अनुसंधान न किया जाय, तो आत्माका ज्ञान होनेका दूसरा कोई साधन नहीं है। इस सृष्टिमें स्थिर और चर, स्थावर-जंगम, निर्जीव-सजीव ऐसे दो भाव दीखते हैं। पत्थर पर्वत आदि स्थिर स्थावर अथवा निर्जीव कहलाते हैं और जीव, कृमिकीट, पतंग, पक्षी, पशु, मानव आदिकोंको सजीव- जिनमें जीवन है- ऐसा कहते हैं। यह सजीव-निर्जीव-भेद स्पष्ट है और हरएक मानव इसका अनुभव स्पष्टताके साथ कर सकता है। यदि सजीव सृष्टिमें दिखाई देनेवाले 'इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न' न देखे जांय तो जीवका अथवा आत्माके जाननेका इनसे भिन्न और कोई लक्षणही नहीं है।

ये लक्षण देखनेसेहि सजीवोंमें जीवात्मा- आत्मा-है और स्थावरोंमें आत्मा नहीं है ऐसा मनुष्य कहते हैं। यहां इतना सत्य है कि जीवोंकी हलचलसे आत्माका बोध होता है, परंतु इससे जो अनुमान किया जाता है कि जीवोंसे भिन्न स्थानोंमें आत्मा नहीं, यह अनुमान अशुद्ध है। उदाहरणके लिये आप देखिये कि वृक्ष हिलते हुए देखनेसे वायुके अस्तित्वका पता लगता है, इतना सत्य है, परंतु यदि वृक्ष न हिले किंवा किसी स्थानपर वृक्षही न रहे, तो वहां वायुही नहीं है ऐसा अनुमान करना अयोग्य है। इसी तरह प्राणियोंकी हलचल देखनेसे आत्माका ज्ञान होता है यह सत्य है, परंतु जहां प्राणी न हो, अथवा प्राणीकी हलचल न हो वहां आत्मा नहीं है ऐसा अनुमान करना अयोग्य है।

अतः मरनेके साथ साथ शरीरसे आत्मा चला गया, जन्म लेनेपर उसमें आत्मा आया, फलाने शरीरमें आत्मा भोग करता है और फलाने शरीरमें आत्मा फलाने गुणोंसे युक्त है, यह सब भाषा अशुद्ध है। आत्मा 'सर्वगत' (गी० २।२४) है इस लिये आत्मा तो सबमें और सर्वत्र है, न वह किसीमें पहिले न होता हुआ फिर आता है और न किसी स्थानपर पहिले होता हुआ फिर चला जाता है। वह सदा अखंड एक जैसा एकरसही है। आना जाना, होकर न होना, और न होकर होना यह उसके लिये असंभव है।

जैसा देखिये एक स्थानपर अनेक घडे रखे, तो क्या उनमें पहिले आकाश नहीं था? और क्या आकाशने उनमें पश्चात् प्रवेश किया? तथा उनमेंसे कई घडे टूट गये तो क्या वहांसे आकाश भाग गया? ये सब भाषाके बोलनेके प्रकार तत्त्वदृष्टिसे गलत हैं। आकाश सर्वत्र एक जैसा पहिलेसेहि है। घडे उत्पन्न होनेके कारण मनुष्य घटकाशके विषयमें अपनी कल्पनासे जैसा चाहे

(५) सबके हृदयोंमें ईश्वरका निवास ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

वैसा बोलते हैं । जैसे आकाशमें घडे वैसेही परमात्मामें जीवोंके ये शरीर हैं । ये शरीर आये अथवा नष्ट हुए, तो परमात्मामें कोई न्यून वा अधिक नहीं होता । अतः आत्मा आया अथवा चला गया यह भाषा केवल व्यवहारकीही भाषा है उसमें पारमार्थिक सत्यता नहीं है । तीनों कालोंमें आत्मा ' सर्वगत ' है यही बात सत्य है । सबका एक आत्मा है न वह आता है और न वह जाता है ।

इतना होनेपरभी आत्माका अस्तित्व जाननेके लिये सजीव प्राणियोंका निरीक्षण करना आवश्यक है, और इस कारण जीवन, मरण, भोग, और गुणका विचार करना आवश्यकही है । क्योंकि इसके विना आत्माके अस्तित्वका भी पता नहीं लग सकता । अतः कहा है कि ज्ञानदृष्टिवाले लोग प्राणियोंके उत्क्रमण, भोग, अवस्थान आदिका विचार करके आत्माको पहचानते हैं, परंतु जिनको ज्ञानचक्षु नहीं है वे प्राणियोंकी हलचल देखनेपर भी आत्माको जानते नहीं । अतः मनुष्योंको उचित है कि वे विद्या प्राप्त करके ज्ञानदृष्टिका विकास अपने अन्दर कराकर, इस आत्माका साक्षात्कार करें ।

जो कृतात्मा योगी होते हैं वे जब आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रयत्न करते हैं तब वे अपने अन्दर ही आत्माको देखते हैं । परंतु जो अकृतात्मा और अयोगी होते हैं उनके प्रयत्न करनेपरभी उनको आत्माका साक्षात्कार नहीं होता । यहां कृतात्मा और अकृतात्मा कौन है इसका थोडासा विचार करना चाहिये । विद्या प्राप्त करके शास्त्रानुसार अनुष्ठान यमनियमादि साधन,सद्गुरुसेवन तथा श्रवणमननिदिध्यास जो करते हैं वे अपने आपको यथायोग्य सुविद्य बनानेके कारण ' कृतात्मा ' कहे जाते हैं । तथा जो लोग अपने उद्धार के लिये योग्य अनुष्ठान नहीं करते अथवा आत्मघात के ही मार्गसे चलते हैं वे ' अकृतात्मा ' कहे जाते हैं । इनको आत्माका विचार भी नहीं सूझता ।

आत्माके ज्ञानका योग करनेवाले योगी और जो आत्माका विचार तक नहीं करते वे अयोगी होते हैं ।

इस तरह एक सर्वगत आत्माही विविध शरीरोंमें मन आदि इंद्रियोंका अधिष्ठाता होकर प्रत्येक शरीरका प्रत्यगात्मा करके प्रकट होता है , इसतरह इस आत्माने संपूर्ण विश्वान्तर्गत सब शरीर अपने ऊपर धारण किये हैं और वही एक आत्मा विश्वरूपी विश्वात्मा बना है । आत्मज्ञानी दिव्य दृष्टिवाले प्रयत्नशील योगी इसको अपने अन्दर भी देख सकते हैं, वैसाही सर्वत्र इसका साक्षात्कार कर सकते हैं, परंतु जिनको दिव्यदृष्टि नहीं है, उनको इसका ज्ञान नहीं होता । यही विषय अन्य रीतिसे स्पष्ट करते हैं—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

अन्वयः— यत् आदित्यगतं तेजः अखिलं जगत् भासयते, यत् च चन्द्रमसि, यत् च अग्नौ (स्थितं अस्ति), तत् मामकं तेजः (अस्ति इति त्वं) विद्धि ॥ १२ ॥ अहं च गां आविश्य ओजसा भूतानि धारयामि। रसात्मकः सोमः भूत्वा सर्वाः औषधीः पुष्णामि ॥ १३ ॥ अहं प्राणिनां देहं आश्रितः प्राणापानसमायुक्तः वैश्वानरः भूत्वा चतुर्विधं अन्नं पचामि ॥ १४ ॥ अहं सर्वस्य च हृदि संनिविष्टः (अस्मि), मत्तः (सर्वस्य) स्मृतिः ज्ञानं अपोहनं च (भवति), अहं च एव सर्वैः वेदैः वेद्यः (अस्मि), अहं एव वेदान्तकृत् वेदवित् च (अस्मि) ॥ १५ ॥

जो सूर्यमें रहनेवाला तेज सब जगत्को प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमामें और जो अग्निमें है, वह तेज मेरा (ईश्वरका) है ऐसा तू समझ ॥ १२ ॥ और मैं पृथ्वीमें प्रवेश करके अपने बलसे सब भूतोंका धारण करता हूं। तथा रसरूप सोम बन कर सब औषधियोंको पुष्ट करता हूं ॥ १३ ॥ मैं (ईश्वर) प्राणियोंके देहोंमें जाकर, प्राण और अपानसे युक्त वैश्वानर अग्नि बन कर चतुर्विध अन्नका पाचन करता हूं ॥ १४ ॥ मैं (ईश्वर) सबके हृदयोंमें रहता हूं, मुझसे सबोंको स्मरण, ज्ञान और इनका अभाव (विस्मरण और अज्ञान) होता है, मैं ही (ईश्वर) सब वेदोंके द्वारा जानने योग्य हूं, और मैं (ईश्वर) ही वेदान्त शास्त्र निर्माण करनेवाला और वेदका ज्ञाता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थ— सूर्य चन्द्र और अग्निमें जो तेज है वह तेज ईश्वर का है। पृथ्वी जिस बलसे सब भूतोंका धारण करती है वह बल ईश्वर का है। जिस रस से सब औषधियां पुष्ट होती हैं वह रस परमेश्वर का है। जो जाठर अग्नि प्राणियोंके देहोंमें अन्न का पाचन करती है वह वैश्वानर अग्नि परमेश्वरका ही रूप है। जिससे मनुष्योंको ज्ञान और स्मरण, तथा अज्ञान और विस्मरण होता है वह ईश्वर का ही सामर्थ्य है। यही ईश्वर वेद और वेदान्त का निर्माता और ज्ञाता है और वेद में इसीका वर्णन है ॥ १२– १५ ॥

(१२-१५) परमात्मा हरएक रूपमें है अतः वह विश्वात्मा विश्वरूप है, इतना कहने मात्रसे हरएक आकृतिमें, मूर्तिमें, रूपमें, शरीरमें वह विद्यमान है यह बात सिद्ध होती है। और यदि वह हरएक वस्तुमें है, तो वही सर्वत्र विश्वमें कार्य चलाता है इसमें क्या संदेह हो सकता है?

इतनी बात मानने पर आदित्यमें, चन्द्रमामें और अग्निमें जो तेज है, वह ईश्वर का ही तेज इस विषयमें शंकाही नहीं हो सकती, इतनाही नहीं परंतु सब तारकाओं में तथा दीपकोंमें जो तेज है वह सब तेज परमेश्वर से ही उनमें रहा है। जहां जहां तेज, प्रकाश, उजाला, रोशनी

(२२) किसीने फटे पुराने वस्त्र फेंक दिये और नये म वस्त्र धारण किये, तो उसमें शोकका कोई विषय ीं है। किसीने पुराना जीर्ण मकान छोडकर नये घरमें श किया तो भी आनंदका विषय है। इसी प्रकार आत्मा- पुराना, जीर्ण या फटा शरीर फेंक दिया और नया शरीर रण किया, तो उसमें शोकका क्या कारण हो सकता है? । विषयमें बृ० उपनिषद्में निम्न लिखित वचन देखने य हैं—

यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमा-
क्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं
शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रम-
माक्रम्यात्मानमुप संहरति ॥ ३ ॥
तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्न-
वतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं
शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं
कल्याणतरं रूपं कुरुते० ॥ ४ ॥

(बृ० उ० १०।४।४।३-४)

" जिस प्रकार घासपर रहनेवाला कीडा पहिले घासके नकेके अग्रभागपर जाता है, वहां अपना आधा भाग पहिले नकेपर रखकर अपने देहका आगेका भाग दूसरे तिनकेपर ता है और वहांका आधार स्थिर हो जानेपर अपने ीरका शेष भाग उस दूसरे तिनके पर लेता है; इसी प्रकार आत्मा शरीरके नाश होनेके समय अनजान रीतिसे रे देहका आश्रय करनेके पश्चात् पूर्व देहसे अपने आपको ेटता है ॥ ३ ॥ जैसे चित्रकार चित्र करनेके मसालेका श्रय करके नया चित्र तैयार करता है, इसी प्रकार यह त्मा इस शरीरका नाश होते ही कुछ अनजान रीतिसे रा नया उत्तम शरीर धारण करता है " ॥ ४ ॥

नया वस्त्र परिधान करनेवाले भी नवीन सुंदर वस्त्र ाते या मोल लाते हैं और पुराना अलग करते हैं अर्थात् ा तैयार होनेके या मिलनेके बाद जीर्ण वस्त्र फेंकदेते हैं। ी प्रकार यह आत्मा नवीन देह तैयार होनेके बाद उसमें पांव रखकर पहिले देहसे अपनेको समेटता है। बीचका समय है वह (अविद्या) अज्ञानका है, उसमें इसको ज्ञान नहीं होता है। घरका स्वामी भी नया घर बनाता और पुराना छोड देता है। किरायापर रहनेवाला मनुष्य नया अधिक अच्छा मकान देखता है। उसपर अपना संबन्ध जोडता है और पहिले मकानसे अपना सामान हटाता है। इसी विषयमें महाभारतमें कहा है—

यथा हि पुरुषः शालां पुनः संप्रविशेन्नवाम् ।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥ ५७ ॥
देहान्पुराणानुत्सृज्य नवान्संप्रतिपद्यते ।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्वदर्शिनः ॥ ५८ ॥

(म० भा० शां० अ० १५)

" जैसा मनुष्य नये घरमें प्रवेश करता है, वैसा ही जीवात्मा नये नये शरीरोंको प्राप्त करता है। पुराने देहोंको छोडता है और नये देहोंको प्राप्त होता है। " इस प्रकार आत्मा अनादि, अनन्त तथा नित्य है और देह अनित्य है। देहके नाशसे आत्माका कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता। अतः हे अर्जुन ! यदि भीष्मादि धर्मशील पुरुषोंके देहोंका नाश इस युद्धमें हो जाय, तो उनको (नवतरं कल्याणतरं रूपं) नवीन और अधिक सुखकर दिव्य देह प्राप्त होगा, जिससे वे अभौतिक सुखका भोग लेनेमें समर्थ होंगे। इसी प्रकार जो दुर्योधनादि पापी पुरुष हैं, जिनके पास पुण्य-संचय विशेषसा नहीं है, उनकी मृत्यु युद्धभूमिपर होनेसे स्वर्गप्राप्ति होगी। इस प्रकार उनका लाभ ही है। अतः धर्मयुद्ध करना योग्य है। इस श्लोकमें (नवानि शरीराणि संयाति) नवीन शरीरोंको (सम्यक् रीत्या याति) उत्तम रीतिसे प्राप्त होता है, ऐसा जो कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि इस युद्धभूमिपर मरनेसे उनको उच्च अवस्था निःसंदेह प्राप्त होगी, उनका कल्याण होगा। इस विषयमें संदेह नहीं है।

पुराने पुस्तककी नयी जिल्द बनायी गयी, तो नयी बननेकी तैयारी होते ही पुरानी जिल्द फाडकर फेंकनी पडती ही है। इस समय पुरानी जिल्द फाडकर फेंकना उपकारक है, न कि अपकारक। इसी प्रकार द्वितीय शरीरकी प्राप्ति उपकारक होती है, कमसे कम भीष्म-द्रोणादि पुण्यात्माओंके विषयमें तो निःसंदेह उपकारक होगी, इसमें शंका करनेका कोई कारण नहीं है।

इस श्लोकमें (जीर्णानि वासांसि विहाय) पुराने कपडे फेंककर (नवानि गृह्णाति) नये लेनेके समानही (जीर्णानि

दीखती है, वह सब परमेश्वर से वहां रही है। यह तेज के विषयमें यहां कहा है, तेज के समान ही पृथ्वीका गंध, आपतत्त्वका रस, वायुतत्त्वका स्पर्श और आकाशतत्त्वका शब्द ये भी परमात्माके कारण ही वहां रहे हैं, यह बात इससे पूर्व ही कही गई है—

गुण और गुणी

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

(भ० गी० ७)

'जलोंमें रस, सूर्यचन्द्र और अग्निकी प्रभा, आकाश का शब्द, पृथिवी का गंध, वदोंमें प्रणव, मनुष्योंमें पौरुष, सब प्राणियोंमें जीवन, तपस्वियोंका तप, यह सब परमेश्वर का ही रूप है।'

इस आशय को ही सर्वत्र देखना चाहिये और यहां जो केवल प्रकाश के विषयमें कहा है, वह जैसा तेजस्तत्त्वके प्रकाशगुणके विषयमें सत्य है, वैसा ही जलतत्त्वकी रुचिके विषयमें और अन्यान्यतत्त्वों के अन्यान्यगुणों के विषयमें भी सत्य है, ऐसा विचारपूर्वक जानना चाहिये। यह भाव आगे स्पष्ट करते हैं—

(गां आविश्य) पृथ्वीमें परमेश्वर प्रविष्ट होकर सब प्राणियोंको वही धारण करता है, (औषधीः पुष्णामि) पृथ्वीके ऊपर उत्पन्न होनेवाली सब औषधियोंका पोषण करता है, और रसात्मक सोम (रसात्मकः सोमः) बन कर सब औषधि वनस्पतियोंमें संचार करता है। वैश्वानर बन कर अर्थात् सब विश्वका नेता बन कर संपूर्ण प्राणियोंके देहोंमें (प्राणिनां देहं आश्रितः) आश्रय करके परमेश्वर रहा है और वही प्राणअपान आदिसे युक्त होकर (अन्नं पचामि) सब प्रकार के अन्नको पचन करता है।

परमेश्वरका कार्य।

इस रीतिसे सर्वत्र प्रविष्ट होकर, यह परमात्मा सब भूतमात्र में जो कार्य हो रहा है, उसको चलाता है, परंतु अज्ञ मनुष्य समझते हैं, कि सूर्य प्रकाशता है, जल प्रवाहित होता है, पृथ्वी सबका धारण करती है, वायु सुखाता है इ० परंतु वस्तुतः देखा जाय, तो इन सबमें परमेश्वर है और वही यह सब कार्य करता है। इसी बातको और अधिक स्पष्ट करते हैं—

वेदवेद्य।

(सर्वस्य हृदि संनिविष्टः) परमेश्वर सबके हृदयमें- मध्यमें- बीचमें प्रविष्ट हुआ है, उसीसे सबकी स्मृति, ज्ञान और विस्मृति हो रही है। सब वेदोंके द्वारा (वेदैः वेद्यः) जानने योग्य वही परमेश्वर है, अर्थात् सब वेद उसीका वर्णन कर रहे हैं, वेदान्तकर्ता, वेदवेत्ताभी वही है, ज्ञानी वही है।

सबके हृदयोंमें रहकर सबको ज्ञान, पूर्वस्मरण और स्मरण होकर पुनः विस्मरण आदि होना परमेश्वरद्वारा ही होता है। वेदवेत्ता, वेदान्तप्रवीण, ज्ञानी वही है, अर्थात् यहां दूसरा कोई नहीं है। स्मरणभी वही कराता है और विस्मरणभी उसी कारण होता है। पाठकोंको इसका आश्चर्य प्रतीत होगा, अतः एक उदाहरण देते हैं। सूर्यके कारण दिनरात होते हैं यह सब जानते हैं, सूर्यके प्रकाशसे दिन बनना स्वाभाविक है, परंतु दिन बननेकेही कारण रात्री बनती है, यहभी उतनाही स्पष्ट है। इसी तरह स्मरण और विस्मरण एकहीसे हुआ करता है। अस्तु। एकही पुरुषोत्तम परमेश्वर परमात्मासे यह सब होता है। इस पुरुषोत्तम का स्वरूप अब देखिये—

(६) क्षर+अक्षर = पुरुषोत्तम।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

अन्वयः— (अस्मिन्) लोके क्षरः अक्षरः च एव इमौ द्वौ पुरुषौ (स्तः), सर्वाणि भूतानि क्षरः, कूटस्थः च अक्षरः उच्यते ॥ १६ ॥ उत्तमः पुरुषः तु अन्यः (अस्ति), सः परमात्मा इति उदाहृतः, यः अव्ययः ईश्वरः लोक-त्रयं आविश्य (तत्) बिभर्ति ॥ १७ ॥ यस्मात् अहं क्षरं अतीतः, अक्षरात् अपि च उत्तमः (अस्मि), अतः अहं लोके वेदे च पुरुषोत्तमः इति प्रथितः अस्मि ॥ १८ ॥

इस लोकमें क्षर और अक्षर ये दोही पुरुष हैं। सब भूतोंको क्षर कहते हैं और कूटस्थ (जीव) को अक्षर कहते हैं ॥ १६ ॥ उत्तम पुरुष तो (इन दोनों-से) भिन्न ही है, उसे परमात्मा कहते हैं, जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर उसका धारण और पोषण करता है ॥ १७ ॥ जिस कारण मैं (ईश्वर) क्षरसे परे और अक्षरसेभी उत्तम हूं, इस कारण मैं (ईश्वर) लोकोंमें और वेदमें 'पुरुषोत्तम' इस नामसे प्रसिद्ध हूं ॥ १८ ॥

भावार्थ— इस विश्वमें एक क्षर पुरुष है और दूसरा अक्षर पुरुष है। सब भूतोंका नाम क्षर पुरुष है और जीव-चैतन्य का नाम अक्षर पुरुष है। क्षर और अक्षर ये जिसमें एक होते हैं वह पुरुषोत्तम है, और उसीको परमात्मा कहते हैं। यह परमात्मा संपूर्ण विश्वमें प्रविष्ट होकर उसका धारण और पोषण करता है. यह परमात्मा केवल क्षरसे श्रेष्ठ और केवल अक्षरसेभी उत्तम है, क्योंकि इसमें क्षर और अक्षर एकरूपता को प्राप्त हुए हैं, अतः इसको सब वेद और सब लोक ' पुरुषोत्तम ' कहते हैं ॥ १६– १८ ॥

(१६– १८) इस विश्वमें ' क्षर और अक्षर ' ये दो पुरुष हैं, एक नाशवान् है और दूसरा अविनाशी है. इसके वाचक नाम अनेक स्थानमें आये हैं, उनमेंसे कुछ यहां देते हैं—

क्षर	अक्षर
व्यय	अव्यय
प्रकृति	पुरुष
जड	चेतन
प्रकृति	आत्मा
स्थूल	सूक्ष्म
रयी	प्राण
जीव	शिव
मूर्त	अमूर्त
दिति	अदिती

चन्द्रमा	सूर्य
अनात्मा	आत्मा
अनीश	ईश

इस प्रकारके अनेक नाम अनेक ग्रंथोंमें लिखे हैं, इन सब संकेतोंका आशय एक ही है। हमें इस विश्वमें कई वस्तु नाश होनेवाली दीखती हैं और कई अविनाशी दीखती है। इन्हीं का नाम 'क्षर पुरुष' और 'अक्षर पुरुष' है। इसका स्वरूप इस तरह बताते हैं-

(क्षरः सर्वाणि भूतानि) सब भूतोंको क्षर कहते हैं और जो (कूटस्थ) सब भूतोंके मध्य में चेतना करनेवाला है, उसका नाम अक्षर है। मानवी देहमें देहको 'क्षर-पुरुष' समझिये, क्योंकि देह क्षीण होता जाता है और आत्माको 'अक्षर-पुरुष' समझिये क्योंकि इसका नाश नहीं होता है। इसी तरह सर्वत्र देखकर क्षराक्षर विवेक करना उचित है।

(उत्तमः पुरुषः अन्यः) उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम इन क्षर और अक्षर पुरुषोंसे अन्य है, वही ईश्वर कहलाता है और यही तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका धारणपोषण करता है। यहां शंका होती है, कि यहां जो अन्य पुरुष- पुरुषोत्तम- कहा है, वह पहिले कहे दोनों पुरुषोंसे पृथक् है वा उनमें ही यह संमिलित है? यदि उनमें संमिलित होता तो—

उत्तमः पुरुषः अन्यः।

'उत्तम पुरुष अन्य' है ऐसा कहा न जाता, तथा यदि यह तीसरा पुरुष होता, तो पहिलेही श्लोकमें (द्वौ पुरुषौ) दोही पुरुष यहां हैं, ऐसा जो कहा है वहां (त्रयः पुरुषाः) तीन पुरुष हैं ऐसा कहा जाता। अतः पुरुष तीन नहीं हैं और केवल दोही हैं, यह सिद्ध है। यद्यपि (अन्यः) ऐसा तीसरे पुरुषका निर्देश यहां किया प्रतीत होता है तथापि, यहां तीसरा पुरुष जो कहा है, वह उन पूर्वोक्त दोनोंसे भिन्न होनेपरभी उनमें ही है। यह कैसे हो सकता है, ऐसी शंका कोई कर सकते हैं, इसके उत्तरमें कुछ न कुछ कहना यहां आवश्यक है। अतः इसका थोडासा स्पष्टीकरण करते हैं।

यहां एक पुरुष है और दुसरी स्त्री है. दोनोंका विवाह होनेपर उनको दम्पती कहते हैं। इसका वर्णन इस तरह हम कर सकते हैं-

(१) दोही मनुष्य यहां है, एक पुरुष और दूसरी स्त्री।

(२) संतान उत्पन्न करनेवाली स्त्री है और गर्भका आधान करनेवाला पुरुष होता है।

(३) दम्पती तो इनसे भिन्न है, जो गृहस्थाश्रम चलाती है।

स्त्री और पुरुष ये दो मनुष्यही हैं, इनके विवाहसंबंधसे दम्पती होती है, अविवाहित अवस्थामें स्त्री और पुरुष अलग अलग रहते हैं। विवाहित होनेपर दम्पती कहलाती है। यद्यपि स्त्रीपुरुष मिलकरही दम्पती होती है, तथापि केवल स्त्री और केवल पुरुष दम्पती नहीं होती। यहां पाठकोंको पता लगा कि दोनोंके अस्तित्वसे ही उनसे भिन्न तीसरेका संभव कैसा होता है। यही संबंध आगेके श्लोकमें कहा है—

जिस कारण उत्तम पुरुष केवल 'क्षर पुरुष' से श्रेष्ठ है और 'अक्षर पुरुष' से भी अधिक उत्तम है, अतः उस उत्तम पुरुषको लोकोंमें तथा वेदोंमें 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है।

क्षर+अक्षर = पुरुषोत्तम।

पुरुषोत्तममें क्षर भी है और अक्षरभी है, अतः वह केवल क्षरसे तथा केवल अक्षरसे उत्तम है, इसमें संदेह नहीं है। क्षर और अक्षर ये वस्तुगत भेद नहीं हैं. परंतु कल्पनागत भेद हैं, यह बात यहां ध्यानमें धारण करनी चाहिये। कोई ज्ञानी या विज्ञानी 'केवल क्षर' को एक बोतलमें और 'केवल अक्षर' को दूसरी बोतलमें भरकर अलग अलग रख नहीं सकता,

(७) सर्वभावसे भजन।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

अन्वयः—हे भारत! यः असंमूढः मां पुरुषोत्तमं एवं जानाति, सः सर्ववित् (भूत्वा) मां सर्वभावेन भजति ॥ १९ ॥ हे अनघ! इति गुह्यतमं शास्त्रं मया उक्तं, हे भारत! एतत् बुद्ध्वा (जीवः) बुद्धिमान् कृतकृत्यः च स्यात् ॥ २० ॥

किंवा इस तरह पृथक् करनेयोग्य ये विभिन्न पदार्थ हैं ही नहीं।

जैसे मीठास और मिश्रीका ढेला ये दो पदार्थ कल्पनामें पृथक् माने जा सकते हैं, परंतु वस्तुतः पृथक् नहीं है, मिश्रीका ढेला और मीठास सदा एकत्रही रहेगी, उसी तरह क्षर और अक्षर, जड-चेतन ये पुरुषोत्तमके विश्वरूपमें सदा एक-रूपही हैं। पुरुषोत्तमही एक सत्यवस्तु है और क्षर-अक्षर ये समझानेके लिये कल्पनासे अलग अलग माने गये हैं। जैसा जल और रस भिन्न कल्पना होनेपर भी वस्तु एकही है, वैसाही यहां समझना चाहिये।

इस रीतिसे क्षर और अक्षर ये दो भिन्न कल्पनाएं हैं, दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। दोनों मिलकर सत्यवस्तु एकही होती है जो दोनोंसे पृथक् पुरुषोत्तम कही जाती है। यही सत्यवस्तु है और जो पहिले दो वस्तुएं कही थीं वह काल्पनिक—केवल शिशुबोधके लिये—समझानेके लिये कही गयी थी।

हरएक वस्तुके दो पहलू होते हैं। एक इस ओरका पहलू और दूसरा दूसरी ओरका। ये एक दूसरेसे पृथक् भी हैं। तथापि ये दोनों पहलू मिलकर जो सत्य-वस्तु बनती है वह दोनों पहलुओंसे पृथक् ही होती है, इसका कारण यह है कि किसी भी एक पहलूसे वह सत्यवस्तु अधिक मूल्य की होती है।

इसी तरह 'क्षर+अक्षर=पुरुषोत्तम' होनेसे पुरुषोत्तमका मूल्य केवल क्षरके मूल्यसे और केवल अक्षरके मूल्यसे निःसंदेह अधिक है। परंतु क्षर और अक्षर एक दूसरेसे पृथक् करना असंभव है, ये केवल सुबोधताके लिये माने हैं। इसलिये एकही पुरुषोत्तम सत्य है और दूसरे दोनों काल्पनिक हैं क्योंकि पुरुषोत्तमसे पृथक् सत्ता इनमेंसे किसी की भी नहीं है।

यह पुरुषोत्तमही 'सत्य' है। इसी पुरुषोत्तम का भजन सर्वभावसे सबको करना उचित है। वह कैसा करना चाहिये वह अब देखिये—

सर्वभावका महत्त्व।

(१९-२०) यहां 'सर्वभाव' से ईश्वरको जानना और सर्वभाव से ईश्वरकी सेवा करने का उपदेश किया है। मनुष्य अपने आपको अलग मानता है और अन्य विश्वको अपनेसे

हे भारतीय वीर! जो ज्ञानी मुझे (ईश्वरको) इस तरह पुरुषोत्तम समझता है, वह सर्वज्ञ होकर मेरी (ईश्वरकी) संपूर्णभावसे सेवा करता है ॥ १९ ॥ हे निष्पाप वीर ! इस प्रकार यह अत्यंत गुह्य शास्त्र मैंने तुझे बताया है। हे भारतीय वीर ! यह जानकर जीव बुद्धिमान और कृतकृत्य होता है ॥ २० ॥

भावार्थ- जो पुरुषोत्तम को इस तरह समझना है वह सर्वज्ञ होकर संपूर्णभावसे ईश्वर की सेवा करना है, यही गुह्य ज्ञान है, इसे जाननेसे मनुष्य ज्ञानी बनकर कृतकृत्य होता है। इस ज्ञानसे मनुष्यका जीवन सार्थ हो जाता है ॥ १९—२० ॥

पृथक् मानता है। मैं अलग हूं और मुझसे भिन्न जो विश्व है वह मुझसे पृथक् है, यह असर्वभाव अथवा खंडभाव मनुष्यके मनमें सदा सर्वदा रहता है और यही खंडभाव- असर्वभाव- अपूर्णभाव अधर्म बढानेवाला है। इसीसे सब दुःख हो रहे हैं और सब आपत्तियां बढ रहीं है।

इसी लिये यहां कहा है, कि परमेश्वरको (एवं सर्वभावेन पुरुषोत्तमं जानाति) इस तरह सर्वभावसे जानता है वह (सर्ववित्) सबको जाननेवाला होता है और सबको जाननेके पश्चात् (सर्वभावेन पुरुषोत्तमं भजति) वह सर्वभावसे परमेश्वरकी सेवा करता है। परमेश्वरको सर्वभावसे जानना और उसकी सर्वभावसे सेवा करना यहां मुख्य है।

यही (गुह्यतमं शास्त्रं) अत्यंत गुह्यशास्त्र है, यह शास्त्र जो यथावत् जानता है, वह बुद्धिमान और कृतकृत्य होता है। अर्थात् बुद्धिमान और कृतकृत्य होनेका एकमात्र साधन 'सर्वभावसे परमेश्वरको जानना और सर्वभावसे उसकी सेवा करना ही है।' कृतकृत्य होनेका दूसरा कोई साधन नहीं है। सर्वभावसे ईश्वरको जाननेसे ही साधक (सर्व-वित्) सब कुछ जाननेवाला होता है अर्थात् जाननेयोग्य ऐसा कोईभी अवशिष्ट नहीं रहता।

अब यहां विचार करना है, कि सर्वभावसे जानना और सर्वभावसे सेवा करनेका तात्पर्य क्या है? और इसके विपरीत समझनेका आशय क्या है? इसका तात्पर्य समझमें आनेके लिये एक उदाहरण लेते हैं-

एक गुरु था और उसके दो शिष्य थे। सेवा करनेकी आतुरतासे वे वारंवार झगडा किया करते थे। उनका झगडा मिटानेके लिये गुरुने कहा, कि शरीरका एक भाग एक शिष्यका है और दूसरा दूसरेका है। हरएक शिष्य अपने अपने भाग की सेवा किया करे और इस बातपर न लडें। इस तरह समझौता होनेपर दोनों शिष्य अपने अपने गुरुके शरीरके भाग की सेवा करते थे। एक समय गुरु दायें पांवको बायें पांवपर रखकर आराम कर रहे थे। यह बायें पांव की सेवा करनेवाले शिष्यने देखा और क्रोधमें आकर गुरुके दायें पांवको पीटना आरंभ किया। और कहने लगा कि मेरे उपास्य अवयवपर बैठनेवाला तुम कौन हो! यह मूढ भक्तिभाव देखकर त्रस्त हुआ गुरु शिष्यसे कहने लगा कि 'हे शिष्य! तू तो मेरी सेवा खंडितभावसे कर रहे हो, जो अखंडभावसे अर्थात् सर्वभावसे करनी चाहिये। जैसा दायां पांव मेरा है वैसाही बायां पांव भी मेरा ही है। यद्यपि यह पांव दूसरे को सेवाके लिये दिया है तथापि वह भी मैं ही हूं। अब तूने दूसरे पांवपर ताडन किया, इससे मुझे ही कष्ट भोगने पडे। अतः यह तुम्हारा मूढभाव है। सर्वभावसे सेवा करोगे तोही वह तुम्हारी सेवा सफल होगी

और जब तू खंडभावसे सेवा करोगे तो वह गुरुद्रोह ही होगा।''

इस जगत्‌में असर्वभाव अथवा खंडभावसे सब लोग ईश्वरसेवा कर रहे हैं। शैववैष्णवोंके उपासनाविषयक झगडे सबको पता हैं, मुसलमानोंके झगडे भी इसी कारण होते हैं। यदि इन उपासकोंको सर्वभावसे ईश्वरका स्वरूप समझेगा और सर्वभावसे उसकी सेवा करनेकी रीति ज्ञात होगी, तो कोई झगडेका कारण ही नहीं रहेगा।

सर्वभाव क्या है? एकही सद्वस्तु है जिसका नाम पुरुषोत्तम, ईश्वर, परब्रह्म आदि है। उस एक वस्तुका स्वरूपही यह विश्वरूप अथवा सर्वरूप है। जो रूप दीखता है वह उसी सद्वस्तुका है। उस सद्वस्तुको छोडकर यहां दूसरी वस्तुहि नहीं है। जो भी कुछ यहां है वह उसकाही प्रकटीकरण है। यही ईश्वर है और यही सब कुछ है। इसीका नाम 'सर्वभाव' है। यही सर्वभावसे उस एक अद्वितीय सद्वस्तुको जानना है। अब सर्वभावसे उसकी उपासना करना भी इसी तरह है। सबकी उपासना एक समय तो हो ही नहीं सकती। उपासक की मर्यादा छोटी होनेसे वह विश्वरूपके किसी छोटेसे अंशकीहि सेवा कर सकता है। परंतु जिस अंशकी सेवा करनी है वह अंश उस पूर्णका अंश है ऐसा जानकर और वह अंश उससे पृथक् नहीं है ऐसा मानकर, इस अंशकी सेवा ही सबकी सेवा है इस तरह सर्वभावसे सेवा करनी चाहिये। जैसी मनुष्यके किसी अवयवकी सेवा करनेसे उसकी सेवा हो सकती है, इसी तरह विश्वात्माके किसी अंशकी अखंडभावसे सेवा करनेसे ही वह विश्वात्माकी सेवा हो सकती है। यह है सर्वभावसे सेवा करनेका तात्पर्य।

खंडभावसे, असर्वभावसे सेवा करनेकी बात तो सब जानते ही हैं, मैं अलग हूं, मेरा उपास्य अन्यविश्वसे पृथक् है, अन्य विश्व मर जाय तो भी पर्वाह नहीं, मेरी, मेरी जातीकी और मेरे उपास्यकी प्रतिष्ठा हुई तो बस है, इस तरह जो किया जाता है वह खंडभावसे सेवा है। यही अपूर्ण अर्थात् असर्वभाव सब द्वन्द्वोंकी जड है, अतः सब दुःख इसीसे उत्पन्न होते हैं।

इसी कारण यहां कहा है कि जो सर्वभावसे पुरुषोत्तमको जानता है वह (अ-संमूढ) ज्ञानविज्ञानसंपन्न होता है और वही (सर्वविद् भवति) सब कुछ जाननेवाला होता है। यही उच्चतम शास्त्र है इसीके जाननेसे मनुष्य कृतकृत्य होता है। कृतकृत्यका आशय यह है कि जिस रीतिसे कर्म करना चाहिये उस रीतिसे वह कर्म कर सकता है। कर्तव्य उत्तम रीतिसे वह करता है। अशुद्धभावसे वह कुछ भी नहीं करता, क्योंकि वह सब जानता है और उसमें किसी प्रकारका अज्ञान रहता नहीं है।

कृतकृत्य होनेके लिये सर्वभावसे विश्वरूपको जानना चाहिये और सर्वभावसे उसकी सेवा करनी चाहिये। इस तरह जाननेवाला अपने आपको विश्वरूपमें संमिलित देखता है और विश्वरूपको भी अपनाही रूप जानता है। सब अखंड एकरस जीवन है ऐसा जाननेपर अशुद्धी होनेकी संभावनाही नहीं है। अपनी आवश्यकताकी पूर्ती करना भी जिसको विश्वसेवा प्रतीत होती है और विश्वसेवा भी जिसको अपनीहि सेवा करनेके समान प्रतीत होता है, वही सर्वभावसे व्यवहार करता है और वही कृतकृत्य होता है।

पंद्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥

पन्द्रहवें अध्यायका मनन।

पुरुषोत्तमयोग।

इस पंदरहवें अध्यायमें 'पुरुषोत्तमयोग' कहा है। पुरुषोत्तम के साथ अपना योग करना, अथवा पुरुषोत्तमसे मैं भिन्न नहीं हूं इसका अनुभव करना ही इस अध्यायका ध्येय है। इसका अनुभव करनेके लिये पुरुषोत्तम का स्वरूप जानना चाहिये। वह पुरुषोत्तमका स्वरूप इस तरह जानना योग्य है—

पुरुषोत्तम का स्वरूप।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
गी० १५।१८

क्षरपुरुष और अक्षरपुरुष ऐसे दो पुरुष हैं' इन दोनोंसे श्रेष्ठ जो है उसका नाम पुरुषोत्तम है। क्षरपुरुष, अक्षरपुरुष और उत्तमपुरुष ऐसे तीन पुरुषहैं, उनमें जो उत्तम पुरुष है वह तीनोंमें उत्तमोत्तम होनेसे उसको पुरुषोत्तम कहते हैं। यह शेष दोनोंसे पृथक् नहीं है, परंतु क्षर और अक्षर उस पुरुषोत्तम में एकरूप हुए हैं। इस विषयको समझानेके लिये एक उदाहरण लेते हैं।

अपनेपास शरवत है, इसमें जल है और मिश्री है। यहां जल+मिश्री=शरवत ये तीन पदार्थ हुए। जल एक वस्तु है, मिश्री दूसरी वस्तु है, जलसे श्रेष्ठ और मिश्रीसे उत्तम एक तीसरी वस्तु है उसका नाम शरवन है। इसमें जल और मिश्री एकरूप हो गयी है। इसी लिये शरवत कह सकता है कि चूंकि मैं जलसे श्रेष्ठ और मिश्रीसे भी उत्तम हूं। यह वात स्पष्ट है कि केवल जलसे और केवल मिश्रीसे अर्थात् इन दोनोंसे शरवत उत्तम होता है, तथा ये दोनों पदार्थ शरवतमें एकरूप होकर रहते हैं।

इसी तरह क्षर-पुरुष (पंचभूत मन, वुद्धि और अहंकार), तथा अक्षरपुरुष (जीवतत्त्व) ये दोनों पुरुष हैं। परंतु ये पुरुष ऐसे नहीं हैं कि जो अलग अलग वोतलोंमें भरकर रखे जा सकते हैं। ये सर्वत्र एक दूसरेके साथ एकरस मिले जुले हैं, तथापि कल्पनासे इनका भेद विदित होता है। जैसा ढेला और मीठास ये कभी अलग न होनेवाले पदार्थ परस्परभिन्न हैं ऐसा ही जागतिक वुद्धिको दीखता है। इनका जो एकरूपमें मेल है वही पुरुषोत्तम है, क्योंकि इसके रूपमें क्षर भी है और अक्षर भी है।

क्षर + अक्षर= पुरुषोत्तम।

{ पंचभूत मन-वुद्धि- अहंकार } + जीवतत्त्व = उत्तम पुरुष।

इस तरह पुरुषोत्तममें क्षर भी आगया, अक्षर जीवतत्त्वभी आगया और दोनोंका मेल होकर होनेवाला पुरुषोत्तम भी इसी में आगया है। इस तरह पुरुषोत्तममें पृथ्वी-आप-तेज-वायु-आकाश-मन-वुद्धि-अहंकार-जीवतत्त्व इन नव तत्त्वोंका एकरस मीलन है।

ये एकरस पहिले नहीं थे और पश्चात् मिले ऐसी वात नहीं है। सदासर्वदा ये सब भासमान तत्त्व एकरस ही हैं। अविवेकके कारण हमें जो भिन्नता प्रतीत हुई वह विवेकसे दूर होगई इतना ही समझना चाहिये।

जैसा जलका वर्फ किया गया, अथवा जलकी भांप वनाई तो वर्फ- जल -भांपमें भिन्न भिन्न भावके अनुभव होते हैं, तथापि आपतत्त्व के ही ये रूप हैं, अथवा मिश्रीके अनेक पदार्थ

बनाये तो भी विभिन्न पदार्थोंका भान होते हुए भी उन सबका मिश्रीपन कदापि हटता नहीं, इसी तरह एक सद्वस्तु-एकही पुरुषोत्तम- अनेक रूपोंमें प्रकट हुआ, तो उसमें भिन्नता किसी भी रीतिसे आ नहीं सकती।

इलेक्ट्रान्स

आजकल की साइन्स एकमतसे कहती है कि विद्युत्कणों (इलेक्ट्रान्स) से ही विश्वकी सब वस्तुएं बन गयी हैं। येही विद्युत्कण अनंत वस्तुओंके रूपोंमें हमारे सन्मुख उपस्थित हैं। बिजली, बिजली की तार, बिजलीके स्तंभ, बिजलीके दीप, आदि सब विद्युत्कणोंसे ही बने हैं।

ये पदार्थ अनंत हैं, विभिन्न गुणधर्मवाले हैं तथापि वे एकही सत्तत्वसे बने हैं। यही बात-

इन्द्र = विद्युत्

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' (ऋग्वेद)

'इन्द्र अपनी सामर्थ्यसे अनंतरूपोंमें प्रकट होता है।'

यहां इन्द्र नाम विद्युत्का ही है। जो सायन्सने कहा वही वेदने इतने सहस्रों वर्षोंके पूर्व कहा था। अस्तु। इस तरह एकही पुरुषोत्तम विश्वरूपमें प्रकट हुआ है।

अखंड विश्वरूप

क्या इस विश्वरूपमें हमारा रूप नहीं है? अवश्य है, फिर हमारा रूप भी किसका रूप है? उत्तरमें कह सकते हैं कि जिसका यह अखंड-विश्वरूप है उसीका यह रूप है। जहां दूसरी वस्तुही नहीं वहां दूसरे किसका रूप हो सकता है ? अर्थात् मैं, तू, वह, यह सब व्यवहार पुरुषोत्तमके ही रूपमें हो रहा है इसमें संदेह नहीं है।

पुरुषोत्तम

जीवतत्त्व

अहंकार

मनबुद्धि

आकाश

वायु

तेज

आप

पृथ्वी

पुरुषोत्तमही स्वयं हरएक स्थूल रूपमें नटवत् प्रकट हो रहा है। जिस तरह एकही 'अ' कार सर्व वर्णमालाका रूप धारण करके पश्चात् वाङ्मयके अनेक रूपोंमें प्रकट होता है, उसी तरह यहां समझना चाहिये। एकहि 'अ' कारकी सब वर्णमाला बनी होगी तो भी शब्दोंके उलटपुलट अर्थ होते ही हैं, इसी तरह एकही सत्तत्वका सब विश्व बना होनेपर उस विश्वमें द्वन्द्वभाव प्रकट हुआ तो भी उसमें कोई आश्चर्य नहीं है, कारण यह है कि—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि, न त्वहं तेषु, ते मयि॥
भ० गी० ७।१२

"जो सात्त्विक राजस और तामस भाव इस विश्वमें प्रकट हो रहे हैं वे सबके सब

आत्मासे ही हो रहे हैं।" केवल सात्त्विक भाव आत्मासे हुए और तामस भाव किसी दूसरे सैतानसे हुए हैं, ऐसी बात नहीं है। एकही आत्मा है, दूसरी सैतान नामक कोई वस्तु नहीं है। अतः एकही सद्वस्तुसे ये सब विविध भाव उत्पन्न होते हैं।

इस आत्माकाही यह विश्वरूप है और उसीमें हम सब संमिलित हैं। अतः हम सब उससे भिन्न नहीं है। यह विश्व उसीका शरीर है। प्रत्येक मनुष्यका अथवा प्राणीका एक शरीर होता है। उस प्राणीके आत्माका दर्शन तो किसीको होता ही नहीं, जो दर्शन होता है वह उस प्राणीके शरीरकाही दर्शन होता है। इससे स्पष्ट है कि आत्माका साक्षात्कार उसकी प्रकृतिमेंही होना है। अतः इस विश्वात्माकी प्रकृति कौनसी है, इसको प्रथम जानना चाहिये। इस विश्वात्माकी प्रकृतिका वर्णन इस तरह किया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥
(भ० गी० ७)

यहां परमेश्वरकी प्रकृति नवविध है, ऐसा कहा है। पृथ्वी आप तेज वायु आकाश मन बुद्धि अहंकार और जीवतत्त्व यह नवविध शरीर ही पुरुषोत्तमका है। इस शरीरमें संपूर्ण भूतमात्र हैं, संपूर्ण विश्व है, इससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। प्रकृतिका ही अर्थ शरीर है।

हमारे शरीरमें पंचभूत-मन बुद्धि अहंकार और जीवभाव हैं, जो पुरुषोत्तमके शरीरके घटक हैं वेही घटक हमारे शरीरमें हैं। पुरुषोत्तमका शरीर विश्वव्यापक है, उसीका थोडासा भाग लेकर हमारा शरीर बना है। अतः कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गंधानिवाशयात् ॥८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
(भ० गी० १५)

"ईश्वरकाही अंश- अर्थात् पुरुषोत्तमकाही अंश यहां जीव हुआ है। वह यहां शरीरमें प्रकट होकर पांच ज्ञानेंद्रियोंके सहित मनको अपने साथ आकर्षित करता है। जिस शरीरके अन्दर जाता है अथवा जिस शरीरसे बाहर जाता है, वायु गंधको अपने साथ ले जानेके समान, यह इंद्रियोंको अपने साथ ले जाता है। श्रवण, दर्शन, स्पर्शन, रसन, घ्राण और मन इन इंद्रियोंपर यह अधिष्ठाता होकर सब विषयोंका सेवन करता है।" इस तरहके वर्णनोंसे स्पष्ट होता है कि विश्वात्माका एक अंश इस शरीरमें जीव होकर रहा है। अंशी विश्वात्मा है और अंश जीव है। अंशीसे भिन्न अंश नहीं हो सकता।

अपने शरीरमें जो स्थूल पार्थिव भाग है, वह विश्वात्माके पार्थिव शरीरका अंश है, अपने शरीरमें जो प्रवाहरूपसे आप् तत्त्व है, वह विश्वात्माके आपोमय शरीरका अंश है। अपने शरीरमें जो तेजस्वी भाग है, वह सर्वात्माके तेज शरीरका अंश है। इसी तरह अपने अंदर वायुरूपी प्राण है और अवकाश रूप आकाश है, मनन करनेवाला मन है, ज्ञानग्रहण करनेवाली बुद्धि है और अहंकार भी सर्वोपरि 'मैं' करके रहा है, ये सब अंश विश्वात्माके विश्वव्यापक प्राण, अवकाश, मन, महत्तत्त्व और अहंकारके अंश हैं। हमारे पास जो कुछ है, वह विश्वात्माके विशाल शरीरसे ही लिया हुआ है। जो पूर्णतः विश्वशरीरमें है, वही अंशतः हमारे शरीरमें है

और जो अंशतः हमारे शरीरमें है वही पूर्णतः विश्वात्माके विश्वशरीरमें है। यह पंचभूतात्मक विश्वशरीर परमात्माका है, इस विषयमें जैसा यहां भगवद्गीतामें कहा है, वैसाही बृहदारण्यकोपनिषद् में विस्तारसे कहा है-

...यस्य पृथिवी शरीरं...यस्यापः शरीरं...
यस्याग्निः शरीरं... यस्यान्तरिक्षँ शरीरं...
यस्य वायुः शरीरं ... यस्य द्यौः शरीरं ...
यस्यादित्यः शरीरं...यस्य दिशः शरीरं...
यस्य चन्द्रतारकं शरीरं ... यस्याकाशः
शरीरं ... यस्य तमः शरीरं... यस्य तेजः
शरीरं ... यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं...
यस्य प्राणः शरीरं ... यस्य वाक्शरीरं...
यस्य चक्षुः शरीरं ... यस्य श्रोत्रं शरीरं...
यस्य मनः शरीरं...यस्य त्वक्शरीरं...
यस्य विज्ञानं शरीरं...यस्य रेतः शरीरं,
यः...अन्तरो यमयति, एष त आत्मा
अन्तर्याम्यमृतः (एष) द्रष्टा... श्रोता..
मन्ता...विज्ञाता, एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।
(बृ० उ० ३।७।३—२३)

'परमात्माका शरीर "पृथिवी-आप-अग्नि-अन्तरिक्ष-वायु-द्यौ-आदित्य-दिशा-चन्द्र-तारका-आकाश-तम-तेज-सर्वभूत-प्राण-वाणी चक्षु-श्रोत्र-मन-त्वचा-विज्ञान-रेत" है। यह परमात्मा इनके अन्दर रहता हुआ इनका नियमन करता है, यही मनुष्यका अमर आत्मा है, यह द्रष्टा श्रोता मननकर्ता ज्ञाता है, यही तेरा आत्मा है।'

भगवद्गीता (अ०७।४—६) में नवविध शरीर कहा है और यहां इक्कीस पदार्थोंकी गिनती की है, परंतु अधिक वस्तुएँ गिननेसे विशेष स्पष्टीकरण ही हुआ है, नवविध पदार्थोंसेही ये अनेक पदार्थ बने हैं। अस्तु। यहां पाठकोंको परमेश्वरके विश्वशरीरकी कल्पना हो सकती है। इस पुरुषोत्तमके विश्वशरीरमेंहि सब प्राणियोंके शरीर समाये हैं और हमारे शरीर भी उसी विश्वशरीरके अंश हैं। उससे पृथक् कोई नहीं है।

संपूर्ण विश्व एकही अखंड जीवन है, ऐसा यहां कहा है और यही विश्वात्मा पुरुषोत्तम है। जन्मनेवाले भी उसीमें और मरनेवाले भी उसीमें हैं। जनन और मरण सतत होनेपरभी विश्वात्मस्थितिमें कोई न्यूनाधिक नहीं होता। वह जैसा था, वैसा है और वैसाही सदा रहेगा।

इस विश्वात्माकाही यह सब विश्वरूप है। क्या यह विश्वरूप साधकके अनुभवमें आसकता है? यह मेरा ही रूप है, ऐसा साधक कभी न कभी अनुभव कर सकता है? यह शंका यहां उत्पन्न हो सकती है। इसके उत्तरमें निवेदन है कि यह अनुभव साधक भी कर सकता है। पहिले विश्वात्मस्वरूपका ज्ञान सद्गुरुसे प्राप्त करना चाहिये और पश्चात् उसका अच्छी तरह मनन करना चाहिये। जितना मनन होगा, उतनाही यह अपने व्यवहारमें भी लानेका यत्न करना चाहिये।

यहां प्रश्न हो सकता है कि इस ज्ञानको व्यवहारमें कैसे लाया जा सकता है? इसके उत्तरमें कह सकते हैं कि यह ज्ञान व्यवहारमें प्रयुक्त किया जा सकता है। वस्तुतः यह ज्ञान इसी लिये कहा गया है कि व्यवहारमें प्रयोग किया जावे और इस ज्ञानसे निर्दोष व्यवहार होता रहे। यह श्रेष्ठ ज्ञान है और जो व्यवहार इस ज्ञानसे होगा, वह भी श्रेष्ठ व्यवहार ही होगा। इस ज्ञानको जो ठीक ठीक आत्मसात् करेंगे, उनसे सदोष व्यवहार हो ही नहीं सकता।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि
आत्मा एव अभूद्विजानतः। (वा. य.४०।७)

'जिसको सब भूत आत्मा ही हो गये,' उसको ही (विजानतः) सच्चा ज्ञान हुआ। इस समय

(११) आत्माका वर्णन

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

अन्वयः— एनं शस्त्राणि न छिन्दन्ति, एनं पावकः न दहति, एनं आपः न क्लेदयन्ति, एनं च मारुतः न शोषयति ॥२३॥

इस (आत्मा) को शस्त्र नहीं काटते, इसको अग्नि नहीं जलाती, इसको पानी नहीं भिगोता और इसको वायु नहीं सुखाती ॥ २३ ॥

शरीराणि विहाय) अनेक जीर्ण शरीरोंको त्याग कर (नवानि संयाति) अनेक नये देहोंको प्राप्त करता है, ऐसा बहुवचनमें प्रयोग करके बताया है कि मनुष्यके पास तीन या तीनसे अधिक देह हैं। मनुष्य जैसा कुडती, (वासकट) फतूही, अंगरखा और ऊपरसे कश्मीरी चोगा पहनते हैं, अर्थात् तीन वस्त्र कमसे कम पहनते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण–शरीर आदि अनेक शरीर एकके ऊपर दूसरा धारण करता है।

आत्मा

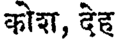
दुशाला
चोगा
अंगरखा
फतूही
कुडती

वस्त्र

बुद्धि, विज्ञानमय
आनंदमय
मनोदेह, मनोमय
प्राणदेह, प्राणमय
सूक्ष्म देह,
स्थूल देह, अन्नमय

कोश, देह

इस विषयमें भगवद्गीतामेंही कहा है—

इंद्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। 
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
(भ० गी० ३।४२)

'शरीरसे इंद्रियां परे, इन्द्रियोंसे मन परे, मनसे बुद्धि परे है और जो बुद्धिसे भी परे है वह आत्मा है।' इस प्रकार ये शरीर एकके ऊपर दूसरा ऐसे हैं। जो मृत्यु करके कहा जाता है, उससे संपूर्ण देहोंका एकदम नाश नहीं होता है। केवल एक स्थूल देहकाही नाश होता है, परंतु सूक्ष्म देह वैसाही रहता है। कालान्तरसे सूक्ष्म देह भी नष्ट हुआ तो भी मनोदेह अथवा कारण-देह जैसाका वैसाही रहता है। अर्थात् इस लोकमें जिसको मृत्यु कहा जाता है, उससे बाहरके वस्त्र फटते हैं, अन्दरके वस्त्र उसीपर रहते हैं। यह स्थिति ध्यानमें धारण करनेसे मृत्युकी वास्तविक कल्पना होगी और मृत्युका भय इस विचारसे दूर होगा।

आवश्यक कार्य करनेके समय यदि अंगरखा फट गया, तो अंगरखाके बचावके लिये कोई सज्जन कर्तव्य कर्म करनेसे पीछे तो नहीं हटते; उसी प्रकार अत्यंत आवश्यक कर्तव्य कर्म

उसको सब भूत- सब पदार्थ आत्माके ही रूप हैं ऐसा प्रत्यक्ष होगा, अथवा आत्माही सब रूपोंमें प्रकट हो रहा है ऐसा प्रत्यक्ष होगा, अथवा ईश्वर ही सब कुछ रूप धारण किये हैं ऐसा दिखाई देगा अथवा यह सब मेरा ही रूप है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा। ये सब वाक्य एकही आशयको दर्शा रहे हैं, यह बात भूलना किसीको उचित नहीं है। तदाकारवृत्ति होनेपर यह अनुभव आवेगा, तबतक यह ज्ञान केवल शब्दोंके ही रूपमें रहेगा।

परोक्षकृत मंत्र।

(पहिला अनुभव)

गुरुके पाससे ज्ञान प्राप्त होते ही, अथवा शब्दोंके द्वारा बुद्धिद्वारा इस ज्ञानको समझमें आतेहि जो अनुभव आवेगा, वह यह है—

पुरुष एवेदं सर्वं। (ऋ. १०।९०।२)
आत्मा वा इदं सर्वं। (छां० उ० ७।२५।२)
नारायण इदं सर्वं। (नारा० उ० २)
ब्रह्म खल्विदं सर्वं। (मैत्री उ. ४।६)
वासुदेवः सर्वं॥ (गी० ७।१९)

'पुरुष, आत्मा, नारायण, ब्रह्म, वासुदेव ये जिसके नाम हैं वह, सद्वस्तु इस विश्वके रूपमें प्रकट हुई है।' यह सब तृतीय पुरुषका प्रयोग है। 'वह ईश्वर इस विश्वरूपमें प्रकट हुआ है।' ईश्वर करके कोई है, वह अभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ, परंतु शब्दप्रमाणसे वह है, ऐसा मैं मानता हूं और वही विश्वरूप हुआ है यह भी शब्दप्रमाणसे मैं स्वीकार करता हूं। इस तरहके तृतीय पुरुषके (वह करके कहे हुए) जो वेदवचन होते हैं, उनका नाम श्रुति है। गुरुके उपदेशसे श्रवण करके यहां ज्ञान प्राप्त हुआ है।'यह विषय प्रत्यक्ष नहीं हुआ। यह केवल श्रुति' है, केवल ऐसा सुनकर माना है। ईश्वर करके कोई है, उसको आत्मा ब्रह्म नारायण वैश्वानर आदि कहते हैं, वही सब कुछ भूत भविष्य वर्तमानकालका विश्व बना है, वही सबका आत्मा है। यह अप्रत्यक्ष ज्ञान है, श्रौत ज्ञान इसे कहते हैं।

इसको सबसे प्रथम प्राप्त करना चाहिये। इसीका मनन करना और इसीको प्रत्यक्ष करना है। इन्हीं मन्त्रोंको 'परोक्षकृत मंत्र' कहते हैं। 'श्रुति' ही परोक्षकृत मंत्र है।

प्रत्यक्षीकृत मंत्र।

(दूसरा अनुभव)

साधक जब गुरुमुखसे सुनता है कि 'सब भूत आत्माही है,' जब वह इसका मनन करने लगता है, तब अनेकवार उसे संदेह होता है कि (सर्वाणि भूतानि आत्मा एव) सब भूत आत्मा ही कैसे हो सकते हैं? भूतमात्र बनते विगडते हैं और आत्मा अखंड एकरस है, ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? ऐसी अनंत शंकाएं साधकके मनमें उठतीं हैं, वह अपने गुरुसे शंका पूछता है, गुरु उसका समाधान करता है और शंका शनैः शनैः दूर होती जाती है, एकताका अनुभव होता जाता है।

पहिले पार्थिव तत्त्वकी एकता देखी जाती है, पश्चात् आप् तत्त्व विश्वभरमें है ऐसी प्रतीति होती है, नंतर तेजस्तत्त्व सर्वत्र है इसका अनुभव सर्वत्र रूपदर्शनसे स्पष्ट होता है। रूप तेजस्तत्त्वका ही गुण है और वह रूप सर्वत्र है, कोई ऐसा स्थान नहीं है कि जहां रूप नहीं है, अतः सर्वत्र तैजस तत्त्वके होनेका निश्चय होता है। इसी तरह वायु आकाश मन बुद्धि अहंकारका होना सर्वत्र अनुभवमें आता है। सर्वत्र अवकाशकी उपस्थिति है, यह तो तेजस्तत्त्वके समानही प्रत्यक्ष होनेवाली बात है। इसी तरह अहंकार भी सर्वत्र है। प्रत्येक कृमी कीट 'मैं हूं' ऐसा कहताही है, इससे भी वनस्पतिसृष्टिमें प्रत्येक वनस्पति 'मैं हूं और मैं सर्वत्र बहुत होकर फैलूंगी।'(एकोऽहं बहु स्यां) ऐसा कहती है। 'मैं हूं' यह अहंकार कोई छोडना नहीं चाहता, यहां कोई मरना नहीं चाहता, सब कोई बढना

चाहते हैं । इस तरह अहंकारको सर्वत्र देखनेसे शनैः शनैः सर्वत्र अहंकारके अनुसंधानसे 'एकात्मप्रत्यय' होने लगता है ।

जब साधकको इतना प्रत्यक्ष अनुभव आता है तब वह साधक कहता है कि 'हे ईश्वर ! तू ही सब कुछ हो ' इ० जैसा–

त्वं अक्षरं परमं वेदितव्यं ।
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥(गी० ११)
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः॥ (गी०१८।३८)

'हे ईश्वर ! तूहि अविनाशी ज्ञेय वस्तु है, तू ही इस विश्वका परम आश्रय है, तूही सनातन है और शाश्वत धर्मका रक्षक है। तूहि आदिदेव और पुराण पुरुष है।' इस तरह परमेश्वरको प्रत्यक्ष पुकारनेवाली भाषा भक्त इस समय बोलता है ।

वह परमेश्वरको उपस्थिति सर्वत्र देखता है और मेरे चारों ओर वह है ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव करता है । अपने शरीररूपी रथपर अपनी सहायता करनेके लिये वह उपस्थित है और अपनी सहायताके लिये उसने सब कुछ कर रखा है, इस बातको साधक इस समय प्रत्यक्ष देखता है । किसी स्थानपर वह साधक देखे, तो वहां वह ईश्वर साक्षात् है, ऐसा वह देखता है। इसलिये साधक इस समय ईश्वरको 'तू' करके पुकारता है, प्रत्यक्ष स्पर्श करनेका अनुभव लेता है, प्रभुके प्रेमका अनुभव करता है, गद्गद होता है । यह साक्षात्कार की अवस्था है । इस समय उसकी प्रार्थना इस तरह होती है—

वि न इन्द्र मृधो जहि
नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
यो अस्मानभिदासति
अधरं गमया तमः ॥ (ऋ०१०।१५२।४)

'हे प्रभो ! हमारे शत्रुओंका नाश करो, सेनाद्वारा हमारे ऊपर हमला करनेवालोंको पराजित करो और जो हमको दास करता है उसको अन्धेरेमें भेज दो अर्थात् उसकी दुर्गति करो ।' तथा—

त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।

'हे प्रभो ! तू ही मेरा सब कुछ है ।' इत्यादि रीतिसे प्रत्यक्ष देवताको संमुख रखकर बोलनेके समान भक्त देवताके साथ बातचीत करता है, मांगता है, प्रार्थना करता है, इ०

इस समय देवता इसको प्रत्यक्ष होती है, परंतु इस समय देवता देनेवाली और मैं लेनेवाला यह भावना रहती है । इसके पश्चात् भी भक्तकी उन्नति होती रहती है और आगे जाकर वह देवतासे अपना तादात्म्य अनुभव करता है, यह उच्चसे उच्च भूमिका है ।

अहंकारादेशके मंत्र ।

(आध्यात्मिक ऐक्यका अनुभव)

इस समय साधक देवतासे तादात्म्य प्राप्त करता है । देवतासे अपना अभेद-संबंध अनुभवता है । इस अनुभवके मंत्र ये हैं–

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये । (ऋग्वेद)

'मैं इन्द्र हूं, मेरा पराजय नहीं होगा ।' इस तरहके मंत्र आध्यात्मिक होते हैं । अर्थात् देवताके साथ अभेदका अनुभव इसमें होता है। इन मंत्रोंका नाम 'वेद' होता है, क्योंकि इनमें देवताका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ होता है । श्रुति और वेदमें यह भेद है । स्वयं देवतांश होनेका अनुभव साधकको इस तरह होता है । भगवद्गीतामें भी यही दर्शाया है–

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्१२
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा
रसात्मकः ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥ (भ०गी०१५)

"जो तेज सूर्य चन्द्र और अग्निमें है, वह मेरा तेज है। भूमिमें प्रविष्ट होकर मैं अपनी शक्तिसे रसात्मक सोम बनकर सब औषधियोंको पुष्ट करता हूं। मैं सब विश्वका नेता होकर सब प्राणियोंके देहोंमें रहकर प्राण और अपानसे युक्त होता हुआ चतुर्विध अन्नका पाचन करता हूं। मैं ही सबके हृदयोंमें हूं, मुझसे ही स्मरण, ज्ञान और विस्मरण होता है। सब वेदोंके द्वारा मैं ही जानने योग्य हूं और मैंहि वेदान्त का कर्ता और वेदका ज्ञाता हूं।"

यह साधक इस समय विश्वात्माके स्वरूपमें मिला होता है, विश्वात्मासे अभिन्न होता है, मैंहि देवतारूप हूं यह प्रत्यक्षानुभव इस समय इसको आता है। ये तीनों अनुभव उपनिषदोंमें स्पष्ट रीतिसे कहे हैं। इस विषयकी सुबोधताके लिये इन वचनोंको यहां पाठक अवश्य देखें-

१ स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स
दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदँ सर्वमिति ॥

२ अथातोऽहंकारादेशः-
अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं
पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदँ
सर्वमिति ॥ १ ॥

३ अथात आत्मादेशः-
आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चा-
दात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्त-
रत आत्मैवेदं सर्वमिति ॥

४ स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं
विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन-
आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। तस्य
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।

५ अथ येऽन्यथातो विदुः, अन्यराजानस्ते
अक्षय्यलोका भवन्ति,तेषां सर्वेषु लोकेष्व-
कामचारो भवति ॥
(छां०उ०७।२५।१-२)

(१) अब 'वह' शब्दसे वह ज्ञान कहते हैं- 'वह (ईश्वर) नीचे, वही ऊपर, वही पीछे, वही आगे, वह दाईं और वही बाईं ओर अर्थात् वही सब कुछ है।'

(२) अब 'अहं' शब्दसे वही कहते हैं- 'मैं नीचे, मैं ऊपर, मैं पीछे, मैं आगे, मैं दाईं ओर और मैं बाईं ओर अर्थात् मैंहि सब कुछ हूं।'

(३) अब 'आत्मा' शब्दसे वही ज्ञान कहते हैं—

'आत्मा नीचे, आत्मा ऊपर, आत्मा पीछे, आत्मा आगे, आत्मा दाईं ओर और आत्माही बाईं ओर अर्थात् आत्मा ही सब कुछ है।'

(४) जो इस तरह देखता है, इस तरह मानता है, इस तरह जानता है, वह आत्मामें रमता है, आत्मामें क्रीडा करता है, आत्मासे मिलता है और आत्मासे आनंदित होता है। इस समय वह स्वराट्-[स्वयं राजा-स्वयं प्रकाश—स्वतंत्र] होता है। इसकी गति सब लोकोंमें स्वेच्छासे होती है।

(५) परंतु जिनको यह ज्ञान नहीं है, वे दूसरेको राजा माननेवाले अर्थात् दूसरेको अपना स्वामी माननेवाले परतंत्र होते हैं, उनको अक्षय लोक कभी नहीं मिलता, उनकी परतंत्रताके कारण उनकी गति सब लोकोंमें नहीं हो सकती ।

इस छांदोग्य उपनिषद्में स्पष्ट कहा है कि जबतक 'मैंहि विश्वरूप आत्मा हूं' ऐसा प्रत्यक्षानुभव नहीं होता, तबतक साधक दूसरेको

अपना अधिपति माननेवाला परतंत्र ही रहता है। वह जिस समय जानता है कि मैं ही आत्मा हूं तब वह स्वतंत्र और मुक्त होता है। इस वचनमें (सः) वह, (अहं) मैं और आत्माके निर्देश से एकही आत्माका ज्ञान कहा है। इसमें (अहं) मैं के निर्देशसे जो कहा है वैसा ज्ञान जिस समय साधकको होगा, उसी समय वह अपने आपको ही सर्वव्यापक अनुभव करेगा और अपनेसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है ऐसा अनुभव करता हुआ पूर्ण स्वतंत्रताका अनुभव करेगा।

पहिला अनुभव- वह ईश्वर सब कुछ है,
दूसरा अनुभव- तू ईश्वर सब कुछ है,
अन्तिम अनुभव- मैं सब कुछ हूं।

पहिले दो अनुभव अपनी अपूर्णताके हैं, तीसरा अनुभव अपनी पूर्णताका है। इस पूर्णताके अनुभवमेंहि 'जो आदित्यमें तेज है, वह मेरा है' ऐसा कह सकता है। इस रीतिसे विश्वात्माका अनुभव साधकको प्राप्त होता है। हरएक साधक इस अनुभवकी कसौटीसे अपनी परीक्षा कर सकता है और अपनी कितनी उन्नति हो चुकी है, इसका निश्चय कर सकता है।

व्यक्ति, कुटुंब, जाति, देश, राष्ट्र यहांतक अपना संबंध जोडने तक साधारणतः मनुष्यकी उन्नति अंशतः हुई है। 'वसुधैव कुटुंब' माननेकी वृत्ति संन्यासाश्रममें करनेकी प्रथा वर्णाश्रम-धर्मनेही भारतीयोंको समझायी है। इसके पश्चात् सूर्यचन्द्रका तेज भी मेरा ही है, यह सीढी है। पाठक इसका विचार करें और अपनी अवस्थाका ज्ञान प्राप्त करें।

सर्वत्र आत्मस्वरूप देखनेवाला व्यवहार कैसा कर सकता है? यह भी एक प्रश्न लोग किया करते हैं।

मान लीजिये कि किसी साधकको 'पुरुषोत्तम-योग' की साधनासे 'मैं ही सब कुछ (अहं एव इदं सर्वं) हूं' ऐसा निश्चित ज्ञान हुआ। वह मानो पुरुषोत्तमरूपही हुआ है। वह सबको पुरुषोत्तमरूप अथवा अपना ही रूप मानेगा। उसके सामने शिष्य उपस्थित हुआ तो समझेगा कि पुरुषोत्तमही शिष्यभावसे संमुख आगया है अथवा मैं हि शिष्यरूपसे सम्मुख आगया हूं। दोनों अवस्थाओंमें वह निष्कपट भावसे अध्यापन करेगा। क्योंकि कपट अपने ही से नहीं हो सकता।

इसी तरह पुरुषके सामने स्त्री आगयी, वैद्य या डाक्तरके सामने रोगी आया, अधिकारीके सामने प्रजाजन आगया, मालिकके सामने नौकर उपस्थित हुआ अथवा राजाके सामने कोई मनुष्य आगया, तो इन सब आत्मज्ञानियोंका व्यवहार पूर्ण निष्कपट भावसे होगा। जितना निष्कपट व्यवहार अपने साथ किसीका हो सकता है, उतना निष्कपट और सीधा व्यवहार अन्योंके साथ हो सकता है। सर्वात्मभावसे जब व्यवहार होगा, तब ऐसा सीधा व्यवहार हो सकता है।

जो ज्ञानी होगा वह सर्वात्मभावको जानकर सहज भावसेहि सरल और निष्कपट व्यवहार कर सकता है, अथवा उनसे सरल व्यवहार स्वयं हो सकता है। परंतु सब अन्य लोग भी सबका आत्मा एकही है, यह अखंड एकरस अनन्यभाव बुद्धिद्वारा जानकर, ज्ञानीको अपना आदर्श मान कर सरल व्यवहार करें। इस तरह लोगव्यवहारसे छल कपट पूर्णतया दूर हो सकता है।

इस पुरुषोत्तम-विद्याको व्यवहारमें इस तरह लाया जा सकता है। वर्णधर्म और आश्रमधर्म में प्रारंभसे यही पाठ मिलता है। पूर्ण ज्ञान न होते हुए भी वर्णाश्रमधर्मके पालनसे मनुष्य, ज्ञान होनेके समान ही उत्तम व्यवहार करनेमें

समर्थ होता है। वर्णाश्रमधर्ममें रहनेवाला साधक अपने धर्मपालनके मिषसे अहिंसा, संयम, इन्द्रियनिग्रह आदि करता है। और पुरुषोत्तम-स्वरूपको यथार्थ रीतिसे जाननेवाला सिद्ध पुरुष अपनी सहज वृत्तिसे अहिंसाशील, संयमी और इन्द्रियनिग्रही होता है। हिंसा, स्वैराचार आदि वृत्ति उसके मनमें उठतीहि नहीं। सिद्ध पुरुष होनेपर जो आचार सहज वृत्तिसे होगा, वही आचार प्रयत्नसे वर्णाश्रमधर्ममें हरएक मनुष्यको करना पडता है। इससे पाठकोंको ज्ञात हुआ होगा कि पुरुषोत्तमयोग सिद्ध होनेपर क्या होगा और उससे पूर्व कैसा आचरण करना होगा।

जो विश्वरूप भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें बताया गया है, वह सब विश्व अखंड एकरस अनन्य वस्तु है, यह स्पष्ट करनेके लिये ही बताया है। यहां एकही वस्तु है जिसपर इन विश्वगत पदार्थोंका रूप दीख रहा है। विश्व मिथ्या नहीं है, परंतु पुरुषोत्तमरूप ही है। अर्थात् सबही पुरुषोत्तमके रूप हैं, ऐसा मानकर जो साधक व्यवहार करेंगे, उनके व्यवहारमें अशुद्धि हो ही नहीं सकती। क्योंकि उनका सब व्यवहार पुरुषोत्तमके साथ ही होता है। जो अपना सब व्यवहार परमेश्वरके साथ हो रहा है ऐसा जानकर अथवा मानकर व्यवहार करेंगे, उनसे अत्यंत शुद्ध व्यवहार होगा, इसमें क्या संदेह हो सकता है?

अपने कर्मोंसे परमेश्वरकी पूजा करने (गी. १८।४६) का जो आदेश है वह भी परमेश्वरको सब भूतोंमें देखनेका अथवा सब रूपोंको परमेश्वरके रूप माननेका ही आदेश है। मनुष्य जो कुछ करता है, वह परमेश्वरकी पूजा करनेकी अभिलाषासे ही करे। तृषित मनुष्यको जल दिया, तो वह परमेश्वर को ही दिया है, भूखे मनुष्य को अन्न दिया, तो वह परमेश्वरकोही दिया है। ऐसे कर्मोंसे परमेश्वरकी पूजा होती है। प्रत्यक्ष परमेश्वरके ये रूप हमारे सामने आते हैं। इनसे हम जो व्यवहार करते हैं, वह प्रत्यक्ष परमेश्वरसे ही व्यवहार हो रहा है। जो मनुष्य अथवा पशुपक्षी हमारे सामने आता है, वह परमेश्वर का प्रत्यक्ष रूप है। उससे हम कैसा व्यवहार करते हैं? स्वकर्मसे उसकी पूजा करते हैं, या उसको कष्ट पहुंचा देते हैं? इसका विचार हरएक को करना चाहिये।

परमेश्वरसे व्यवहार।

दूसरोंपर अत्याचार किया जाता है, दुराचार किया जाता है, लूटमार की जाती है, धोखेबाजी की जाती है, यह सब व्यवहार परमेश्वरसे होता है। फिर इससे कौन कैसा बचेगा? प्रत्यक्ष प्रभुके साथ कुव्यवहार करनेसे उस अपराधसे बचनेका कोई साधन नहीं है। पुरुषोत्तमयोग हो रहा है, परंतु कैसा योग हो रहा है? जो चल रहा है, वह सब पुरुषोत्तमसे ही योग हो रहा है, परंतु जो जानेंगे वे निर्दोष आचरण करनेद्वारा पुरुषोत्तमकी पूजा करेंगे और दूसरे पुरुषोत्तमको कष्ट देनेके कारण स्वयं कष्टमें पडेंगे। व्यवहारमें यही हो रहा है। आज दूसरेको लूटनेवाला कल स्वयं लूटा जाता है और उस समय कष्टी होता है। परंतु वह अपना ही कर्म था।

पुरुषोत्तमका विश्वरूप जानकर और अपने कर्मोंसे उसकी पूजा करनेका व्रत करके पुरुषोत्तमकी सेवा करनी चाहिये। हरएक आचरण इस कसौटीसे परखा जायगा, तभी निर्दोष आचरण होगा। ब्राह्मण ज्ञानदानसे, क्षत्रिय रक्षाकर्मसे, वैश्य धनदानसे और शूद्र अपने सेवाकर्मसे परमेश्वरकी ही उपासना करता है। मूर्तिपर चंदनपुष्प चढानेको लोग पूजा समझते हैं। यह पूजा साक्षात् नहीं है। जो मानवादि प्राणियोंसे व्यवहार हो रहा है वह है साक्षात् पूजा करनेका विधि, इस विधिसे हरएकको साक्षात् भगवान्‌की सेवा करनेका अवसर प्राप्त

होता है। उस अवसरमें वह क्या कर रहा है, यही विचारणीय बात है। इसका विचार हरएक मनुष्य करे। यह एक नियम मनुष्यका आचरण यथायोग्य करनेवाला है।

जैसा संपूर्ण विश्वरूप पुरुषोत्तम है, वैसाही पूर्वोक्त अहंकारादेशसे यह सब विश्वरूप (अहं) मेरा ही है। जैसा पुरुषोत्तम इस विश्वरूपमें प्रकट हुआ है, वैसाही अहंकारादेशसे इस सब विश्वरूपमें मैं ही प्रकट हुआ हूं, जो कुछ विश्वमें हो रहा है,वह आत्मस्वरूपी मुझसे ही हो रहा है। यह जानकर विश्वसेवाका अद्भुत मार्ग जाना जाता है। विश्वमें जो कुछ कल्याणरूप हुआ वह तो ठीक ही हुआ है, उस विषयमें विशेष बोलनेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु जो कुछ हानिकारक, अहितकारक, अभद्रकारक हुआ हो वह सब मेरे अन्दरके दोषके कारण हुआ है, इसलिये उसको ठीक करनेके लिये आत्मसमर्पण, आत्मशुद्धि अथवा विश्व-सेवा करना मेरा कर्तव्य ही होता है। विश्वमें मेरे व्यतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है, अतः जो यहां बुराभला हो रहा है, वह मुझसे ही हो रहा है इसमें कोई संदेह ही नहीं है। जो तो यहां भला हुआ वह तो होनाही चाहिये था, इस लिये उसके विषयमें कुछ कहनेकी कोई आव-श्यकता नहीं है। परंतु जो अनिष्ट हुआ हो वह मुझे छोडकर कोई अन्य यहां न होनेसे मेरे कारण ही हुआ है, अतः उसके निराकरणके लिये अर्थात् इस अपने कर्तव्यसे विश्वसेवा करनेके लिये कटिबद्ध होना अपना कर्तव्य ही होता है। उस कर्तव्य करनेद्वारा विश्वात्माकी भक्ति-सेवा-पूजा करना साधकका कर्तव्य होता है। साधक विश्वसेवा करता रहता है, इसका कारण यह है। विश्वरूपी आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेके पश्चात् कर्तव्यक्षेत्रका बडा विस्तार होता है। साधक अपना जीवन विश्वरूपकी सेवा के लिये अर्पण करता है और जो करता है, वह निष्कामभावसे ही करता है।

विश्वमें दुःख, कष्ट और न्यूनता देखकर वह दूसरोंको दोष नहीं देता, क्योंकि उसके लिये इस विश्वमें दूसरा कोई रहा ही नहीं है। सब विश्वरूपही उसको अपना रूप हुआ है। अतः जहां कहां वह न्यूनताका अनुभव करता है, वह न्यूनता अपनेमें है, ऐसा वह देखता है। जब इसको अपनेमें दोष दीखेगा तब वह दूसरोंको दोष क्यों कर दे सकता है? इस लिये वह अपना दोष जानकर अपना ही दोष दूर करता है, वह कदापि दूसरोंकी निंदा नहीं करता, क्योंकि दूसरा कोई है नहीं। जिस समय (सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्) सब भूत आत्माही हुए उस समय अपने कर्तव्यके संबंध में कोई शोक मोह नहीं होते। उसको उसका सीधा कर्तव्य स्पष्ट दीखता है। (वा० यजु० ४०।७)

सर्वात्मभाव जाननेसे परनिंदा करनेका कोई प्रयोजनही रहता और स्वकर्तव्य करनेमें दोष भी नहीं रहते। पाठक सबका आत्मा एक है अथवा सब रूप परमेश्वरके हैं, ऐसा मानकर व्यवहार करके देखें। इससे उनके व्यवहार पूर्ण निर्दोष होंगे।

सर्वभाव।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(गी० १५।१९)

'जो इस तरह ज्ञानी पुरुष पुरुषोत्तमको जानता है, वह सर्वज्ञ होता है और सर्वभावसे परमेश्वरकी पूजा करता है।' यहां पूजाके दो विधि निश्चित हुए दीखते हैं। एक सर्वभावसे पूजा करना और दूसरा असर्वभावसे किंवा खण्डभावसे पूजा करना। इन दोनोंका परिणाम कैसा होता है, वह हम अब देखेंगे।

जे खण्डभावसे पूजा करता है, वह किसी

मूर्तिकी पूजा करना है। जिस ग्राममें वह मंदिर हो वहां जाना, अन्य स्थानपर ईश्वर नहीं है ऐसा मानना. वह मूर्ति मुझसे भिन्न है, मैं भिन्न हूं, ऐसा मानकर तथा अन्य जनता उससे भिन्न है ऐसा मानकर और एक स्थान-परही उसका निवास मानकर मूर्तिकी उपासना होती है। यह सब उपासना असर्व-भावसे है। इसलिये मूर्तिमें ईश्वर है, अन्य जनतामें नहीं, ऐसी बुद्धि होती है और दैनिक व्यवहारमें लूट-मार करके मंदिरमें स्थित मूर्तिपर हजारों रुपयोंके चढावे-समर्पण-किये जाते हैं। असर्व-भावसे ये दोष होते हैं। जो साहुकार अपने ऋणकोंको लूटता है, वही मंदिरमेंहि जाकर देवताको धन अर्पण करता है, क्योंकि वह समझता है कि मंदिरमेंहि देवता है, मंदिरसे बाहर देवता नहीं है। जो अपने ऋणी हैं उनको लूटकर धन कमाना और मंदिरकी मूर्तिपर चढाना यह तबही होगा जब मंदिरसे बाहर देवताका अस्तित्व न माना जाय। जगत्के संपूर्ण पातक असर्वभावके माननेके कारण हो रहे हैं।

अब सर्वभावके माननेसे कैसा परिवर्तन होता है वह देखिये। संपूर्ण विश्व एक अखण्ड वस्तुका प्रकटीकरण है, मैं भी उसीमें हूं। संपूर्ण विश्व और मैं मिलकर एक अखण्ड भाव हुआ है, उसका नाम ' सर्व ' है। यह सर्वभाव मेरा है। उपासक उपास्य सब इसी सर्वभावमें संमिलित हैं। यहां पृथक् कोई नहीं। सब मेरे अथवा ईश्वरकेही रूप हैं। ऐसा निश्चय होनेपर कौन किसे लूटे. कौन किससे कपट करे? जहां दूसरा रहा नहीं. जहां एकही सर्वत्र सत्ता हुई, वहां कौन किसका छल करे? इस प्रकार सर्वभावसे निर्दोष आचरण होता है। इसलिये सर्वभावसे भक्ति करनेवाले निर्दोषी होते हैं। सर्वभावसे व्यवहार करनेपर निर्दोष व्यवहार होता है। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक तथा राजकीय सब प्रकारके व्यवहार सर्वभावसे करनेसेहि झगडे नहीं होंगे। जो आजकल झगडे बढ रहे हैं, उसका कारण असर्वभावसे अर्थात् मैं व्यक्ति अलग हूं और शेष विश्व अलग है. ऐसा मानकर सब व्यवहार हो रहे हैं, यही सदोषता है। संपूर्ण धर्म मूलमें इस सर्व भावपर अधिष्ठित हैं. तथापि आगे जाकर धर्मप्रचारक असर्वभावही मानने लगते हैं, इसलिये धर्मके नामसे झगडे खडे होते हैं।

उदाहरणके लिये ईसामसीहने अपने ईसाई धर्मके पुस्तकमें कहा है कि जिस समय सामने कोई भीकारी दुःखी कष्टी आदमी आजाय तो उसको परमेश्वरका रूप मानकर उसकी सेवा करना चाहिये। ऐसा कई धर्मसेवक ईसाई करते भी हैं. परंतु सर्वसाधारण प्रचारक इस विश्वात्माके विश्वरूपको जानते तक नहीं! और न जानते हुए किस धर्मका प्रचार करते हैं, पता नहीं।

भारतवासी आर्यधर्मके अथवा सनातन धर्मके वेदधर्मानुयायी वेदको, उपनिषदोंको और भगवद्गीताको प्राणसे भी अधिक मूल्यवान् मानते हैं, परंतु विश्वरूपकी उपासना नहीं करते। इतनाही नहीं, परंतु अपनेही धर्मके भाइयोंको इतना दूर रखते हैं कि जितना दूर रखना विश्वरूपी परमेश्वरको माननेपर योग्य है ऐसा सिद्ध करना असंगत होगा।

अनेक धर्मोंका ऐसाही अयोग्य रीतिसे प्रचारकोंने प्रचार किया है. अतः सच्चे धर्मभावसे लोग बहुत दूर गये हैं। अतः श्रीमद्भगवद्गीताके भक्तोंको उचित है कि वे परमेश्वरके विश्वरूपको जानें, उसको यथायोग्य समझें और यह विश्वरूप अखण्ड एकरस तथा अनन्य है और सर्वभावसे विश्वरूपकी उपासना करनी चाहिये, यह ठीक ठीक समझकर. वैसा धर्माचरण करें। स्वकर्मसे विश्वसेवा करें और कृतकृत्य बनें।

ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ।

इस अध्यायमें ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ वृक्षका वर्णन

प्रारंभके तीन श्लोकोंमें किया है। यह अश्वत्थवृक्ष कौन है? इसकी शाखाएं ऊपर नीचे फैली हैं, जडें ऊपर हैं, शाखाविस्तार नीचे फैला है। यह विचित्र वृक्ष है कहां? ऐसा प्रश्न विचक्षण पाठक अवश्य करेंगे।

यह वृक्ष हरएक मनुष्यके शरीरमें है। (नर्वस सिस्टीम) मज्जा-संस्थान इसका नाम है। ऊपर मस्तकमें-मस्तिष्कमें इसकी जडें हैं और संपूर्ण शरीरभरमें अनंत छोटीमोटी शाखाएँ फैली हैं। इसका जाल ऐसा फैला है कि एक सूईके नोक जितना स्थानभी इससे खाली नहीं है। ऊपर नीचे शाखाविस्तार यहां प्रत्यक्ष है। इसका (ऊर्ध्वमूलं) मूल ऊपर है यहभी स्पष्ट है। तीन गुणोंसे ये युक्त हैं (गुणप्रवृद्धाः) ऐसा जो इसका वर्णन है वह यहां प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। (विषयप्रवालाः) विषयरूप अंकुरोंसे युक्त होनाभी इसका सिद्धही है क्योंकि इनका संबंध किसी न किसी विषयसे अवश्य आता है। संपूर्ण कर्मोंके साथ इसका संबंध आताही है, क्योंकि यदि इस मज्जामें बिगाड हुआ तो उससे होनेवाले कर्म होते नहीं और उस मज्जाके द्वारा ग्रहण किये जानेवाले विषयोंका ग्रहणभी नहीं होता है। मानो मनुष्यका मनुष्यत्व इन सब मज्जाकेन्द्रोंपरही निर्भर है।

इस वृक्षके पर्ण (छंदांसि यस्य पर्णानि) छंद है। छंदका अर्थ वेद और वेदका अर्थ ज्ञान है। उक्त मज्जातन्तुओंका भी प्रयोजन ज्ञान प्राप्त करनाही है। शरीरके किसीभी भागपर किसी पदार्थका स्पर्श हुआ तो झट उसका ज्ञान इनही मज्जातंतुओंके कारण होता है। यदि इनमें बाधिरता आगयी तो ज्ञान होना बंद होता है। अर्थात् सब प्रकारका ज्ञान प्राप्त करना इन मज्जाकेन्द्रोंके कारणही होता है। वेदज्ञतामें इनका कितना कार्य है, यह यहां पाठक देखें और इस मज्जातन्तुओंका महत्त्व जानें।

ये मज्जातन्तु सब शरीरभर फैले हैं। ज्ञान लेते, ज्ञान पहुंचाते और कर्मकी प्रेरणा करते तथा कर्म करते भी येही हैं। (कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके) मानवलोकमें जो कर्म हो रहे हैं उनका मुख्य संबंध इनसे है।

यह मज्जासंस्थान मनुष्यकी जितनी सहायता करता है उतनी सहायता और किसीसे नहीं हो सकती। यह सहायता करता है, परंतु साथ साथ विषयोंसे बांधभी देता है, भोगलालसा बढाता है, बारीक बारीक तर्क करनेका कार्य यही करता हैं। सूक्ष्म विचार करना इसी मज्जाकेन्द्रोंके आधीन है। इसके जितने बारीक तन्तु होंगे उतनी विचारशक्ति बढती है और विचारशक्ति बढनेसे श्रद्धा कम होती जाती है। मज्जाका कार्य विचार तथा तर्कना बढाना है। इसके बहुत बढ जानेसे श्रद्धा और भक्ति उसी प्रमाणसे हट जाती है।

इसका परिणाम शुष्क विचार बढ जानेमें होता है और अन्तमें नास्तिकता की हदतक मनुष्य पहुंचता है। तर्कके बडे बडे जाल फैलाता रहता है और श्रद्धा तो होतीहि नहीं। जिसका (नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा) आदि अन्त नहीं और जिसकी प्रतिष्ठाभी कोई नहीं, ऐसी तर्क वितर्क कुतर्ककी श्रेणियां चलती हैं और भ्रमही भ्रम बढ जाता है। भोगप्रधान और कुतर्कप्रधान जीवन बढता जाता है और सर्वत्र असमाधान बढता है। क्या करें, कहां जांय, शान्ति किस तरह मिल सकती है इसकी विवंचना शुरू होती है और इस समय विवंचनासे त्रस्त हुआ मनुष्य गुरुको शरण जाता और अपनी अवस्था उसे निवेदन करता है।

'असंगशस्त्रसे इस अश्वत्थवृक्षके शाखाविस्तारको काटो' यह उपदेश गुरुसे प्राप्त होता है और उसका प्रयोग यह करता है। तर्कनाका शाखाविस्तार कटते ही भक्तिश्रद्धाका हार्दिक

भाव उदित होता है। मज्जाके जालोंकी अति सूक्ष्मता नष्ट होकर हृदयकी गंभीरता वढाई जाती है। इस तरह श्रद्धाका उदय होनेपर परमेश्वरकी खोज शुरू होती है। अन्तमें वह स्थान-परम पद-प्राप्त करता है।

यहां पाठकोंके ध्यानमें यह वात आगयी होगी कि यह वृक्ष अपने ही शरीरमें है, जिसके तन्तुजाल वढनेसे अपनी गति रुक जाती है और जाल कम होनेसे प्रगति होती है। तर्कना की शक्ति वढनेसे भक्तिकी न्यूनता और भक्तिके वढ जानेसे तर्ककी न्यूनता होती है। पूर्ण पुरुष होनेके लिये दोनोंका सम विकास होना चाहिये। अतः कहा है कि असंगशस्त्रसे उतना ही इसका शाखाविस्तार काटना चाहिये (सुविरूढमूलं छित्वा) कि जिससे (तत्पदं परिमार्गितव्यं) उस स्थानका अपना मार्ग दीखने लग जाय। उक्त वृक्ष सबका सब काटना नहीं चाहिये। परंतु उसकी शाखाएं उतनी कटनी चाहिये कि जिससे अपना मार्ग खुला हो जावे और अपना प्राप्तव्य स्थान दीख पडे और हम आसानीसे आगे वढ सकें।

आवश्यक तर्क तो चाहिये और प्राप्तव्य स्थानके मार्गपर दृष्टि स्थिर रहने योग्य भक्ति भी चाहिये। तर्कसे दुष्ट मार्गकी ओर नहीं फंसना होता और श्रद्धासे श्रेयमार्गपरसे चलना होता है। इस तरह तर्क और श्रद्धाका सहारा लेता हुआ साधक आगे वढता है।

व्यक्तिके अन्दर यह अश्वत्थ वृक्ष मज्जातन्तुओंका संस्थान ही है। इसका नाम 'अश्व-त्थ' अर्थात् जिसमें घोडे बन्धे हुए ऐसा है। घोडे नाम इंद्रियोंका है। हमारे सब इंद्रियरूपी घोडे इसी मज्जातन्तुओंसे वंधे हुए हैं। यह वृक्ष 'अ-श्व-त्थ' भी है, अर्थात् यह कलतक रहेगा ऐसा नियम नहीं है। संपूर्ण शरीर की नाश होनेकी अवस्थाका वर्णन 'अ-श्व-त्थ' शब्द कर रहा है। इस रीतिसे इस वृक्षका वर्णन पाठक अपने अन्दर देख सकते हैं।

जो व्यवस्था शरीरमें है, वैसी ही और उससे भी विशेष गूढ व्यवस्था विश्वमें है। इस शरीरमें रहनेवाली मज्जातन्तुओंकी व्यवस्थासे संपूर्ण शरीरके अवयवोंकी एकता सिद्ध हुई है। शरीरके किसी स्थानमें कुछ हुआ तो उसका पता झट लगता है, वह इसी मज्जातन्तुओंसे ही है। चोट पांवमें लगे, हाथमें लगे, या सिरमें लगे, उसका ज्ञान झट होता है। इतनी एकता विभक्त अवयवोंमें रही है, इसका कारण येही ज्ञानवाहक मज्जातन्तु हैं।

जैसा यह मनुष्य 'पुरुष' कहलाता है, वैसाही विश्वपुरुषका नाम 'विराट् पुरुष' है। अतः विराट् पुरुषमें हमारे मज्जातन्तु-संज्ञान-व्यवस्थाके समान कुछ न कुछ व्यवस्था होनी चाहिये। जिनको हम जड कहते हैं, उनमें भी सजीवता दिखाई देती है। भूमिपर गोवर या विष्टा पडनेसे स्वयं उसपर मिट्टी आती है, धातुओंका मारण अर्थात् विशेष विषप्रयोगसे मरण होता है, अतः यहां इस विश्वमें कोई जड या निर्जीव वस्तु नहीं है। संपूर्ण विश्वमें विश्वात्मा अपनी जीवनशक्तिके साथ रहनेसे संपूर्ण विश्व ही सजीव है, अतः उस विश्वमें किंवा विराट् पुरुषमें कुछ न कुछ सूक्ष्म मज्जाके ज्ञानवाहक केन्द्र होंगे ही। इस विश्वव्यापक सूक्ष्म मज्जाका सिर सूर्यलोकमें है, मन चन्द्रलोकमें है। ब्रह्माण्डके मध्यमें सूर्य है, वहांसे सूक्ष्ममज्जा-प्रवाह उसकी किरणोंके साथ संपूर्ण ब्रह्माण्डमें जाता है।

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात्। (ऋग्वेद)

ऐसा वेदमें कहा है। यहांका यंत्र शब्द नियमन-शक्तिका वाचक स्पष्ट है। तथा–

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।
(प्रश्न उ. १।७)

ऐसा उपनिषद्में सूर्यके विषयमें कहा है। सूर्यकिरणद्वारा संपूर्ण ग्रहोपग्रहोंका नियमन होता है। भूमिपर जो स्थिरचर जीवजन्तु तथा वस्तुजात हैं, उसका संपूर्ण जीवन सूर्यसे ही होता है। सबके जीवनके साथ सूर्यके सत्त्वांशका संबंध है। जैसा मज्जारस प्राणीके शरीरमें वैसाही सूर्यका सत्त्वांश इस सूर्यमालामें सबके जीवनका आधार है।

इस विवरणसे पाठकोंके ध्यानमें विराट् पुरुषके सजीव होनेकी कल्पना आसकती है। इसके अतिरिक्त यदि विराट् पुरुष जड और मृतवत् है, तो उसके जीवनसे जीवित रहनेवाले हम उसके जीवनके विना जीवित किस तरह रह सकते हैं? इससे भी संपूर्ण विश्व अखण्ड जीवनसे सजीव है, यह बात ध्यानमें आ सकती है।

यही विश्वव्यापी अखण्ड मज्जास्रोत है. जिसके वेद (छंदांसि पर्णानि) पत्ते हैं. त्रिगुणमयी शाखाएँ (गुणप्रवृद्धाः) चारों ओर फैली हैं, जिनका मानवी (मनुष्यलोके कर्मानुबंधीनि) कर्मोंके साथ सुदृढ संबंध है। असंगभावसे ही इसके ये बंधन दूर हो सकते हैं, इत्यादि वर्णन जागतिक दृष्टिसे देखना योग्य है।

परमात्माका एक अंश (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः) यहां जीव बनकर कार्य कर रहा है। इस अंशने अपने साथ विश्वकी संपूर्ण शक्तियोंके अंश लाये हैं. उनमें मज्जांश भी वहांसे ही लाया है। अतः इसका संबंध परमात्माके विश्वव्यापक शरीरसे स्पष्ट है। जीवका प्राण विश्वव्यापक प्राणका अंश है। जीवका पांचभौतिक शरीर विश्वव्यापक पांचभौतिक विराट् शरीरका अंश है। इसी तरह जीव शरीरकी सब शक्तियां विराट् पुरुषकी शक्तियोंसे संबंधित हैं। इस विचारसे भी जीवका शिवसे अखंड और अनन्य संबंध ज्ञात हो सकता है। इसी अनन्य संबंधका ध्यान करना चाहिये।

जीव परमात्माका अंश है. इसी कारण अंशको अंशी परमात्माके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये। अंशकी इतिकर्तव्यता अंशीकी सेवा तत्परतासे और अनन्यभावसे करनेसे ही हो सकती है, दूसरा कोई कृतकृत्यताका उपाय नहीं है। अंश जीव है और विश्वात्मा पुरुषोत्तम है, पुरुषोत्तम का अंश जीवपुरुष है। इस जीवका पुरुषोत्तमसे अखंड और अनन्य योग है। इसका ज्ञान प्राप्त करना, उस योगका अनुभव करना, मनुष्यकी पूर्णता के लिये अत्यंत आवश्यक है। जीवात्माका परमात्माके साथ अखण्ड और अनन्य संबंध कैसा है यही वर्णन इस अध्यायमें किया है। इस संबंधको अपने अंदर देखना और उसका अनुभव करना, तथा इस पुरुषोत्तमविद्याकी शिक्षा देना, इस अध्यायका उद्देश्य है।

इति गुह्यतमं शास्त्रं इदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥
(गी. १५।२०)

'यह पुरुषोत्तमविद्या अत्यंत गुप्त विद्या है। तथा यह (गुह्य-तम) सदा बुद्धि (गुहा) में धारण करनेयोग्य ज्ञान है। यह विद्या जाननेसे मनुष्य बुद्धिमान् होता है और कृतकृत्य होता है। क्योंकि संपूर्ण विश्व अखण्ड और अनन्य है, यह प्रत्यक्ष यहां दिखाया है।

इस प्रकार विचार करके पाठक इस पुरुषोत्तमयोगका आशय जानें और अनन्यभावसे विश्वसेवा करके अपनी कृतकृत्यता संपादन करें।

॥ यहां पंदरहवें अध्यायका मनन समाप्त ॥ १५ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अन्वयः— अयं अच्छेद्यः, अयं अदाह्यः, अयं अक्लेद्यः, (अयं) अशोष्यः एव । अयं नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलः सनातनः ॥ २४ ॥ अयं अव्यक्तः, अयं अचिन्त्यः, अयं अविकार्यः उच्यते । तस्मात् एनं एवं विदित्वा, (त्वं) अनुशोचितुं न अर्हसि ॥ २५ ॥

यह (आत्मा) छेदा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह भिगोया नहीं जा सकता और सुखाय भी नहीं जा सकता । यह नित्य, सर्व स्थानमें गत, स्थिर, अचल और सनातन है ॥ २४ ॥ यह अव्यक्त, अचिन्त्य और विकाररहित है, ऐसा कहते हैं । इसलिये इसको ऐसा जानकर, तुझे शोक करना योग्य नहीं है ॥ २५ ॥

करनेके समय स्थूल देह फट गया, या फट जानेका संभव हुआ, तो कर्तव्य कर्मसे तो पीछे हटना नहीं चाहिये । कर्तव्य-कर्म करनेके समय देहपात होनेसे जो हानि होगी, उससे अधिक हानि कर्तव्य कर्मसे पीछे हटनेसे होगी । अतः हे अर्जुन ! तू पीछे न हट । युद्धरूपी यह प्राप्त कर्तव्य कर्म कर । युद्धके शस्त्रास्त्र आत्माको काट नहीं सकते, इस विषयमें कहते हैं—

० (२३-२५) इस आत्माको शस्त्रास्त्र नहीं काट सकते, क्योंकि यह निरवयव है । अतः इसके ऊपर शस्त्रास्त्र छेदनका कार्य कर नहीं सकते, इसको अग्नि नहीं जला सकती, इसको पानी भिगा नहीं सकता और वायुसे इसको शुष्क करना भी असंभव है । इसी प्रकार पृथ्वीका गंधगुण इसमें नहीं, अतः सूंघ कर इसका नाकसे ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता । आप् तत्त्वका रसगुण इसमें नहीं है, अतः जिह्वासे यह चखा नहीं जाता और रुचिसे इसका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अग्नितत्त्वका रूपगुण इसमें नहीं है, अतः आंखसे यह देखा नहीं जा सकता । वायुतत्त्वका स्पर्शगुण इसमें नहीं है, इस कारण स्पर्शसे इसका ज्ञान नहीं हो सकता । इसी प्रकार कर्णसे इसका शब्द सुनना भी अशक्य है । अतः पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंसे इस आत्माका ग्रहण नहीं किया जा सकता । इस कारण इसको ' अव्यक्त ' कहते हैं । मनसे भी इसका चिंतन होना कठिन है, क्योंकि जिसका मनसे ग्रहण हो सकता है, उसीका मनसे चिंतन हो सकता है, अतः इसको ' अचिन्त्य ' कहते हैं ।

इसपर किसी अन्य वस्तुका कोई परिणाम नहीं होता, इसमें न्यूनाधिक नहीं होता, छेदनभेदन आदि नहीं होता, इसको जलाना भिगोना तथा सुखाना अशक्य है, इसमें घटवध नहीं हो सकती, अतः इसको 'अविकारी' कहते हैं । यह नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन है ।

इस आत्माकी सत्तासेही मन, चित्त आदि सब मनन और चिन्तनके कार्य कर सकते हैं । मन और चित्त अपनेसे अधिक स्थूल पदार्थोंका मनन किंवा चिंतन कर सकता है, अतः वे अपनेसे सूक्ष्म किंवा निरवयव आत्माका मनन कैसा कर सकेगा ? आत्मासे स्फूर्ति प्राप्त होकर संकल्प-विकल्प उठते हैं, अतः वे संकल्प-विकल्प आत्माका ग्रहण कैसे कर सकते हैं ? आंखोंपर चश्मा लगाया तो आंखोंमें दर्शनशक्ति रहनेपर चश्मासे देखा जाता है, परन्तु वह ऐनक स्वयं आंखोंको देखनेमें असमर्थ होती है । इसी प्रकार आत्माके ऊपर मन आयनकके समान है, उससे बाह्य सृष्टि देखी जाती है, परन्तु उससे अन्दरके आत्माका दर्शन होना असंभव है। अतः मन आत्माका ग्रहण कर उसका मनन नहीं कर सकता । इसलिये आत्माको 'अचिन्त्य' कहा है ।

० यह आत्मा ऐसा है, यह जानकर इस विषयमें शोक करना योग्य नहीं है । आत्मा ' सर्वगत ' अर्थात् सर्व-व्यापक है। वह जैसी, हे अर्जुन ! तुम्हारे देहमें उसी प्रकार भीष्मद्रोणादिकोंके देहोंमें भी है । एकही आत्मा सर्वगत होनेसे सबके अनेक देहोंमें व्यापक है। अतः किसी एकदेशी देहके नाशसे सर्वगत आत्मामें कोई हानि नहीं हो सकती । इसलिये भीष्मद्रोणादिकोंके मरणसे आत्मामें कोई क्षति नहीं हो सकती; क्योंकि जो आत्मा भीष्म-द्रोणादिकोंमें है, वही ' सर्वगत ' होनेसे तुम्हारे अन्दर भी है । कई जीवित रहे या कइयोंकी मृत्यु हो गई, तो उस

श्रीमद्भगवद्गीताके

पंचदश अध्यायके सुभाषित ।

(१)

शाश्वत पदकी खोज ।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं ।
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ॥ (गी. १५।४)

"उस पदको प्राप्त करना चाहिये, जहांसे वापस आना नहीं होता ।"

ऐसे स्थानपर बैठना चाहिये, जहांसे उठना न पडे । ऐसा स्थान प्राप्त करना चाहिये, जहांसे दूसरा कोई अपनेको न हटा देवे ।

(२)

आदिपुरुषकी उपासना ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्येत् ॥ (गी. १५।४)

"उस आदिपुरुषको शरण जाना चाहिये ।" आदि पुरुष परमात्माकी उपासना करना चाहिये ।

उपासना करनेके समय यह उपास्य आदि पुरुष है वा नहीं, इसका निश्चय करना चाहिये और वह आदिपुरुष होगा, तोही उसकी उपासना करनी चाहिये ।

(३)

ज्ञानसे शाश्वत पदकी प्राप्ति ।

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ गी. (१५।५)

"जो मूढभावसे मुक्त होते हैं, वे अक्षय्य शाश्वत पदको प्राप्त करते हैं ।" अर्थात् ज्ञानसे ही शाश्वत पद मिलता है ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते
तद्धाम परमं मम । (गी. १५-६)

"जहां पहुंचनेपर वापस आना नहीं पडता वह श्रेष्ठ धाम है ।" अर्थात् जहां स्थानाभावके कारण रहनेका स्थान नहीं होता, वह श्रेष्ठ धाम नहीं कहलाता ।

(४)

अहंकी खोज ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । (गी० १५।१५)

"सब वेदोंसे 'अहं' की ही खोज की गयी है ।" मैं कौन हूं, इसकी खोज करनेके लिये ही सब शास्त्र लग गये हैं ।

(५)

उत्तम होनेका उपाय ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(गी. १५।१८)

"क्षरभावसे परे और अक्षर-भावसे उत्तम

होनेसे वेदमें और लोकमें मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं।"

विनाशी होनेका कारण क्षर भाव दूर करने और अविनाशियोंमें (अक्षर भावमें) उत्तमता प्राप्त करनेसे सर्वोत्तमता (पुरुषोत्तम-भाव) की प्राप्ति होती है।

(६)

सर्वभावसे भक्ति।

सर्वविद्भजति सर्वभावेन। (गी. १५।१९)

'जो वस्तुको पूर्ण रूपसे जानता है, वही सर्व-भावसे उसका सेवन कर सकता है।"

जो जिसवस्तुको जितना जानता है, उतना ही उस वस्तु का वह उपयोग कर सकता है। अतः पूर्णका पूर्ण उपयोग करके पूर्ण लाभ प्राप्त करनेके लिये वस्तुका संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

(७)

कृतकृत्य होना।

गुह्यतमं शास्त्रं...बुद्ध्वा
बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च ॥

(गी. १५।२०)

"गुह्योंमें गुह्य (अध्यात्म) शास्त्र जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है।" अध्यात्मशास्त्र जाननेसे मनुष्य ज्ञानसंपन्न और कर्तृत्ववान् होता है।

श्रीमद्भगवद्गीताके

पन्द्रहवें अध्यायकी विषयसूची ।



अथ षोडशोऽध्यायः ।

दैवासुरसंपद्विभागयोगः ।

(१) दैवी संपत्तिका स्वरूप ।

श्रीभगवानुवाच— अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच— अभयं, सत्त्वसंशुद्धिः, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः, दानं, दमः, च यज्ञः, च स्वाध्यायः, तपः, आर्जवं ॥ १ ॥ अहिंसा, सत्यं, अक्रोधः, त्यागः, शान्तिः, अपैशुनं, भूतेषु दया, अलोलुप्त्वं, मार्दवं, ह्रीः, अचापलं ।। २ ॥ हे भारत ! तेजः, क्षमा, धृतिः, शौचं, अद्रोहः, नातिमानिता (इति एतानि लक्षणानि) दैवीं संपदं अभिजातस्य (पुरुषस्य) भवन्ति ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान् बोले-अभय, अन्तःकरणकी शुद्धता, ज्ञानमार्ग और योगमार्गमें विशेष स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् आत्मविद्याका अध्ययन, तप, सरलता, ॥ १ ॥ अहिंसा, सत्य, अक्रोध,(कर्मफल--) त्याग, शान्ति, चुगली न करना, भूतोंपर दया, अलोलुपता, मृदुता, (बुरे कर्म करनेकी) लज्जा, चंचलताका न होना, ॥२॥ हे भारतीय ! तेजस्विता, क्षमा, धृति, पवित्रता, द्रोह न करना, निरभिमानता, ये लक्षण दैवी संपत्ति लेकर उत्पन्न हुए मनुष्यमें होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो मनुष्य दैवी भावसे युक्त होता है, वह निर्भय होगा, उसका अन्तःकरण पवित्र होगा, ज्ञानयुक्त योगमार्गमें सदा रहेगा, उदार बुद्धिसे दान देगा, इन्द्रियदमन करेगा, यज्ञार्थ कर्म करेगा, आत्मा-अनात्माकी विद्याका अध्ययन करेगा, धर्ममार्गमें होनेवाले कष्ट वह सहेगा, सरलतासे बर्तेगा, किसीकी हिंसा नहीं करेगा, सत्यका पालन करेगा, कभी क्रोध नहीं करेगा, कर्मफलका त्याग करेगा, शान्तिसे रहेगा, चुगली नहीं करेगा, सब भूतोंपर दया करेगा, लोभ नहीं धारण करेगा, उसका हृदय मृदु होगा, कुकर्म करनेमें लज्जित होगा, चंचलताके कारण उसके कर्ममें बिगाड न होगा, वह तेजस्वी होगा, उसमें सहनशक्ति होगी अथवा वह क्षमाशील होगा, धैर्यवान् होगा, पवित्र आचार करेगा, कदापि द्रोह नहीं करेगा, अभिमान उसमें नहीं होगा । दैवी संपत्ति किसमें कितनी है, इसका निश्चय इन गुणोंके प्रमाणका विचार करनेसे हो सकता है ॥ १–३ ॥

(१-३) मनुष्य राक्षस न बने और देवतास्वरूप बने, इसलिये धर्मके नियम बनाये हैं। मनुष्यमें दो प्रकारके मानवी स्वभाव बने हैं। एक दैवी वृत्ति और दूसरी राक्षसी वृत्ति। सत्वगुणसे दैवी वृत्ति और रजोगुणसे राक्षसी वृत्ति बनती है। यह वृत्तियां शरीर और मनकी घटनामें ही जन्मसे बनी होती हैं और सहज बदलती भी नहीं। इसलिये आसुरी प्रवृत्तिवाला मनुष्य सहजही दैवी प्रवृत्तिवाला नहीं बन सकता, तथापि गुणोंका उत्कर्ष और अपकर्ष होना संभव है। यही कार्य धर्म करता है। दैवी प्रवृत्तिका उत्कर्ष करना और राक्षसी अथवा आसुरी प्रवृत्तिका नियंत्रण करके उसको मर्यादित और सात्त्विकतासे प्रभावित करना, यह धर्मका कार्य है। सब धर्मग्रंथोंमें इसी उद्देश्यसे सब आचारधर्म कहे होते हैं।

यहां पाठक पूछ सकते हैं, कि दैवी प्रवृत्ति और आसुरी प्रवृत्तिके लक्षण क्या हैं? इस मनुष्यमें दैवी भाव है या आसुरी भाव है, इसका निश्चय हम किस तरह कर सकते हैं? हरएक पाठक के मनमें ये प्रश्न आ सकते हैं, इस कारण इस अध्यायमें दैवी और आसुरी वृत्तियोंके लक्षणोंका विस्तृत विचार किया है। पाठक इस अध्यायका विशेष मनन करेंगे तो उनको अपने अन्दर कौनसी वृत्ति है, तथा अपने परिचितोंमें कौनसी वृत्ति है इसका निश्चय हो सकता है। अन्योंकी परीक्षा करनेकी अपेक्षा अपनी परीक्षा करना योग्य है और यह आत्मपरीक्षा हरएक मनुष्य कर सकता है। अब यहां दैवी वृत्तिका विचार किया जाता है—

दैवी वृत्तिके लक्षण।

इन तीन (श्लोक१से३ तक) श्लोकोंमें दैवी वृत्तिके छब्बीस लक्षण कहे हैं। केवल दैवी संपत्तिके छब्बीस ही लक्षण हैं और अधिक नहीं ऐसा नहीं है। इन छब्बीस लक्षणोंका विचार करनेसे अन्य लक्षणोंका बोध हो सकता है, अतः ये लक्षण मुख्य हैं ऐसा मान सकते हैं। इन छब्बीस दैवी लक्षणोंमें कई लक्षण व्यक्तिके अन्दर दीखनेवाले हैं, कई लक्षण सामाजिक व्यवहारमें अर्थात् एक मनुष्यके दूसरेके साथ होनेवाले व्यवहारमें दीखनेवाले हैं और कई ऐसे हैं कि जो व्यक्तिके तथा समाजके ऐसे दोनों व्यवहारोंमें दीखनेवाले हैं। जैसा—

(१) स्वाध्याय।

'स्व+अध्याय' अपनी सत्ताका अध्ययन, आत्माका ज्ञान प्राप्त करना, सद्विद्याध्ययन, सत्यविद्याका अभ्यास, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म इनका सत्यस्वरूप जाननेके लिये अध्ययन करनेका नाम स्वाध्याय है। अपने शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना, आत्मनिरीक्षण करना और अपने अन्दर जो दोष होंगे उनको दूर करना और अपने अन्दर सद्गुणोंका संवर्धन करना।

वस्तुतः 'स्व' अथवा 'आत्मा' का स्वरूप 'विश्व' ही है। भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें जो 'विश्वरूप' बताया है, वह आत्माका ही रूप है वही सच्चा 'स्व' है। इस विश्वरूपका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेका नाम स्वाध्याय है। अतः इसमें सब भौतिक और अभौतिक विद्याओंका समावेश होता है। कोई सत्यविद्या इससे बाहर नहीं रहती। जो भी कुछ मानवी हित के लिये ज्ञेय है, उस सबका इस स्वाध्यायमें अन्तर्भाव होता है।

यह स्वाध्यायसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान व्यक्तिमें रहता है अतः यह वैयक्तिक गुण है। राष्ट्रमें अनेक व्यक्तियां सत्य-ज्ञानयुक्त हुई, तो वह राष्ट्र अथवा वह समाज या जाति ज्ञानसंपन्न है ऐसा कहा जाता है। तथापि ज्ञान एक एक व्यक्तिमें रहता है, इसमें संदेह नहीं है।

स्वाध्याय करना भी व्यक्तिके कष्टोंपरहि अवलंबित है, तथापि जिस राष्ट्रमें ज्ञानप्रसारके केन्द्र अधिक होंगे, वहांका वायुमंडल ज्ञानग्रहणके लिये अनुकूल होगा और जहां ज्ञानियोंकी संख्या कम और ज्ञानप्रसारके केन्द्रोंकी न्यूनता होगी, वहांका वायुमंडल ज्ञानग्रहणके लिये प्रतिकूल होगा। इसी कारण मनुष्यमें बुद्धि पर्याप्त रहनेपर भी कई व्यक्तियोंको ज्ञान प्राप्त नहीं होता, जैसा भारतीय अन्त्यज, आफ्रिकाके निग्रो, इनमें कई लोग बुद्धिमान् भी होंगे तो भी उनको सत्यज्ञान प्राप्त होनेकी संभावना कम होनेसे ये लोग पीछे पडते हैं।

इस तरह 'स्वाध्याय' सर्वथा वैयक्तिक होनेपर भी ज्ञानप्रसारसुलभताकी अपेक्षासे उसमें सार्वजनिक भाव भी है, यह पाठक अवश्य देखें। इसका विचार करनेसे पाठकोंको विदित होगा, कि हरएक व्यक्तिका कर्तव्य स्वाध्याय करना होनेपर भी अपनी जातिमें ज्ञानग्रहणसुलभताके केन्द्र अधिकसे अधिक बनानेका यत्नभी ज्ञानियोंको करना उचित है।

(२) तप।

स्वाध्याय अथवा धार्मिक कर्तव्य करनेके समय जो कष्ट होंगे, उनको आनन्दके साथ सहनेका नाम तप है। स्वाध्याय कष्ट उठानेके विना हो नहीं सकता। धार्मिक कर्तव्यपालन कष्ट सहन करकेही हो सकता है। कोई पुरुषार्थ कष्टोंके सहन करनेके विना नहीं हो सकता। इस तरहके कष्ट सहन करनेका नाम तप है। शरीरका शीतोष्ण सहन करनेका सामर्थ्य बढाना तप है, मनकी शान्ति धारण करना तप है, दुष्ट न बोलना तप है। इस तरह अनेकविध तप मनुष्योंको करना होता है। इस विषयमें गीताके आदेश देखना योग्य है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते १५
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते १७
सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९
(भ. गी. १७)

शारीरिक तप।

देवोंकी पूजा करना, द्विजोंका सत्कार करना, गुरुजनोंका आदर करना, विशेष ज्ञानी लोगोंका संमान करना, पवित्रता करना, सरलता धारण करना, ब्रह्मचर्य पालन करना और अहिंसा पालन करना यह शारीरिक तप है।

वाचिक तप।

दूसरोंको उद्वेग न पहुंचानेवाला भाषण करना, जो सत्य हो प्रिय हो और हितकारक भी हो ऐसा भाषण करना, नित्य स्वाध्याय करना, यह वाङ्मय तप है।

मानसिक तप।

मनकी प्रसन्नता, मनकी सौम्यता अर्थात् कोमलता, मौन धारण करना, आत्मनिग्रह, मनके भावोंकी परिशुद्धता, यह मानसिक तप है।

सात्त्विक तप।

जो तप परम श्रद्धासे किया जाता है, उसके भी तीन भेद होते हैं। जो तप फलभोगकी इच्छा मनमें न धारण करते हुए किया जाता है, उसको सात्त्विक तप कहते हैं।

राजस तप।

जो बडे दंभसे किया जाता है, अपना सत्कार

होवे, अपना मान बढे और अपनी पूजा चारों ओर हो, इस उद्देश्यसे किया जाता है, उस अस्थिर और चंचल तपको राजस कहते हैं।

तामस तप।

मूढतासे, अपने आपको पीडा देकर जो किया जाता ह, तथा जिसमें दूसरेका नाश करनेका उद्देश्य होता है, उसे तामस तप कहते हैं।

यहां इस तपके वर्णनमें पाठक देख सकते हैं कि जो यह तामस तप कहा गया है, उसमें दैवी भाग अत्यल्प है, आसुरी भावही इसमें बहुत है– इस तरहका तप दैवी संपत्तिमें नहीं आयेगा। निःसन्देह यह तप है, परंतु यह आसुरी भावसे युक्त है।

इस तरह विचार करके कौनसा तप इस दैवी संपत्तिमें लेने योग्य है, इसका निश्चय करना चाहिये। जो सात्त्विक तप है वही पूर्णतया दैवी संपत्तिमें अन्तर्भूत हो सकता है। इसके साथ साथ अहिंसा, शौच (पवित्रता), आर्जव (सरलता), सत्य, मार्दव (सौम्यत्वं), नातिमानिता, अचापल्य (अध्रुवं) इत्यादि दैवी संपत्तिमें गिनाये लक्षण तपके विवरणमें भी आये हैं। यह देखकर ये लक्षण केवल साधारण कल्पना होनेके लिये गिनाये हैं, ऐसा स्पष्ट हो जाता है। जैसे तपमें ये दैवी संपत्तिके भाव आगये हैं, उसी तरह अन्यान्य दैवी लक्षणोंमें भी अन्य दैवी भावोंकी संकीर्णता दिखाई देगी। इसका कारण यह है कि ये लक्षण एक दुसरेसे अत्यंत पृथक् रह नहीं सकते। एक लक्षण होनेके साथ साथ अन्यान्य लक्षण भी साथ साथ होते ही हैं। जैसा 'अहिंसा' के साथ साथ 'मार्दव, दया, क्षमा' आदिका होना स्वाभाविक ही है। इसी तरह पाठक अन्यान्य लक्षणोंके विषयमें भी विचार करके जान सकते हैं।

(३) दम।

इन्द्रियदमन, मनःसंयम, आत्मसंयम इत्यादि भाव इसमें हैं। मनके वेगोंका शमन करना, मनके वेगोंको अपने आधीन रखना, अपनी भोगेच्छाको शान्त और नियमित करना, यह सब इस दममें आता है।

इस दम पर ही मनुष्यकी सभ्यता अवलंबित है। इस दम अर्थात् संयममें बडी शक्ति होती है। मानवी समाजकी उत्तम धारणा करनेका सामर्थ्य इसमें है। यदि किसी समाजमें दम कम होगा, तो उस समाजमें स्वैर भोगवृत्तिकी वृद्धि होगी और उस समाजका कभी धारण नहीं होगा। हरएक स्वैरभोगी व्यक्ति अलग अलग होगी और अन्तमें अदमशील समाज नष्ट होगा। अतः मानवी सभ्यता दमपर निर्भर है, ऐसा जानकर हरएक मनुष्य इंद्रियदमन करनेका प्रयत्न करे।

(४) सत्त्व-संशुद्धि।

अपने सत्त्वकी शुद्धता। अपने अन्दर जो शरीर मन बुद्धि आदिमें मल होते हैं, उनको दूर करनेका नाम सत्त्वकी पवित्रता है। पूर्ण पुरुष बननेके लिये सत्त्वकी पवित्रता चाहिये। जिसके सत्त्वकी पवित्रता हुई है, वह योग्य सोचेगा और योग्यही कर्म करेगा। उसके अन्दर अशुद्ध विचार आवेंगेहि नहीं। मलिनताके कारण अशुद्ध विचार मनमें आते हैं और अशुद्ध कर्म होते हैं, ये गिरावटके कारण हैं। अतः सत्त्वसंशुद्धिके लिये प्रयत्न होना चाहिये। संपूर्ण धर्मकर्मोंका उद्देश्य मनुष्यका सत्त्व परिशुद्ध करनाही है। सत्त्वसंशुद्धि करनेका साधन मुख्यतया ज्ञानयोगका आचरण है—

(५) ज्ञानयोगव्यवस्थिति।

ज्ञानयोग और कर्मयोगमें विशेष दृढतासे स्थिर रहना, अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोगका निश्चल वृत्तिसे आचरण करना, यह एकमात्र

मुख्य साधन सत्त्वकी शुद्धता होनेके लिये है।

तेहरवें अध्यायमें श्लोक ७ से ११ तक ज्ञान की व्याख्या की है, पाठक उसको यहां देखें। यही ज्ञानमार्ग है। कर्ममार्गका वर्णन अनेक स्थानों पर भगवद्गीतामें है। उसको कर्ममार्ग कहते हैं। इस ज्ञानमार्ग और इस कर्ममार्गमें साधकोंकी सुस्थिति रहनाही उनके सिद्ध बननेका एकमात्र साधन है। ज्ञानियोंके लक्षण जो १३ वें अध्यायमें कहे हैं वे ये हैं—

ज्ञानके लक्षण।

१ अमानित्व, २ अदम्भ, ३ अहिंसा, ४ क्षमा, ५ सरलता, ६ गुरुसेवा, ७ पवित्रता-शुद्धता, ८ स्थिरता, ९ आत्मसंयम, १० इंद्रियविषयके संबंधमें वैराग्य, ११ अहंकार-घमंड न होना, १२ जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषोंका अनुभव करना, १३ पुत्र-स्त्री-गृह आदिमें आसक्ति और ममत्व न होना, १४ इष्टानिष्टके विषयमें समभावका धारण करना, १५ ईश्वरमें अनन्य भक्ति, १६ एकान्तसेवन, १७ जनसंघमें जानेके विषयमें अरुचि, १८ अध्यात्मज्ञान में नित्य मन को स्थिर करना, १९ तत्त्वज्ञानसे प्रत्यक्ष होनेवाले आत्माका दर्शन करना, इस सबको ज्ञान कहते हैं, इससे जो विपरीत होता है, उसको अज्ञान कहते हैं। (भ. गी. १३।७-११)

यहां १९ गुण ज्ञानके कहे हैं। दैवी संपत्तिका वर्णन करते हुए (अ. १६।१-३ में) २६ गुणों का कथन किया है। ये दोनों लक्षण परस्पर मिलते हैं। नातिमानिता, अहिंसा, क्षमा, (आर्जव) सरलता, (शौच) शुद्धता, स्थैर्य (स्थिरता-अचापलं), दम (संयम), आदि तो दोनों स्थानोंमें एक जैसेही हैं, अन्य गुणभी परस्पर मिलनेवाले ही हैं। इस तरह जो ज्ञान है, वही दैवी संपत्ति है और जो दैवी संपत्ति है, वही ज्ञान है। अर्थात् आसुरी संपत्ति और अज्ञान ये समानार्थक शब्द बहुत अंशोंमें माने जा सकते हैं। अस्तु। ज्ञानयोगमें व्यवस्थितिका यह अर्थ है। जिस साधकमें दैवी संपत्तिका विकास होता है उसकी स्थिरता जैसी ज्ञानमें वैसीहि योगमें होती है।

(६) दान।

दानका अर्थ देना। जो अपने पास होगा उसका सबकी भलाईके लिये समर्पण करना दान है। हमारी स्थिति इस दानपर निर्भर है। गुरु विद्या का दान देता है, मातापिता अपनाही जीवन समर्पण करते हैं, इस तरह सैंकडों और हजारों ज्ञात अज्ञात मानवों और प्राणियोंपर हमारा अस्तित्व निर्भर है। यदि वे हमारे लिये दान न देंगे, तो हमारा जीवन समाप्त होगा। अकेला सूर्य उष्णता और जीवन न देगा, तो क्षणार्धमें हम मर जांयगे। दूसरेसे कुछ लेकरही हम जीवित रहते हैं। इसी लिये प्रत्युपकारबुद्धिसे हमें उचित है कि हम अपनी शक्तिसे जितनी हो सकती है, सबकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करें। जो मनुष्य अत्यंत अल्प शक्तिवाला है, वह भी कुछ न कुछ विश्वसेवा कर सकता है। फिर जिसके पास ज्ञानधनादि विविध प्रकारका सामर्थ्य है वह उपकार करनेमें उसका व्यय करे, अवश्य आत्मशक्तिका दान करे, यह क्या कहनेकी आवश्यकता है? अन्योंके दानसेहि जीवित रहनेवाले को उचित है कि वह भी आत्मसमर्पण अन्योंके लिये करे। परंतु यहां कोई अन्य अर्थात् दूसरा नहीं है। एकही आत्मसत्ता सर्वत्र है, एकही ' अहं ' सर्व है, अतः न कोई दूसरोंसे दान लेता है और न कोई दूसरोंको दान दे सकता है। दूसरोंको दान देना यह भाषाही अशुद्ध और अज्ञानकी है। विश्वसेवाके लिये आत्मसमर्पण करनेका आशय स्वयं अपने लियेहि देना है। यहां सब अनन्य होनेसे दान न देना आत्मघात करना है, इस कारण आत्मघात टालनेके लिये

दान देना अत्यंत आवश्यक है। परंतु यह सत्पात्रमें देना चाहिये, अन्यथा कुपात्रमें दिया दान व्यक्ति की और समाज की निःसन्देह हानि करेगा।

जिसमें दैवी संपत्ति विकसित हुई है, वह जानता है कि सत्पात्रमें दान देना किसका नाम है और कुपात्रमें क्यों दान नहीं देना चाहिये। दैवी संपत्तिवालेका स्वभाव सत्पात्रमें दान देना ही है। वह योग्य समय योग्य दान दिये विना नहीं रहेगा।

(७) यज्ञ।

यज्ञ एक ऐसी प्रक्रिया है कि जो सबके उद्धार का हेतु हो सकती है। यज्ञमें दान, कर्म, तप, स्वाध्याय, अहिंसा आदि सबका मिलान उत्तम रीतिसे होता है। यज्ञका नाम 'अध्वर' है, इसका अर्थ 'अहिंसा' किंवा 'अकुटिलता' है। यही यज्ञका मुख्य लक्षण है। हिंसा किसीकी न हो, किसीके साथ कुटिलताका व्यवहार न हो, यह वृत्ति यज्ञमें होती है। यज्ञके लिये तपकी आवश्यकता होती है, अहिंसा तो इस यज्ञका स्वरूपही है। अकुटिलता तो आर्जव (सरलता) का ही दूसरा नाम है। यज्ञसे तो अनेक अज्ञात व्यक्तियोंका लाभ होता रहता है। यहां हवन किया तो दूर दूरतक वायुशुद्धि होती है और उससे अनेक लाभ उठाते रहते हैं। योग्य स्थानपर सबकी भलाईके लिये कूवा खोदना यज्ञ है, उससे पानी निकालना कर्म है, उस पानीका दूसरोंको देना दान है, वहांकी पवित्रता- साफसफाई करना (शौच) शुद्धता है। इससे यज्ञ–दान–तपकी कल्पना पाठकोंको हो सकती है। 'यज्ञ दान तप ये कर्म कभी त्यागना नहीं चाहिये, ये सब अवस्थामें करने योग्य हैं, क्योंकि ये मानवोंकी पवित्रता करनेवाले हैं (गी. १८.५) यह गीताका कथन है। अपना जीवनही यज्ञमय बनाना चाहिये। अपनी सहज वृत्तिसे यज्ञही बनता रहे ऐसी शिक्षा मनुष्यको मिलनी चाहिये। यज्ञसे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनकी पवित्रता सिद्ध होती है।

(८) आर्जव।

आर्जवका अर्थ ऋजुता, सरलता, अकुटिलता, तेढेपनका न होना। यह भाव यज्ञके अर्थमें बतायाही है। इस तरह सरलता यज्ञका एक अंग है। अर्थात् अहिंसा और सरलताके विना यज्ञ बनता ही नहीं। अतः अहिंसाका भी यज्ञके साथ साथही विचार करना चाहिये।

(९) अहिंसा।

अहिंसाभी यज्ञकाही एक प्रमुख अंग है। अहिंसाका अर्थ है अपने द्वारा दूसरोंको किसी प्रकार कष्ट न पहुंचाना, अथवा कष्ट पहुंचानाही अपरिहार्य हो तो न्यूनसे न्यून कष्ट पहुंचानेका यत्न करना। अहिंसा सभ्यताकी परमावधिकी सीमा है। कौनसा समाज अधिक सभ्य है? ऐसा प्रश्न पूछनेपर उत्तर यही दिया जायगा कि जो अधिक अहिंसाका पालन कर सकता है, वही अधिक सभ्य है। आश्रमोंमें संन्यास और वर्णोंमें ब्राह्मण अधिक अहिंसा आचरणमें लाते हैं। अतः अन्योंकी अपेक्षा ये अधिक सभ्य समझे जाते हैं। हिंसाके अधिक होनेसे सभ्यता घटती है, क्योंकि हिंसा आसुरी वृत्तिका दुर्गुण है।

(१०) अक्रोध।

क्रोधका न होना अहिंसाके लिये अत्यंत आवश्यक है, क्रोधसेहि हिंसा होती है, क्रोध मनका भाव है, वही हिंसाके रूपसे बाहर परिणत होता है। कामकी असफलतासे क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोधसे हिंसा होती है, दूसरेका सकारण अथवा निष्कारण घातपात किया जाता है। इसलिये हिंसाको दूर करनेके लिये

(२) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका प्रभाव।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

अन्वयः— तत् क्षेत्रं यत् च, यादृक् च, यद्विकारि (च), यतः च यत्, सः च यः, यत् प्रभावः च (अस्ति) तत्, (सर्वं) समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥ (इदं ज्ञानं) ऋषिभिः बहुधा, तथा विविधैः छन्दोभिः पृथक् हेतुमद्भिः विनिश्चितैः ब्रह्मसूत्रपदैः च गीतं एव ॥ ४ ॥

यह क्षेत्र क्या है, यह किस प्रकारका है, इसमें कौनसे विकार होते हैं, इसमें कहांसे क्या होता है, वह क्षेत्रज्ञ कौन है और उसका प्रभाव क्या है, यह सब तू संक्षेपसे मुझसे सुन ॥ ३ ॥ यह ज्ञान ऋषियोंने अनेक प्रकारसे, तथा विविध छंदोंमें पृथक् पृथक् और हेतु दर्शाकर निश्चित अर्थवाले ब्रह्मसूत्रके पदोंसे भी गाया गया है ॥ ४ ॥

बीज रखनेवाला परम पिता परमेश्वर ही है।"

यहां भी उत्तम ज्ञान करके जो कहा है वह प्रकृति और पुरुषसे संपूर्ण विश्व होता है यही है। अर्थात् चारों स्थानोंमें एकही ज्ञान कहा है, उसका तात्पर्य यही है कि सर्वव्यापक एक ईश्वर है, उसकी प्रकृति नौ प्रकारकी है, ईश्वरकी शक्तिसे प्रकृतिमें बीजधारणा होकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। इस सृष्टिमें जीवसृष्टि और जडसृष्टि दोनों आ गई। दोनों की उत्पत्ति प्रकृतिसे ही है और सबमें सूत्रात्मा वही विश्वात्मा है। विश्वात्माके आधारसे ही यह सब सृष्टि है, जैसे मालाके मणि सूत्रके आधारसे रहते हैं, वैसे ही सूत्रात्माके आधारसे यह सब सृष्टि है। यह सब ज्ञान यथायोग्य जानने योग्य है।

यही ज्ञान क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की संज्ञासे इस अध्यायमें कहा है। यहां क्षेत्र नाम प्रकृति का है और क्षेत्रज्ञ नाम आत्माका है। आत्मा ही इस प्रकृतिरूपी क्षेत्रको जाननेवाला है। वह इस प्रकृतिको जानता है, उसमें जो चाहे वह निर्माण करता है, अनेक प्रकारके पुरुषार्थ करता है और श्रेष्ठ पुरुष बनता है-

इस अध्यायके प्रारंभमें कई लोग इस श्लोक का पाठ करते हैं-

अर्जुन उवाच-
"प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।"
"एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥"

अर्थ— अर्जुनने पूछा कि -'मुझे प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय के जाननेकी इच्छा है, सो बतलाओ।' परंतु सब भाष्यकार इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं, अतः हम भी इसको छोड देते हैं। अस्तु।

इस क्षेत्रका स्वरूप क्या है और क्षेत्रज्ञका प्रभाव क्या है, वह अब देखिये-

भावार्थ— इस खेतका स्वरुप क्या है, यह खेत किस प्रकारका है, इसमें कौनसी विकृतियां होती हैं, इसमें किस कारणसे क्या गुणदोष होते हैं, यहां इस खेतको जाननेवाला कौन है और उसकी शक्ति क्या है, यही सब जानना चाहिये। यही ज्ञान है और यह ऋषिमुनियोंने विविध छन्दोंमें दर्शाया है तथा कार्यकारण दर्शाकर निश्चित सिद्धान्त बतानेवाले ब्रह्मस्वरुपका निर्णय करनेवाले सूचक वाक्योंमें भी वर्णित हुआ है ॥ ३-४ ॥

(३-४) यह क्षेत्र क्या है अर्थात् इसका स्वरूप क्या है, लक्षण कौनसे हैं, वह क्षेत्र किस प्रकारका है, उसमें अन्तर्गत भेद कितने हैं और इस क्षेत्रमें विकार क्या होते हैं? इसमें परिवर्तन कौनसे होते हैं, उसमें अदलबदल किस तरह होता है और उसमें किससे क्या होता है? इतने प्रश्न क्षेत्रके संबंधमें यहां किये हैं। इन सब प्रश्नोंका विचार यहां करना है।

इसी तरह यहां क्षेत्रज्ञ कौन है और उस क्षेत्रज्ञका प्रभाव क्या है? उसका प्रभाव यहां कैसा अनुभवमें आ सकता है?यह संक्षेपसे यहां इस अध्यायमें देखना है। जो ज्ञान और विज्ञान करके कहा जाता है, वह यही है। मनुष्यको यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और इस ज्ञानका उपयोग अपने जीवनमें करना चाहिये। इसलिये मनुष्यके प्रारंभिक आयुमें यह ज्ञान उसको प्राप्त करना चाहिये। प्रारंभिक आयु ब्रह्मचर्याश्रमकी होती है, इसमें विद्याध्ययनका काल आयुकी २५ वर्षकी अवस्थातक माना है अर्थात् आठवें वर्ष उपनयन होकर गुरुगृहमें ब्रह्मचारी जाता है और वहां १६ वर्ष रहकर २५ वें वर्ष विद्या प्राप्त करके वापस आता है। इस कालमें जो ज्ञान उस ब्रह्मचारी को मिलता है,वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ही ज्ञान होता है। प्रकृति पुरुष, स्थूल सूक्ष्म, देह देही, अपरा और परा प्रकृति, इस तरह अनेक शब्दोंद्वारा एकही भाव बताया जाता है। प्रकृतिकी विद्या और पुरुषकी विद्या येही अध्ययन करनेयोग्य विद्याएं हैं और जो भी कुछ पढाया जाता है वह इसीके अन्तर्गत होता है।

आजकल अनेक शास्त्र बहुतही बढ गये हैं, परंतु वे प्रायः प्रकृतिविद्याके ही अन्तर्गत हैं। प्रकृतिके अंशको लोग जानते हैं और उसका एक शास्त्र बना देते हैं। अर्थात् विद्याएं कितनी भी हों उनका समावेश प्रकृति-पुरुष-विद्याके अन्दर होता है। इसलिये क्षेत्रक्षेत्रज्ञके ज्ञानमें सब प्रकारका ज्ञान समाया है, यह बात भूलना नहीं चाहिये।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्।

अनेक ऋषियोंने विविध छंदोंद्वारा पृथक् पृथक्, अनेक ढंगोंसे इस ज्ञानका विवरण किया है। अनेक प्रकारके शास्त्र और विविध ग्रंथ रचे हैं और पढानेकी सुबोधताके लिये अनंत प्रकारके विद्याके अंग-प्रत्यंग निर्माण किये हैं।

ब्रह्मसूत्रमें भी हेतु दर्शाकर निश्चित आशय प्रकट करनेके लिये बादरायणने कई प्रकरण रचे हैं। इस प्रकार अनेकानेक ऋषियोंने विविध शास्त्रों द्वारा इसी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानका विस्तार किया है।

वेद शास्त्र पुराण दर्शन तथा अन्यान्य शास्त्र जो प्रतिपादन करते हैं वह इसी क्षेत्रक्षेत्रज्ञका ही प्रतिपादन है, तथा जो ग्रंथ विविध शास्त्र-प्रतिपादन के लिये बनाये जा रहे हैं और बनाये जायंगे, उनमें भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ही विषय होगा।

परंतु यहां इतना ही समझना चाहिये कि प्रकृति विद्याके शास्त्र इस समय बहुत बढ रहे हैं, प्रकृतिविद्यामें बहुत प्रगति हो रही है और आत्मविद्यामें कम प्रगति हो रही है। तथापि जो भी कुछ शास्त्ररचना हो रही है, वह प्रकृति-पुरुष अथवा क्षेत्रक्षेत्रज्ञके संबंधमें ही हो रही है। अब इसका विवरण देखिए-

(३) क्षेत्रका स्वरूप

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इंद्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

अन्वयः— महाभूतानि, अहंकारः, बुद्धिः, अव्यक्तं एव च, दश इंद्रियाणि च, एकं (मनः), इंद्रियगोचराः पञ्च च इच्छा, द्वेषः, सुखं, दुःखं, संघातः, चेतना, धृतिः, एतत् सविकारं क्षेत्रं (मया) समासेन उदाहृतम् ॥५-६॥

पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि (महत्), अव्यक्त (प्रकृति), दस (सूक्ष्म) इन्द्रियाँ, एक मन, तथा पांच विषय; इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धारणा-शक्ति (यह इकत्तीस प्रकारका) विकार होनेवाला क्षेत्र संक्षेपसे वर्णित हुआ है ॥ ५-६ ॥

भावार्थ— पृथिवी, आप, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति, (पांच ज्ञानेंद्रियां और पांच कर्मेंद्रियां मिलकर) दस सूक्ष्म इंद्रिय-शक्तियां, एक मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात अर्थात् सबका समूह, चैतन्यशक्ति और धृति अर्थात् धारणाशक्ति यह इकत्तीस प्रकारका खेत है, और इसमें विविध विकार भी होते हैं। इसका बहुत वर्णन हो सकता है, परंतु यहां इसका नाममात्र उल्लेख किया है। पाठक हरएक विभागका विशेष विचार करके विशेष ज्ञान प्राप्त करें ॥ ५-६ ॥

क्षेत्रका वर्णन ।

(५-६) पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत; अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति; नासिका, रसना, नेत्र, त्वचा और कर्ण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय; हाथ, पांव, मुख, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्मेंद्रिय; मन; गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये पांच विषय; इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति (धारणाशक्ति) ये सात भाव मिलकर इकत्तीस प्रकारका यह क्षेत्र है–

पंच महाभूत	५
अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार	३
ज्ञानेंद्रिय	५
कर्मेंद्रिय	५
मन	१
विषय	५
इच्छाद्वेषादि भाव	७
मिलकर	३१ प्रकारकी प्रकृति है ।

इसी प्रकृतिको क्षेत्र, प्रकृति, क्षर, आदि अनेक नाम दिये हैं। यह (सविकारं क्षेत्रं) विकृति होनेवाला क्षेत्र है। विकृति-विकारका अर्थ परिवर्तन, बदल, हेरफेर है। इनका एक दूसरे पर परिणाम होता है और परिवर्तन होता है। जैसी मिट्टी शुष्क होती है, उसमें जल मिलनेसे

(४) ज्ञानका स्वरूप ।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इंद्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

गीली होती है और जल वहां स्थिर रहनेसे सडना शुरू होता है । इसी तरह सूखे तृणकाष्ठ को अग्नि लगनेसे वह जल जाता है। गीला वस्त्र वायुमें रखनेसे सूखता है। किसी स्थानमें जल हुआ तो कुछ दिनोंके बाद सूख जाता है। वृक्ष बढ जाते हैं और सूख भी जाते हैं। इस रीतिसे अनेकानेक परिवर्तन यहां हो रहे हैं । ये ही विकार हैं ।

संपूर्ण सृष्टिभरमें ये विकार हो रहे हैं। (जायते) उत्पन्न होता है, (अस्ति) है, (वर्धते) बढता है, (विपरिणमते) परिणाम होता है, (अपक्षीयते) क्षीण होता है और (विनश्यति) नाशको प्राप्त होता है। ये छः विकार इस सृष्टिमें हो रहे हैं । इनमें अनंत भेद हैं और इन विकारभेदोंका निरीक्षण करकेही अनेक शास्त्र बने हैं ।

जैसे भूस्तरशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, वास्तुविद्या, खनिजशास्त्र आदि शास्त्र पृथ्वीके साथ संबंध रखनेवाले हैं । जलविद्या, जलयानविद्या, नौकानयनशास्त्र, जलचिकित्सा, रसविद्या, औषधिविद्या, इत्यादि शास्त्र जलतत्त्वके साथ संबंध रखनेवाले हैं । अग्नि-विद्या, विद्युच्छास्त्र, सूर्यकिरणचिकित्सा, वर्णचिकित्सा, इत्यादि शास्त्र आग्नेय तत्त्वके साथ संबंध रखनेवाले हैं। वायुयानविद्या, विमानशास्त्र, प्राणायामशास्त्र, वायुस्तंभनविद्या, वायुयंत्रनिर्माण आदिका संबंध वायुतत्त्वके साथ है। शब्दशास्त्र, ध्वनिविद्या, शब्दवेध, ध्वनिक्षेपणविद्या, गानविद्या, वक्तृत्वशास्त्र, आदि अनेक विद्याएं शब्दके साथ संबंध रखनेके कारण आकाशतत्त्वके साथ संबंध जोडनेवाली हैं। इंद्रियविज्ञानके शास्त्र अनेक हैं । अहंकार, बुद्धि आदिका विचार और खोज करनेवाले अनेकानेक शास्त्र हैं। भोगविषयोंके शास्त्र तो नित्य प्रति बढही रहे हैं । सूपशास्त्र, रूपशास्त्र, कामशास्त्र आदि अनेकानेक भोगविषयोंके शास्त्र हैं । चैतन्यकी खोज करनेवाले अध्यात्मशास्त्र हैं, इसमें अनंत शास्त्रोंका समावेश होता है। मानसशास्त्रकी खोज होकर मनोविज्ञान, मानसचिकित्सा, विचारसंक्रमण आदि बहुतही शास्त्र बने हैं और बन रहे हैं ।

ये सब प्रकृतिपुरुष विषयक शास्त्र हैं । ये शास्त्र इतने हैं कि इनका अध्ययन एक मनुष्य अपनी आयुमें कर नहीं सकता। तथापि संक्षेपसे साधकको इनमेंसे मुख्य मुख्य विषयोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

अब इस ज्ञानका स्वरूप देखिये—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अन्वयः- अमानित्वं, अदम्भित्वं, अहिंसा, क्षान्तिः, आर्जवं, आचार्योपासनं, शौचं, स्थैर्यं, आत्मविनिग्रहः। इंद्रियार्थेषु वैराग्यं,अनहंकारः एव च, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिदुख-दोषानुदर्शनं। असक्तिः,पुत्र-दार-गृहादिषु अनभिष्वंगः, इष्टानिष्टोपपत्तिषु नित्यं समचित्तत्वं च। मयि च अनन्य-योगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः, विविक्त-देश सेवित्वं, जनसंसदि अरतिः। अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं, तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं, एतत् ज्ञानं इति प्रोक्तं, यत् अतः अन्यथा (तत्) अज्ञानं (इति प्रोक्तम्) ॥ ७-११ ॥

मानी न होना, दम्भ न करना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्ति, अहंकार न करना, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख और दोषोंका विचार करना, अनासक्ति, पुत्र-स्त्री-गृह आदिमें लंपट न होना, प्रिय और अप्रिय के विषयमें समभाव धारण करना, मेरे प्रति (ईश्वरके प्रति) अनन्यभावसे अटल भक्ति, एकान्त देशका सेवन, जनसमूहमें आनेकी अरुचि, नित्य अध्यात्मज्ञानका विचार करना, तत्त्वज्ञानका विचार करना,इसको 'ज्ञान' कहते हैं। जो इससे भिन्न है,वह सब अज्ञान है ॥ ७-११ ॥

भावार्थ— घमंडकी वृत्ति न रखना, ढोंग न करना, हिंसा न करना, क्षमाकी वृत्ति धारण करना, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धता, आचारविचारमें स्थिरता, आत्मसंयम, भोगोंके विषयमें अरुची, अहंता छोडना, जन्म-मृत्यु, बुढपा, रोग, दुःख और दोष किस तरह होते हैं इसका नित्य विचार करना, अनासक्ति, स्त्रीपुत्र घरदारके विषयमें लंपटता न धरना, प्रिय और अप्रिय आदि द्वंद्वोंके विषयमें समभाव धारण करना, ईश्वरकी अनन्य और दृढभक्ति करना, एकान्त सेवन करना, जनसमूहमें आनेकी अरुची, सदा अध्यात्मका ज्ञान प्राप्त करना, तत्त्वोंके ज्ञान का मनन करना, यही ज्ञान है। इससे भिन्न जो है, उसे अज्ञान कहना योग्य है ॥७-११॥

ज्ञान और अज्ञान।

(७-११) इन पांच श्लोकोंमें ज्ञान कौनसा है यह कहा है, इसके अतिरिक्त इससे भिन्न जो है वह अज्ञान है। अतः हम यहां ज्ञान क्या है और उससे भिन्न अज्ञान क्या है, यह देखते हैं। यहां ज्ञानके लक्षण जो कहे हैं, उनके विरोधी लक्षणोंको मनके संमुख खडा करनेसे अज्ञानके स्वरूपका पता लग सकता है। इस तरह विचार करके निम्नलिखित कोष्टक बनाया है। पाठक इसको अधिक मनन करके परिपूर्ण कर सकते हैं—

ज्ञानके लक्षण ।	अज्ञानके लक्षण ।
१ अहिंसा, अक्रूरत्व	१ हिंसा, क्रौर्य
२ अमानित्व	२ मानित्व, घमंड
३ अदम्भित्व	३ दम्भित्व, दंभ
४ क्षान्तिः, क्षमा	४ अशान्ति, असमाधान, क्षमा न करना
५ आर्जव, सरलता,	५ कुटिलता, टेढापन
६ आचार्योपासन, गुरुसेवा	६ गुरुके साथ विरोध
७ शौच, शुद्धता, पवित्रता	७ अपवित्रता, मलिनता
८ स्थैर्य, स्थिरता	८ चंचलता, अस्थिरता
९ आत्मविनिग्रहः, आत्मसंयम मनोनिग्रह, इन्द्रियदमन	९ असंयम, स्वैराचार, इंद्रियोंकी उच्छृङ्खलता
१० इंद्रियार्थोंमें वैराग्य, भोगोंके विषयमें उदासीनता	१० इंद्रियोंके भोगोंके विषयमें अत्यंत आसक्ति
११ अनहंकारः	११ अहंकार
१२ जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिमें दुःखों और दोषोंको देखना	१२ दुःख और दोष का विचार न करना ।
१३ असक्ति, अनासक्ति	१३ भोगोंपर आसक्ति
१४ पुत्र-दार-गृहादिमें (अनभिष्वंगः) मोह और ममता न रखना	१४ पुत्र, स्त्री, गृहादिकोंमें मोहित होना, इनपर ममत्व रखना
१५ इष्ट-अनिष्टमें सदा समचित्त होना	१५ इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें विषमचित्त होना, इष्टका प्रेम और अनिष्टका द्वेष करना
१६ ईश्वरमें अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति	१६ ईश्वरको न मानना, अन्यभाव धरना, सबको परस्परभिन्न समझना, या तो भक्तिही न करना अथवा व्यभिचारिणी भक्ति करना
१७ एकान्त-सेवन करना	१७ एकान्त-सेवन न करना
१८ जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि	१८ जनसंमर्दमें जानेकी रुचि
१९ नित्य अध्यात्मविचारमें मग्न होना	१९ अध्यात्मका विचार न करना
२० तत्त्वज्ञानके मोक्षरूप उद्देश्यका दर्शन करना	२० तत्त्वज्ञान न सुनना और उसके उद्देश्यका भी विचार न करना
२१ इसका नाम ज्ञान है ।	२१ इसका नाम अज्ञान है ।

यहां ज्ञान और अज्ञानकी व्याख्या की है। ये ही केवल ज्ञानके और अज्ञानके लक्षण हैं, ऐसा समझना नहीं चाहिये। ये उपलक्षण मात्र यहां कहे हैं। जैसा यहां 'अहिंसा' यह एक सद्‌ज्ञानका लक्षण कहा है, अक्रोध, अवैर आदिका समावेश इसमेंही मानना चाहिये। इसी प्रकार अन्यान्य लक्षणोंके विषयमें विचार करके जानना चाहिये।

वस्तुतः ये ज्ञानके लक्षण नहीं और इसके विपरीत लक्षण अज्ञानकेभी नहीं हैं। परंतु ये ज्ञानके परिणाम हैं। मनुष्यमें ज्ञानका विकास परिपूर्ण रीतिसे होनेपर वह इन लक्षणोंसे युक्त होता है। जो पूर्ण ज्ञानी है, वह अहिंसक, अमानी, अदम्भी, निरहंकारी, अनन्यभक्त, भोगोंके विषयमें विरक्त, सरल सीधा, शुद्धाचाररत, शान्त, इंद्रियदमन करनेवाला, अनासक्त, समचित्त होगा और जो अज्ञानी होगा, वह हिंसक, क्रूर, मानी, घमंडी, दम्भी, विरोधक, भोगोंमें लिपटा हुआ, कुटिल, अशुचि, चञ्चल, स्वैराचारी भोगासक्त, विषमभावयुक्त होगा। इसके साथ साथ जो अन्यान्य सहचारी लक्षण संभव हो सकते हैं, उनका विचार भी पाठक करें और वे लक्षण यहां गिनाये हैं, ऐसा यहां जानें।

सर्व विश्वरूप ही वासुदेवका है, सर्वत्र वही व्यापक है ऐसा अनुभव करनेसे येही ज्ञानके लक्षण इस साधकमें स्थिर होते हैं और ये स्वभावसे ही लक्षण जिसमें स्थिर हुए तो उसीको सिद्ध पुरुष कहा जाता है।

पाठक ये सिद्ध पुरुषके लक्षण हैं ऐसा समझें और इन लक्षणोंको अपने अन्दर स्थिर करनेका यत्न करें। जिस प्रमाणमें अपने अन्दर ये लक्षण हैं उसका परीक्षण करनेसे अपनी उन्नति कितनी हुई है और शेष कितनी उन्नति होनी चाहिये इसका निश्चय हो सकता है। पाठक इस रीतिसे आत्मपरीक्षण करें।

ये जो ज्ञानके लक्षण यहां कहे हैं, उनकी सामाजिक और राष्ट्रीय सुख-शान्तिके लिये कितनी आवश्यकता है और इनके विपरीत जो अज्ञानके लक्षण अनुमान किये जाते हैं उनसे समाजमें और राष्ट्रमें कैसी अशान्ति बढेगी, इसका विचार पाठक करें और भगवद्गीताका यह तत्त्वज्ञान समाजोपयोगी कैसा है यह जानें। यदि समाज सुख और शान्तिसे युक्त बनाना है, तो उसमें ये ज्ञानलक्षण सुस्थिर होने चाहियें।

श्रीमद्भगवद्गीता आदर्श सामाजिक जीवन का उपदेश कर रही है। समाजके मनुष्य यह आदर्श अपने अन्दर सुस्थिर करनेका प्रयत्न करते रहें। यह आदर्श ऐसा है कि विना परिश्रम यह आचरणमें आना कठिन है। बडे परिश्रम किये जांय तोहि यह आचरणमें आसकता है। सामाजिक, जातीय तथा राजकीय प्रबंध भी ऐसा होना चाहिये कि जिसमें रहते हुए यह आदर्श जीवन मनुष्योंके आचरणमें आ जावे और मनुष्य 'पूर्ण मानव' अथवा 'पुरुषोत्तम' बन सकें। आजकलकी समाजव्यवस्था और राज्यव्यवस्था ऐसी है कि जिसमें रहता हुआ मनुष्य इन दैवी गुणोंके बदले आसुरी भावोंको ही अपने अन्दर बढा सकता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रका वध कर रहा है, एक दूसरेको लूट रहे हैं, जो हिंसा करना नहीं चाहते वे असभ्य गिने जाते हैं और उनको दबानेका यत्न होता है। आसुरी भाव बढनेके कारण ऐसा हो रहा है। अतः भारतीयोंको ऐसा प्रचण्ड यत्न करना चाहिये कि जिससे सब भारतीय जनता अपने अन्दर उक्त दैवी गुणोंका उत्कर्ष कर सके और संपूर्ण जगत् में दैवी गुणोंका विकास करने का विशेष प्रयत्न करे।

इस तरह ज्ञानका विचार हुआ। अब जानने योग्य बातोंका बोध भगवान् करते हैं, वह देखिये-

(५) ज्ञेय क्या है?

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अन्वयः- यत् ज्ञेयं, यत् ज्ञात्वा (जीवः) अमृतं अश्नुते, तत् प्रवक्ष्यामि । तत् अनादिमत् परं ब्रह्म सत् न, असत् च न, इति उच्यते । १२॥ लोके तत् सर्वतः पाणिपादं, सर्वतः अक्षिशिरोमुखं, सर्वतःश्रुतिमत् (अस्ति), सर्वं च आवृत्य तिष्ठति ॥१३॥ (तत्) सर्वेंद्रियगुणाभासं, सर्वेंद्रियविवर्जितं, असक्तं, सर्वभृत् च एव, निर्गुणं, गुणभोक्तृ च (अस्ति)॥ १४ ॥ तत् भूतानां बहिः अन्तः च अस्ति), अचरं चरं च एव (अस्ति), तत्, सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयं (अस्ति), दूरस्थं च अन्तिके च (अस्ति) ॥१५॥ तत् ज्ञेयं अविभक्तं भूतेषु विभक्तं इव स्थितं, भूतभर्तृ च ग्रसिष्णु च प्रभविष्णु च अस्ति॥१६॥ तत् ज्योतिषां अपि ज्योतिः (अस्ति), तमसः परं उच्यते, (तत्) ज्ञानं, ज्ञेयं, ज्ञानगम्यं (अस्ति), (तत्) सर्वस्य हृदि धिष्ठितं (अस्ति) ॥१७॥

वह ज्ञेय जिसके जाननेसे जीव अमृतत्व प्राप्त करता है, मैं तुझे कहता हूं। वह अनादि परब्रह्म है, उसे न सत् और न असत् कहते हैं ॥१२। इस लोकमें उसके सर्वत्र हाथ पांव, सब ओर आंख, सिर और मुख और सब ओर कान हैं। वह सर्वत्र व्याप कर रहा है ॥१३॥ उसमें सर्व इंद्रियोंके गुणोंका आभास है, तो भी वह सर्व इंद्रियोंसे रहित है। वह सर्वत्र आसक्तिरहित, सबका भरणपोषण करनेवाला, गुणरहित होनेपरभी गुणोंका भोक्ता है ॥१४॥ वह सब भूतोंके बाहर भी है और अन्दर भी है, वह स्थिर भी है और चर भी है,

अति सूक्ष्म होनेके कारण जाननेके लिये कठिन है और वह दूरभी है और पास भी है ॥१५॥ वह ज्ञेय आत्मा अविभक्त होता हुआ भी सब भूतोंमें विभक्त जैसा रहता है। वह सब भूतोंका पोषण करनेवाला, नाश करनेवाला और उत्पन्न करनेवाला भी है ॥१६॥ वह ज्योतियोंकी भी ज्योति है, वह अन्धकारसे परे है ऐसा कहा जाता है, वही ज्ञान है, वही जानने योग्य है और वही ज्ञानसे जानने योग्य है। वह सब के हृदयोंमें रहता है ॥१७॥

भावार्थ- परमेश्वर ही जानने योग्य है, उसके ज्ञानसे जीव अमरभावको प्राप्त होता है। वह परब्रह्म अनादि है, उसको सत् या असत् कहना अयोग्य है। उसके हस्तपाद आदि अवयव सर्वत्र हैं, वह सर्वत्र व्याप्त है, सब इंद्रियोंके गुण उसमें हैं, तथापि वह सर्व इंद्रियोंसे रहित है, वह सर्वत्र आसक्ति न रखनेवाला, तथापि सबका धारणपोषण करनेवाला, निर्गुण होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है। वह अन्दर बाहर सर्वत्र है। वह हिलनेवाला होनेपर भी स्थिर है, अति सूक्ष्म होनेसे जाननेके लिये कठिन है और वह जैसा दूर है वैसाहि पास भी है। वह अखंडित है, परंतु प्रत्येक भूतमें खण्डित सा दीखता है। वही सबकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश भी करता है। सब तेजस्वी पदार्थोंको उसीसे तेज मिलता है, उसके पास अन्धकार नहीं है, क्योंकि वह उससे परे है। वही ज्ञान, जानने योग्य और ज्ञानसे प्राप्तव्य है। ऐसा वह परमात्मा सबके हृदयोंमें सदा रहता है ॥१२-१७॥

किसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये?

(१२-१७) मनुष्यको किसका ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये? इस जीवनमें मनुष्य का ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य क्या है? इसका विचार अब करते हैं। जिसका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य मात्रके लिये अत्यंत आवश्यक है, वह 'अनादि परब्रह्म' है। इसका वर्णन इस तरह यहां किया है —

(१) सर्वतः पाणिपादं, सर्वतः अक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमत् (१३)

'इस परब्रह्मके हाथ, पांव, आंख, सिर, मुख और कान सब ओर हैं।' पाठक यह विश्वरूपी परमात्माका वर्णन है ऐसा समझें। ये सब ओर के हाथ पांव और मुखादि अवयव हैं, वे केवल कल्पनाके नहीं हैं, वे सत्य अवयव हैं। क्योंकि परमात्माके विश्वरूप में सब मानव, सब पशु पक्षी और सब अन्य स्थूल सूक्ष्म जीवजन्तु समाये हैं। इन सब प्राणियोंके जो हाथपांव, मुख आदि अवयव हैं वे ही इस विश्वात्माके अवयव हैं, अतः कहा है कि इसके हाथ पांव आंख मुख सिर कान आदि अवयव सब ओर हैं। पाठक अपने चारों ओर देखें, उनके सम्मुख अनेक प्राणी दीखेंगे और उनके अनेक अवयव होंगे, वे सब अवयव इस विश्वात्मा अथवा सूत्रात्माके हि हैं, क्योंकि सब प्राणियोंके हृदयमें यही विश्वात्मा अनुस्यूत भरा है, इससे कोई पृथक् नहीं है, सब रूप उसीके हैं और उसीके विश्वरूपमें समाये हैं, इसके विश्वरूपसे भिन्न किसीका रूप नहीं है। अतः उसके मुख नासिकादि अवयव चारों ओर हैं ऐसा वर्णन अनेक स्थनोंपर किया गया है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ (ऋग्वेद १०।८१।३)

"सब ओर चक्षु मुख बाहु और पांव हैं, ऐसा एकही परमात्म देव इस सब विश्वका

उत्पादक है।" यहां भी वही वात कही है। जहां ऋग्वेदमें 'विश्वतः' है वहां गीतामें 'सर्वतः' है, दोनोंका अर्थ एकही है।

(२) सर्वं आवृत्य तिष्ठति (१३)

'यह परब्रह्म, जिसके हाथ पांव मुख सब ओर हैं, वह सब विश्वको घेर कर रहा है।' कोई वस्तु इससे पृथक् नहीं है। इस विश्वके सब वस्तुओंको उसने घेरा है। इससे न घेरा हुआ कोई पदार्थ नहीं है। इसने सबको घेरा है और कोई इससे पृथक् नहीं है, इसी लिये सबके अवयव इसीके अवयव हैं और इसी कारण इसके अवयव सब ओर हैं ऐसा कहा जाता है।

(३) सर्वेन्द्रियगुणाभासं
सर्वेन्द्रियविवर्जितं। (१४)

'सर्व इद्रियोंके गुणोंका आभास उसमें होता है, तथापि वह सर्व इन्द्रियोंसे रहित ही है।' इससे पूर्व कहा है कि 'सब ओर उसके हाथ-पांव मुख कान नाक आदि अवयव हैं।' इन सर्वत्र स्थित अवयवोंको देखनेसे ही वह है ऐसा दिखाई देता है। यदि ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां तथा अन्तःकरण कार्य न करता, जगत् में किसी स्थानपर इनका कार्य न दिखाई देता, तो आत्माका अस्तित्व भी नहीं माना जाता। अतः हाथ पांव आदि इंद्रियोंके गुणोंका उसमें आभास है, यह बात सत्य है, तथापि ये इंद्रिय क्षर प्रकृतिके हैं, आज हैं और कल नहीं रहेंगे, अतः उस अक्षरमें ये इंद्रिय हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है। उसमें क्षर इंद्रियोंके गुणोंका आभास होता है और इस आभाससे उसका ज्ञान भी होता है, यह सत्य है। तथापि वह अक्षर-तत्त्व इन इंद्रियोंसे रहित ही है। गुडकी मीठास गुडके आकारकी नहीं होती, तथापि गुडके स्थूल आकारमें वह दिखाई देती है। इसी तरह उस परमात्मामें इन इन्द्रियोंका आभास प्रतीत होता है तथापि उसके शुद्ध स्वरूपमें ये इन्द्रिय नहीं हैं। उस निर्गुणमें इंद्रियगुणोंकी संभावना भी कैसी मानी जा सकती है ?

जैसा आकाश घडेमें घटाकार और घरमें गृहाकार हुआ दीखता है, परन्तु आकाशको कोई आकार नहीं है; रस जैसा जलमें जलरूप हुआ दीखता है, परंतु उसका आकार नहीं होता; जैसा तेज दीपमें दीपकके आकारका दीखता है तथापि तेजका स्वयं कोई आकार नहीं होता; जलकी धारा तेढी वहने लगी तो जल जैसा तेढा नहीं होता, तथा वह ब्रह्म मन आदि इंद्रियोंमें कार्य करता हुता दीखनेके कारण इंद्रियोंके गुण-धर्मोंसे युक्त होनेके समान दीखता है, परन्तु वस्तुतः वह इंद्रियधर्मोंसे रहित ही है। उपनिषदोंमें कहा है—

कतमः स आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु
हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोका-
वनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव ॥
(बृ० उ० ४।३।७)

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स
शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति
वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
(श्वे० उ० ३।१९)

"जो प्राणोंमें विज्ञानमय है, वह हृदयमें अन्तर्ज्योति है व ध्यान करता हुआसा, चेष्टा करता हुआसा दीखता है। उसको हाथ पांव न होते हुएभी वह वेगवान् और सबको पकडनेवाला है, आंख न होते हुएभी वह सबको देखता है, कान न होते हुए भी वह सब कुछ सुनता है, वह सब जानता है, परंतु उसको जाननेवाला कोई नहीं है, इस पुरुषको अग्रगण्य महान् पुरुष कहते हैं।"

यहां इन्द्रियरहित होनेका उसका वर्णन है, परंतु उसी आत्माके कारण सब इंद्रिय कार्य करनेमें समर्थ होते हैं और इन्द्रियोंके कार्य देखकर उस इंद्रका अर्थात् आत्माका अनुमान होता है। इसलिये कहा जाता है कि सब इन्द्रियों

वैसे सब कर्मोंका आभास उस आत्मामें है। सब इन्द्रियोंके कार्य इसीसे हो रहे हैं, तथापि उसमें कोई इन्द्रिय नहीं है, यह बात इस तरह स्पष्ट हो गयी है।

(४) असक्तं (१४)

वह ब्रह्म सर्वत्र है तथापि वह किसीके साथ आसक्त नहीं है। जैसा सुवर्णका आभूषण किया जाय, तो उस आभूषणमें वह सुवर्ण रहता हुआ भी आभूषणके स्वरूपके अथवा उस आकारके साथ वह आसक्त नहीं होता। उसका वह आकार दूर हुआ और दूसरा कोई आकार उसे प्राप्त हुआ तो उसे उसमें कोई रागद्वेष नहीं होता। इसी तरह वह श्रेष्ठ ब्रह्म सब आकारोंमें समान अवस्थित होने पर भी किसी आकारके साथ वह लिपटा हुआ नहीं है, किसीमें वह आसक्त नहीं है।

(५) सर्वभृत् (१४), भूतभर्तृ (१६)

वह ब्रह्म सब भूतोंका भरण पोषण धारण करता है,उसीसे सबका भरण पोषण-धारण हो रहा है, यही बात अन्यत्र कही है-

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति। यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति। (छां० उ०)

'जिससे ये सब भूत बनते हैं, जिससे बनने पर जीवित रहते हैं और विनष्ट होकर जिसमें लीन होते हैं, वह ब्रह्म है।' यहां मिट्टीसे घडा बनता है, मिट्टीके आधारसे रहता है और टूटने पर उसकी मिट्टीहि बनती है। तथा जैसे सुवर्णसे आभूषण बनता है, सुवर्णके आधारसे ही आभूषण रहता है और टूटनेपर सुवर्णके ही रूपमें परिणत होता है। इसी तरह ये सब भूत ब्रह्मसे बने, ब्रह्मसे धारण पोषण हो रहे हैं और ब्रह्ममें ही जा मिलेंगे। इस लिये ब्रह्मको सर्व-भृत् अर्थात् सबका धारण-पोषण-भरण करने-वाला कहा है।

(६) निर्गुणं गुणभोक्तृ च। (१४)

'वह ब्रह्म निर्गुण है, परन्तु गुणोंका भोग करने वाला है।' यह ब्रह्म स्वयं सत्त्वरजतम आदि गुणोंवाला नहीं है, तथापि इन गुणोंका भास उसमें होता है। जैसा आभूषणका भास सुवर्ण में होता है, सुवर्ण उस आभूषणको धारणभी करता है,परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो सुवर्णका आभूषणके साथ क्या संबंध है? कुछ भी नहीं। ज्ञान, भोग और मोह ये सत्त्व रज तमके गुण हैं, ये विश्वरूपमें ब्रह्मपर दीखते हैं, ब्रह्मके कारण उसीके आधारसे रहे हैं, परंतु वस्तुतः वे उसके या उसमें नहीं है।

(७) भूतानां बहिः अन्तः च। (१५)

वह ब्रह्म 'सब भूतोंके अन्दर और बाहर है।' अर्थात् वह सबको व्याप्त हुआ है,सबके अन्दर, बाहर और बीचमें अर्थात् सर्वत्र है। वह नहीं है ऐसा एक अणुरेणु जितना भी स्थान नहीं है। जो कुछ है वह सूक्ष्म हो या स्थूल हो, वह उसीसे व्याप्त है, उसके अन्दर बाहर वह व्याप्त हुआ है।

(८) तत् दूरस्थं अन्तिके च। (१५)

'वह ब्रह्म दूर भी है और पास भी है।' सर्व-व्यापक होनेका ही यह अधिक स्पष्टीकरण है। जो जानते नहीं उनके लिये वह बहुत दूर है, परन्तु जो जानते हैं उनके बिलकुल पासहि वह है। अर्थात् वह स्थानसे भी दूर और पास है और ज्ञानसेभी दूर और समीप है।

(९) तत् अचरं चरं एव। (१५)

"वह ब्रह्म अचल अर्थात् स्थिरभी है और चल भी है।'

वह स्वयं अचल अर्थात् न हिलनेवाला होता हुआ भी सबको चलाता है, इसलिये चल भी है। वह अचल-चल, अचर-चर, स्थिर-चर दोनों प्रकारका भासता है। वह गतिमान् वस्तुओंमें गतिमान्-सा दीखता है और स्थिर वस्तुओंमें स्थिर-सा दीखता है। इसका वर्णन ईशोपनिषद्-

में इस तरह किया गया है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मि-न्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तदेजति तन्नैजति, तद् दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥ (ईश० उ०)

'वह स्वयं न हिलनेवाला एक है, तथापि मन सेभी वेगवान् है। अन्य दौडनेवालोंके आगे जाता है, तथापि वह स्थिर है॥ वह चलाता है तथापि स्वयं हिलता नहीं, वह दूरभी है और समीपभी है, वह सबके अन्दर भी है और सबके बाहर भी है॥'

यह ईशोपनिषद् का और गीताका वर्णन एक जैसा ही है। यही वर्णन मुण्डकोपनिषद् में इस तरह है—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च सूक्ष्म-तरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥ (मुण्डक उ० ३।१।७)

'वह ब्रह्म बडेसे बडा और सूक्ष्मसे सूक्ष्म है। वह दूर भी है और समीप भी है, देखनेवालोंके लिये वह उनके अंतःकरणमें ही है।' वह सर्व-व्यापक होनेसे सर्वत्र उपस्थित है।

(१०) सूक्ष्मत्वात् तत् अविज्ञेयम्। (१५)

'अति सूक्ष्म होनेसे जाननेके लिये वह कठिन है।' सर्वत्र है, इसी लिये वह सबसे सूक्ष्म है और अति सूक्ष्म, सबसे सूक्ष्म होनेसे ही जाननेके लिये सबसे कठिन है।

(११) (तत्) अविभक्तं, (परन्तु) भूतेषु विभक्तं इव स्थितम्। (१६)

'वह ब्रह्म वस्तुतः अविभक्त अर्थात् अखण्ड है, उसमें टूकडे नहीं हैं, वह सर्वत्र एकरस है, तथापि सब भूतोंमें विभक्त जैसा होकर रहा है।' अखंड एकरस होनेपर भी खण्डित विभिन्न-रस जैसा दीखता है। एक होनेपर भी अनेक जैसा प्रतीत होता है।

जैसे सुवर्णके आभूषण अनेक बनवाये, कई कानमें धारण करनेके, कई नाकमें, कई गलेमें, कई छातीपर, कई हाथोंमें, कई कमरमें धारण करनेके होते हैं। सुवर्णकी दृष्टिसे सबमें एक-रसता है, तथापि धारणकी रीतिसे उसमें विवि-धता और भेद है।

जैसा एक ही काल निमेष मुहूर्त दिन पक्ष मास अयन आदि भेदोंसे युक्त प्रतीत होता है, एक ही जीवन बाल्य, तारुण्य, वार्धक्यादि भेदोंमें विभक्तसा प्रतीत होता है, इसी तरह वह एक तत्त्व सब विश्वके रूपमें दिखाई देता है।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋग्वेद ६।४७।१८)

इन्द्र अर्थात् आत्मा एक होता हुआ भी अनेक रूपोंवालासा दिखाई देता है। तथा और देखिये-

यत्र द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति... शृणोति .. अभिवदति ...मनुते ... विजनाति, यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्, तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं शृणु-यात्, तत्केन कमभिवदेत्, तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कं विजानीयात्, येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, विज्ञातार-मरे केन विजानीयात्॥ (बृ० उ० २।४।१४)

'जहां द्वैतसा होता है वहां ही एक दूसरेको देखता सुनता कहता विचारता और जानता है। परंतु जहां सब आत्मा ही हो जाये, तब कौन किसको देखे, कौन किसको सुने, कौन किसको जाने? जिससे जाना जाता है उसे कौन जाने? और विज्ञाताको कौन कैसा जाने?' यहां दोनों अवस्थाओंका वर्णन है, एक एकत्व की अवस्था का और दूसरा द्वैतकी अवस्थाका। एक ही वस्तु एक ही होती हुई अनेक जैसी प्रतीत होती है, इस कारण ऐसा अनुभव होता है। इसी तरह-

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१९॥

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः
॥२०॥ बृ ४।४।१९

'मनसे ही यह अनुभव करना चाहिये कि यहां अनेक वस्तुएं नहीं हैं। जो यहां नाना वस्तुएं देखता है वह मृत्युके कष्ट वारंवार भोगता है। यह अप्रमेय ध्रुव आत्मा एक ही है, ऐसा देखना चाहिये। यह आत्मा आकाशसे भी महान् है।'

इस तरह यह आत्मा अनेक नहीं है। वह एक-रस,एक और अखंड है। परंतु एक होता हुआ अनेक सा दिखाई देता है, अखण्ड होता हुआ खण्डित-सा दीखता है, एकरस होता हुआ विविधरसवाला-सा प्रतीत होता है।

(१२) तत् प्रभविष्णु ग्रसिष्णु च। (१६)

'वह ब्रह्म सब की उत्पत्ति करनेवाला और सबका ग्रास करनेवाला अर्थात् नाश करनेवाला है।' और (भूतभर्तृ, सर्वभृत्) सबका पालन करनेवाला है। इस रीतिसे वही सबकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाला है। वह एक ही होता हुआ ये तीनों कार्योंको करता है, इसलिये उसी एक को सृष्टिकर्ता, स्थितिकर्ता और लय कर्ता कहा है। इसी कार्यके कारण उसी एकके नाम ब्रह्मा,विष्णु और रुद्र हुए हैं। ये तीन नाम होते हुए भी वह एक ही है। तीन विभिन्न नाम होनेके कारण वह तीन प्रकारका नहीं है। वह एक होता हुआ भी ये तीनों कार्य करता है।

(१३) तत् ज्योतिषां अपि ज्योतिः।
तत् तमसः परं उच्यते। (१७)

'वह ब्रह्म तेजका भी तेज है और अतः वह अन्धकारसे परे है।' बृहदारण्यकमें कहा है—

तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः। (बृ० ४।४।१६)
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। (श्वे०उ०४।८)
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। (श्वे०उ०६।१४)
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्। (गीता १५।१२)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंकी भी ज्योति है,वह सूर्य-समान तेजस्वी और अंधारसे परे है। उसी ब्रह्मके तेजसे यह सब विश्व प्रकाशता है। जो सूर्य चन्द्र अग्नि आदिमें तेज है, जिस तेजसे यह संपूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है,वह ईश्वर-काही तेज है।' इस प्रकार अन्यत्र ऐसाही इस ब्रह्मका वर्णन है।

(१४) सर्वस्य हृदि धिष्ठितम्। (१७)

'यह ब्रह्म सबके हृदयमें स्थित है।' सबके अन्तःकरणमें, सबकी बुद्धिमें रहा है। गीतामें आगे कहा है कि– 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः (गी० १५।१५)' परमेश्वर सबके हृदयमें रहा है। तथा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥
(गी० १८।६१)

'ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें ठहरा है और सबको घुमाता है।'

इस तरह सर्वत्र ईश्वरके सबके हृदयमें होनेका वर्णन है। यह केवल हृदयमें रहता है और बाहर नहीं ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्वस्थानमें अन्दर बाहर उसके होनेका स्पष्ट उल्लेख है। अतः हृद्देशमें रहनेका तात्पर्य यह है कि उसके सब कार्य अन्दरहीसे होते हैं।

(१५) तत् ज्ञेयं, ज्ञानगम्यं, ज्ञानं (अस्ति)
(१७)

"वह ब्रह्म सबको जानने योग्य है, ज्ञानसे समझमें आनेवाला है,क्योंकि वही ज्ञानरूप है।" यहां ज्ञेय और ज्ञान एकही है। और ज्ञाताभी उसीमें संमिलित होता है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान यहां एक होनेके कारण, इस त्रिपुटीका भेद वहां नहीं होता है, अतः यह विषय समझनेके लिये कठिन है। परंतु पाठक यहां ऐसा समझें कि स्वयं ज्ञाता है, अपनाही ज्ञान प्राप्त करना है,इसलिये ज्ञेय विषयभी स्वयंही है और

स्वयं चित्स्वरूप होनेसे ज्ञानभी अपनाही स्वरूप है। इस तरह विचार करनेसे यहांभी ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान 'स्वयं' होता है, जैसा यहां है वैसाही उक्त स्थानमें 'वह ज्ञेय, ज्ञानगम्य और ज्ञान है' ऐसा जो कहा है उस विषयमें समझना चाहिये।

(१६) तत् न सत्, न असत् उच्यते। (१२)

"वह ब्रह्म सत् किंवा असत् है, ऐसा नहीं कहा जाता,' वह सदसत् कल्पनासे परे है। सत् असत् यह वाणीसे कहा जाता है, परंतु ब्रह्म तो वाणीका विषय नहीं है- 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'(तै० उ०२।४।९) उस ब्रह्मसे वाणी निवृत्त होती है, क्योंकि वाणीसे वर्णन करनेका विषय ब्रह्म नहीं है, तथा—

अन्यत् एव तद्विदितात् अथो अविदितात् अधि। (केन उ० १।३)

'वह ब्रह्म ज्ञात और अज्ञातसे भिन्न है' अर्थात् वह ज्ञात भी नहीं और अज्ञात भी नहीं है। क्योंकि वह—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं। (श्वेता०उ०६।१९)

'कलारहित और क्रियारहित है।' इसलिये उसका वर्णन करना असंभव है। जो वाणीसे कहा जा सकता है वह सत् है वा असत् है ऐसा कहा जायगा, परंतु जो वाणीका विषयही नहीं है उस विषयमें क्या कहा जा सकता है? अतः यहां कहा है कि न वह सत् है और न असत् है। गीताके—

सदसच्चाहम्॥ (गीता ९।१९)

इस श्लोकमें बताया है कि 'मैं ईश्वर सत् और असत् हूं' और यहां बताया है कि-

तत् न सत् न असत्। (१३।१२)

'वह ईश्वर सत् भी नहीं और असत् भी नहीं है। क्या यह विरोध नहीं है? इसका विचार करनेके लिये हमें सत् और असत् शब्दोंके अर्थोंका मनन करना चाहिये—

सत्= भला, शुभ, अविनाशी, अमृत, अस्ति, अदृश्य-सूक्ष्म-तत्त्व, अक्षर।

असत्= बुरा, अशुभ, नश्वर, मृत्यु, नास्ति, दृश्य-स्थूल-सृष्टि, क्षर।

ये शब्दोंके अर्थ देखनेसे पता लगता है कि सत् और असत्के अर्थ अनेक हैं, अतः उक्त कथनमें परस्पर असंगति नहीं है।

जहां नवम अध्यायमें कहा है वहां 'सत् असत्' का अर्थ क्रमसे शुभ और अशुभ, अमृत और मृत्यु इस प्रकारका है। उसी श्लोकमें—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन। (९।१९)

'ईश्वर अमृत और मृत्यु है,' ऐसा कहा है। इसी द्वन्द्वके साथ संगत होनेवाला शुभाशुभ सब रूप परमेश्वरका ही है, विश्वरूपमें शुभ भी है और अशुभ भी है, दोनों रूप ईश्वरके हैं, यह आशय वहां है। और यहां अ० १३।१२ में क्षर और अक्षरके परे परमात्मा है, ऐसा कहनेका तात्पर्य है। अतः दोनों स्थानोंमें-यद्यपि 'सत्' और 'असत्' ये ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं, तथापि उनका आशय दोनों स्थानोंमें एक दूसरेसे पृथक् है। अतः यह विरोध नहीं है।

अस्तु। इस प्रकार ज्ञेय वस्तुका वर्णन किया है। इसी ज्ञेय वस्तुको पर-ब्रह्म, ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा आदि अन्य नाम हैं। इसका वर्णन प्रारंभसे इस समयतक अनेक प्रकारोंसे अनेक स्थानोंपर किया गया है। पाठक सबका विचार करके इस ब्रह्मतत्त्वको जानें और उसके साथ अपना अनन्य भाव देखकर उसी अनन्य भावसे उसकी सेवा, भक्ति अथवा उपासना करें।

इस ज्ञेयका और ज्ञेयके ज्ञानका फल कहते हैं सो देखिये—

(६) ज्ञानका फल ।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

(७) पुरुष और प्रकृति ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

[illegible] इति क्षेत्रं, तथा ज्ञानं ज्ञेयं च समासतः उक्तं, एतत् विज्ञाय, मद्भक्तः मद्भावाय उपपद्यते ॥१८॥

[illegible] क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयके विषयमें संक्षेपसे कहा गया है। इसे जानकर, [illegible] मेरे (ईश्वरके) भावको प्राप्त करनेके लिये समर्थ होता है ॥ १८ ॥

[illegible] क्षेत्र, क्षेत्रको जाननेवाला, खेतीका ज्ञान और जानने योग्य ज्ञेय वस्तुके विषयमें अतिसंक्षेपसे यहां [illegible] उस ज्ञानकी सहायतासे ईश्वरका भक्त ईश्वरपनको प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

[illegible]) यहां क्षेत्र क्या है, ज्ञान किसे कहते [illegible] करके जो मनुष्योंको जानने योग्य [illegible] संक्षेपसे वर्णन किया है। इसके [illegible] अपने पासके क्षेत्रके गुणधर्म [illegible] प्राप्त करें और ज्ञेयके जाननेका यत्न [illegible] जाननेके पश्चात् उससे अपना अनन्य [illegible] देखें और मैं उससे अनन्य [illegible] अपना नित्य संबंध उस पर- [illegible] उसको ध्यानमें रखें।

[illegible] अपना क्षेत्र अर्थात् खेत है, [illegible] क्या बोना चाहिये, कौनसा [illegible] चाहिये, कौनसा फल प्राप्त करना [illegible] कौनसा नहीं बोना है, इसका विचार [illegible] करना चाहिये। अपनी उन्नति [illegible] साधक होगा, वहीं धान्य या [illegible] चाहिये। धान्यका नाश करने-वाला खराब घास हटाना चाहिये। सर्वदा शुभजीवनरूप जल देना चाहिये, सुविचारोंका खेत उग जाय, ऐसा करना चाहिये।

इस खेत और किसानके ज्ञानसे साधक ईश्वरकी भक्ति करके ईश्वरभावको प्राप्त हो सकता है। परंतु जो मनुष्य इस ज्ञानको जानता नहीं वह राक्षसभाव, असुरभाव अथवा पशु-भावसे युक्त बनता है। अतः सावध रहकर यह ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करके अपने अन्दर ब्रह्मभावको देखकर, अपने आपको ब्रह्मसे अनन्य जानकर अनन्य भावसे उपासना करके कृतकृत्य होना चाहिये।

इसके विषयमें यथार्थ ज्ञानका उपदेश करनेके लिये प्रकृति और पुरुषका ज्ञान भगवान् देते हैं सो अब देखिये-

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

अन्वयः- (त्वं) प्रकृतिं पुरुषं च उभौ अपि अनादी विद्धि । विकारान् च गुणान् च प्रकृतिसंभवान् एव विद्धि ॥१९॥ प्रकृतिः कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः उच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते ॥ २० ॥ पुरुषः प्रकृतिस्थः (सन्) प्रकृतिजान् गुणान् भुंक्ते हि । गुणसंगः अस्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं (अस्ति) ॥ २१ ॥

तू प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको अनादि समझ । तथा विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं, यह भी ध्यान रख ॥ १९ ॥ प्रकृति ही कार्य तथा कारण की हेतु कही जाती है और पुरुष सुख-दुःखके भोग का हेतु माना जाता है ॥२०॥ पुरुष प्रकृतिमें रहकर प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंका भोग करता है । यही गुणोंका संग इसके उत्तम अथवा अधम योनिमें जन्म होनेका कारण है ॥२१॥

भावार्थ— प्रकृति और पुरुष ये दोनों न उत्पन्न हुए ऐसे सदासे हैं और प्रकृतिसे गुण तथा विकार होते हैं। सब कार्योंका तथा सब कारणोंका मूल हेतु यही प्रकृति है । पुरुष ही सुखदुःखका भोग करता है । पुरुष प्रकृतिके साथ संबंध करके प्राकृतिक गुणोंका भोग करता है । इसी गुणोंके भोगोंके संगसे पुरुषको उत्तम अथवा अधम योनिमें जन्म लेना पडता है ॥ १९-२१ ॥

(१९-२१) प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि हैं । प्रकृति जड है और पुरुष चेतन है । प्रकृतिमें पुरुष व्यापकर रहता है और पुरुषकीहि यह प्रकृति महा शक्ति है । जैसा जलमें रस, सूर्यमें तेज वैसा ही प्रकृतिमें पुरुष है ।

इस प्रकृतिमें सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं । इसी प्रकृतिके अनेक विकार भी हैं । मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा, पंच-महाभूत, संपूर्ण सृष्टि ये सब प्रकृतिके विकार ही हैं। मूल सूक्ष्म प्रकृति घनीभूत होकर क्रमसे स्थूल होती है और सब विश्वके पदार्थ बनाती है ।

इस कार्यकारणपरंपरासे यह रचना चल रही है । प्रकृति कारण है, उसका कार्य महत्तत्त्व है, महत्त्व कारण है उसका कार्य है अहंकार, अहंकार कारण है उसका कार्य तन्मात्रा, तन्मात्रा कारण है उसका कार्य है पंचमहाभूत, पंचमहाभूत कारण है उसका कार्य है सृष्टि, इस प्रकार यह कार्य-कारण-परंपरा है । जो एक का कार्य है वही दूसरे का कारण होता है । इस तरह कार्य और कारण का विचार करना चाहिये । इस कार्य-कारण-परंपराका मूल हेतु 'मूल प्रकृति' है।

इस तरह यह सृष्टि मूल प्रकृतिसे बनी है । मूल सूक्ष्मद्रव्य घन होते होते मूलप्रकृति ही स्थूल सृष्टिके रूपको प्राप्त हुई है । इस ढंगसे सृष्टिकी उत्पत्तिका विचार पाठक करें ।

दूसरा पुरुष है जो जलमें रस रहनेके समान सब प्रकृतिमें रहता है, इसी तरह प्रकृति भी पुरुषके साथ पुरुषकी शक्ति बनके रहती है । यह संबंध पाठक ठीक प्रकार समझें ।

यह पुरुष सुखदुःखोंका भोग करता है । सुख

(८) परमात्मा ।

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

अन्वयः-- उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वरः, अपि च परमात्मा इति उक्तः परः पुरुषः अस्मिन् देहे (अस्ति) ॥२२॥ यः एवं पुरुषं गुणैः सह प्रकृतिं च वेत्ति, सः सर्वथा वर्तमानः अपि भूयः न अभिजायते ॥२३॥

देखनेवाला, अनुमोदन करनेवाला, पोषण करनेवाला, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा इस देहमें है ॥ २२ ॥ जो इस तरह पुरुषको और गुणोंके साथ रहनेवाली प्रकृतिको यथावत् जानता है, वह सब तरह रहनेपर भी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

भावार्थ-- इस देहमें जो परम पुरुष है उसीको सर्वसाक्षी, अनुमोदक, पोषक, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा कहते हैं। जो साधक इस परम पुरुषको और गुणमयी प्रकृतिको ठीक ठीक जानता है, वह किस प्रकारका भी कर्म करे, परंतु उसे पुनर्जन्म में आना नहीं होता है ॥२२-२३ ॥

सुखका या दुःखका अनुभव करना पुरुष ही को हो सकता है। शरीरमें यह देही-पुरुष-न हुआ, तो शरीर मुर्दा होता है और वह मुर्दा सुख-दुःखका अनुभव कर नहीं सकता। इससे स्पष्ट है कि यह पुरुष ही प्रकृतिमें रहकर सुखका अथवा दुःखका अनुभव कर सकता है।

यह पुरुष- आत्मा- प्रकृतिमें रहता है, देहमें रहता है, देहमें कार्य करता है, ' इस कारण प्रकृतिके सत्त्व रज तम इन तीनों गुणोंके साथ इसका संबंध होता है और इस प्रकार सत्त्व रज तमके साथ संबंध होनेके कारण इसकी उत्तम मध्यम और निकृष्ट गति होकर इसका शुभ अथवा अशुभ योनिमें जन्म होता है।

देहमें कार्य करनेका यह फल है। इस तरह शुभाशुभ फल कर्मोंके कर्तृत्वसे इस पुरुषको प्राप्त होता है, यह जानकर मनुष्य सावधानताके साथ अपने आपको अशुभ फलसे बचावे और शुभ गतिहि प्राप्त करे। इस तरह पुरुषको उसका ध्येय बताकर उसे परमात्माका ज्ञान देते हैं-

(२२-२३) जो इस देहमें द्रष्टा अर्थात् देखनेवाला है, यहां रहकर अनुमोदन देता है, इसका भरण-पोषण-धारण करता है, यहां रहकर भोग करता है, यहां सबका महान् ईश्वर है, जो परमात्मा कहा जाता है, वही इस देहरूपी प्रकृतिमें परम पुरुष करके है। इसका आशय यह है—

(देहमें)	(ब्रह्माण्डमें)
द्रष्टा (देखनेवाला)	द्रष्टा
अनुमोदन देनेवाला	अनुमोदनकर्ता
शरीरका भरणकर्ता	ब्रह्माण्डका भरणकर्ता
शरीरमें भोक्ता	ब्रह्माण्डमें भोक्ता
शरीरका स्वामी	ब्रह्माण्डका महेश्वर

(९) आत्मदर्शन और उपासना।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

अन्वयः— केचित् ध्यानेन आत्मना आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति । अन्ये सांख्येन योगेन (आत्मानं पश्यन्ति) अपरे च कर्मयोगेन (आत्मानं पश्यन्ति) ॥ २४ ॥ अन्ये तु एवं अजानन्तः अन्येभ्यः श्रुत्वा उपासते, ते श्रुति परायणाः च अपि मृत्युं अतितरन्ति एव ॥ २५ ॥

कोई ध्यान-योगसे अपने आत्माद्वारा आत्मामें आत्माको देखते हैं, दूसरे साधक ज्ञानयोगसे आत्माको देखते हैं और अन्य साधक कर्मयोगसे आत्माको देखते हैं ॥ २४ ॥ दूसरे कोई इन मार्गोंको न जानते हुए, अन्य (विद्वानोंसे) सुनकर उपासना करते हैं, वे सुने हुए उपदेशमें तल्लीन होनेवाले साधक भी मृत्युसे पार हो जाते हैं ॥ २५ ॥

शरीरमें आत्मा	ब्रह्माण्डमें परमात्मा
देहमें पुरुष	ब्रह्माण्डमें परम पुरुष

जो परमात्मा ब्रह्माण्डमें है, वही देहमें भी है, कोई दूसरा नहीं। जैसा एकही आकाश घडेमें, घरमें, ग्राममें और विश्वमें है उसी तरह परमात्मा देहमें है और वही विश्वमें है। देहमें देहरूप धारण किये रहता है और विश्वमें विश्वरूप धारण किये है। देहमें उसे देही कहते हैं और विश्वमें उसेहि विश्वात्मा कहते हैं। विश्वात्माका अंश ही देहात्मा है।'(गी० १५।७)

जो इस तरह पुरुषको यथावत् जानता है और तीनों गुणोंके साथ प्रकृति है ऐसा जो जानता है, उसने कैसाभी वर्ताव किया तो भी उसे वारंवार जन्म लेना नहीं पडता अर्थात् वह मुक्त हो जाता है। यहां जो 'कैसा भी वर्ताव किया तो भी मुक्त होता है' ऐसा कहा है, वह प्रशंसात्मक वाक्य है। उसका सच्चा भाव यह है कि वह इतना परिशुद्ध होता है कि उससे कभी अयोग्य व्यवहार होता ही नहीं। स्वभावसे ही अयोग्य व्यवहार होना असंभव होता है।

प्रकृति-पुरुषका ज्ञान होनेसे पुरुषकी अद्भुत शक्तिका पता लग जाता है और वह अद्भुत शक्तिवाला पुरुष ही यहां मैं हूं ऐसा निश्चय हो जाता है। और अपने ही सामर्थ्यसे यहां वुरा भला जो कुछ बनना है ऐसा जानकर वह अपना सामर्थ्य वुरे कर्ममें लगाता नहीं और जो कर्म हो रहा है वह प्रकृतिसे हो रहा है, ऐसा देखकर अपने आपको प्रकृति के विना अकर्ता अनुभव करके, वह अपनी परिशुद्ध अवस्थाका अनुभव करता है। इसीसे वह निष्कलंक होकर मोक्षका भागी हो जाता है।

अब इस आत्मदर्शन करनेका वर्णन करते हैं-

(१०) समदर्शनका फल ।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

भावार्थ— कई साधक ध्यान-मार्गसे, कई ज्ञानमार्गसे और कई कर्ममार्गसे अपने अन्दर इस आत्माको देखनेका यत्न करते हैं । जो इन मार्गोंको जानते ही नहीं, वे विद्वानोंसे जो कुछ सुनते हैं, उसीमें तल्लीन होकर यथाशक्ति उपासना करते हैं, ये साधक भी मृत्युसे परे होते हैं ॥ २४-२५ ॥

(२४ २५) कई साधक ध्यान करते हैं और अपने अन्दर स्वयं अपने आत्माको देखते हैं । ये साधक यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान करते हैं । प्रत्याहारसे बाह्य विषय छूट जाते हैं और अपने आत्मामें अपनेही आत्माका ध्यान करते हैं और आत्मानुभव प्राप्त करते हैं ।

अन्य साधक सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोगसे आत्माका अनुभव करते हैं । प्रकृति किन गुणोंसे युक्त है, आत्माके धर्म क्या हैं, इसका यथावत् ज्ञान प्राप्त करके उसके मननसे प्रकृति और पुरुषको यथायोग्य रीतिसे जानते हैं । ज्ञान-मनन के द्वारा ज्ञानमार्गी आत्माका अनुभव करते हैं ।

तीसरे साधक कर्मयोगके द्वारा उन्नतिका साधन करते हैं । अपना स्वभावधर्म जानकर तदनुसार कर्म करते हुए और अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करके, तथा कर्मफलत्याग करके अथवा अनासक्तिसे कर्म करते हुए उन्नतिका साधन करते हैं ।

चौथे साधक ऐसे होते हैं कि जो स्वयं आत्मानात्मका ज्ञान जानते नहीं, स्वयं बहुत विद्वान् नहीं होते, वे दूसरे विद्वानोंके व्याख्यान और प्रवचन सुनते हैं, उनसे उपासनाकी विधि जानते हैं और जैसा सुनते हैं वैसीही उपासना करते हैं । उसमें इतनी श्रद्धा-भक्ति रखते हैं कि मनमें तर्क-वितर्क-कुतर्क कुछ भी न करते हुए, अपने गुरुपर अतुल श्रद्धा रखते हैं, उसके उपदेशमें तत्पर रहकर उपासना करते हैं । किसीने उनकी श्रद्धा हटानेका प्रयत्न किया तो भी वे मार्ग नहीं छोडते और उपासना करते जाते हैं। ऐसे केवल श्रद्धा रखनेवाले भी अपने श्रद्धाबलके सहारे मृत्युके पार हो जाते हैं । क्योंकि इनकी दृढ श्रद्धासे इनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरणकी निर्मलतासेहि वे मुक्तिको प्राप्त करते हैं ।

कई लोग इनको अन्धश्रद्धालु कहके इनका उपहास करते हैं । परंतु उपहास करनेवाले अश्रद्धाके कारण पीछे रह जाते हैं और ये अपनी असीम श्रद्धाके कारण उन्नत होते हैं ।

इस प्रकार साधकोंके उन्नत होनेके ये विविध मार्ग हैं । इन सब मार्गोंमें प्रयत्नही सबका आधार है । जो प्रयत्न करेंगे वे ही उन्नति प्राप्त करेंगे । जो कुछ भी नहीं करेंगे वे कैसे उन्नत होंगे ? ये सब योग हैं और योगका अर्थ ‘ कुशलताके साथ प्रयत्न करना ’ है ।

आगे समदर्शन का महत्त्व बताते हैं—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

अन्वयः— हे भरतर्षभ! यावत् किंचित् स्थावरजंगमं सत्त्वं संजायते, तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् (संजायते इति त्वं) विद्धि ॥ २६ ॥ यः विनश्यत्सु सर्वेषु भूतेषु समं तिष्ठन्तं अविनश्यन्तं परमेश्वरं पश्यति, सः पश्यति ॥ २७ ॥ (यः) सर्वत्र समवस्थितं ईश्वरं समं पश्यन् हि आत्मना आत्मानं न हिनस्ति, (सः) ततः परां गतिं याति ॥ २८ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! जो भी कुछ स्थावर जंगम वस्तु निर्माण होती है, वह इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसेही निर्माण होती है ऐसा तू समझ ॥ २६ ॥ जो नाश होनेवाले सब भूतोंमें समभावसे रहनेवाले अविनाशी परमेश्वरको देखता है, वही सत्यको देखता है ॥ २७ ॥ जो सर्वत्र समभावसे रहनेवाले ईश्वरको देखता है, वह स्वयं अपने आत्माद्वारा आत्माका घात नहीं करता, अतः वह परम गतिको प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

भावार्थ— प्रकृति और पुरुषके संबंधसे सब कुछ स्थावर अथवा जंगम वस्तु बनती है। सब नाश होनेवाले पदार्थोंमें कभी नाशको प्राप्त न होनेवाला परमेश्वर है और वह सर्वत्र समभावसे रहता है यह जो देखता है, वही परमेश्वरको देखता है। जो इस तरह आत्माको देखता है, उसके आत्माकी कभी हानि नहीं होती और उसीको परम गति मिलती है ॥ २६-२८ ॥

(२६-२८) इस सृष्टिमें जो भी कुछ वस्तुमात्र बना है, वह स्थावर हो अथवा जंगम हो वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-अर्थात् प्रकृति और पुरुष-के संबंधसे ही बना है। कोई ऐसी वस्तु यहां नहीं है कि जिसमें प्रकृति और पुरुष मिले न हों, अर्थात् सब विश्व प्रकृतिपुरुषके संयोगसे ही हुआ है। इसी लिये इस विश्वके रूपको पुरुषका रूप कहते हैं। वैसा कहा जाय तो रूप प्रकृतिका है, तथापि अधिष्ठाता पुरुष होनेसे और उससे पृथक् प्रकृति न होनेसे अथवा प्रकृति उसीकी शक्ति होनेसे यह विश्वरूप उसी पुरुषका—उसी आत्माका है ऐसा कहते हैं। प्रकृति क्षेत्र कहलाती है और पुरुषको क्षेत्रज्ञ कहते हैं, इनसे संपूर्ण वस्तुमात्र हुआ है। यहां प्रकृतिके साथ पुरुष सर्वत्र, संपूर्ण वस्तुओंमें और संपूर्ण प्राणियोंमें रहता है, यह बात सिद्ध हुई। इसी पुरुषको आत्मा और ईश्वर कहते हैं।

यह आत्मा, परमात्मा अथवा ईश्वर (सर्वेषु भूतेषु समं तिष्ठन्तं) सब भूतोंमें समभावसे रहता है, किसीमें भी विषम भावसे वह नहीं रहता, सर्वत्र समभावसे अवस्थित और विनष्ट होनेवाले वस्तुओंमें भी कभी नाशको प्राप्त नहीं होता, अर्थात् वस्तु टूट गई तो उस कारण वह ईश्वर टूटता नहीं, वस्तु कृश हुई तो उसमें वह कृश नहीं होता और वस्तुका आकार बदल गया तो भी उस कारण इस ईश्वरमें बदल नहीं होता। इसी प्रकार वस्तुका नाश होनेपर भी ईश्वरका नाश नहीं होता। हरएक वस्तुकी हर-एक अवस्थामें वह समभावसे रहता है।

आकाश जैसा किसी स्थानपर कम और किसी स्थानपर अधिक नहीं रहता और सर्वत्र समभावसे रहता है। जलमें रस समभावसे ही

[illegible] जल कोई पात्रमें रखा हो अथवा [illegible] नदीमें रखा हो जलमें रसका प्रमाण एकसा [illegible] सर्वत्र ईश्वर समभावसे रहता [illegible] के अनेक रूपोंमें जैसा सुवर्ण समान रहता है, मिट्टीके घडोंमें मिट्टी जैसी समभावसे रहती है, इसी प्रकार सर्व वस्तुओंमें परमेश्वर समभावसेही रहता है। यही भाव प्रकृतिके साथ पुरुष समभावसे रहा है और प्रकृति पुरुष-मिलि सब वस्तुमात्र बना है, इस कथनमें है। दोनों वर्णनोंमें एकही भाव पाठक देखें।

यह ईश्वरके विश्वरूपकाही स्पष्टीकरण है। हरएक वस्तुमें ईश्वर समभावसे रहा है, अतः ईश्वरनेही हरएक वस्तुका आकार लिया है, अथवा ईश्वरही वस्तुका आकार लिये रहा है, अर्थात् वस्तुका रूप ईश्वरकाही रूप है और सब विश्वका रूपही ईश्वरका विश्वरूप है। प्रकृति-पुरुषकी सर्वत्र सम अवस्थिति, ईश्वरका सर्वत्र सम अवस्थान और विश्वरूपमें परमात्माकी उपलब्धि, इनका अर्थ एकही है। एकही भावके ये तीन वाक्य हैं। पाठक यह आशय इन वाक्योंमें देखें।

वस्तुमात्रके नाश होनेपर ईश्वर सर्वत्र होता हुआ भी नहीं नष्ट होता। यह बात जो देखता है, वही सचमुच देखता है। अन्य लोग आंखें होती हुई भी अंधेही हैं। ईश्वर विषम पदार्थोंमें सम है, भिन्न पदार्थोंमें अभिन्न है, खंडित वस्तुओंमें अखण्डित है, नश्वर पदार्थोंमें अविनाशी, बदलनेवाली सृष्टिमें कभी न बदलनेवाला है। जिसको यह बात प्रत्यक्ष दीखती है वही सत्य देखता है और जिसको यह बात नहीं दीखती वह आंखें धारण करनेपर भी अन्धाही है। प्रायः सभी मनुष्य इस प्रकारके अन्धेही हैं, क्वचित् कोई सत्यको देखता है।

इस तरह सर्वत्र समभावसे अवस्थित ईश्वर-को देखना कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है। योग्य गुरुके समीप जाकर दिव्यदृष्टि प्राप्त करके जो मनुष्य देखेगा, उसको ईश्वरका दर्शन इस प्रकार हो सकता है। परंतु मनुष्य इस प्रकार दर्शन करना चाहते ही नहीं और अन्यान्य उपासनामें मस्त रहते हैं। सरल मार्गपर आते नहीं और टेढे मार्गपर जाना पसंत करते हैं।

यह कोई जनताका दोष नहीं है। जो ज्ञाता हैं उनको चाहिये कि वे उपदेश, प्रवचन अथवा व्याख्यान-संभाषण-द्वारा इस दिव्यदृष्टिका प्रचार करें और सत्य ईश्वरका सत्य स्वरूप लोगोंको समझा दें। यदि प्रचारसे विपरीत ज्ञान बढता है, तो प्रचारसेही सत्यज्ञान बढेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

जिस साधकको इस तरह दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई और जिसने उस दिव्यदृष्टिके द्वारा संपूर्ण अनेक विभिन्न पदार्थोंमें एक अभिन्न परमेश्वरका दर्शन किया, उसका जन्म सफल हुआ समझिये। ऐसा परमात्माका सर्वत्र साक्षात्कार करने-वाला साधक अपने आपको भी उससे अन्य नहीं समझता और उसके साथ अपने आपको अनन्य अनुभव करता हुआ, अपने आत्माको उसीमें-उसीका अंश- देखकर, अपने आत्माको भी वैसाही अजर और अमर अनुभव करता हुआ (आत्मना आत्मानं न हिनस्ति) आत्मासे अपने आत्माका नाश नहीं करता, अर्थात् परमात्माके साथ अपने आत्माको अमर देखता है।

जो ऐसा नहीं देखता वही आत्मघाती है, वही आत्माका नाश करता है, आत्महत्यारा है। क्योंकि वह देहके साथ आत्माका नाश हुआ ऐसा मानता है। यह उसके अज्ञानका फल है। अतः जिसने ज्ञानाग्निसे अपने अज्ञानका नाश किया है, उसका आत्मा परमात्माके साथ सदा अनन्य भावसे संलग्न होनेके कारण अमर होता है। इसीका नाम 'आत्माके द्वारा आत्माकी हिंसा न करना' है। यह अहिंसा सिद्ध हुई तो उसे परम गति प्राप्त होती है, ऐसा कहते हैं। आत्मा अमर बन गया तो वह श्रेष्ठ गतिको प्राप्त हुआ, इसमें क्या संदेह है?

(११) अकर्ता आत्मा।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

(१२) एकमें पृथग्भाव।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

अन्वयः- यः च प्रकृत्या एव कर्माणि सर्वशः क्रियमाणानि (सन्ति इति पश्यति), तथा आत्मानं अकर्तारं पश्यति, सः पश्यति ॥ २९ ॥

जो प्रकृतिद्वाराहि सब कर्म सब प्रकारसे किये जाते हैं और आत्मा अकर्ता है, ऐसा देखता है, वही सत्यको देखता है ॥ २९ ॥

भावार्थ— आत्मा स्वयं कुछ भी नहीं करता, परंतु प्रकृतिहि सब कुछ कर्म करती है ऐसा जो जानता है, वही ठीक ठीक जानता है ॥ २९ ॥

अन्वयः—यदा भूतपृथग्भावं एकस्थं च ततः एव च विस्तारं अनुपश्यति, तदा ब्रह्म संपद्यते ॥ ३० ॥

जब (कोई साधक) प्राणियोंके भेदभावको एकही आधारमें स्थित (देखता है) और उसीसे सबका विस्तार हो रहा है यह भी देखता है, तब वह ब्रह्मको प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

आत्मा सर्वत्र समभावसे है, ऐसा कहनेसे शंका उत्पन्न होती है कि सबके बुरेभले कर्मोंके कारण आत्माको भी कलंक लगता होगा, इसका निवारण करनेके लिये आत्मा निष्कलंक किस तरह रहता है, इसका विवेचन करते हैं। यह सबके लाभके लिये आवश्यक होनेके कारण पाठक इस विषयको ध्यानसे देखें-

(२९) प्रकृतिही सब कर्म करती है, आत्मा केवल देखता है, कर्मोंका कर्ता आत्मा नहीं है, यह जिसको यथावत् अनुभव होता है, उसीको सत्य ज्ञान हुआ है, ऐसा समझना चाहिये। आंख देखता है और कान सुनता है, क्योंकि आंख और कानका यह प्रकृतिस्वभाव ही है। उनकी घटना ही ऐसी है कि वे वह कर्म करें। आत्मा तो सर्वत्र है, आत्माकी शक्ति या उपस्थितिसे कान सुनता हो और आंख देखता हो, परंतु आत्माकी शक्ति होनेपर भी कान देख नहीं सकता और आंख सुन नहीं सकता, क्योंकि उनकी प्रकृति ही वैसी है। इस तरह विचार करनेपर विदित होगा कि सब कर्म प्रकृतिद्वारा ही होते हैं, अतः आत्मा अकर्ता है। इस कारण आत्मा निर्लेप है, निष्कलंक है, और निर्दोष है।

इस तरह आत्माका अकर्ता होनेके कारण निष्कलंक होनेपर उसको ब्रह्मरूपकी प्राप्ति कैसी होती है, इसका विचार आगे बताते हैं। वह इस प्रकार है-

भावार्थ — सब प्राणी भिन्न भिन्न हैं यह प्रत्यक्ष है । इस भिन्न भावका आधार एक अभिन्न सत्त्वमें है और [illegible] सब भेदोंकी उत्पत्ति है । यह जो ठीक ठीक जानता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥३०॥

(३०) इस विश्वमें अनन्त पदार्थ हैं। ये विभिन्न [illegible] पृथक् हैं, ऐसा सामान्य मनुष्य समझता है। परन्तु यह भ्रम है। यह विभेद सत्य नहीं है, यह एकही आत्मासे उत्पन्न हुआ है, उसी एक आत्मासे ये सब अनन्त पदार्थ हुए हैं। अतः यह सब भूतोंका पृथक् भाव एक आत्मामें है और उसी आत्मासे इस पृथक्-भावका विस्तार होता है। जैसा—

जल एक है, उसी एक जलसे अनंत लहरियां उत्पन्न होती हैं, ये जलके आधारसे रहती हैं और जलसे ही फैलती हैं। सूर्य एक है, परंतु उसकी किरणें अनंत हैं, उन किरणोंका आधार एक मात्र सूर्य है, सूर्यसे वे किरण निकलते हैं और उसीसे चारों ओर फैलते हैं। शरीरके अवयव विभिन्न हैं, परंतु उनको शरीरकाही आधार है और वे शरीरसे ही विकसित होते हैं। मनके शुभाशुभ भाव कितने विभिन्न हैं, परंतु वे सबके सब मनमें एकरूप होते हैं, मनसे उत्पन्न होते, मनके साथ रहते और मनसे ही फैलते हैं। अग्निसे चिनगारियां उत्पन्न होती हैं, परंतु उन सबका आधार अग्निही है।

इसी प्रकार सब प्राणिमात्र विभिन्न दीखते हैं, परंतु वे सब एकही आत्मासे प्रकट हुए हैं, सबमें एकही आत्मतत्त्व है और एकही आत्माका यह फैलाव है। जिसके मनमें यह सिद्धान्त स्थिर होता है वह स्वयं ब्रह्मही बन जाता है। क्योंकि जैसे अन्य प्राणी और अन्य पदार्थ ब्रह्मका विस्तार है, वैसाही यह देखनेवाला भी ब्रह्मसे ही फैला हुआ है। यह जो जानता है वह स्वयं अपने आपको ब्रह्ममें देखता है, ब्रह्मके साथ अनुभव करता है, ब्रह्मसे फैलनेका साक्षात्कार करता है और अपने आपको ब्रह्मही जानता है। इस तरहका ज्ञानी अपने आपको ब्रह्मसे भिन्न किस तरह जान सकता है? जब ब्रह्मसे भिन्न दूसरा कोई पदार्थ ही नहीं रहा, तो वह अपने आपको उससे भिन्न दूसरा किस तरह मान सकता है? जिसको सबही ब्रह्मरूप दीखने लगा, उसे अपना रूप पृथक् कैसा दीखेगा?

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।
(ईश० उ०)

'जिस अवस्थामें सब भूत आत्माही हो गये, उस एकत्वका अनुभव करनेवाले ज्ञानीको शोक और मोह कैसे हो सकते हैं?' अर्थात् वह शोक-मोहरहित हो जाता है।

ग्यारहवें अध्यायमें जो विश्वरूपका वर्णन किया है उससे भी यही ब्रह्मरूपता सिद्ध होती है। कोई उससे पृथक् नहीं है और सबही ब्रह्म-रूपमें संमिलित हुए हैं, यह बात जैसी पूर्व अध्यायोंमें वैसी यहां भी कही है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ किंवा प्रकृति-पुरुषके वर्णन करते करते सबकी एकरूपतामें किस तरह प्रवेश करते हैं, यह यहां देखना चाहिये। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, तथा प्रकृति और पुरुष यहां कल्पनाका भेद प्रथम वर्णन किया जाता है, यह तो हरएक का अनुभव ही है। परंतु जैसा जलमें रस, खांडमें मीठास वैसाही यह भेद केवल कल्पनाका ही भेद है। जैसी जलके साथ रसकी एकरूपता है, खांडसे मीठास पृथक् नहीं है, वैसी ही क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञ, प्रकृतिसे पुरुष की अभिन्नता है। ऐसा अभेद माननेपर ही ईशोपनिषद्में (अथवा वा० यजुर्वेद अ० ४० में) कही सब भूतोंकी एकात्मरूपता सिद्ध हो सकती है। एकही ब्रह्मसे सबकी उत्पत्ति और उसीमें सबकी स्थिति होती है, यह देखनेपर

(१३) आत्माकी निर्लेपता।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

अन्वयः— हे कौन्तेय! अयं परमात्मा अनादित्वात्, निर्गुणत्वात्, अव्ययः (अस्ति, अतः सः) शरीरस्थः (सन्) अपि न करोति, न (च) लिप्यते ॥ ३१ ॥ यथा सर्वगतं आकाशं सौक्ष्म्यात् न उपलिप्यते, तथा सर्वत्र देहे अवस्थितः आत्मा न उपलिप्यते ॥३२॥ हे भारत! यथा एकः रविः इमं कृत्स्नं लोकं प्रकाशयति, तथा क्षेत्री कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति ॥ ३३ ॥

हे कुन्तीके पुत्र! यह परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण अविनाशी है, अतः वह शरीरमें होता हुआ भी कुछभी नहीं करता और किसीसे लिप्त भी नहीं होता ॥ ३१ ॥ जैसा सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होनेपर भी किसी तरह कलंकित नहीं होता, वैसाही सब देहोंमें रहनेवाला आत्मा किसी प्रकार कलंकित नहीं होता है ॥ ३२ ॥ हे भारतीय! जैसा सूर्य इस संपूर्ण जगत्को प्रकाश देता है, वैसाही क्षेत्री सारे क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ— परमात्मा अनादि, अविनाशी और निर्गुण है। वह सब शरीरोंमें है, तथापि स्वयं कुछ भी नहीं करता, अतः किसीके कारण कलंकित भी नहीं होता। जैसा आकाश अतिसूक्ष्म और सब वस्तुओंमें व्याप्त होनेपर किसी कारण मलिन नहीं होता, वैसाही सब देहोंमें आत्मा है। तथापि वह मलिन नहीं होता। जैसा सूर्य सब जगत्के वस्तुओंको प्रकाशित करता है, वैसाही वह पुरुष सब प्राकृतिक विश्वको प्रकाशित करता है, परंतु किसीके संसर्गसे मलिन नहीं होता है ॥ ३१-३३ ॥

देखनेवाला स्वयं ब्रह्मही बनता है। ब्रह्मभाव अपनेमें अनुभव करनेका साधन यह है। ब्रह्म स्वयं निर्लेप है, वह निर्लेपता स्वतःसिद्ध है, इसी की विवेचना अब कहते हैं, वह देखिये-

(३१-३३) यह परमात्मा अनादि है, यह किसी समय उत्पन्न हुआ और उससे पहिले नहीं था, ऐसी बात नहीं है, यह सदासे है। यह अव्यय है, अर्थात् यह अनंत है, इसका नाश नहीं होता। इसका आदि नहीं और अन्तभी नहीं है। अतः यह सदासे एकरस है। अव्यय शब्दमें और एक अर्थ है, वह अर्थ यह है कि इसका व्यय नहीं होता, इसमेंसे कुछ भाग व्यय नहीं होता, इसमें कुछ न्यून नहीं होता है, कम नहीं होता है, इसमें क्षीणता नहीं होती। इस तरह यह परमात्मा सदासे एक जैसा रहता है।

[illegible] इस नाम से गुण नहीं हैं। इसमें ये [illegible], अतः इसको निर्गुण कहते हैं। [illegible] इसमें कोईभी गुण नहीं ऐसा [illegible] क्योंकि कोई गुण न होना यह भी एक [illegible] इसलिये निर्गुण शब्दका आशय [illegible] इन तीन गुणोंमेंसे एक भी गुण [illegible] नहीं, ऐसा है।

[illegible] परमात्माका आदि नहीं, इसकी उत्पत्ति नहीं, इसका व्यय नहीं- इसका नाश नहीं- इसमें [illegible] नहीं होती. अतः यह सदा एक जैसा [illegible] एकरस है। इसी तरह इसमें प्रकृतिके [illegible] गुण नहीं हैं। इसमें कुछ उत्तम (सत्त्व), कुछ मध्यम (रज), कुछ कनिष्ठ (तम) भाग है, ऐसा भी नहीं, अर्थात् यह सब अखण्ड एकरस सदा सम है।

यह जैसा शरीरमें है, वैसाही बाहरभी है, यह सर्वत्र व्यापक है, सर्वत्र ओतप्रोत भरा है। कोई वस्तु इसके विना नहीं है।

यह परमात्मा भूतमात्रके शरीरमें है, इस कारण उस शरीरके दोषोंसे वह दोषयुक्त नहीं होता। शरीरमें रहनेपरभी वह न रहनेके समान अलिप्त और अकर्ता है। शरीरसे सब कार्य होते हैं, परंतु उन कार्योंका कर्तव्यसंबंध इस आत्माके साथ नहीं है अतः यह निर्लेप है।

यही बात समझानेके लिये (श्लोक ३२ और ३३ में) उदाहरण देते हैं, वे विचारपूर्वक देखने योग्य हैं। जैसा आकाश सबसे सूक्ष्म है और वह सर्वव्यापक है, वैसाही परमात्मा सबसे सूक्ष्म है और सब विश्वमें व्यापक है। ये दोनोंके समान धर्म हैं। आकाशभी घडेमें रहनेके कारण 'घटाकाश,' घरमें रहनेवाला आकाश 'मठाकाश' कहा जाता है। किसी घडेमें दूध रखा, किसीमें मद्य रखा और किसीमें [illegible] रखा, तो इस कारण उसमें रहनेवाले आकाशको कोई बुरा-भला भाव अथवा लाभ-हानिका भाव नहीं होता। आकाश एक जैसाही निर्लेप और अखण्ड रहता है। घडेकी उत्पत्ति हुई, स्थिति हुई अथवा नाश हुआ, उसमें कुछ रखा या न रखा, तो आकाशकी निर्लेपताके साथ कोई संबंध नहीं आता। घडेमें दूध रखनेपर वह संतुष्ट और गोबर रखनेसे वह असंतुष्ट नहीं होता। घडेके बनने बिगडनेपर आकाशकी स्थितिमें कोई भेद नहीं होता है। इसी तरह एकही परमात्मा चूंटीके देहमें, मनुष्यके देहमें और हाथीके देहमें रहता है। ये देह बनने बिगडनेसे आत्माकी एकरसतामें कोई न्यूनाधिक नहीं होता। इन देहोंसे जो चाहे बन जाय, अच्छे कर्म हों या बुरे हों, आत्मा बिलकुल अकर्ता और निर्लेप रहता है। देह छोटा बाल्यावस्थामें हुआ तो वह आत्मा बाल नहीं होता और देहकी तारुण्य-वार्धक्य अवस्थाओंसे उसकी स्थितिमें कोई भेद नहीं होता। देहोंकी सब प्रकारकी अवस्थाओंमें वह एक जैसाही रहता है।

दूसरा उदाहरण और अधिक मननपूर्वक देखने योग्य है। सूर्यसेही पृथिवी आदि ग्रह बने हैं, पृथ्वीसे चन्द्र बना है अर्थात् सूर्यकेही ये छोटे छोटे टूकडे हैं। पृथ्वी बननेके पश्चात् उसपरके पर्वत नदियां समुद्र वृक्षवनस्पतियां पशुपक्षी और मनुष्य आदि सब बने हैं। अर्थात् परंपरया इन सबकी उत्पत्ति सूर्यसेही हुई है। तथापि इस समय जो तेज सूर्यमें है वैसा किसी अन्यमें नहीं है।

यही सूर्य सब वस्तुमात्रको प्रकाशित करता है। सूर्य तो सूर्यही है, परंतु अन्य पृथिव्यादि पदार्थभी सूर्यकेही अंश हैं, अतः कोई यह भी कह सकता है कि सूर्यही अपने आपको प्रकाशित कर रहा है, तो वह कथनभी सत्यही है। क्योंकि सब लोकलोकान्तर सूर्यकेही अंश हैं, पूर्ण सूर्य अंशरूप सूर्यको प्रकाशित करता है।

(१४) परमपद्प्राप्ति ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अन्वयः— ये एवं ज्ञानचक्षुषा क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरं (ज्ञानं) भूतप्रकृतिमोक्षं च विदुः, ते परं यान्ति ॥३४॥

जो इस तरह अपने ज्ञानचक्षुद्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको और प्राणियोंकी प्रकृतिबंधनसे मुक्ति होनेके उपायको जो जानते हैं, वे परब्रह्मको प्राप्त करते हैं ॥ ३४ ॥

इस लोकमें- इस भूलोकमें कई पदार्थ अच्छे उत्तम कहने योग्य हैं, कई मध्यम हैं और कई निकृष्ट हैं। यह उत्तमता, मध्यमता और निकृष्टता हमने अपनी अपेक्षासे निश्चित की है। सूर्यके वे अंश होनेके कारण सूर्यकी दृष्टिसे उनमें न कोई उत्तम है, न मध्यम और न कोई कनिष्ठ है। मूलतः वे सूर्यकेही अंश थे।

अब सूर्यसे किरण चले और कई किरण उत्तम पदार्थोंपर गिरे, कई मध्यम पदार्थोंपर गिरे और कई निकृष्ट पदार्थोंपर गिरे, तो भी मूलतः यह उत्तम-मध्यम-कनिष्ठता किसी पदार्थमें न होनेके कारण और वह हमने अपनी अपेक्षासे कल्पित माननेके कारण और सूर्यकी दृष्टिसे ये सभी पदार्थ सूर्यके अपने निज अंशही होनेके कारण, सूर्यके किरण किस पदार्थपर गिरनेसे सूर्यको आनन्द होगा और किस पदार्थपर गिरनेके कारण सूर्यको कष्ट होगा, ऐसी बातही नहीं है। क्योंकि वह तो अपने आपपरहि स्वयं प्रकाश रहा है। उसमें हीनता और उत्तमताकी कल्पना तक नहीं है।

अतः कहा है कि जैसा सूर्य सब विश्वको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्री-आत्मा-क्षेत्रका स्वामी-संपूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है। वस्तुतः आत्माही क्षेत्र है, परंतु व्यवहार दर्शानेकी सुबोधताके लिये हमने उसमें यह कल्पना की है। इसी तरह प्रकृति-अर्थात् प्राकृतिक सृष्टिको— यह पुरुष प्रकाशित करता है, परंतु प्रकृति तो पुरुषकी शक्तिही है। क्या शक्ति कभी शक्तिवालेसे पृथक् हो सकती है? पुरुषकी शक्ति ही प्रकृति है।

जैसा बलवानोंका बल, बुद्धिवानोंकी बुद्धि वैसीही पुरुषकी यह प्रकृति है। अतः पुरुष सर्वत्र है और उसकी प्रकृति- उसकी शक्ति- उसीके साथ सर्वत्र है। प्रकृतिसे सब कुछ सृष्टि बन रही है, इसका आशय यही है कि उसीकी शक्तिसे सब कुछ सृष्टि बनी है। अतः इसके सबको प्रकाशित करनेसे इसका न कुछ बनता है और न बिगडता है। जैसी इतनी सृष्टि बननेसे सूर्यका कुछभी बिगडा नहीं है, वैसीहि यहां कल्पना करनी चाहिये।

इस रीतिसे विचार करके पाठक आत्माकी निर्लेपता जानें और वही अपना आत्मा है यह जानकर अपने आपको भी निष्कलंक अनुभव करें और जलमें कमलपत्र रहनेके समान इस संसारमें निष्कलंक होकर विराजें।

इसके पश्चात् परमपदकी प्राप्तिके विषयमें कहते हैं, सो अब एकाग्र होकर सुनिये—

[illegible] ज्ञान-चक्षुसे क्षेत्र और क्षेत्रके जाननेवालेके भेदको जानना चाहिये. और प्राकृतिक बंधनसे [illegible] होती है, इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जो इसको जानते हैं, वे परब्रह्मको प्राप्त होते [illegible]

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए,
योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें **क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग**
नामक तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

---

(३४) ज्ञानचक्षुके द्वारा, दिव्यदृष्टिसे, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके बीचमें जो अन्तर है, जो भेद है, उसको यथावत् जानकर और भूतमात्रकी जो प्रकृति है, जो उसका निज स्वभाव है, उससे मुक्त होनेकी युक्ति भी जानकर, जो मुक्त होनेका यत्न करते हैं, वे परम पदको प्राप्त होते हैं।

ज्ञानचक्षु।

पहिले ज्ञानचक्षु प्राप्त करने चाहिये। ज्ञान क्या है यह इसी अध्यायमें श्लोक ७ से ११ तक कहा है। यह ज्ञान है। यह ज्ञान ही एक प्रकारकी नूतन दृष्टि देता है। उस नूतन और दिव्य दृष्टिको प्राप्त करना चाहिये।

"इस ज्ञानदृष्टिसे गर्व, दम्भ और हिंसा दूर होती है।

शान्ति और सरलता आती है।

पवित्रता, स्थिरता और संयमकी सिद्धि होती है।

सद्गुरुकी कृपा प्राप्त होती है।

भोगोंके विषयमें विरक्ति होती है।

अहंकार दूर होता है।

जन्ममृत्युजराव्याधि-दुःखोंमें जो दोष होते हैं, वे दीखते हैं।

भोगोंपर आसक्ति नहीं होती।

पुत्रस्त्रीगृह इत्यादिके विषयमें असंगवृत्ति स्थिर होती है।

इष्ट-अनिष्ट कुछभी अवस्था प्राप्त हुई तो भी चित्त सम रहता है।

ईश्वरमें अव्यभिचारिणी अनन्यभक्ति होती है।

एकान्तस्थान पसंद होता है, जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि होती है।

एकान्तमें रहकर अध्यात्म-विचार करनेसे आनन्द होता है।

तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाले परम पदका दर्शन होता है।"

ये ज्ञानके लक्षण हैं। इस ज्ञानसे एक प्रकारकी विलक्षण और दिव्य दृष्टि मिलती है। इस ज्ञान-दृष्टिको प्राप्त करना साधकका पहिला काम है।

इस ज्ञानके चक्षुओंसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुषका जो अन्तर है, वह जानना चाहिये। इसमें पूर्वोक्त प्रकार कल्पनागत भेद है, वस्तुगत भेद नहीं, इसका यथावत् ज्ञान मननसे प्राप्त होता है। खांड और मिठासमें कल्पनागत भेद है, जल और रसमें भी कल्पनागत भेद है, बलिष्ठ और बलमें भी वैसाही भेद है। आत्मा और प्रकृतिमें भी आत्माकी शक्तिहि प्रकृति होनेके कारण वैसाही कल्पनागत अन्तर है, वस्तुगत भेद नहीं है। तथापि इस भेदको देखनेसे व्यवहारका साधन अच्छा होता है, इस कारण क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके भेदज्ञानसे उत्तम अनुष्ठान साधन करके, भूत-प्रकृतिसे मोक्ष प्राप्त करनेका भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, जिससे साधकको परम पद प्राप्त हो सकता है।

यह शरीर मेरा क्षेत्र है, शरीर यह मेराही क्षेत्र है, इसमें शुभाशुभ कर्मफलोंका बीजारोपण किया जाता है, इस क्षेत्रका यथायोग्य उपयोग करनेसे यहां अशुभ फलकी उत्पत्तिहि नहीं होगी, यह बात जानकर जो अनुष्ठान करेगा, उसके लिये यह क्षेत्र तारक बन जायगा, यह ज्ञान

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके योग्य विचारसे प्राप्त होता है। ज्ञानदृष्टिसे यह ज्ञान प्राप्त करना और तदनुसार अनुष्ठान करते हुए आगे बढना सब साधकोंको योग्य है। साधन करनेके लिये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी कल्पना अत्यंत उत्तम है।

इसी साधनसे भूतोंकी प्रकृतिसे मोक्ष हो सकता है। भूतप्रकृतिका अर्थ पंच महाभूत और पंच सूक्ष्म भूतोंका स्वभाव है। यही स्वभाव मनुष्यको भोगोंकी ओर खींचता है। इन भूतोंके शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये जो स्वभाव हैं ये ही भोग बनकर जीवको अपने साथ बांध देते हैं। अतः इन भूतप्रकृतियोंसे अर्थात् पंचमहाभूतोंके गुणरूप भोगोंसे मुक्त होनेका साधन जो जानते हैं, वेही उक्त साधनद्वारा परमगतिको प्राप्त होते हैं।

किस तरह इनसे मुक्ति होगी? असंग-वृत्तिसे ही मुक्ति हो सकती है। यह जानकर अनासक्तिसे सब व्यवहार करके साधक परम श्रेष्ठ गति अर्थात् मोक्षको लाभ कर सकता है।

तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥

तेरहवें अध्यायके सुभाषित।

(१) आत्माकी खेती।

इदं शरीरं क्षेत्रमित्यभिधीयते ॥ १ ॥

'इस शरीरको खेत कहते हैं।' यह आत्माका खेत है, इसमें आत्मा जिस प्रकारकी चाहे खेती करके लाभ उठा सकता है। खेतका स्वामी आत्माही है।

(२) खेतका स्वामी।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥१॥

"इस खेतको जो यथावत् जानता है, उसे ही इस खेतका स्वामी समझदार है ऐसा कहते हैं।" प्रत्येक खेतका एक स्वामी होता ही है। परंतु खेतीका कार्य उत्तम करनेवाले स्वामी बहुत ही थोडे होते हैं।

(३) खेतमें बिगाडकी संभावना।

क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

'इस खेतमें बिगाड होनेकी संभावना है, यह बात संक्षेपसे जाननी चाहिये।' खेतका स्वामी सावधान न रहा तो इस क्षेत्रमें अनेक प्रकारके बिगाड होकर खेतीका नाश होगा, अतः खेती करनेवाला सदा दक्ष रहे और अपने खेतमें बिगाड होने न दें।

(४) ज्ञान।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं
तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्त-
मज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

"अध्यात्मज्ञान और तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला जो मोक्ष रूप अर्थ है, इसका प्रत्यक्ष करना इसका नाम ज्ञान है।" अध्यात्मज्ञानसे भिन्न और मोक्षसे विरोधी जो है, वह सब अज्ञान है।

(५) समचित्त।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥९॥

"इष्ट अथवा अनिष्ट इनमेंसे कोई अवस्था प्राप्त होनेपर भी चित्तकी समता स्थिर रखना।" चित्तकी समाधान-वृत्ति हरएक अवस्थामें स्थिर रखनी चाहिये।

(६) सबका पोषण करना।

असक्तं सर्वभृच्चैव ॥ १४ ॥

" स्वयं भोगोंमें आसक्त न होना, परंतु सबका पालन पोषण धारण यथायोग्य करना चाहिये।" स्वयं भोगोंसे निवृत्त होना चाहिये, परंतु सब लोगोंको खानेपीने आदि भोग मिलेंगे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये।

(७) अविभक्त होनेपर विभक्तसा व्यवहार।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् १६

"अन्तर्यामी अविभक्त रहनेपर भी, बाहरके व्यवहारमें विभक्त जैसा आचरण करना।" बाहर विभक्त जैसा व्यवहार करनेपर भी अन्दरसे वस्तुतः अविभक्त ही रहना चाहिये।

(८) समभाव।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

" सब भूतोंमें परमेश्वर सम भावसे रहता है।" ऐसाही साधक सब प्राणियोंके विषयमें समभावना धारण करे।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति
परां गतिम् ॥२८ ॥

' परमेश्वर सर्वत्र समभावसे है, यह जाननेवाला स्वयं आत्मघात नहीं करता और श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है।" जो मनुष्य सबको समभावसे देखता है, उसकी श्रेष्ठता होती है।

(९) पृथग्भावमें एकता।

भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ॥३०॥

" भूतोंके पृथग्भावको भी एकत्वमें आश्रित देखना" चाहिये। प्राणियोंमें भेदभाव कितना भी हो, परंतु उनमें जो एकताका केन्द्र है उसको ही ध्यानमें धारण करना चाहिये।

(१०) निर्लेपता।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥३२॥

'जैसा आकाश सूक्ष्म और सर्वव्यापक होनेपर भी निष्कलंक है, वैसाही आत्मा सब देहोंमें रहनेपर भी कलंकरहित है।' इसी प्रकार साधक सर्वत्र संचार करके भी अपने आपको निर्दोष, निष्कलंक और निर्लेप रखे। सबके साथ संबंध होनेपर भी किसीके दोषसे दोषी न होवे।

(११) प्रकाश दो।

प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री कृत्स्नं प्रकाशयति ॥३३॥

" सूर्य सब लोकोंको प्रकाशित करता है, क्षेत्री संपूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है।" इसी तरह मनुष्य अपने अन्दर प्रकाश बढाकर दूसरोंको देवे।

(१२) श्रेष्ठ गति प्राप्त करो।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥३४

" जो ज्ञानदृष्टि प्राप्त करेंगे, क्षेत्र और क्षेत्री का भेद जानेंगे और पंच भूतोंकी प्रकृतिस्वभाव से अपनी मुक्तता करेंगे, वे श्रेष्ठ गतिको प्राप्त करेंगे।" ज्ञान प्राप्त करो, क्षेत्र और उसका स्वामी इनका परस्पर संबंध ध्यानमें रखो और भोगोंके बंधनसे अपने आपको छुडाओ, इतना करनेसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होगी।

श्रीमद्भगवद्गीताके

तेरहवें अध्यायका मनन।

इस तेरहवें अध्यायमें प्रारंभसे अन्ततक श्री भगवान्‌काही उपदेश अखण्ड धारा-प्रवाहसे चल रहा है। अतः इस अध्यायका महत्त्व उपदेशकी एकरसताकी दृष्टिसे विशेष है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ।

इस अध्यायमें "क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ" का विचार किया है और साधकको अपनी उन्नतिके लिये आवश्यक साधन करनेका उपदेश दिया है। पहिलेहि श्लोकमें कहा है कि (इदं शरीरं क्षेत्रम्)यह शरीर क्षेत्र है और (एतत् यः वेत्ति स क्षेत्रज्ञः) इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। खेत और खेतका स्वामी इनका विचार इस अध्यायमें किया है। इस 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' के विचारको यथावत् जाननेके लिये इनका अर्थ सबसे पहिले समझना चाहिये, वह देखिये। इस समयतक इस आशयको प्रकट करनेवाले जो शब्द आगये हैं, वे ये हैं—

१	सगुण	निर्गुण (गी० १३।३१)
२	तमः	ज्योतिः (गी० १३।१७)
३	जड	चेतन
४	क्षर	अक्षर (गी० ८।३-४)
५	स्थूल	सूक्ष्म (गी० १३।१५)
६	व्यक्त	अव्यक्त (गी० १२।३)
७	प्रकृति	पुरुष (गी० १३।१९-२१)
८	भूत	आत्मा (गी० ६।२९)
	अभिभूत	पुरुष (गी० ८।४)
	सर्वभूत	अहं (गी० ६।३०-३१)
	भूतपृथग्भाव	एकत्वं (गी० १३।३०)
९	देह	देही (गी० २।२२, ३०)
	देह	अधियज्ञः (गी० ८।४)
१०	क्षेत्र	क्षेत्रज्ञ (गी० १३।१-२)
	,,	क्षेत्री (गी० १३।३३)

इस ढंगसे अनेक शब्दोंद्वारा गीतामें प्रकृति-पुरुषकाही भाव व्यक्त किया है। यद्यपि इन शब्दोंमें मुख्यतः एकही भाव व्यक्त होता है, तथापि हरएक शब्दमें अर्थका कुछ न कुछ भेद अवश्य है। यह भेद देखना, यहां अत्यंत आवश्यक है। अतः हम पहिले प्राकृतिक क्षेत्रकाहि विचार करते हैं—

प्राकृतिक क्षेत्र।

प्राकृतिक क्षेत्रमें 'प्रकृति, भूत, देह, क्षेत्र,' ये शब्द मुख्य हैं और 'सगुण, तमः, जड, क्षर, स्थूल, व्यक्त' ये शब्द गौण हैं। इनका अर्थ यह है—

१ सगुण- सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंसे युक्त,

२ तमः- अज्ञान, अन्धकार, ज्ञानग्रहणमें असमर्थ,

३ जड- चैतन्यरहित, स्थिर,

४ क्षर- नाशवान्, चूनेवाला,

५ स्थूल- मोटा, बडे आकारवाला,

६ व्यक्त- प्रकट, दीखनेवाला।

प्राकृतिक वस्तुओंके ये गुण हैं। अपने शरीरमें ये शब्द सार्थही होते हैं। हरएक पाठक इनको अपने देहमें घटाकर देखें। अब शेष चार शब्दोंका अर्थ देखिये—

७ प्रकृति- मूल प्रकृति, पुरुषकी सनातन शक्ति, जिससे विशेष कृति होती है।

४ भूत- प्रकृतिसे बना पदार्थ, बनी वस्तु।
५ देह- प्राणीका शरीर, संचयसे बना।
६ क्षेत्र- खेत, जिसमें फल परिपक्व होता है।

ये शब्द विशेष अर्थके सूचक हैं। इनमेंभी 'भूत' शब्दका अर्थ 'बना हुआ' और 'देह' शब्दका अर्थ 'संचयसे निर्माण हुआ' है। ये शब्द और विशेष महत्त्वकी सूचना नहीं देते। शेष दो ही शब्द रहे हैं, जो विशेष विचार करने योग्य हैं। 'प्र-कृति' शब्दसे 'विशेष कृति करनेका साधन, जिससे विशेष कर्म हो सकते हैं, जिससे अद्भुत पुरुषार्थ किये जा सकते हैं' यह भाव सूचित होता है और 'क्षेत्र' शब्दसे 'खेत, जो जिसमें बीज बोया जा सकता है, खेतका स्वामी जो चाहे वृक्ष इसमें लगा सकता है और उसके फल प्राप्त कर सकता है।' यह आशय व्यक्त होता है।

प्रकृति और क्षेत्र।

इस विवरणसे पाठकोंको पता लग सकता है कि, 'प्रकृति और क्षेत्र' ये दो शब्द विशेषहि महत्त्वका उपदेश दे सकते हैं। ये दोही शब्द (गी० १३।१-३; १९-२१) मुख्यतया यहां इस तेरहवें अध्यायमें प्रयुक्त किये गये हैं। इसका स्पष्ट उद्देश्य यही है कि, यह साधक अपने देह-रूप साधनसे विशेष कृति करे और श्रेष्ठ बने तथा देहरूप क्षेत्रमें ऐसे बीज बोवे कि, उससे उत्तम फल तैयार होकर इसे मिले।

इस क्षेत्रमें जो बीज बोया जाय, वैसेही फल इस साधकको मिलेंगे, यह निश्चय है। यदि इसको दुःख हो रहा है, तो निश्चय जानिये कि इसने बुरा बीज बोया था। आगे सावधान रहे और प्रयत्न करके अच्छा बीज बो देवे, जिससे इसको अच्छे फल मिलेंगे और आनन्द प्राप्त होगा। सुखदुःखका हेतु कोई दूसरा नहीं है। अपने खेतमें बाजरा लगानेपर आम नहीं मिलेंगे, यह ध्यानमें रखना चाहिये।

क्षेत्रका महत्त्व।

केवल एक 'क्षेत्र' शब्दसे कितना सीधा मार्ग उन्नति करनेके लिये सामने खडा होता है, यह देखिये। साधक समझे कि यह मेरा खेत है, इसमें जो चाहे बीज मैं डाल सकता हूं और इस क्षेत्रको अधिक उपजाऊ बनाकर बहुत अच्छा फल प्राप्त कर सकता हूं। यह आशा हर-एक साधकको देनेके लियेही यहां 'क्षेत्र' (खेत) शब्दका प्रयोग इस अध्यायमें किया है।

अपना एक खेत है, ऐसी कल्पना करनेसे आगेकी कल्पना आपही आप हो जाती है और अपना कर्तव्य स्पष्ट रूपमें सामने आ जाता है। खेतमें भी उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ प्रकारकी भूमि रहती है, वैसा यहां सात्त्विक, राजस और तामस देहप्रवृत्तिसे तीन प्रकारका यह क्षेत्र होता है। निकृष्ट खेतको उत्तम प्रयत्न और उत्तम खाद आदि द्वारा उत्तम बनाया जा सकता है, इसी तरह यहां तामस प्रकृतिको तपस्या यम-नियमपालन, योगसाधन, उपासना आदि द्वारा सात्त्विक प्रकृतिमें रूपान्तरित किया जा सकता है। जैसी उत्तम जलसे उत्तम कृषि होती है, उसी प्रकार यहां उत्तम जीवनसे उत्तम फल प्राप्त हो सकते हैं। जैसे उत्तम कृषिसे धनधान्यसंपन्नता हो सकती है, उसी प्रकार यहां भी इस कुरुक्षेत्रमें किये शुभ यज्ञीय धर्म-कर्मसे शुभ फल अवश्य प्राप्त हो सकते हैं।

यहांका 'क्षेत्र' शब्द इतना उत्तम उपदेश दे रहा है और अपनी सच्ची उन्नतिका साधन अपने हाथमें है, यह बात स्पष्ट कर रहा है। पाठक इसका विचार करें और अपना भविष्य स्वयं अपने हाथसे जैसा चाहिये वैसा घडनेका प्रयत्न करें।

पुरुषका सामर्थ्य।

क्षेत्रका विचार किया, अब पुरुषका विचार

करना चाहिये। यह पुरुष कैसा है? इसका उत्तर इसके वाचक शब्द दे रहे हैं। यह पुरुष 'निर्गुण' है अर्थात् गुणोंसे मुक्त है, गुणोंसे-रस्सियोंसे बंधा नहीं है, स्वतंत्र है, बंधनरहित है। यह पुरुष 'ज्योतिः' स्वरूप है, प्रकाशयुक्त है, अतः यह अपना उन्नतिका मार्ग स्वयं देख सकता और दूसरोंको दिखा सकता है। 'चेतन' होनेसे प्रेरणा कर सकता है और ज्ञानी हो सकता है। 'अक्षर' होनेसे यह अविनाशी है। सूक्ष्म और अव्यक्त है, अतः सर्वत्र निष्प्रतिबंध गमन कर सकता है। यह 'पुरुष' है (पुरि+वस= पुरुषः) अतः अपनी पुरिमें वसता है, अपने क्षेत्रमें रह सकता है। 'आत्मा' (अतति) होनेसे यह सर्वत्र गमन करके अपने क्षेत्रका यथायोग्य निरीक्षण कर सकता है। 'अहं' (अ-हीन) इसका नाम होनेसे यह हीन नहीं है, यह पूर्ण उच्च है। 'एक' होनेसे इसका कोई वैरी नहीं है, यहां दूसरा कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है, जो इसको दबावे, यह एक होनेसे क्षेत्रका पूर्ण स्वामी यही है। 'देही' और 'क्षेत्री' ये दो शब्द यह अपने क्षेत्रका पूर्ण स्वामी है, यह भाव बताते हैं। 'अधि-यज्ञ' शब्द यह सर्व-पूज्य होनेका आशय बता रहा है और 'क्षेत्र-ज्ञ' शब्द अपने खेतको सब प्रकारसे यह जान सकता है, यह भाव व्यक्त कर रहा है।

ये सभी शब्द महत्त्वके हैं और साधकके कर्तव्य बताते हैं। परंतु इन सबमें 'क्षेत्र-ज्ञ' शब्द सबसे अधिक उच्च भाव व्यक्त कर रहा है। यह 'अपने खेतको जाननेवाला' है। अन्य शब्द अच्छा उपदेश दे रहे हैं। इसमें संदेह नहीं, प्रत्युत यह शब्द इसकी योग्यता निःसंदेह सिद्ध कर रहा है कि, 'यह स्वयं अपने खेतको उत्तम रीतिसे जानता है, इसमें कौनसा बीज कैसा बोना चाहिये, किस समय कैसा जल देना चाहिये, घास आदि कैसे हटाना चाहिये, किस समय धान्य और फल तैयार होता है, वह किस समय कैसा लाना चाहिये और उस प्राप्त फलका उपयोग कैसा करना चाहिये' इत्यादि सब खेती करनेवालेके कर्तव्य इसे उत्तम प्रकार ज्ञात हैं। यह आशय 'क्षेत्रज्ञ' शब्दमें है। यदि किसीको अपने खेतका यथावत् पता नहीं है, तो उसे वह प्राप्त करना चाहिये। यदि वह प्राप्त करना चाहे, तो उसे वह ज्ञान हो सकता है। यह विश्वास इस शब्दने यहां साधकको दिया है। इस कारण इन सब शब्दोंमें 'क्षेत्र+ज्ञ' शब्द अत्यंत महत्त्वका है।

'प्रकृति-पुरुष' वाचक सब शब्दोंमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' ये ही दो शब्द निश्चित पुरुषार्थ सिद्धिके सूचक होनेसे मुख्य हैं। साधक अपनेही प्रयत्नसे सिद्धिको प्राप्त कर सकता है, यह स्पष्ट भाव इन शब्दोंसे बताया है। खेतका यह स्वामी है, खेत इसके अधिकारमें है, यह प्रयत्न करे, बीज बोवे और फल प्राप्त करे।

'मैं स्वतंत्र हूं, अपना क्षेत्र मेरे पास है, मैं खेती करूंगा तो धान्य प्राप्त होगा, नहीं करूंगा तो भूखा रहना पडेगा' यह व्यवहारका सरल तत्त्वज्ञान यहां बताया है। पाठक इसका अधिक विचार करें और अपना कर्तव्य जानें।

'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही सत्य ज्ञान है' (श्लो० २) क्योंकि साधककी सिद्धि और असिद्धि इसीपर निर्भर है।

खेतकी परीक्षा।

खेत अपने अधीन होनेपर (यत् च याटक् च) इस क्षेत्रकी मर्यादा कौनसी है, खेतकी जाति कौनसी है, भूमि उपजाऊ है वा निकृष्ट भूमि है, उत्तम भूमि है वा पथरीली है, (यद्विकारी) इस खेतमें विकार-रोग-कौनसे होते हैं, इसमें विघाड कैसा हो सकता है और पुनः सुधार कैसा हो सकता है, (यतः च यत्) किस कारणसे कौनसा कार्य यहां हो सकता है, क्या करनेसे शुभ होगा और किस तरह करनेसे

[illegible] अनिष्ट होगा। यह सब बातें [illegible] स्वामीको जाननी चाहिये। अपने खेतकी [illegible] परीक्षा करना प्रत्येक स्वामीका कर्तव्य [illegible] (श्लो० ३)

[illegible] क्षेत्रकी परीक्षा करनेकी कसौटियां गीता अध्याय १४ से १८ तक सत्त्व–रज–तम–विवेकसे दी हैं। साधक इन कसौटियोंसे अपनी परीक्षा करें और अपना खेत किस योग्यताका है, इसका निश्चय करें और इस आत्म–परीक्षासे यदि हीन योग्यताका क्षेत्र है, ऐसा निश्चय हुआ तो साधक हताश न हो, परंतु योग्य तपस्यादि साधनसे अपने खेतको अधिक उपजाऊ बनावे। प्रयत्न करनेपर निकृष्ट खेतको भी उत्तमसे उत्तम बनाया जा सकता है, अथवा उस भूमिके योग्य बीजकर बोध अधिकसे अधिक लाभ उठाया जा सकता है। अतः हरएकको अपने खेतकी परीक्षा करनी चाहिये।

अनेक ऋषि-मुनियोंने इस खेतका बहुत ही वर्णन किया है। विविध ऋषि अनेक छन्दोंमें कुशल थे। इसी तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे निर्विचिकित्सा करनेवाले अनेक मुनि हो गये हैं। उन्होंने अनेक हेतु दर्शाकर इस क्षेत्रकी महत्ता विविध प्रकारसे वर्णन की है। इस तरह प्राचीन ज्ञानी इस क्षेत्रका वर्णन करते रहे हैं, उसको देखनेसेभी इस खेतकी योग्यता सहजहीसे ज्ञात हो सकती है। (श्लो० ४)

क्षेत्रका स्वरूप।

यहां तक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपका विचार किया और इससे जो बोध मिलता है, उसको देखा। अब क्षेत्रमें किसका समावेश होता है, इसका विचार करना है। इसका विचार इस अध्यायके श्लोक ४ और ५ में किया है। यहां जो क्षेत्रका स्वरूप बताया है वह यह है—

१ पंचमहाभूत– पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत, पांच तत्त्व (५)

२ अहंकार– 'अहं' (मैं) ऐसा जो कहना है, यह वैयक्तिक सत्ता स्थिर रखता है। इससे एक वस्तुकी दूसरी वस्तुसे पृथक् सत्ता स्थापित हो रही है। (१)

३ बुद्धि— ज्ञानग्रहणशक्ति, ज्ञानशक्ति (१)

४ अव्यक्त– प्रकृति, मूल प्रकृति (१)

५ ग्यारह इंद्रियगण– पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेंद्रिय। नाक, जिह्वा, नेत्र, त्वचा और कान ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं और हाथ, पांव, मुख, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। मन ग्यारहवाँ इंद्रिय है। (११)

६ पांच विषय– शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच भोगविषय हैं। पांच ज्ञानेंद्रियोंसे इन पांच विषयोंका ग्रहण होता है।

कान से	शब्दका	ग्रहण होता है।
त्वचा ,,	स्पर्शका	,, ,,
नेत्र ,,	रूपका	,, ,,
जिह्वा ,,	रसका	,, ,,
नाक ,,	गंधका	,, ,,

येही भोग हैं और इनके भोगसे ही मनुष्य भोगी होकर बद्ध होता है। (५)

७ इच्छा– वासना, आकांक्षा, भोग प्राप्त करनेकी मनीषा (१)

८ द्वेष— शत्रुत्व, दूर करनेकी मनीषा (१)

९ सुख— (सु+ख) जिससे इंद्रियको समाधान मिलता है। (१)

१० दुःख— (दुः+ख) जिससे इंद्रियको समाधान नहीं होता। (१)

११ संघात– समूह बनाकर रहनेकी चाह, जैसा शरीर और इंद्रियोंका संयोग, संघात है। (१)

१२ चेतना–चैतन्य, हलचल, प्रयत्न, ज्ञानपूर्वक प्रयत्न (१)

१३ धृति—धारणाशक्ति, सबको आधार देकर संभालनेकी सामर्थ्य (१)

यह ३१ प्रकारका विकार होनेवाला क्षेत्र है। इसमें विकार इस प्रकार होते हैं। विकारका अर्थ विगाड है। इन क्षेत्रविभागोंमें जो विकार होते हैं, वे इस तरह होते हैं—

क्षेत्रके विकार।

पंचमहाभूतोंमें पार्थिव भाग और जल भाग एक दूसरेके साथ मिलनेसे, अथवा जलवायुके संयोगसे सडान शुरू होती है, सूर्यकिरणोंसे पृथ्वीपर शुष्कता होती है, वायु भी सबको सुखा देता है। इस तरह अनेक प्रकार इनमें विकार होते हैं। वृक्षवनस्पति, तथा पशुपक्षियोंके शरीर बनते हैं, बढते हैं और बिगडते भी हैं। यह भी पांचभौतिक विकार ही है। एक दूसरेके साथ मिलनेसे अनंत विकार होते हैं, इन विकारोंका शास्त्र ही रसायनशास्त्र है।

बुद्धिमें विकार होते हैं, कई लोग दुष्ट बुद्धिवाले होते हैं। बुद्धिकी दुष्टता एक बडा भारी विकार है। (बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति। मनु) बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है। अर्थात् इसके विकार ज्ञानसे दूर होते हैं।

अव्यक्त-मूल प्रकृति- महत्तत्त्व- अहंकार इनमें विकार होकर सब सृष्टि होती है, सृष्टिमें भी अनंत विकार हो रहे हैं। यह बात यहां दुबारा कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

ग्यारह इंद्रियोंमें विविध विकार, रोग, आघात आदि होते हैं, यह बात मनुष्यके अनुभवकी है। इन रोगोंके निवारण के लिये आयुर्वेदकी रचना हो गयी है, इनमें विकार होनेकी बात सिद्ध होती है।

शब्दस्पर्शमें विविध विकार होनेकाभी अनुभव मनुष्यको है; विकृत शब्द, विकृत गंध, विकृत रूप मनुष्यके सामने आते हैं। इसी प्रकार इच्छा-द्वेषादिमें भी अनंत विकार हैं, यह बात थोडासा विचार करनेसे हरएक पाठक जान सकता है।

अतः यह सब क्षेत्र 'स-विकार' अर्थात् विकार होनेवाला, विकृत बननेवाला, विगडनेवाला, परिवर्तन होनेवाला है, ऐसा यहां कहा है। साधक इस अपने क्षेत्रको विकारवान् जानें और उसमें विकार कम होने योग्य अपनी खेतीका कार्य करें।

खेतमें धान्यके साथ घास उगता है, अवृष्टि अतिवृष्टिसे हानि होती है, अनेक धान्यके रोग होकर विगाड होता है, इस तरह अनेक विकार होनेका अनुभव खेती करनेवालोंको है। उसी प्रकार इस अध्यात्म क्षेत्रमें भी अनेक विकार होते हैं और यहांकी अध्यात्मकी कृषिका विगाड होता है यह साधकको जानना और यह विगाड अपने खेतमें न होनेके लिये सावध रहना चाहिये।

'मेरे इस अध्यात्म क्षेत्रके पंचमहाभूत, उनकी तन्मात्रा, ग्यारह इंद्रिय, इंद्रियोंके भोगविषय, ये विकाररहित हों, मेरा मन, मेरी इच्छा और मेरे प्रयत्न दोषरहित हों, मैं यहां ऐसा आचरण करूंगा कि, मेरे आचरणसे यहां किसी प्रकार भी विगाड उत्पन्न न होगा। मैं सावधान रहकर यहांकी आध्यात्मिक खेती करूंगा और मोक्षरूप फल यहांसे ही प्राप्त करूंगा।' इस प्रकारकी आकांक्षा साधक मनमें धारण करे। जो साधक इस तरह सावध रहेगा, उसके क्षेत्रमें विकार नहीं होंगे। विकार न होनेसे उसका खेत उत्तम रीतिसे फूलेगा और फलेगा। ऐसी सफल खेती करना इसके अधीन है।

इतने विवरणसे पाठकोंके ध्यानमें बात आगई होगी कि, इस क्षेत्रका इतना विवरण करनेका

[illegible] हुआ है । जो साधक इस क्षेत्रको यथार्थ जानेंगे और अपने आपको ' क्षेत्री ' अर्थात् क्षेत्रके स्वामी तथा ' क्षेत्र-ज्ञ ' इस क्षेत्रके ज्ञाता जानेंगे, क्षेत्रका उपयोग करनेकी विद्या को यथावत् प्राप्त करेंगे, उनके लिये यह क्षेत्र [illegible] होगा । उनको असीम आनन्द मिलेगा और परम श्रेष्ठ स्थान प्राप्त होगा ।

साधकोंके पुरुषार्थपर उनकी सिद्धि अवलंबित है, वे साधक पुरुषार्थ करनेके लिये स्वतंत्र हैं, यह बात यहां सिद्ध हो गई है । और यही बात बतानेके लिये उनका शरीर क्षेत्र है और साधक स्वयं उस क्षेत्रके स्वामी हैं, यह उपदेश यहां कहा है ।

ज्ञानका परिणाम ।

साधक और उनका कार्यक्षेत्र इसका इतना विचार करनेके पश्चात् अब साधकको जो ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, वह कहते हैं । यह ज्ञान साधकको प्राप्त होनेसे, इस ज्ञानसे साधकको क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका निश्चय हो सकता है । अतः इसका विचार यहां विशेष करना चाहिये ।

यहां श्लोक ७ से ११ तक जो कहा है, उसको (एतत् ज्ञानं) 'ज्ञान' कहा है, परंतु विचार करनेसे पता लगेगा कि सत्य ज्ञानसे साधकके मनमें यहां कहे भाव स्थिर होते हैं और सत्य ज्ञान न होनेसे इसके विपरीत भाव होते हैं ।

' सब कुछ वासुदेव है ' (गी० ७।१९); ' नवधा प्रकृति ईश्वरकी प्रकृति है, जिससे सब कुछ विश्व बना है । ' (गी० ७।४-६) 'विश्वका सब रूप ईश्वरकाही है और उस विश्वरूपमें मेरा रूप संमिलित है, इस लिये मैं उससे अभिन्न हूं, मैं उससे अनन्य हूं । ' (गी० अ० ११) इसीका नाम ज्ञान है । इस ज्ञानका उपदेश द्वितीय अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक किया है । इस ज्ञानकी मनमें स्थिरता होनेसे जिसका मन अनन्य भावसे परिशुद्ध हुआ है, उसके मनमें ' अमानित्व ' आदि भाव स्थिर होते हैं । इस ज्ञानी पुरुषका अनन्यभावयुक्त मन इन निम्नलिखित भावोंसे युक्त होता है—

१ अहिंसा ।

ज्ञानी पुरुष अहिंसा-वृत्तिवाला होता है । वह समझता है कि, सब विश्व अखण्ड एकरस है, उससे मैं अभिन्न हूं, मैं उससे अनन्य हूं, अतः इसमेंसे किसीकी हिंसा की, तो वह मेरीहि हिंसा होगी । हिंसाभावसे समाज स्थिर नहीं रह सकता। सब प्राणियोंको अभय होना चाहिये। जिस समाजमें निर्भयता रहती है, वही समाज कुछ प्रगति कर सकता है । ऐसा विचार करके ज्ञानी पुरुष (मत्तः सर्वेभ्यः अभयं) ' मुझसे सबको मैं अभय दिया है ' ऐसा कहकर पूर्ण अहिंसाशील होता है ।

परंतु जो अज्ञानी है, वह कहता है कि, 'मैं हि भोक्ता हूं, दूसरोंका घातपात करके मैं भोग भोगूंगा । दूसरोंका नाश करूंगा, दूसरोंको लूटूंगा और मैं अपने भोग बढाऊंगा ।' इस तरह अज्ञानसे हिंसा करनेकी वृत्ति बढती है और विश्वमें अशांति बढती है । विश्वमें लूट, दंगे, फिसाद, युद्ध, घातपात बढते हैं और किसीको भी अपने जीवितकी सुरक्षितता नहीं रहती । अज्ञानसे ऐसे अनर्थ होते हैं ।

इस लिये सत्य ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये और अहिंसाशील मनोवृत्ति बनानी चाहिये ।

२ अमानित्व ।

मानी न होना, अपना बडापन दिखलानेकी जिसे इच्छा नहीं होती, लोगोंमें अपना महत्त्व स्थापित हो जाय ऐसी महत्त्वाकांक्षा जिसे नहीं होती, लोग मेराही सत्कार करें और किसीका न करें, ऐसी जिसमें इच्छा नहीं होती, उसको ' अमानी ' कहते हैं । अपने अन्दर विद्या, ज्ञान,

चातुर्य आदि श्रेष्ठ गुण रहनेपर भी, तथा अपनी योग्यता विशेष रहनेपर भी जो अपना दिखावा बढानेका यत्न नहीं करता, उसमें 'अमानित्व' गुण है, ऐसा कह सकते हैं। जो ज्ञानी होते हैं, वे अमानी होते हैं।

परंतु जो अज्ञानी होते हैं, जिनमें सत्य ज्ञान नहीं होता, वे अपना बडापन अत्यधिक दिखानेके लिये यत्न करते हैं, हरएक स्थानमें आगे आगे बढते हैं, अपनेको प्रमुख स्थान मिले, इस के लिये प्रयत्नकी पराकाष्ठा करते हैं और अपनी योग्यता न होनेपर भी बडे स्थानपर जाकर बैठनेका यत्न करते हैं। इससे वह कार्य बिगडता है और इनकी भी अप्रतिष्ठा होती है।

३ अदम्भित्व।

दम्भ न होना, दम्भ न करना ज्ञानीका लक्षण है। दम्भ का अर्थ है। मिथ्याचार अपने अन्दर जो धर्मभाव नहीं है, वह है ऐसा जो बताना है, उसका नाम दम्भ है। स्वयं योगाभ्यास न करते हुए 'मैं योगी हूं' ऐसा बताना और योगका उपदेश करना दंभ है। स्वयं साक्षात्कारी न होते हुए अपने आपको साक्षात्कारी बताना दम्भ है। अज्ञानी हि दम्भ करते हैं। ज्ञानी दम्भसे हानि होती है, यह देखकर दंभ कभी नहीं करते। दम्भसे जनता फंसती है, मोहित होती है और दुष्टके पीछे पडकर फंस जाती है। दम्भसे ऐसा अनर्थ होता है, यह देखकर ज्ञानी सदा दम्भसे दूर रहते हैं और जो अन्दर रहता है, वही बाहर बताते हैं। दम्भी लोग बाहरका बडा आडम्बर रचते हैं और जनताको ठगाते हैं। अतः दम्भी अज्ञानी होता है और ज्ञानी कभी दम्भ नहीं करता।

४ आर्जव–सरलता।

ज्ञानी सरलस्वभाव होता है। उसमें कुटिलता नहीं होती। जैसा सरल करना होता है, वैसाही ज्ञानी करता है और कहता है। सरलता और नम्रता ज्ञानीमें सहज स्वभावसे रहती है। इसके विरुद्ध ज्ञानहीन मनुष्य कुटिल होता है, कपट करता है, ठगाता है। बोलता है एक और करता दूसरा ही है।

जैसा फूले हुए फूलका सुगंध सहजहीसे फैलता है, वैसा ज्ञानीका सरल स्वभाव आपही आप जनताके अनुभवमें आता है। वह अपना सरल मत सहजहीसे विनासंकोच प्रकट करता है। जिसमें लोभ, कपट और तेढापन नहीं होता, विनय और नम्रता जिसमें अत्यंत है, जो संदेहरहित भाषण करता है। अन्तःकरणमें एक और बाहर एक ऐसा भाव जिसमें नहीं होता, वह सरल स्वभावी होता है। ज्ञानकी पूर्णतासेही मनुष्य ऐसा होता है।

परंतु जिसमें सत्य, शुद्ध ज्ञान नहीं है, वह कपटी, कुटिल, लोभी, तेढा, अभिमानी घमंडी होता है। इसका यह स्वभाव इसके आचरणमें दीखता है। यह अज्ञानकाही प्रभाव है।

५ क्षान्ति, क्षमा।

'क्षान्ति' का अर्थ 'क्षमा' है, क्षमाका आशय भी सहन करनेका सामर्थ्य है। दूसरोंने अपने अपराध किये तो उनका प्रतिकार न करना, क्षमाका एक आशय है। और धर्मकार्य करनेके समय होनेवाले कष्टोंको सहन करनेका सामर्थ्य भी क्षमाके अर्थोंमें आता है। ज्ञान होनेके पश्चात् मनमें अनन्य भाव स्थिर होता है। इस कारण जिसे दूसरा कहा जाय वैसा कोई रहता ही नहीं, इस लिये जो अपराध दूसरेके द्वारा होते हैं, उनमें भी अपना भाग है, ऐसा प्रतीत होता है। अपनी अपूर्णताके कारण उसमें अपूर्णता रही, अतः उसके दोष मेरी अपूर्णताके कारण हुए ऐसा सिद्ध होता है। ऐसा माननेवाला मनुष्य दूसरेको कैसा दण्ड दे सकता है? वह दण्ड करेगा तो अपनेकोहि करेगा और दूसरोंको क्षमाही करेगा। इसलिये ज्ञानी आत्म-

दण्डन करता है और दूसरोंके विषयमें शान्ति धारण करता है।

इसके विपरीत ज्ञानहीन मनुष्य दूसरोंका दोष देखतेही क्रुद्ध होता है, चिडता है, आक्रोश करता है, दूसरोंको पीडा देता है। इस तरह जगत्में अशान्ति उत्पन्न करता है। यह स्वयं अशांत होकर दूसरोंको भी अशान्त करता है। सहनशीलता तो इसमें रहतीहि नहीं। अशान्ति और परपीडन ये भाव अज्ञानके कारण वढते हैं और जगत्में अशान्तिको वढाते हैं।

६ आचार्योपासना।

सद्गुरुकी सेवा ज्ञानी करता है, सद्गुरुसे ज्ञान प्राप्त होता है, इस लिये वह उसकी भक्ति करता है, सेवा करता है और ज्ञानकी प्राप्ति इससे उसको होती है। ज्ञानसे भक्ति वढती है और भक्तिसे ज्ञान वढता है। इस तरह एक दूसरेकी वृद्धि होकर वह साधक पूर्ण ज्ञानी होता है।

यहां 'आचार्यकी उपासना' शब्द है। 'आचार्य' उसका नाम है कि जो (आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान्। निरुक्त) सदाचार का ग्रहण कराता है, सत्य अर्थोंका संग्रह करके शिष्यको देता है। यह सदाचार है, यह दुराचार है, सदाचारके ग्रहणसे ये लाभ हैं, दुराचारसे ये हानियां हैं, ऐसा समझाकर जो अपने शिष्योंको सदाचारी बनाता है, उस आचार्यकी योग्यता बहुत बडी है। गुरु और अध्यापक विद्या पढाते हैं, परंतु आचार्य विद्या पढानेके साथ साथ सदाचारकी शिक्षा देता है। ऐसे आचार्यकी सेवा शुश्रूषा करना अथवा उसकी सत्संगतिमें रहना जो शिष्य करते हैं, उनको सत्य ब्रह्मज्ञान मिलता है और उनके जन्मकी सफलता होती है। इस तरह ज्ञानीका व्यवहार है।

ज्ञानहीन लोग गुरुसे लडते हैं, उनसे असहकार करते हैं, उनकी निन्दा करते हैं। गुरुभक्ति उनमें नहीं होती, अतः वे सत्यज्ञानसे वंचित रहते हैं।

७ शौच-पवित्रता।

इस पवित्रताका संबंध केवल शारीरिक स्वच्छताके साथही नहीं है। बुद्धि, मन, इंद्रियां, शरीर, घर, ग्राम आदि सबकी स्वछता और निर्मलता यहां अभीष्ट है। वाणीकी पवित्रता, विचारोंकी शुद्धता, कल्पनाओंकी निर्मलता, व्यवहारकी पवित्रता, आचारकी निष्कलकता, रहनसहनकी स्वच्छता, व्यापारधंदोंकी शुचिता इन सबका इसमें समावेश होता है। जिस समय मानवी आचार व्यवहारमें यह पवित्रता पूर्ण रूपसे सिद्ध होगी, उस समय मनुष्यसमाज उच्च स्थितिमें अथवा आदर्श अवस्थामें रहेगा। यही आदर्श समाज-स्थिति अतिशीघ्र व्यवहारमें लानेके लिये प्रयत्न होना चाहिये। ज्ञानसेही यह समाज-स्थिति सिद्ध हो सकती है।

जिस समाजमें सत्य ज्ञान नहीं है, उस समाजके लोगोंमें अपवित्र विचार होते हैं, उनकी भाषा अमंगल होती है, व्यवहार अशुद्ध होते हैं, कल्पनाएं मलिन होती हैं, आचारविचार कलंकित होते हैं, रहनसहन अपवित्र होता है, व्यापारधंदोंमें तेढापन और दूसरोंको ठगानेकी अपवित्र बुद्धि होती है। इस समाजमें किसीको भी सुख प्राप्त होनेकी आशा नहीं है। दूसरेको ठगाकर कोई एकाध मनुष्य धनवान् या क्षणमात्र सुखी हुआ है ऐसा दीखेगा, तथापि चिरस्थायी सुख अशुचि व्यवहारसे मानवोंको प्राप्त होना असंभव है। इसीलिये शुचिताका अन्तर्भाव ज्ञानमें किया है।

८ स्थैर्य-स्थिरता।

चञ्चलताका अभाव, स्थिरता, एक कार्यमें स्थिर रहना, एक छोडना और दूसरा करना, दूसरा छोडकर तीसरा शुरू करना, ऐसा न करना, परंतु एकही शुभ कार्य शुरू करना और

उसीको अन्ततक पहुंचाना, यह ज्ञानसेही हो सकता है । ज्ञान-हीन मनुष्य चञ्चल, अस्वस्थ, अस्थिर बुद्धिवाला होता है । अस्थिरतासे हानि और स्थिरतासे लाभ होता है ।

कोई मनुष्य कुछ व्यापार करता है, यदि उसका वचन विश्वास रखने योग्य स्थिर न रहा, तो व्यवहारमें उसपर कोई विश्वास नहीं रखेगा । और उस कारण उसकी व्यवहारमें असफलता रहेगी । जो अपने वचनपर स्थिर रहेगा वही व्यवहारमें सफल होगा ।

स्थैर्यका अर्थ शरीरकी स्थिरता, जो बलके कारण होती है, है । बलसे मनुष्य अपने स्थानमें स्थिर रहता है, निर्बलही डरसे चंचल होता है, शिथिल होता है और अपना कार्य कर नहीं सकता, न अपने स्थानमें ठहर सकता है। अस्थिरता निर्बलताकी सूचक है और स्थिरता बलशाली होनेकी सूचक है। इसी लिये यहां कहा है कि ज्ञानसे बल प्राप्त करके अपने स्थानपर स्थिर रहना चाहिये । युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये युद्धमें अपने स्थानमें स्थिर रहना चाहिये, ' युधि-ष्ठिर ' का ही ' विजय ' होगा । स्थिरताका ज्ञानके साथ संबंध बडा घनिष्ट है क्योंकि ज्ञानसेहि संसार-युद्धमें विजय प्राप्त होता है ।

९ आत्म-वि-नि-ग्रह ।

ज्ञानसे आत्म-विनिग्रह किया जा सकता है । आत्मविनिग्रहका अर्थ अपना विशेष निग्रह अर्थात् संयम । अपना विशेष प्रकारसे संयम करना ज्ञानसेहि सिद्ध हो सकता है । आत्म-संयम, मनोनिग्रह, इंद्रियदमन यह मानवी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है । इस संयमके विना मनुष्यकी उन्नति असंभव है ।

ज्ञानरहित मनुष्य स्वैराचार करता है, अपने इंद्रियोंको स्वैर छोडकर दुष्ट व्यसनोंमें फंसाता है, इससे न केवल उसीका अहित होता है, प्रत्युत उसके वंशजोंको भी रोगी होना पडता है । व्यभिचारी मनुष्य उपदंशादि रोगोंसे पीडित होता है, इससे उसको पीडा तो होतीहि है, परंतु उसके अस्थिगत रोग उसकी संतानोंको भी पीडा देते हैं । स्वैराचारका हानिकारक परिणाम इसी लोकमें प्रत्यक्ष दीखता है । भोजनके स्वैराचारसे अजीर्ण होता है, इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंके स्वैराचारसे-असंयमसे-भयानक परिणाम भोगने पडते हैं। अज्ञानी लोग स्वैराचारकोहि सुखका साधन मानकर अपनाही नाश करते हैं और अन्तमें पस्ताते हैं ।

अतः यहां कहा है ज्ञानसे आत्मनिग्रह अर्थात् अपना संयम करना, अपने आपको अपने स्वाधीन रखना, भटकने न देना, आचारके सत्पथमें रखना चाहिये । अपना विशेष रीतिसे संयम करनेसेहि शाश्वत सुख प्राप्त हो सकता है । जो स्वैराचारीको कभी नहीं मिल सकता है । आत्म-संयम के विना किसी प्रकारकी उन्नति नहीं हो सकती ।

१० इन्द्रिय-भोगोंके संबंधमें वैराग्य ।

हरएक इंद्रियका भोग निश्चित हुआ है, जैसा नेत्र रूपकाही भोग कर सकता है, कान शब्दका भोग कर सकता है, इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंके भोग निश्चित हुए हैं । ये ही भोग इंद्रियोंके अर्थ हैं । जिसको सत्यज्ञान नहीं है वह समझता है कि अपना जन्म इंद्रिय-भोग भोगनेके लियेही है, वह भोग भोगनेके ग्रंथ पढता है, भोगोंका विचार करता है और विचार वारंवार करनेसे अपने शरीरकी शक्ति क्षीण करता है । स्त्री-भोगकी कथाएं सुननेसे और वारंवार उनके रूपका चिंतन करनेसे मनुष्यका वीर्य क्षीण होता है और उसकी आयुही इस मानसिक भोग-तृष्णासे क्षीण होती है, इसका अनुभव बहुतोंको है । क्या अपनाही नाश करना मनुष्यके लिये योग्य है ? कदापि नहीं ।

[illegible]

अर्थात् अपनी मर्यादासे अधिक भोग करता है, औरभी अधिक खाता है, ऋतुगामी न होता हुआ स्त्रीसम्भोग अधिक करता है। इस अधिक भोगमें भी वह रोगी होता है और दुःखभागी बनता है। अतः भोगोंका जितना संयम किया जाय उतना लाभदायक है। इसलिये यहां कहा है कि इंद्रियोंके भोगोंके संबंधमें वैराग्य धारण करना चाहिये। इंद्रियोंको स्वैराचारी और भोगी बनाना हानिकारक है।

ज्ञानहीन लोग भोगोंमें फंसते हैं और अपनी आयुकीही खराबी करते हैं। अतः इंद्रियोंके भोगोंके विषयमें विरक्त रहना योग्य है। इंद्रिय भोगोंके विषयमें दोष देखनेसे मनुष्य उन भोगोंसे दूर रह सकता है। जैसा मिष्टान्न देखनेसे खानेकी इच्छा प्रबल होती है परंतु उसमें विष मिला है ऐसा ज्ञान होनेसे वह इच्छा निवृत्त होती है। इसी तरह सब भोगोंके विषयमें दोष-दृष्टि होनेसे वैराग्य मनमें स्थिर रह सकता है।

समाजमें सुख और समाधान सुस्थिर होना चाहिये, ऐसी इच्छा होगी तो भोगोंकी प्रबल वासना मर्यादित करनी चाहिये। भोगवासना मर्यादित करनेके लिये भोगोंमें जो दोष हैं उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इससे भोगोंकी वासना मर्यादित होगी। और मर्यादित प्रमाणमें भोग सबको प्राप्त हो सकेंगे और भोगवासनाही मर्यादित होनेके कारण जितने भोग मिलेंगे उसीसे तृप्ति होगी और समाजमें सुख तथा समाधान सदा सुस्थिर रहेगा।

इस तरह भोगोंके विषयमें वैराग्य समाजके स्वास्थ्यके लिये अत्यंत आवश्यक है। जिस समाजमें भोगोंकी वासना अमर्याद बढाई जाती है, आज यह भोग प्राप्त हुआ, कल वह प्राप्त करूंगा, ऐसी प्रबल वासना जिस समाजमें बढती जायगी, वह समाज असुरोंके और राक्षसोंके कार्यमें रत रहेगा और सदा अशान्तिमें

फंसता जायगा। इस कारण ज्ञानके द्वारा आत्मसंयमन, इंद्रियदमन, मनोनिग्रह करके इंद्रियार्थों के विषयमें वैराग्य अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

११ निरभिमानता।

अहंकारका अर्थ गर्व, घमंड, अभिमान है। यह ज्ञानका नाश करता है। अहंकार जहां है वहां ज्ञान नहीं रह सकता। जैसा वायु वहता है, सूर्य प्रकाशता है, गंगानदी वह रही है, वृक्ष छाया देता है, यह सव स्वभावसे होता है, उसमें इनका कोई अभिमान नहीं होता वैसाही निरभिमानी होकर स्वभावसेहि शुभ कर्म करना चाहिये। मनुष्यके मनमें विचारमें, उच्चारमें और आचारमें निरभिमान-वृत्ति सदा रहनी चाहिये।

अहंकारसे मनुष्य अपने आपको अन्य विश्वसे पृथक् मानता है। मैं विश्वसे भिन्न हूं, मैं भोक्ता हूं अन्य मेरे उपभोग्य हैं, इस विपरीत कल्पना के कारण मनुष्य अपने आपको विश्वसे पृथक् समझता है और अनन्य भावसे दूर होता है। सव धर्मसिद्धांत मनुष्य अन्य विश्वसे अनन्य-अपृथक् है, उसीका भाग है, इस सिद्धान्तपर अवलंवित हैं। अहंकारसे यह अपने आपको विश्वसे पृथक्, विश्वसे भिन्न, विश्वसे अन्य मानता है, इस कारण इसके मनका अनन्यभाव हटनेसेही इसमें अज्ञानकी वृद्धि होती है और यही पृथग्भाव सव दुःखोंका कारण है। इससे स्पष्ट होगा कि अनहंकार क्यों धारण करना चाहिये।

जवतक अहंकार मनुष्यके मनमें वास्तव्य करता है, तवतक मनुष्यके मनमें अनन्यभाव उत्पन्नही नहीं होगा, ईश्वरसे जनतासे, सव विश्वसे अनन्य हूं यह भावही सव सदाचारका मूल है, यही हट जानेसे अभिमानी और अहंकारी मनुष्य ज्ञानके अधिकारी हो ही नहीं सकते। इस कारण निरभिमान—वृत्ति धारण करनी चाहिये। स्वभावही निरभिमानी वनना चाहिये।

१२ जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शन।

जन्मसे लेकर मृत्युतक जरा, व्याधि, दुःख और दोष होते हैं, उनको पहिलेसे ही देखना और उनके हटाने का उपाय ज्ञानसे करना चाहिये। ज्ञान– सत्यज्ञान होनेसे ही (जरा) वृद्ध–अवस्था दूर की जा सकती है, तारुण्य का संवर्धन योगसाधनसे किया जा सकता है, योगसाधनसे शीघ्र जरा नहीं आती और वुढापेमें भी शक्ति का क्षय नहीं होता है।

योगसाधन के धौति, वस्ति, नेति आदिसे, तथा आसन-प्राणायामके अभ्याससे व्याधि आते नहीं और आये तो शीघ्र हटाये जा सकते हैं। योगसाधन व्याधिशमनका उत्तम साधन है। मृत्युतक दूर किया जा सकता है फिर जराका दूर होना सहज ही से होनेवाली वात है।

शारीरिक और मानसिक दुःख कैसे होते हैं, विविध प्रकारके कायिक, वाचिक और सामाजिक दोष किस कारण होते हैं इसके मूल कारण की खोज ज्ञानसे ही हो सकती है। इसका मूल कारण देखकर उसका नाश करनेसे दुःख और दोषोंका उपशम हो सकता है।

ज्ञानहीन मनुष्य जरा, व्याधि और दुःख आनेके पश्चात् उपाय करनेके लिये दौडता है, अतः वह अपने आपको इन दुःखोंसे मुक्त नहीं कर सकता। परंतु ज्ञानी मनुष्य जरा आनेवाली है, व्याधि नगरमें फैलनेका संभव है, ये दुःख भविष्यकालमें होना संभव है ऐसा पहिले ही जानकर उसके दूर करनेके लिये जो जो उपाय किये जाने चाहिये वे पहिलेहि करता है। इस कारण अन्य लोग दुःखोंसे दुःखी होनेपर भी यह ज्ञानी दुःखोंसे दूर रहता है। योगदर्शनमें कहा है—

हेयं दुःखमनागतम्। (योगदर्शन)

जो दुःख आया नहीं है, उसका प्रतिबंध आनेसे पूर्व ही करना चाहिये। दुःख आनेपर उसको भोगनाही पडता है। अतः जो ज्ञानी दुःख-दोष होनेके पूर्व ही प्रतिबंधक उपाय करते हैं वे ही दुःखोंसे अपने आपको बचाते हैं।

जन्मसे लेकर मृत्युतक क्या होता है, शरीर क्षीण होता है, व्याधियोंसे पीडित होता है, अनेक दुःखोंसे पीडित होता है, अनेक दोषोंसे विविध कष्ट होते हैं। मनुष्य विचार करेगा तो जन्मसे लेकर मृत्युतक यही वारवार चल रहा है ऐसा अनुभव आ जायगा। अज्ञानी मनुष्य जानता ही नहीं कि आगामी आपत्तिको किस तरह हटाया जावे, अतः वह आपत्ति आनेतक कुछ भी करता नहीं, आपत्ति आनेपर दुःखसे पीडित होकर छाती पीटता है, दुःखसे विह्वल होता है, कष्टोंसे पागल वनता है और सह लेता है। परंतु ज्ञानीहि पहिले सोचता है कि अव यह दुःख आनेवाला है, इसके प्रतिबंधके लिये यह उपाय करना चाहिये। वह उपाय करता है और उपाय ठीक होनेपर दुःखसे वच जाता है। ज्ञानसेही यह हो सकता है, अतः कहा है कि जरा-व्याधि-दुःख-दोषोंको पहिलेसे देखना चाहिये और उनके निवृत्तिका उपाय सोचना चाहिये।

१३ अनासक्ति।

आसक्ति न धरना, भोगोंपर आसक्त न होना, इस जगत्के अन्दर अनासक्तिसे सव व्यवहार करना, लंपटता न धरना आवश्यक है। भोगासक्तिसेही सव कष्ट होते हैं। अतः कष्टोंसे वचनेके लिये अनासक्तिसेही सब व्यवहार करने चाहिये। सब दुःख दूर करनेके लिये अनासक्तिही एक मात्र उपाय है।

अज्ञानी मनुष्य हरएक कर्म आसक्तिसे करता है और कर्मफलपर आसक्त होता है और दुःख भोगता है। आसक्तिके होनेपर दुःखोंसे वचने का कोई उपाय नहीं है। अतः यहां कहा है कि आसक्ति छोडनी चाहिये।

इस आसक्ति के साथ 'इंद्रियार्थेषु वैराग्यं' यह श्लोक ८ का विधान अवश्य देखने योग्य है। तथा श्लोक ७ का 'आत्मविनिग्रह' ये भी दो उपदेश अवश्य देखिये, क्योंकि इन दोनोंका अनासक्तिके साथ वडा संवंध है। वैराग्य और आत्मसंयम के विना 'अनासक्ति' सिद्ध होना कठिन है।

अनासक्त मनुष्य सुखदुःख, हानिलाभ आदि द्वन्द्व प्राप्त होनेपर समचित्त रहता है, क्योंकि वह सुखपर आसक्त नहीं होता, अतः दुःखसे हताश भी नहीं होता। समाजमें भोगी मनुष्य वढ गये तो भोगोंके कारण कलह भी वढ जाते हैं, परंतु समाजमें अनासक्त वृत्तिवाले मनुष्य संख्यामें अधिक हुए तो उस समाजमें उस प्रमाणसे शांतिकी वृद्धि अधिक होगी। क्योंकि भोगासक्तिहि अशान्ति की जड है और वह अनासक्त वृत्तिवाले समाजमें नहीं होती। अतः अनासक्ति समाजहित वर्धक है।

१४ पुत्र–स्त्री–गृहादिमें असंग।

पुत्र, स्त्री, घर आदिमें न रहना, आसक्त न होना, प्रेमान्ध न होना चाहिये। क्योंकि प्रायः सव अज्ञानी लोग पुत्र, स्त्री और घरके प्रेमान्धताके कारण ही अनंत अपराध करते हैं। स्त्री–पुत्रादिके भरण–पोषण–भूषणादिके लिये वुरेभले व्यवहारसे धनादिकी कमाई करते हैं और विविध प्रकारके अपराधी होकर अनेक दुःख भोगते हैं। यह पुत्र मेरा है और यह दूसरेका है, इतनेही कारण पक्षपात किया जाता है और पक्षपातसे अन्याय होना स्वाभाविक है। यह मनुष्य मेरी जाति का है और यह अन्यजातिका है, इस कारण कितना घृणित व्यवहार इस जगत्में हो रहा है यह पाठक देखेंगे, तो पता लग जायगा कि स्त्री-पुत्र-गृहादि की प्रेमान्धताके कारण

जगत्में कितना अनर्थ हो रहा है यह सब अज्ञान है। ज्ञानी मनुष्य इनके विषयमें प्रेमान्ध नहीं होता। वह समझता है कि ये परमात्माके विश्वरूपके अंश हैं वैसे ही अन्य अंश हैं। इनमें कोई भेद नहीं है ऐसा मानकर सबपर समदृष्टि रखता है और इस सर्वत्र समदर्शनसे वह मोहित नहीं होता और इस कारण उससे कोई अपराध, अन्याय अथवा दोष नहीं होते। वह निर्दोष होता है और सर्वत्र समभाव रखनेके कारण विषमाचरणसे होनेवाले दोषोंसे दूर रहता है। ज्ञानसे यह अपूर्व लाभ है।

१५ इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति होनेपर नित्य समचित्त होना।

मनुष्य इष्ट वस्तु चाहता है और अनिष्ट से दूर रहने की इच्छा करता है। इष्टसे प्रेम करता और अनिष्टका द्वेष करता है। इसलिये इष्टकी प्राप्ति होनेके समय उसके मनकी प्रवृत्ति जैसी होती है उसके विपरीत स्थिति अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर होती है। यही मनका विक्षेप दुःखका हेतु है। इस विक्षेपके कारण मनकी शक्ति क्षीण होती है और मनुष्यकी उन्नति रुक जाती है।

इसी हेतुके लिये यहां कहा है कि ऐसा अभ्यास करो कि जिससे इष्ट अथवा अनिष्ट की प्राप्ति होनेपर चित्त समस्थितिमें रहे। चित्तपर दोनों अवस्थाओंमें कोई परिणाम न हो। बाहरकी परिस्थिति कैसी भी हो, विपरीत हो अथवा अनुकूल हो, अन्दरका मन सम अवस्थामें रखना चाहिये।

चित्तके विक्षेपसे न केवल मानवी अन्तःकरण का बिगाड होता है, परंतु मनुष्यका शारीरिक स्वास्थ्य भी बिगड जाता है। अतः मनको सम अवस्थामें रखना स्वास्थ्य की दृष्टिसे भी अत्यंत आवश्यक है। जिस सामाजिक परिस्थितिमें मानवी मन सदा विक्षिप्त सा रहता है वह परिस्थिति मनुष्योंको पागल बनावेगी। अतः यहां उपदेश दिया है कि अनुकूल अथवा विपरीत परिस्थितिमें अपना चित्त सम रखो। चित्त की घबराहट न हो।

१६ अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति।

'अनन्य-योग' का अर्थ (अन्+अन्य-योग) मैं पृथक् नहीं हूं ऐसा समझकर अपना (योग-योगः कर्मसु कौशलं) कर्तव्य करना। परमेश्वर विश्वरूप है और मैं उसका एक अंश हूं अर्थात् उससे भिन्न नहीं हूं, उससे पृथक् नहीं हूं उससे अन्य नहीं हूं, उससे विभक्त नहीं हूं ऐसा अनुभव करके, उसके साथ अपना अखंड संबंध देखकर, उसके साथ अपना अनन्यभाव जानकर अपना कर्तव्य करना। इसका नाम अनन्य-योग है। इस अनन्य-योगके करनेसे मानव सच्चे उन्नतिके मार्गपर चल सकता है।

इस अनन्ययोगमें संपूर्ण मानवप्राणी परस्पर अटूट संबंधसे अखण्डित जीवनमें संघटित हुए हैं, सब अन्य जीवजन्तु भी मानवोंके साथ और परस्पर अटूट संबंधसे संघटित हैं, कोई किसी-से पृथक् अन्य या भिन्न नहीं, सबोंका हित-संबंध एक दूसरेके साथ जुडा है। कोई अन्योंसे पृथक् होकर, अपने आपको अन्य मानकर भिन्न-भावका व्यवहार करेगा तो दुःख बढानेके विना रह नहीं सकता। अतः अन्यभाव दुःख बढानेवाला और अनन्यभाव सुखशान्ति देने-वाला है। सब विश्व इस तरह परस्परसे जुडा हुआ है यह जाननेका नाम ही अनन्ययोग है। इसमें कहां भी 'अन्य' का भाव नहीं होता, एकत्वका भाव ही सर्वत्र है। एक वार इस अनन्य-योग की ठीक ठीक कल्पना ध्यानमें आ गई तो फिर भेदभावके लिये कोई स्थान रहता ही नहीं।

अनन्ययोग जो कर सकते हैं, परमेश्वरके विश्वरूपसे जो अपने आपको अभिन्न अनुभव करते हैं वे जो भक्ति करेंगे वह अनन्यभक्ति ही

होगी, वही अव्यभिचारिणी भक्ति होगी। व्यभिचारका अर्थ दूसरेका संबंध, अन्यसंबंध, विजातीय सहवास। अनन्यभक्ति करनेवालोंमें कोई अन्य न होनेके कारण विजातीय कोई वस्तुहि नहीं है। सब एक अखण्ड, अभिन्न, अनन्य वस्तु है, ऐसा निश्चयसे जाननेपर उससे अव्यभिचारिणी भक्ति ही होगी। व्यभिचार तो भिन्न-भावसे हुआ करता है।

ज्ञानका साध्य यही अनन्यभाव और परमेश्वरकी अव्यभिचारिणी भक्ति है। पाठक इस अनन्यभावको ठीक प्रकार जाने, क्योंकि भगवद्गीताके मुख्य सिद्धान्तोंमें यह सबसे प्रमुख सिद्धान्त है। सब सफलता, सुफलता, परमसिद्धि इसीसे होनी है।

भक्तिका अर्थ सेवा है। विश्वरूप परमात्माकी विश्वसेवाही भक्ति है। यह विश्वसेवा मैं विश्वसे पृथक् नहीं हूं, विश्वमें ही मैं हूं, ऐसा जानकर करनी चाहिये। मनुष्यकी जो उच्च गति होनी है वह अखण्ड विश्वसेवासे ही होनी है और यह अखंड विश्वसेवा अनन्यभावसे होनी चाहिये।

सेवा अनेक प्रकारसे की जाती है, तृषितको जल देनेसे, रोगीकी चिकित्सा करके उसे आरोग्य पहुंचानेसे, अशिक्षितको विद्यादान देनेसे, भयभीतको निर्भय करनेसे, भुखेको अन्न देनेसे, इस तरह विविध विश्वरूपकी विविध प्रकारकी सेवा की जा सकती है। ईश्वरके अनंत रूप हैं, उनमें जिसको जो देकर हम सेवा कर सकते हैं उससे वैसी सेवा करना विश्वसेवा है। यही मनुष्यको कृतकृत्य कर सकती है।

'स्वकर्मसे उसकी सेवा करनी चाहिये।' (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः। गी० १८।४६) अपन जो शुभ कर्म कुशलताके साथ कर सकते हैं उससे विश्वसेवा अनन्यभावसे करनी चाहिये। इस विश्वसेवामें हरएकका कर्तव्य अर्पित हो सकता है। हरएकका कर्तव्य यहां आवश्यकही है। यह कर्तव्य लोग नहीं करते, विश्वसेवासे पराङ्मुख होते हैं, मैं अलग और पृथक् हूं, मैं दूसरोंकी पर्वा नहीं करता, ऐसा मानकर अपनाहि हित करनेका प्रयत्न करते और विश्वसेवासे दूर होते हैं, इस कारण इस विश्वमें या जगत्‌में अशान्ति, दुःख और असमाधान है।

यदि लोग इस अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति करते हुए विश्वसेवा करेंगे तो संपूर्ण विश्व शांतिसुखसे अपूर्व समाधान प्राप्त करेगा इसमें कोई संदेहही नहीं है। इस तरह यह अनन्य योगसे होनेवाली अव्यभिचारिणी भक्ति सामाजिक स्वास्थ्यके लिये अत्यंत उपयोगी है। यह सामाजिक सद्गुण है और समाजको सुखी करनेके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है।

१७ एकान्तसेवन।

आत्मपरीक्षण, अपने दोषोंका विचार करना और उनको दूर करनेका यत्न करना, किसी गूढ विचार करनेके लिये एकान्तमें जाकर सोचना, ऐसे अनेक कार्योंके लिये एकान्तसेवन करना अत्यंत आवश्यक है। जो ज्ञानहीन होते हैं वे एकान्तसेवन का महत्त्व जानते ही नहीं। किसी प्रकारका अभ्यास करना हो तो एकान्तस्थानमें जाकर रहनेसे अच्छा अभ्यास होता है। यह अनुभव सब कोई ले सकते हैं। इस तरह एकान्तवास लाभदायक है, यह जानकर पाठक इससे अपना लाभ साधन करें।

१८ जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि।

यह जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि, एकान्तवासकी रुचि की हि दूसरी बाजू है। जो एकान्तवासमें रहना चाहता है वही जनसंमर्दमें-मेलोंमें जाना नहीं चाहता। मेलोंमें जानेसे अनेक प्रकारके लोगोंके साथ संबंध आता है, जिनसे संबंध

आना योग्य नहीं है उनसे संबंध करना पडता है, ऐसे अनेक उपद्रव होते हैं, इसलिये योगाभ्यासी लोग एकान्तवास पसंद करते हैं और अभ्यासके समयमें तो मेलोंमें जाते ही नहीं। जनसंमर्दमें जानेसे मनका विक्षेप भी होता है।

परंतु जो लोग साधनसंपन्न होते हैं, अथवा सिद्ध बनते हैं,वे किसी आवश्यक घटनाके लिये परिषदोंमें नहीं जाते ऐसा नहीं है। जनकराजाकी परिषदमें याज्ञवल्क्य जाते ही थे। यज्ञ करनेके समय बडी बडी विराट् सभाएं होती ही थीं। अर्थात् मन एकाग्र करनेके योगसाधन करनेके समय जनसंमर्दमें वारंवार जाना योग्य नहीं है।

१९ अध्यात्मज्ञानमें नित्य रुचि।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्व अर्थात् अध्यात्मज्ञान का नित्य विचार करना चाहिये। अध्यात्मका अर्थ (अधि+आत्मा) आत्माके ऊपर आत्माके आश्रयसे जो कुछ रहता है, आत्मासे जो प्रकट होता है वह अध्यात्म है। आत्माके आश्रयसे क्या रहता है? अपनेही अन्दर देखिये, आत्माके आश्रयसे वुद्धि, मन, चित्त, अहंकार, इंद्रियां (कर्मेंद्रियां और ज्ञानेन्द्रियां), शरीर, शरीरावयव शरीरसे वाहर जानेवाली शक्ति। यह सब अपने आत्माके आधारसेहि रहते हैं। अतः इसका नाम अध्यात्म है। आत्माके आधारके विना इनका होना, कार्य करना और शक्ति प्रकट करना असंभव है। आत्माकीही यह प्रकृति है, आत्माकीहि यह शक्ति है,इसी कारण इनको 'इंद्रिय' कहते हैं।

'इन्द्र' आत्मा है और इन्द्रशक्ति (इन्द्र+य) इंद्रिय कहलाती है। इन्द्रके आधारसे इन्द्रशक्तिका रहना स्वाभाविक ही है। यही भाव आत्मा और उसकी शक्ति आत्माके साथ रहती है इस कथनमें है।

इससे स्पष्ट हुआ कि अध्यात्म क्या है। सब ज्ञानोंमें अध्यात्मज्ञान मुख्य है, इसका कारण यह है कि इसका संबंध प्रत्यक्ष मनुष्यके स्वास्थ्य-सुख-समाधानके साथ है। मनुष्यको स्वास्थ्यादि सुख चाहिये, इसलिये उसको अध्यात्मज्ञान भी अवश्य चाहिये।

अध्यात्मज्ञानमें (१) आत्माका ज्ञान, (२) बुद्धिकी शक्तिका ज्ञान, (३) मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, मानसशक्तिका ज्ञान, (४) चित्त-संकल्प-अहंकार आदि शक्तियोंका ज्ञान, (५) प्रत्येक इंद्रियका ज्ञान, अर्थात् वह क्या है, कैसा कार्य करता है, स्वस्थ आरोग्यसंपन्न कैसा रह सकता है, रोगी और क्षीण कैसा होता है, अधिक कार्यक्षम कैसा हो सकता है, इत्यादि संबंधका ज्ञान, (६) शारीर शास्त्र, शरीरसंबंधी आरोग्य कैसा प्राप्त होगा, रोग क्यों होते हैं, रोगनिवृत्ति कैसी होती है, आरोग्य किस तरह सुरक्षित रह सकता है, इत्यादि विषयका जो शास्त्र है, उसका नाम शरीरविज्ञान है। (७) शरीरसे वाहर जो अपनी शक्ति जा रही है और कार्य कर रही है, अपनी मानसशक्ति वाहर जाकर जो कार्य करती है उसका ज्ञान भी जानना चाहिये। इन सब विज्ञान और ज्ञानका अन्तर्भाव अध्यात्मज्ञानमें है।

इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि अध्यात्मज्ञान क्या है और मानवी स्वास्थ्य-सुख-समाधानके लिये इस अध्यात्मज्ञानका संबंध क्या है। हरएक मनुष्यके पास जितना यह ज्ञान होगा, उतनाही उसको स्वास्थ्यका साधन करना संभव हो सकता है। सर्वसाधारण जनताको इस अध्यात्मज्ञानका थोडासा भी अंश ज्ञात नहीं होता, इसी कारण वे सदा दुःखमें डूबे रहते हैं।

उदाहरणके लिये देखिये, शारीर शास्त्रका ज्ञान मनुष्यको हुआ तो शरीरको स्वस्थ, हृष्ट, पुष्ट, नीरोग रखनेमें वह समर्थ हो सकता है।

मनुष्यको दूसरा कुछ भी आवश्यक न हुआ तो शरीरकी स्वस्थता तो आवश्यही चाहिये। शरीर शास्त्रका कुछ भी ज्ञान जिसे नहीं है वह अपना स्वास्थ्य सुरक्षित किस तरह रख सकता है, रोगोंके संचार होनेके समय करना क्या चाहिये, ऋतुपरिवर्तनके समय क्या करना चाहिये, शरीरकी अन्दर बाहरसे पवित्रता कैसी करनी चाहिये। यह सब ज्ञान आवश्यक है। हरएकको यह सब ज्ञान संपूर्णतासे होना कठिन है, तथापि मुख्य आवश्यक ज्ञान तो हर-एक मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

अध्यात्मज्ञानका नित्य विचार करना चाहिये, ऐसा जो यहां कहा है उसका अपने आरोग्यके साथ कैसा संबंध है, इसका पाठक यहां विचार करें। और इस अध्यात्मशास्त्रके साथ अपने सुख-समाधानका कितना संबंध है यह देखें।

शरीर शास्त्रकी अपेक्षा मानसशक्तिके ज्ञान का मानवी सुखसमाधानके साथ अधिक संबंध है। शरीरमें बीमारी होनेके पूर्व मन रोगी होता है, और मन रोगी होनेके कारण शरीर रोगी होता है। अतः शरीर स्वास्थ्यके लिये मानसिक स्वास्थ्य सुरक्षित रखनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इसी लिये मनःसंयम, मनमें शिवसंकल्प रखना, सज्जनोंकी संगति करना, दुष्ट विचारोंको दूर रखना आदि धर्मनियम किये गये हैं।

मन सत्यसे शुद्ध होता है, बुद्धि ज्ञानसे पवित्र होती है, इत्यादि जो नियम धर्मशास्त्रमें कहे हैं वे इसी लिये कहे हैं। ये सब मनुष्यका सुख बढानेवाले हैं। अध्यात्मज्ञानका नित्य विचार करनेका अर्थ अपनी शक्तियोंका नित्य विचार करना है। अपनी शक्तिका विचार करनेसे वह शक्ति कैसी उन्नत की जाती है इसका भी निश्चय होता ही है।

कई लोग अध्यात्मज्ञानका अर्थ केवल आत्मा का ज्ञान, केवल ईश्वरका ज्ञान ऐसा मानते हैं, वह अशुद्ध विचार है, अध्यात्मज्ञानमें आत्माका तथा परमात्माका ज्ञान आता है परंतु पूर्वोक्त सब अन्य शक्तियोंका ज्ञान भी उसमें अन्तर्भूत होता है। क्योंकि सबही आत्माकी शक्तियोंका ज्ञान यहां संमिलित होता है।

'आत्मज्ञान' का अर्थ केवल आत्माका ज्ञान है और 'अध्यात्मज्ञान' का अर्थ पूर्वोक्त सब ज्ञान है। क्योंकि जो जो शक्तियां आत्माके आधारसे हैं उन सबका ज्ञान अध्यात्मज्ञान कह-लाता है। पाठक थोडासा विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस अध्यात्मज्ञान के साथ मानवी सुखसमाधान का कितना संबंध है। कोई मनुष्य इस ज्ञानके विना पूर्ण सुखी नहीं हो सकता है। अध्यात्मज्ञानसे मनुष्य दुःखसे पूर्ण मुक्त हो सकता है, ऐसा जो कहते हैं उसकी सत्यता यहां इस प्रकार सिद्ध हुई है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

अध्यात्मज्ञानका नित्य मनन करना चाहिये, इसका तात्पर्य यह है कि अपनी शक्तियोंका विचार सदा करना चाहिये। इससे आत्मविश्वास बढता है, अपनी शक्तिके प्रयोग सिद्ध किये जा सकते हैं, अपनी शक्तिमें किसी कारण न्यूनता हो रही हो तो उसकी पूर्णता करनेका योग किया जा सकता है, तात्पर्य अध्यात्मज्ञानके मननसे अनंत लाभ हैं, अथवा जो कुछ उदय होना संभव है वह इस अध्यात्मज्ञानसेही होना संभव है।

पेटमें दर्द हो रहा है, कान दूख रहा है, स्वप्नमें वीर्यनाश होता है, शरीरकी कमजोरी है, मनकी दुर्बलता है, स्मरणशक्ति कम हो रही है, इन सबके लिये अपनी पूर्वोक्त शक्तियोंका मनन करनेसे और उनको नीरोग और स्वस्थ रखनेका विचार करनेसेहि उपाय हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि अपना सब प्रकारका कल्याण अध्यात्मज्ञानसेही हो सकता है, इसलिये इस

ज्ञानको प्राप्त करना चाहिये और उसका मनन करना चाहिये।

२० तत्त्वज्ञानार्थ दर्शन।

पृथिवी,आप,तेज आदि अनेक तत्त्व हैं। उन तत्त्वोंकी विद्याका नाम तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञानका जो अर्थ दुःखमोचनरूप पुरुषार्थ है, उसको 'तत्त्वज्ञानार्थ' कहते हैं। इस मुख्य ध्येयकोही सदा अपने आंखके सामने रखना चाहिये। अर्थात् यह अपना साध्य है और यह साध्य तत्त्वज्ञानसे हि प्राप्त होना है,ऐसा निश्चय करना और इसकी सिद्धताके लिये तत्त्वोंका ज्ञान यथायोग्य प्राप्त करना चाहिये।

मोक्ष अर्थात् त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिरूप श्रेष्ठ पुरुषार्थ प्राप्त करना है,यह कदापि नहीं भूलना। जो कुछ करना हो वह इसके लिये ही करना चाहिये।

त्रिविध दुःख ये हैं-एक आध्यात्मिक दुःख, दूसरा आधिभौतिक दुःख और तीसरा आधिदैविक दुःख। अध्मात्म शक्तियोंका वर्णन '(१९) अध्यात्मज्ञान' के प्रसंगमें किया है अर्थात् आध्यात्मिक दुःख बुद्धि-मन-इंद्रिय-शरीर आदिमें उत्पन्न होनेवाले दुःख हैं। आधिभौतिक दुःख प्राणिमात्रसे उत्पन्न होते हैं, जैसे मानवोंके आपसके झगडे अथवा सिंह-व्याघ्रादिकोंके उपद्रव आदि। आधिदैविक उपद्रव भूंचाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अग्निप्रकोप आदि हैं। इन सब तीनों प्रकारके दुःखोंके दूर करनेके लिये तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये। पृथिवी, आप,तेज आदि तत्वोंके गुणधर्मोंका ज्ञान प्राप्त होनेसे उनका उपयोग करके इन दुःखोंको दूर करनेका उपाय समझमें आसकता है। संपूर्ण दुःख इसी तरह दूर किये जा सकते हैं। यह लाभ बडा भारी है।

मनुष्यको तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये और तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाले मोक्षरूप अर्थका लक्ष्य अपनी दृष्टिमें सदा रखना चाहिये अर्थात् अपना ध्यान उससे दूर करना नहीं चाहिये।

यह सब ज्ञान किंवा ज्ञानका साधन है, इससे जो विपरीत है, उसको अज्ञान कहते हैं। (श्लो० ११) इस ज्ञानके वर्णनके साथ साथ अज्ञानका भी वर्णन किया है। ज्ञानसे साध्य होनेवाली ये बातें हैं, अज्ञानी लोग जो किया करते हैं, उसका अनुमान इसके विरोधके अनुमानसे पाठकोंको हो सकता है।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि, यह ज्ञान मनुष्यमात्रके हितके लिये अत्यंत आवश्यक है। जो इस ज्ञानका विरोध करते हैं अथवा जो इस ज्ञानसे दूर रहते हैं, वे अनेक प्रकारसे दुःखकेही भागी हो सकते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है।

जाननेयोग्य वस्तु।

अब श्लोक १२ से १७ तक सबको जाननेयोग्य वस्तुका वर्णन है। यही आत्मा अथवा परमात्मा है। यही एक मनुष्यमात्रके लिये जाननेयोग्य वस्तु है। इसको जाननेसे मनुष्यको (अमृतं अश्नुते) अमरत्व प्राप्त होता है। यह अमरत्व कैसे मिलता है, इसका थोडासा विचार करना चाहिये।

विभक्तोंमें अविभक्त।

भूतेषु अविभक्तं (ब्रह्म) विभक्तमिव स्थितं। (गी० १३।१५)

सब भूतोंमें ब्रह्म अविभक्त होनेपर भी वह विभक्त जैसा रहा है। अर्थात् वह वस्तुतः अविभक्त,अखण्ड और एकरस है, तथापि वह विभिन्न, खण्डित और अनेकरस जैसा रहा है। वह भिन्नोंमें अभिन्न, खण्डितोंमें अखण्ड, अनेक रसोंमें एकरस है। जो भिन्नता दीख रही है, वह व्यवहारदशामें भिन्नता होनेपरभी वास्तविक दशामें अभेदही है। यह बात एकवार समझना चाहिये।

लकडीके अनेक खिलौने बनाये जाते हैं, अनेक पशुपक्षी, जानवर आदि वस्तुएं बच्चोंके खेलके लिये बनायीं गयीं, तो खेलनेके व्यवहार में प्रत्येक वस्तु भिन्न मानकर हि खेल खेला जाता है। इस व्यवहारदशामें हरएक वस्तु भिन्नही है, परंतु जिस समय लकडीके भावसे उनकी बिक्री करनेका समय आजाय उस समय उन सब खिलौनोंकी भिन्नता एक ही लकडीकी एकतामें एकरूप हो जाती है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि व्यवहारदशामें विभेद रहनेपरभी परमार्थदशामें अभेद किस तरह हो जाता है। यह जाननेपर परमात्मा विभक्तोंमें अविभक्त किस तरह रह सकता है, इसका ज्ञान पाठकोंको हो सकता है।

विश्वमें वस्तुभेद कितनाभी हो, परंतु सबमें एकरस परमात्मा है, यह बात जाननेपर, विश्व की वस्तुओंमें 'मैं भी एक हूं और मैं पृथक् नहीं हूं,' यह ज्ञान हो जाता है। 'यदि सबमें एकरस परमात्मा है, तो मुझमेंभी वह है और यदि सब विश्वरूप उसी परमात्माका है, तो मेरा रूपभी उसीमें संमिलित है। किसी तरह मैं पृथक् नहीं हूं।' यह अनन्यभाव जब मनमें स्थिर होगा तब परमात्मा अजर अमर होनेके कारण यह भी अजर और अमर हो जायगा। इसी लिये कहा है कि (यत् ज्ञात्वा अमृतं अश्नुते) जिस ब्रह्मको जाननेसे मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होता है और जिसको न जाननेसे मनुष्य मरणधर्माही रह जाता है।

परमात्माके ज्ञानका यह महत्त्व है। परमात्मा सर्वत्र एकरस है। 'मैं उससे अनन्य हूं, इस लिये मैं उसीका अंश हूं' (मम एव अंशः जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गी० १५।७) क्योंकि परमात्माका एक अंश जीव हुआ है, अतः यह जीव पृथक् नहीं है। जब यह एकरूपताका पता लग जाता है और यह स्पष्ट ज्ञान असंदिग्ध रीतिसे ध्यानमें बैठता है, तब यह साधक भी अमर भावसे युक्त होता है, क्योंकि वह अपने आपको अमर परमात्माके साथ अनन्य अपृथक् अथवा अभिन्न समझता है।

मनुष्यको परमात्मा ही एक ज्ञेय वस्तु है, उसको जाननेसे साधकका इस तरह लाभ होता है। यह ज्ञान होनेकी अवस्थामें जो साधक अपने आपको मरणधर्मा मानता है, वही साधक यह ज्ञान प्राप्त करनेपर अपने आपको अमर मानने लगता है।

यह ब्रह्म (अनादिमत्) अनादि, अनंत, (परं) सबसे श्रेष्ठ, (ब्रह्म) सबसे बडा, सबको व्यापनेवाला, (असक्तं) अनासक्त, (सर्वभृत्, भूतभर्तृ) सब का भरणपोषण करनेवाला, सबका पालक, (गुणभोक्तृ) गुणोंका भोग करनेवाला, परंतु स्वयं (निर्गुणं) गुणत्रयातीत है। यह ब्रह्म (भूतानां बहिः अन्तः च) भूतोंके अन्दर और बाहर है, यह (अचरं चरं) अचल है और चल भी है, स्थावर जंगम भी यही है। (दूरस्थं अन्तिके च) वह जैसा दूर है, वैसाही समीप भी है। यह अति (सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयं) सूक्ष्म होनेसे जाननेके लिये कठिन है, (भूतेषु अविभक्तं अपि विभक्तं इव स्थितं) सब विभिन्न प्राणियोंमें अथवा सब विभिन्न वस्तुओंमें वह अखण्ड अविभक्त रहनेपर भी विभक्त जैसा रहा है, अविभक्त होनेपर विभक्त जैसा दीखता है, (प्रभविष्णु भूतभर्तृ ग्रसिष्णु च) वह ब्रह्म सबकी उत्पत्ति करनेवाला, पालनपोषण करनेवाला और संहार करनेवाला है। वह (ज्योतिषां ज्योतिः) तेजस्वी पदार्थोंको तेज देनेवाला और (तमसः परस्तात्) अन्धकारसे परे अर्थात् स्वयंज्योति है, वही स्वयं ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानसे जाना जाने योग्य है। वह सबके हृदयोंमें रहा है।

वह ब्रह्म सत् और असत्से विलक्षण है, क्योंकि सत् और असत् ये उसीसे प्रगट होनेवाले भाव हैं। वह (सर्व-इंद्रिय-विवर्जितं) सर्व इंद्रि-

योंसे रहित है अर्थात् उसमें एक भी इंद्रिय नहीं है, तथापि सब इंद्रियोंके गुणोंका भास उसमें दिखाई देता है। अर्थात् वह सब ओर हाथ, पांव, मुख, सिर, आंख, कान, नाक आदि अवयवोंसे युक्त है, क्यों कि विश्वरूपी परमात्मा सब प्राणियोंमें है, इस लिये सब प्राणियोंके सब अवयव उसी परमात्माके अनंत अवयव होते हैं। अतः वह सहस्र हस्तपादादि अवययोंसे युक्त है।

यहां सब प्राणियोंके सब अवयव उसी परमात्माके अवयव हैं ऐसा कहा है, इसमें पाठक अपने आपको भी संमिलित समझें। जिस से वे अपने आपको उससे अनन्य-अपृथक् अनुभव करने लग जांयगे और अपने इंद्रिय वस्तुतः उसीके इंद्रिय हैं, ऐसा ज्ञान होकर इनके ऊपरसे अपना अहंकार दूर हो जायगा। साधक अपने आपको इस तरह परमात्मासे एकरूप अनुभव कर सकता है, जिससे वह परमात्माके रूपमें अपने आपको अमर अनुभव करेगा, फिर उसे मरण की भांति किस तरह सता सकती है? इस रीतिसे यह इस ब्रह्मज्ञानसे अमर होता है। यह अतिमानुष अवस्था है जो ज्ञानसे ही प्राप्त होती है। यही सर्वात्मभाव ज्ञानसे प्राप्त होनेवाला है। एकात्मभावमें मरण और सर्वात्मभावमें अमरत्व है। पाठक इसको ठीक रीतिसे समझनेका यत्न करें, क्योंकि इसी ज्ञानसे नरका नारायण बन सकता है।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥

(गी० १३।१८)

परमेश्वर का भक्त इस ज्ञानको प्राप्त करके ईश्वरभावको प्राप्त करता है, ईश्वर ही होता है, ईश्वरस्वरूप में अपने आपको संमिलित अनुभव करता है। ईंटोंका बडा मंदिर बनाया है, उसमेंसे प्रत्येक ईंट अपने आपको अलग मानकर अलग होने लगी तो स्थानपर वह मन्दिर खडा रहेगा ही नहीं। इस कारण ईंटोंके अन्यभावयुक्त होनेसे मंदिर नष्ट होता है। परंतु वही ईंटें अपने आपको पृथक् न मानती हुई अपने आपको मंदिरभावसे युक्त मानने लगीं अपने आपको मंदिरसे अनन्य समझने लगीं, और मंदिरमें मन्दिररूप होनेमें अपने आपको कृतार्थ मानने लगीं, तो ही उनको मन्दिरभाव प्राप्त हो सकता है। इसी तरह नर आपने आपको नारायणसे अपृथक् अनुभव करके, अपने आपको अनन्य समझकर अपना जीवन उसीमें संमिलित देखेगा, तो वह नर नारायणभावको निःसन्देह प्राप्त होगा।

यहांतक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय इनका विचार किया। अब वही ज्ञान प्रकृति-पुरुषके ज्ञानसे देते हैं।

प्रकृति और पुरुष।

पूर्वोक्त 'क्षेत्र' ही प्रकृति है और पूर्वोक्त 'क्षेत्रज्ञ' ही पुरुष है अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके वर्णनसे प्रकृति-पुरुषका ही विचार पूर्वस्थानमें दिया है। अब वही विचार पाठकोंके मनमें स्थिरं रूपसे जम जाय इसलिये पुनः प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका वर्णन करते हैं। पाठक इन दोनों वर्णनोंकी तुलना करें और उन दोनोंका तात्पर्य एकही है, यह बात मननसे जानें।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(गी० १३।१९)

'प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि हैं।' यहां क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये दोनों अनादी हैं, यही आशय है। एक पहिले था और दूसरा पीछेसे उत्पन्न हुआ, ऐसी बात नहीं है। दोनों अनादि और सनातन हैं। ये एक दूसरेसे पृथक् हैं या एकरूप हैं, इसका विचार यहां करना चाहिये।

मिश्रीका ढेला और मीठास ये दोनों अनादि हैं, ये दोनों एक साथ रहते हैं, इनमेंसे एक पहिले था और दूसरा पीछेसे हुआ, ऐसी बात नहीं हैं। यहाँ मीठास और ढेला ये पुरुष और प्रकृतिके वाचक समझिये, जिससे प्रकृतिपुरुषके कल्पनागत भेद और वस्तुगत अभेदकी ठीक

कल्पना होगी। पुरुष प्रकृतिमें कैसा है, जैसा रस जलमें होता है वैसा, अर्थात् रस और जल ये दोनों अनादि हैं, ऐसा कहनेसे कल्पनामें दो वस्तुएं हैं ऐसा हुआ, परन्तु यहां दो वस्तुएं केवल कल्पनामें ही हैं, वास्तविक जल और रसका वस्तुगत अभेदही है। इससे पुरुषकी शक्ति प्रकृति है अतः यहां कल्पनागत भेद होनेपर भी शक्ति और शक्तिमान का वस्तुगत अभेदही है, यह बात सिद्ध हुई। अब प्रकृतिका वर्णन करते हैं—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥
(गी० १३।१९)

'विकार और गुण ये प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं।' गुणका अर्थ सत्त्व-रज-तम ये तीन गुण हैं और विकारका अर्थ जो पंचभूत, मन, बुद्धि, इंद्रिय, इच्छा, कामना, वासना आदिमें विगाड होता है,वह है। ये गुण और ये विकार प्रकृतिमें होते हैं, ऐसा समझना चाहिये और अनुभव करना चाहिये। ये विकार आत्माके नहीं हैं। इसके लिये एक उदाहरण लेते हैं—

मिश्रीका ढेला लिया, उसमें मीठास है, इसका अनुभव पाठक लें। उस ढेलेके चारपांच टुकडे कीजिये, टुकडे होनेपर भी मीठासमें कोई न्यूनाधिक नहीं हुआ। ढेलेकी शकलमें भेद हुआ इतनीहि बात है। उस ढेलेको पिघालकर किसी पशुपक्षीकी आकृतिमें ढाल दिया, तो उस ढेलेको पशुपक्षीका आकर प्राप्त हुआ, परंतु मीठासमें कोई न्यूनाधिकता नहीं हुई। फिर उस ढेलेको पिघालकर पतला कर दिया, तो भी मिश्री पतली बनी, तथापि मीठास वैसीहि रही। यहां ढेला प्रकृति है और मीठास पुरुष है ऐसा समझिये। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये भी नाम यहां समझे जा सकते हैं। प्रकृतिमें या क्षेत्रमें विकार होनेपर पुरुष, क्षेत्रज्ञ अथवा आत्मामें कोई न्यूनाधिक नहीं होता है, अर्थात् प्रकृति विकारी है और पुरुष अविकारी है, यह बात यहां प्रत्यक्ष सिद्ध हुई।

इस प्रकृतिमें विकार होते हैं इसी लिये (कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः। गी० १३।२०) कार्य और कारणपरंपरा इस प्रकृतिमें होती है। जैसा ऊपरकेही उदाहरणमें देखिये कि, मिश्रीको पिघालकर उसका रस बनाया, तो उस रसका कारण मिश्री है और इस मिश्रीका कार्य वह मीठा रस है। यह कार्यकारणभाव इसी लिये सिद्ध होते हैं कि, वह विकारी है। इसी तरह पंचमहाभूतों से सृष्टि बनी है, अतः पंचभूत कारण और सृष्टि कार्य है। यह कार्यकारणभाव इसी लिये सिद्ध होते हैं कि, ये पंचभूत विकारी हैं। इसी तरह सब प्रकृति और उससे बने पदार्थ विकारी हैं। इसलिये कार्यकारणपरंपरा उसमें चल रही है। इस प्रकृतिके विकारी होनेके साथ पुरुषका कोई संबंध नहीं है, क्योंकि पुरुष, आत्मा अथवा क्षेत्रज्ञ विकारी नहीं है, बदलनेवाला नहीं है।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः।
(गी० १३।२०)

"पुरुष सुखदुःखोंके भोगका हेतु है।" क्योंकि यह स्वयं ज्ञानवान् है, चेतन है, जान सकता है। इसलिये इस समय यह सुखदायक है और यह दुःखदायक है, ऐसा यह जान सकता है। प्रकृति जड है, स्थूल है, चेतन नहीं है, इस लिये वह सुखदुःखको जान नहीं सकती और पुरुष स्वयंप्रज्ञ है इसलिये सुखदुःखका ज्ञान कर सकता है। पुरुष प्रकृतिके साथ रहकर (पुरुषः प्रकृतिस्थः प्रकृतिजान् गुणान्भुंक्ते। गी० १३।२१) प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंका भोग करता है। जबतक यह पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंपर मोहित नहीं होता, इन गुणोंका संग करनेमें आसक्त नहीं होता, तबतक यह पुरुष उन गुणोंसे-रसियोंसे-बांधा नहीं जाता। परन्तु जिस समय यह उन भोगविलासोंपर आसक्त हो जाता है, उसी समय यह उन गुणोंसे-उन रसियोंसे-बांधा जाता है और इस कारण

उस पुरुषकी अच्छी या बुरी अवस्था हो जाती है।

अस्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं गुणसंगः।
(गी० १३।२१)

'इस पुरुषका सत् वा असत् योनिमें जन्म होनेका कारण यही गुणोंके साथ होनेवाला इसका संग है।' इसकी आसक्ति जिन गुणोंपर होती है उन गुणोंके अनुकूल इसकी अवस्था होती है। सात्त्विक गुणोंपर आसक्त होनेपर सात्त्विक, राजस गुणोंमें बद्ध होनेपर राजस और तामस गुणोंपर लुब्ध होनेपर यह पुरुष तामस परिस्थितिमें जन्म लेता है अथवा पहुंचता है। अतः इस पुरुषको उचित है कि वह किसी प्रकृतिके गुणोंपर मोहित न हो, आसक्त न हो, गुणोंका संग करनेकी अभिलाषा न करे, अपने आपको स्वाधीन रखे, अपना संयम करे, इंद्रियदमन करे, अपनी वासनाओंको स्वैराचारमें जाने न दे। ऐसा करनेसे उसका सदसद्योनिमें जन्म होनेका कष्ट दूर होगा।

देहमें परमात्मा।

इस देहमें जो पुरुष है, वह जिस समय अहंकाररहित हो जाता है.उसी समय उसी पुरुषको परम पुरुष कहते हैं।

ब्रह्म	परब्रह्म
आत्मा	परमात्मा
पुरुष	परम पुरुष,परपुरुष
,,	परात्पर,पुरुष
ईश	ईश्वर, महेश्वर
समर्याद	अमर्याद

इस तरह आत्माही अमर्याद होनेपर परमात्मा कहा जाता है और मर्यादित क्षेत्रमें उसेही आत्मा कहते हैं। जैसा घटाकाश, मठाकाश और आकाश उपाधिभेदसे ही होता है, सब आकाशहि है,परंतु घडेमें जितना आकाश होता है उतना घटाकाश हुआ करता है। इसी तरह देहाभिमानसे आत्मा और विश्वरूप परमात्मा कहा जाता है।

यही (उपद्रष्टा) सर्व देखनेवाला, (अनुमंता) अनुमोदन देनेवाला, (भर्ता) पालन करनेवाला, (भोक्ता) भोग करनेवाला, (महेश्वर) सबका ईश्वर परमात्मा है। यही पुरुष है और यही सबका अधिष्ठाता है। (श्लोक २२)

इस रीतिसे जो साधक इस पुरुषको जानता है और त्रिगुणयुक्त प्रकृतिको भी यथावत् जानता है, वह कैसा भी व्यवहार करेगा, तोभी वारंवार जन्म नहीं लेता। अर्थात् वह ऐसा असंगभावसे व्यवहार करता है कि, उसको कभी कलंक नहीं लगता, वह सदा निर्दोष रहता है, वह दोषोंमें लिपटता नहीं। (श्लो० २३)

आत्मदर्शन।

कई लोग इस आत्माको, इस पुरुषको ध्यानसे अपने आत्मामें देखते हैं, कई दूसरे सांख्ययोग-ज्ञानयोगद्वारा और कई कर्मयोगद्वारा देखते हैं। दूसरे कई स्वयं ज्ञानविज्ञानको न जानते हुए भी दूसरोंसे अच्छे उपदेश सुनते हैं और उनपर विश्वास करते हुए वैसाही आचरण करते हैं, ये भी मृत्युके पार होते हैं अर्थात् अमरत्व प्राप्त करते हैं, आत्माको प्राप्त होते हैं। (श्लो० २४-२५)

सबकी उत्पत्ति।

जो कुछ वस्तुमात्र यहां है, वह स्थावर हो वा जंगम हो, वह सब प्रकृति और पुरुषके (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात्) संयोगसे बना है। सब स्थावरजंगम वस्तु (स्थावरजंगमं सत्त्वं) प्रकृतिपुरुषके संयोगसे बनी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि,हरएक वस्तुमें जैसी प्रकृति है वैसा ही पुरुष भी है। कई लोग समझते हैं कि,जंगम प्राणियोंमेंहि पुरुष, आत्मा अथवा क्षेत्रज्ञ तथा चेतन जीव है, वैसा स्थावर पदार्थोंमें नहीं है' परंतु वह भूल है। क्योंकि (स्थावरजंगमं

सत्त्वं क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात् संजायते। गी०१३।२६) संपूर्ण स्थिरचर पदार्थमात्र प्रकृतिपुरुष के संयोगसेही बनते हैं । इस विषयमें कोई संदेह न करें। चर पदार्थोंमें पुरुष है, ऐसा सब मानतेही हैं,अब यहां कहा है कि,स्थिर-जड पदार्थमें भी आत्मा है, पुरुष है । ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि, जो प्रकृतिपुरुषके संयोगके विना बनी हो। यह असंदिग्ध कथन है और इसको ठीक प्रकार समझना चाहिये ।

इस तरह इस कथनसे सभी वस्तु चेतन हो गई हैं और सभीमें प्राकृतिक जडत्वभी है। सभी चेतन और सभी जड है । जो समझते हैं कि कई पदार्थ चेतन हैं और कई जड हैं, वह विचार अशुद्ध है । पाठक यहां पूछेंगे कि यदि सभी पदार्थ प्रकृतिपुरुष, क्षेत्रक्षेत्रज्ञ, जड-चेतनके संयोगसे हुए हैं तो कईयोंमें चेतना दीखती है और कईयोंमें नहीं, यह कैसे ?

मनुष्यप्राणी	—	पूर्ण चेतन
पशुपक्षी	—	चेतन
वृक्षवनस्पति	—	सुप्त चेतन
पत्थर आदि	—	अप्रकट चेतन

चैतन्य या पुरुष इन चार स्थानोंमें चार प्रकारसे प्रकट हो रहा है। मनुष्य प्राणियोंमें वह पुरुष पूर्ण जाग्रत हुआ है और अपना ज्ञान यथावत् जाननेमें समर्थ है। पशुपक्षियोंमें किंचित् जाग्रत है, केवल मैं हूं, मुझे यह चाहिये, इतना ही जान सकता है, इन योनियोंमें यह आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है । वृक्षवनस्पतियोंमें यह सुप्त अवस्थामें है और पत्थर आदिकोंमें अप्रकट अवस्थामें है, घोर निद्रामें पडा है, ऐसा समझिये । इन चार अवस्थाओंमें आत्मा, पुरुष अथवा क्षेत्रज्ञ इस तरह प्रकट हुआ है ।

यही विश्वात्माका विश्वरूप है। वही विश्वात्मा मानवोंमें स्वयंप्रज्ञ होकर प्रकट हुआ है,पशुपक्षियोंमें केवल चेतनता प्रकट कर रहा है । वृक्षवनस्पतियोंमें सुप्त स्थितिमें है और पत्थरादि पदार्थोंमें गुप्त रहा है । यही विश्वात्मा मानवोंमें पूर्ण रूपसे प्रकट होकर अपने आपको जानता है, अपनी महिमाका अनुभव करता है और अन्य योनियोंमें केवल सत्तामात्र रहा है। विश्वात्माकी स्थिति यहां चार प्रकारकी वर्णन की गयी है। इसीका अर्थ यह है कि हरएक वस्तु प्रकृति-पुरुषके संयोगसे बनी है। जहां पुरुष-आत्मा नहीं, ऐसी एकभी वस्तु नहीं है ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
(गी० १३।२७)

'सब भूत नाश होनेवाले हैं, सब वस्तुएं नाशको प्राप्त होती हैं, इन नश्वर वस्तुओंमें अविनाशी परमेश्वर विराजता है, यह जो यथावत् जानता है,वही सत्य देखता है ।' अन्य लोग आंखें रहकर भी अन्धे हैं । नाशको प्राप्त होनेवाली वस्तुओंमें विश्वात्मा अविनाशी है। नाशको प्राप्त होना, विकारको प्राप्त होना अथवा बनना या बिगडना, यह सब प्रकृतिका कार्य है। इस प्रकृतिके साथ पुरुष सदा है और ये दोनों मिलकर सब सृष्टिके पदार्थ बनाती हैं ।

जैसा जलमें रस है वैसाही प्रकृतिमें पुरुष है । एक बर्तनका जल दस बर्तनोंमें रखा, तो जलके विभाग हुए, परंतु रस सबमें एक जैसाही है, जलके विभाग होनेपर भी रसके विभाग नहीं हुए। वैसेही प्रकृतिपुरुषके संयोगसे सब विश्वके अनंत पदार्थ बने हैं, प्रकृति विभक्त होकर नाना रूपोंको धारण करनेपरभी आत्मा या पुरुष उन सबमें अविभक्तही रहा है। पाठक इस बातको समझनेका यत्न करें। इसके समझनेसेहि परमात्मा विभक्त होनेवालोंमें अविभक्त कैसा है और विनष्ट होनेवालोंमें अविनाशी कैसा है यह बात समझमें आ जायगी। यही बात सबको जानने योग्य है और इसीके जाननेसे अमरत्वकी प्राप्ति हो सकती है ।

सब विश्वके नानाविध विषम पदार्थोंमें परमेश्वर सम है, यह जो जानता है वह विषमतामें भी समता धारण कर सकता है, विषम परिस्थितिमें उसका मन सम रह सकता है, सुखदुःखमें तथा हानिलाभमें वह समबुद्धि रख सकता है। इस तरह समत्वको प्राप्त हुआ मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है, सबसे उच्च स्थिति प्राप्त कर सकता है। (श्लो० २८)

सब कर्म प्रकृतिसे हो रहे हैं, सब किये जानेवाले उद्योग प्रकृति कर रही है, उन सब कर्मोंके होनेपरभी आत्मा अकर्ता है, निर्लेप है, निर्दोष है ऐसा जो देखता है, वही सत्य देखता है। जिनको यह ज्ञान नहीं है वे आंखें होनेपरभी अन्धे हैं। सूतके अनेक वस्त्र बनाये गये तो भी कपासको जैसा वस्त्रपन बाधित नहीं कर सकता, वैसाही प्रकृतिसे विविध पदार्थ बननेपर आत्मा निर्दोष रहता है। (श्लो० २९)

जब भूतोंका पृथग्भाव एकही आत्माके आश्रयसे है (एकस्थं पृथग्भावं अनुपश्यति) ऐसा अनुभव होता है और सबका विस्तार उसी एकसे होता है, (ततः एव विस्तारं) ऐसा जानता है, उस समय अपनाभी विस्तार उसी एक अद्वितीय अखण्ड आत्मासे हुआ है, ऐसा उसको स्पष्ट दीखने लगता है और इससे उसको अपना मूल ब्रह्ममें है और मैं ब्रह्मही हूं ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। यही जीवका ब्रह्म होता है।

जब सभी वस्तुएं ब्रह्मसे विस्तारित हुई हैं ऐसा ज्ञान होता है, तब सब वस्तुओंमें मैं हूं यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है और जो सब वस्तुओंका बीज है, वह ब्रह्म मेरा बीज है यह ज्ञान स्पष्ट हो जाता है और वह अपने आपको ब्रह्मसे अनन्य समझने लगता है। इसीका नाम (तदा ब्रह्म संपद्यते) उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त होता है, यह है। यही ज्ञान सुविचारपरंपरासे जब सुदृढ हो जाता है, उस समय उसे सब पृथक् वस्तुमात्रमें अखंड एकरस ब्रह्मसत्ता दीखती है, अपने आपको उससे अपृथक् देखता है और सब वस्तुओंको ब्रह्मका विश्वरूप अनुभव करता है। उस समय—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।
(वा० यजु० ४०।५)

'जिस समय सब भूत आत्मा ही हुए' यह अवस्था उसे प्राप्त होती है और फिर एकत्वका दर्शन प्रत्यक्ष करनेवाले उस विज्ञानीको शोक और मोह क्यों कर सतायेंगे? शोकमोह तो भेदभावसे ही उत्पन्न होते हैं, जिसे सब भेद एकत्वमें लीन हो चुके उसे शुद्ध आनंद ही प्राप्त होगा, इसमें क्या संदेह है? एक ही ब्रह्मसे अनेकविध विश्व विस्तृत होता है और यह अनेकविध विश्व उस एकही ब्रह्ममें फिर मिल जाता है। जैसे सोनेके अलंकार और फिर अलंकारोंका सोना होना है। दोनों अवस्थाओंमें सोनेका सोनेपन जैसा सदा अखण्ड रहता है, वैसाही पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओंमें ब्रह्मका ब्रह्मपण अखण्ड रहता है। विश्वका विस्तार होने न होनेमें ब्रह्मके ब्रह्मत्वमें कोई भेद नहीं होता।

यही ब्रह्मकी अखण्ड एकरस सनातन सत्ता है। इसमें आप अपना अस्तित्व भी मिलाइये तो अपने आपको उससे अनन्य अनुभव करनेमें आप समर्थ होंगे। (श्लो० ३०)

अनादि अव्यय निर्गुण परमात्मा यही है। यह शरीरमें होनेपर भी न कुछ करता है (शरीरस्थोऽपि न करोति) और न लिप्त होता है (न लिप्यते)। जेवर होनेपर सोनेमें किस तरह दोष होता है, वह सोना जैसा का वैसाही है। इसी तरह निर्गुण परमात्मा शरीरमें रहनेपर भी सगुण थोडाही होता है। यह सगुणता शरीरकी प्रकृतिकी है, आत्मा वैसाही शुद्ध अव्यय और निर्गुण है। मिश्रीके जेवर बनाये तो मिश्रीका मिश्रीपन हटता नहीं और न मिठास कम

होती है। इसी तरह अनंत शरीरोंके भेद होनेपर भी उनमें परमात्मा एकरस अखण्ड अनादि अनंत है और वैसाही अपने अन्दर भी है। (श्लो० ३१)

जैसा आकाश सूक्ष्म है और सर्वत्र एक जैसा है, सब घडोंमें घडेके आकारवाला और सब घरोंमें घरोंके आकारवाला है, तथापि किसी घडेके या घरके टूटने न टूटनेसे उस आकाशमें कुछभी न्यूनाधिक नहीं होता, वैसाही सब विभिन्न वस्तुओंमें एकरस आत्मा होनेपर भी वस्तुगत दोषसे वह दोषयुक्त नहीं होता। वस्तु सदोष हो या निर्दोष वह आत्मा सदा निष्कलंक है। (श्लो० ३२)

जैसा एकही सूर्य सब विश्वको प्रकाशित करता है वैसाही यह पुरुष प्रकृतिको प्रकाशित करता है अर्थात् क्षेत्रज्ञ क्षेत्रको प्रकाशित करता है, आत्मा शरीरको चैतन्य देता है। अर्थात् जैसा अनेक बुरेभले पदार्थोंपर प्रकाश डालनेके कारण सूर्यको कोई दोष नहीं लगता, वैसाही भलेबुरे पदार्थोंके अन्दरसे प्रकाश करनेके कारण आत्माको कोई दोष नहीं लगता। (श्लो०३३)

ज्ञानचक्षु।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुष, देह और आत्मा, जड और चेतन, रयी और प्राणका यह अन्तर अर्थात् यह भेद (ज्ञानचक्षषा। ज्ञानकी आंखसेही मनुष्य देखें, क्योंकि यह कल्पनागत भेद है, वस्तुगत भेद नहीं है। जैसा खांड और मीठासका भेद ज्ञानचक्षुसे देखा जानेवाला है, खांड और मीठास अलग अलग कभी हो नहीं सकते, वे एकही वस्तुके दो पहलू हैं, वैसाही प्रकृति यह पुरुषकी शक्ति होनेके कारण एक दूसरेकेही साथ है अतः उनमें कल्पनाका अन्तर है, वस्तुका अन्तर नहीं। यहां जो यह अन्तर ज्ञानचक्षुसेही देखनेको कहा है, उसकी ओर पाठक विशेष ध्यान दें, क्योंकि यह अन्तर सत्य नहीं है, केवल कल्पनासे ही भासमान होनेवाला है। जो यह जानते हैं कि, यह केवल कल्पनाका भेद ज्ञानचक्षुसे ही दीखनेवाला है, प्रकृति और पुरुष ये अलग रहनेवाली पृथक् दो वस्तुएं नहीं हैं, वे ही भूतप्रकृतिसे मुक्त होनेका उपाय जानते हैं और वे परब्रह्मको प्राप्त करते हैं। (श्लो० ३४)

प्रकृति–मोक्ष।

यहां ‘भूतप्रकृति-मोक्ष’ को जानना और ‘परब्रह्मको प्राप्त होना’ इसका आशय देखना चाहिये। ‘भूतप्रकृतिमोक्ष’ का ठीक ठीक विचार समझनेके लिये दो कल्पनाओंका मनन करना चाहिये।

१ भूतप्रकृति–बंधनं।

२ भूतप्रकृति–मोक्षः।

ये शब्दोंद्वारा व्यक्त होनेवाली कल्पनाएं ठीक तरह समझनेसे भूतप्रकृतिमोक्ष क्या है यह समझमें आसकता है। भूत शब्दका अर्थ ‘प्राणीमात्र’ है। वस्तुमात्र अर्थात् जो कुछ बना हुआ पदार्थ है, ऐसा अर्थ भी हम ले सकते हैं, परंतु अपने विचारका निर्णय करनेके लिये ‘प्राणिमात्र’ यह अर्थ पर्याप्त है। इन भूतोंकी विशिष्ट प्रकारकी प्रकृति होती है, उदाहरणार्थ सिंहव्याघ्रोंकी क्रूर प्रकृति, गायघोडेकी सौम्य प्रकृति। मनुष्योंमें भी देखिये कि कई मनुष्य सात्त्विक, कई राजस और कई तामस प्रकृतिवाले होते हैं। यह प्रकृतिस्वभाव भूतोंके पीछे लगा हुआ है, यह त्रिगुणात्मक स्वभाव सबके पीछे लगा हुआ है, मनुष्योंके पीछे ता यह लगाही है। कौन इस प्रकृतिस्वभावसे बच सकता है? जो गुणातीत होगा, वही इससे बच सकता है। प्रकृतिके गुणोंसे जो बंधन होता है, उससे मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय गुणातीत होनाही है। यहां भूतप्रकृतिसे मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय इस विचारसे पाठकोंके समझमें आगया होगा।

संपूर्ण पदार्थ, संपूर्ण प्राणी अथवा मनुष्यमात्र प्रकृतिके तीनों गुणोंसे बांधे हुए हैं.प्रकृतिके गुणोंके बंधनमें पडे हैं । जो गुणातीत होगा वही भूत-प्रकृतिसे मुक्त हो सकता है। भगवद्गीतामें आगे १४ वें अध्यायमें गुणत्रयविभागका विचार किया है और वहां गुणातीत होनेका उपाय भी कहा है। वहांहि विस्तारपूर्वक पाठकोंको गुणातीत होनेके महत्त्व का पता लग जायगा। गुणातीत होनेसे यह फल मिलता है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥
(गी० १४)

"सुख-दुःख, मिट्टी-सोना, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु इत्यादि द्वन्द्वोंके विषयमें समवृत्ति रखनेसे, परमेश्वरकी अनन्यभक्तिपूर्वक सेवा करनेसे, तथा सकाम स्वार्थभोगोंके लिये कर्म न करनेसे साधक गुणातीत होता है और ब्रह्मका श्रेष्ठत्व प्राप्त करता है।"

गुणातीत होना और ब्रह्मका श्रेष्ठत्व प्राप्त करना एकही बात है, क्योंकि ब्रह्म गुणातीत है इसी लिये श्रेष्ठ है। अतः जो गुणातीत होगा वह श्रेष्ठ बनेगा ।

गुणोंके आधीन न रहना चाहिये, गुणोंके बाहर रहकर गुणोंका खेल देखना चाहिये, गुणोंको अपने आधीन करना चाहिये। गुणोंके जालमें मनुष्य फंसे हैं, वे जब गुणोंके स्वामी बनेंगे तब अपनी शक्तिका अनुभव वे कर सकते हैं। गुणोंके जालसे जबतक वे बंधे रहेंगे तबतक उनकी परतंत्रताके कारण अपनी शक्तिका पता उनको लग नहीं सकता। परतंत्रता अपनी शक्तिका नाश करनेवाली है। इसीलिये भूतोंकी प्रकृतिसे अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करनेका उपदेश (भूत-प्रकृति-मोक्षं विदुः) किया है। जो यह साध्य करते हैं, वे (परं यान्ति) श्रेष्ठ ब्रह्म-भाव को प्राप्त करते हैं।

अब आगे के १४ वें अध्यायमें प्रकृतिके गुण कौनसे हैं,वे मनुष्यको कैसा बांधते हैं और किस युक्ति से मनुष्य उनके बंधनसे मुक्त हो सकता है, इसका विचार देखिये।

यहां तेरहवें अध्यायका मनन समाप्त हुआ ॥१३॥

तेरहवें अध्यायकी विषयसूची।

संपूर्ण

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	पृष्ठसंख्या	सजिल्द	मूल्य	डा० व्य०
१ आदिपर्व	११२५	,,	६। छः रु.	१।)
२ सभापर्व	३५६	,,	२॥) अढाई	॥।)
३ वनपर्व	१५३८	,,	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	३०६	,,	२) दो	॥)
५ उद्योगपर्व	९५३	,,	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	८००	,,	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	१३६४	,,	७॥) साढेसात	१॥)
८ कर्णपर्व	६३७	,,	३॥) साढेतीन	॥।)
९ शल्यपर्व	४३५	,,	२॥) अढाई	॥।)
१० सौप्तिकपर्व	१०४	,,	॥।) बारह आने	।=)
११ स्त्रीपर्व	१०८	,,	॥।) " "	।=)
१२ शान्तिपर्व				
१ राजधर्मपर्व	६९४	,,	४) चार	॥=)
२ आपद्धर्मपर्व	२३२	,,	१॥) डेढ	।≡)
३ मोक्षधर्मपर्व	११००	,,	६) छः	१।)
१३ अनुशासनपर्व	१०७६	,,	६) छः	१=)
१४ आश्वमेधिकपर्व	४००	,,	२॥) अढाई	॥)
१५ आश्रमवासिकपर्व	१४८	,,	१) एक	।=)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहणपर्व	१०८		१ एक	।=)

सजिल्दका मू० ६५) रु०

मिलनेका पता— मन्त्री--स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

चतुर्दशोऽध्यायः।

गुण–त्रय–विभाग–योगः।

(१) उत्तम ज्ञान।

श्रीभगवानुवाच-परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

अन्वयः—श्रीभगवान् उवाच– यत् ज्ञात्वा सर्वे मुनयः इतः परां सिद्धिं गताः,(तत्) ज्ञानानां उत्तमं परं ज्ञानं भूयः (अहं ते) प्रवक्ष्यामि ॥१॥ (ये) इदं ज्ञानं उपाश्रित्य मम साधर्म्यं आगताः, (ते) सर्गे अपि न उपजायन्ते, प्रलये च न व्यथन्ति ॥२॥

श्रीभगवान् बोले, जिसको जान कर सब मुनियोंने यहांसे हि परम सिद्धि प्राप्त की, वह सब ज्ञानोंमें उत्तम श्रेष्ठ ज्ञान फिरसे (मैं तुझे) कहता हूं ॥१॥ (जो) इस ज्ञान का आश्रय करके मेरे (ईश्वरके) समान धर्म को प्राप्त हुए, (वे) उत्पत्तिके समय न जन्म लेते हैं और प्रलयकालमें न कष्ट भोगते हैं ॥२॥

भावार्थ—श्रेष्ठ ज्ञान वह है कि, जिससे परम श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त होती है, वही ज्ञान बार बार सुनना सुनाना चाहिये। जिस ज्ञानसे नर का नारायण बनता है और जन्ममरण के कष्ट दूर होते हैं, वही ज्ञान श्रेष्ठ है और वही प्राप्त करना चाहिये ॥१–२॥

ईश्वरसे साधर्म्य।

(१–२) उत्तमसे उत्तम ज्ञान अब इस अध्यायमें कहा जाता है। इस ज्ञानको प्राप्त करके प्राचीन कालके अनेक ऋषियों, मुनियों, सिद्धों और योगियोंने उत्तमसे उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी। इस तरह यह ज्ञान केवल तर्क में अथवा विचार में हि रहनेवाला नहीं है, प्रत्युत प्रत्यक्ष व्यवहारमें उत्तमसे उत्तम सिद्धि देनेवाला है। इसी कारण इसकी योग्यता प्रत्यक्ष फलदायी होनेके हेतुसे विशेष है।

जो ज्ञान अब कहा जायगा उस ज्ञानसे वारंवार जन्ममरण के दुःख भोगने नहीं पडते। यह एक लाभ तो हैहि,परंतु इससेभी अधिक महत्त्वका एक लाभ है वह–

(ईश्वरस्य) साधर्म्यं आगताः। (२)

ईश्वरके जो धर्म हैं उन धर्मोंके समान इसके धर्म होते हैं। जैसा तपा हुआ लोहा अग्निके गुणधर्मोंसे युक्त होता है, इसी तरह ईश्वरकी पवित्र अग्निमें तपा हुआ यह साधक ईश्वरके पवित्र और शुभ गुणधर्मोंसे युक्त हो जाता है, मानो ईश्वर ही बन जाता है, क्योंकि जो ईश्वरके साथ समानधर्मा हो गया, उसके ईश्वर

(२) पिता और माता।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

अन्वयः- हे भारत! महद् ब्रह्म मम योनिः (अस्ति); तस्मिन् अहं गर्भं दधामि; ततः सर्वभूतानां संभवः भवति ॥३॥ हे कौन्तेय! सर्वयोनिषु याः मूर्तयः संभवन्ति तासां योनिः महद् ब्रह्म (अस्ति), अहं बीजप्रदः पिता (च अस्मि) ॥४॥

हे भरतकुलमें उत्पन्न वीर! महत्-ब्रह्म अर्थात् मेरी प्रकृति हि मेरा गर्भ रखनेका स्थान है, उसमें मैं गर्भ रखता हूं; वहींसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥३॥ हे कुन्तीपुत्र! सब योनियोंमें जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबका उत्पत्तिस्थान महत्-ब्रह्म अर्थात् मेरी प्रकृतिहि है और मैंहि उसमें बीज डालनेवाला पिता हूं ॥४॥

भावार्थ—ईश्वर है, उसकी बडी शक्ति प्रकृति है, ईश्वर अपना बीज इस प्रकृतिमें डालता है, जिससे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है, अर्थात् ईश्वरके वीर्यसे प्रकृतिमातामें गर्भधारणा होकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। अतः सब साधक अपने अन्दर परमात्माका बीज है, यह जानकर, इस बीजका विकास होकर अपने आपको अपने परम पिताके समान समर्थ बनना है, इस बातको न भूलें ॥३-४॥

बननेमें क्या न्यून हो सकता है? अर्थात् यह ज्ञान 'नरका नारायण' करनेवाला है। अतः यह हरएक साधक को अवश्यही प्राप्त करना चाहिये, इसलिये आगे जो ज्ञान कहा जानेवाला है, उसका मननपूर्वक एकाग्रचित्त होकर ग्रहण करिये-

सबका उत्पत्ति-स्थान।

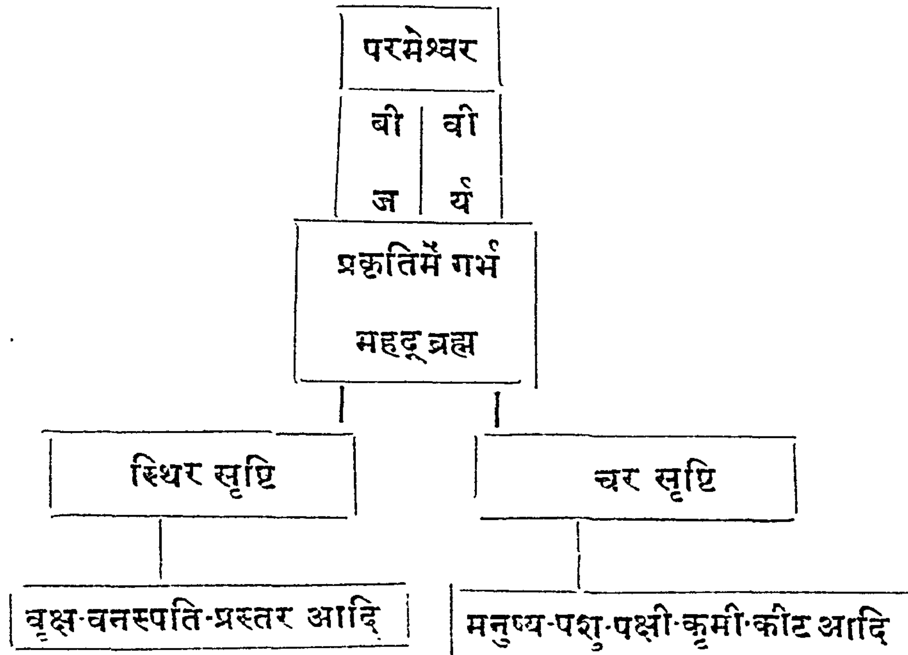
(३-४) सब विश्वका पालक एक ईश्वर है, उस ईश्वरकी एक प्रकृति है, उसको 'महद्ब्रह्म' कहते हैं। यह अनंत शक्ति है। अपरंपार अथांग शक्ति होनेसे तथा इसका पार कोई भी नहीं पा सकता, इस कारण इसको 'महत्-ब्रह्म' कहते हैं। 'महत्' का अर्थ 'बडा' है और 'ब्रह्म' का अर्थ भी 'विशाल, विस्तृत' है। अतः 'महत्-ब्रह्म' का अर्थ 'बडी विशाल, विस्तृत शक्ति' है। यह ईश्वरकीहि शक्ति है। जैसा ईश्वर महान् है, वैसीहि उसकी शक्ति भी महती है।

यही ईश्वरकी महती प्रकृति सब स्थिरचरका (योनिः) उत्पत्तिस्थान है। इसीसे सब पैदा होते हैं और इसीमें अन्तमें जा मिलते हैं। कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि, जो इस प्रकृतिसे उत्पन्न न हुई हो। अर्थात् स्थिरचर, मूर्त, अमूर्त सृष्टिके अन्तर्गत सब पदार्थ इसी ईश्वरीय प्रकृतिसे पैदा हुए हैं।

मानो ईश्वर (बीजप्रदः पिता) गर्भाधान करनेवाला पिता है और यह प्रकृति गर्भका धारण-

पोषण करके प्रसव करनेवाली (ब्रह्म महत् योनिः) माता है। इस प्रकृतिकी योनिमें ईश्वरका वीर्य जाता है। वहां उससे गर्भधारणा होती है और सृष्टिके सब चल और अचल-सजीव और निर्जीव (मूर्तयः संभवन्ति) पदार्थ बनते हैं। (संभवः सर्वभूतानां ततो भवति। गी० १४।३) संपूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति इस तरह होती है।

इस सृष्टिमें मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, जलचर, स्थलचर, खेचर, वृक्ष, वनस्पति आदि अनंत योनियां हैं। प्रत्येक जातिमें अनंत उपजातियां हैं। इनकी गिनती नहीं हो सकती। प्रत्येक योनिमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंका स्वभाव-धर्म भिन्न भिन्न होता है। प्रत्येक उपजातिमें उत्पन्न होनेवालों का स्वभावधर्म भी विभिन्न होता है। ऐसे संपूर्ण अनंत योनियोंमें उत्पन्न होनेवाली अनंत मूर्तियोंकी महायोनि यह परमात्माकी प्रकृति ही है और परमेश्वर ही सबका बीज इस प्रकृतिमें डालता है, जिससे सब सृष्टिमें दीखनेवाली मूर्तियां उत्पन्न होती हैं। यह इस तरह होता है—



इसका तात्पर्य यह है की, पदार्थ स्थिर हो या चल हो, उसमें प्रकृतिका अंश है और साथ-साथ परमात्मके सारभूत वीर्यकाभी अंश है। परमात्माका वीर्य केवल सजीव सृष्टिमें है और निर्जीव सृष्टिमें नहीं है ऐसा नहीं है, दोनोंमें उसका वीर्य है। सजीव सृष्टि जैसी विविध प्रकारकी है, वैसी हि निर्जीव सृष्टिभी है और दोनोंका परम पिता बीजदाता परमात्माही है। साधक यहां समझे कि, अपने अन्दर परमात्माका बीज है, साथ ही साथ यह भी समझे कि अपने अन्दर परमात्माका बीज होनेसे उसका विकास होकर नरका नारायण बनानेवाला है। मैं परमात्माका अमृत पुत्र हूं, अतः मैं परम पिताके साधर्म्य को अवश्य प्राप्त करुंगा। जैसा प्रत्येक पुत्र पिताके साधर्म्यसे युक्त होता ही है वैसा ही मैं उसका अमृत पुत्र उसके अमृतको अवश्यही प्राप्त होऊंगा। उसके अमरपनको प्राप्त करना ही मेरा जीवन—उद्देश्य है। उस परम पिता परमात्माके वीर्यका स्वभावही ऐसा है कि, वह क्रमशः परमात्माके साधर्म्यसे युक्त होगा (साधर्म्यं आगताः। १४-२) कितनेभी विघ्न बिचमें आगये तो भी उन

(३) तीन गुणोंका बंधन।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९॥

अन्वयः-हे महाबाहो! सत्त्वं रजः तमः इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः,(सन्ति, ते) देहे अव्ययं देहिनं निबध्नन्ति ॥५॥ हे अनघ! तत्र अनामयं प्रकाशकं सत्त्वं निर्मलत्वात् (आत्मानं) सुखसंगेन ज्ञानसंगेन च बध्नाति ॥६॥ हे कौन्तेय ! रागात्मकं रजः तृष्णासंगसमुद्भवं, विद्धि। तत् देहिनं कर्मसंगेन निबध्नाति ॥७॥ हे भारत! तमः तु सर्वदेहिनां मोहनं अज्ञानजं विद्धि। तत् (देहिनं) प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः निबध्नाति ॥८॥ हे भारत! सत्त्वं (देहिनं) सुखे संजयति, रजः कर्मणि, उत तमः तु ज्ञानं आवृत्य प्रमादे संजयति ॥९॥

हे महाबाहो! सत्त्व, रज और तम ये गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले हैं, वे देहमें अविनाशी देहधारीको-जीवको-बांध लेते हैं ॥५॥ हे निष्पाप! इसमें नीरोगता देनेवाला और प्रकाश करनेवाला सत्त्वगुण अपनी निर्मलताके कारण आत्माको सुखसे और ज्ञानसे बांधता है ॥६॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! प्रेम करनेवाला रजोगुण होनेसे वह तृष्णा और आसक्ति उत्पन्न करता है,ऐसा तू समझ।

संपूर्ण विघ्नोंको परास्त करके परमपिताके साधर्म्य को यह अवश्य प्राप्त होगा। संपूर्ण विघ्नोंका ही पराजय होगा और यही परमात्माका बीज विजयी होकर पूर्णताके साथ बढेगा।

अपने अन्दर यही अतुल सामर्थ्ययुक्त परमात्मबीज है और जैसा वटबीज का वटवृक्ष होता है, उसी प्रकार मैं भी नरका नारायण, पुरुषका पुरुषोत्तम, जीवात्माका परमात्मा,जीव का शिव अवश्य बनूंगा।

इस ज्ञानसे साधक के मनमें यह निश्चय हो जायगा और उसका आत्मविश्वास निःसन्देह बढेगा। यहांतक बीजका विचार करके अब इसकी प्रकृतिका विचार करते हैं—

वह देहधारीको कर्मपाशसे बांधता है ॥७॥ हे भरतकुलोत्पन्न ! तमोगुण तो सब देहियोंको मोहमें डालनेवाला है और वह अज्ञानसे उत्पन्न होता है। वह देहीको प्रमाद,आलस्य और निद्रा से बांध देता है ॥८॥ हे भारत! देहधारीको सत्त्वगुण सुखमें, रजोगुण कर्ममें और तमोगुण ज्ञानको ढक कर प्रमादमें लगा देता है ॥९॥

भावार्थ—प्रकृतिमें सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। ये तीनों गुण देह की उत्पत्तिके साथ देहमें आते हैं और इन गुणोंके मेलसे देहधारी जीवका स्वभाव बनता है। सत्त्वगुणसे निर्मलता, नीरोगता, प्रकाश, सुख और ज्ञान प्राप्त होता है। रजोगुणसे विषयोंपर प्रेम, तृष्णा, भोगोंपर आसक्ति और कर्मोंके साथ संग होते हैं, तथा तमोगुणसे मोह, प्रमाद, अशुद्धियां, आलस्य, निद्रा, अज्ञान आदि होता है। इन गुणोंको अपनेमें देखकर मनुष्य अपने में किस गुणकी प्रधानता है इसकी परीक्षा करे ॥५-९॥

प्रकृतिका स्वभाव।

(५-९) परमात्माकी एक प्रकृति है, जिसमें परमात्मा का बीज जाकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। इसमें परमात्माके बीजका महिमा बताया, अब प्रकृतिका स्वभावधर्म बताना है। इस प्रकृतिमें तीन गुण हैं। उनके नाम सत्त्व, रज और तम हैं। ये तीन गुण जिस समय सम भावमें रहते हैं तब इस प्रकृतिको 'मूल प्रकृति, गुणसाम्या प्रकृति' कहते हैं। इस गुणसाम्यावस्थामें इससे कोई कार्य नहीं होता है, कार्य होनेके लिये इसमें कुछ न कुछ विषमता उत्पन्न होनी पडती है और इस प्रकृतिकी गुण-साम्यता हटकर, गुण-विषमता उत्पन्न होनी आवश्यक होती है।

सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणोंके कुछ विशेष धर्म होते हैं, वे अब देखिये-

सत्त्वगुण।

निर्मल, निर्दोष, प्रकाशक, मार्गदर्शक, अनामय, नीरोगता स्थापन करनेवाला, व्याधियोंको हटानेवाला, सुख देनेवाला, इंद्रियोंकी सुस्थिति रखनेवाला, ज्ञान देनेवाला, (सत्त्व) बल बढानेवाला यह है।

रजोगुण।

यह राग अर्थात् विषयोंपर प्रीति उत्पन्न करता है, तृष्णा-प्यास अथवा चाह उत्पन्न करता है, मुझे यह चाहिये और वह चाहिये, ऐसी जो मनमें वृत्ति उठती है,वह इसी रजोगुण से उठती है। भोगोंके साथ संग करनेकी अभिलाषा होती है। यह रजोगुणी मनुष्य भोगोंका संग छोडना नहीं चाहता,भोगोंको अपने पास इकट्ठा करता जाता है,भोगोंकी प्राप्ति के लिये विविध प्रकारके छोटेमोटे कर्म करना शुरू करता है, एक कर्म समाप्त होनेपर दूसरा, दूसरेके बाद तीसरा ऐसे विविध कर्मोंका प्रारंभ करता है। यह रजोगुण का स्वरूप है।

तमोगुण।

तमोगुणसे अज्ञान होता है, ज्ञानग्रहणशक्ति ढक जाती है, घेरी जाती है, वह अपना कार्य कर नहीं सकती। ज्ञान न होनेसे मोह होता है, मोह होनेसे कार्य और अकार्य का निर्णय नहीं होता है, क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, यह वह जान नहीं सकता। इस कारण वह प्रमाद-गलतियां और अशुद्धियां करता है,उसमें आलस्य निरुत्साह सुस्ती उत्पन्न

(४) तीनों गुणोंके लक्षण।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

होती है। वह रातदिन निद्रा लेता है, कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करता, पडा रहता है। शरीर, वाणी और मनके कार्य करनेमें अरुचि होती है। यह है तमोगुणका स्वरूप।

संक्षेपसे जानना चाहें तो सत्त्वगुणसे सुख, रजोगुणसे विविध कर्म और तमोगुणसे ज्ञान घेरा जानेके कारण प्रमाद होते हैं।

संपूर्ण विश्वमें इन तीन गुणोंका खेल चल रहा है। यह त्रिगुणोंका विलास इस विश्वमें पाठक देखें। प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक वस्तु इन तीनों गुणोंसे वनी है, किसीमें किस गुणका विकास है, तो दूसरेमें न्यूनता है। न्यून हों वा अधिक हों, इन तीनों गुणोंका निवास सब सृष्टिके पदार्थों में है। मूल प्रकृतिमें ही ये तीनों गुण हैं, अतः प्रकृतिसे उत्पन्न हुए विविध पदर्थोंमें ये दीख रहे हैं।

जो सुख चाहता है, वह सत्त्वगुणसे अपने आपको बांधना चाहता है। जो अनेक कर्म करना चाहता है, वह रजोगुणसे अपने आपको बांध देता है और जो सुस्त पडता है, वह तमोगुणसे वेष्टित होता है। किसी एक गुणका प्रभाव हुआ, तो वहां अन्य गुण नहीं होते, ऐसी वात नहीं है, होते तो हैं, परंतु दवे होते हैं।

यदि कोई मनुष्य निर्मल निर्दोष नीरोग और आनंदप्रसन्न है, चतुर है, तो समझो कि उसमें सत्त्वगुण प्रभावशाली हुआ है। यदि कोई मनुष्य यह चाहिये वह चाहिये, ऐसा करता है और भोगवस्तुओं की प्राप्तिके लिये दिनरात प्रयत्न करता है, तो उस सदा अशान्त मनुष्यमें रजोगुण का प्रभाव बहुत वढ गया है, ऐसा समझना उचित है। तथा जिसमें कुछ भी वुद्धि नहीं है, जो वडा सुस्त है, दिनरात सोता रहता है, बिलकुल प्रयत्न नहीं करता, यदि कुछ करने लगता है, तो अनेक प्रमाद ही कर बैठता है, उसमें तमोगुण वढ गया है ऐसा समझो।

इस ढंगसे किस मनुष्यमें कौनसा गुण वढ गया है, इसकी परीक्षा हो सकती है। साधक इस तरह अपनी परीक्षा करे। किसी एक गुणकी वृद्धि होनेका अर्थ अन्य गुण दवे रहे हैं, ऐसा ही समझना चाहिये। इसी विषयमें आगे कहा है सो देखो—

अन्वयः- हे भारत! सत्त्वं, रजः तमः अभिभूय (स्वयं) भवति; रजः, सत्त्वं तमः च (अभिभूय स्वयं भवति); तथा तमः, सत्त्वं रजः च (अभिभूय स्वयं भवति) ॥ १० ॥ उत यदा अस्मिन् देहे सर्वद्वारेषु प्रकाशः ज्ञानं च उपजायते, तदा सत्त्वं विवृद्धं इति विद्यात् ॥ ११ ॥ हे भरतर्षभ! लोभः, प्रवृत्तिः, कर्मणां आरंभः, अशमः, स्पृहा एतानि (चिह्नानि) रजसि विवृद्धे (सति) जायन्ते ॥ १२ ॥ हे कुरुनंदन! अप्रकाशः,अप्रवृत्तिः च प्रमादः, च मोहः एव, एतानि (चिह्नानि) तमसि विवृद्धे (सति) जायन्ते ॥ १३ ॥

सत्त्वगुण रज और तमोगुण का पराजय करके (स्वयं प्रभावित) होता है, वैसाहि रजोगुण सत्त्व और तम का (पराजय करके स्वयं प्रभावी होता है), वैसाही तमोगुण सत्त्व और रजोगुग को (परास्त करके स्वयं प्रभावी) होता है ॥ १० ॥ जब इस देहमें सब इंद्रियोंमें प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न होता है, तब सत्त्वगुण बढ गया है,ऐसा समझना चाहिये ॥ ११ ॥ हे भरतश्रेष्ठ! लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका आरंभ, इंद्रियोंकी अशान्ति और इच्छा ये चिह्न रजोगुण बढनेपर होते हैं ॥ १२ ॥ हे कुरुपुत्र अर्जुन! प्रकाशका अभाव, कर्म करनेकी प्रवृत्ति न होना, प्रमाद,और मोह ये चिह्न तमोगुण बढनेपर होते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ-यद्यपि मनुष्यमें तीनों गुण सदा रहते हैं,तथापि समय समयपर अन्य गुण दब जाते हैं और किसी एक गुणका विशेष प्रभाव होता है । किसी समय रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं और सत्त्वगुण प्रभावशाली होकर कार्य करता है । दूसरे समय सत्त्वगुण और तमोगुण दब जाते हैं और रजोगुण बढकर प्रभावी हो जाता है । तीसरे समय सत्त्वगुण और रजोगुण दब जाते हैं और तमोगुण बढकर प्रभावी होता है । इस तरह इन प्राकृतिक गुणोंका खेल चलता रहता है । जब देहमें प्रकाश और ज्ञान होता है तब सत्वगुण का प्रभाव है; जब लोभ, प्रवृत्ति, भोगलालसा, कर्मोंकी प्रवृत्ति, असंयम आदि चिह्न होते हैं, तब रजोगुण का प्रभाव है, तथा जब अज्ञान, अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद, मोह आदि होते हैं, उस समय तमोगुणका प्रभाव हुआ है, ऐसा समझना चाहिये । इससे साधक अपने अन्दर किस समय किस गुणका प्रभाव हुआ है, यह जान सकता है ॥ १०-१३ ॥

(१०-१३) एक गुण प्रभावशाली हुआ तो दूसरे दब जाते हैं । अर्थात् दूसरे गुणोंको दबाकर ही कोई एक गुण प्रभावी होता है, जैसा—

सत्त्वप्रभाव	रजःप्रभाव	तमःप्रभाव
रज-तम	सत्त्व-तम	सत्त्व-रज

जो प्रभावी होता है, वह दूसरोंको दबाए रखता है और उनको उठने नहीं देता । इसलिये उन दबे हुए गुणोंमें उठनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और वे यत्न करते हैं और जो अधिक जोर पकडता है, वह अधिक प्रभावशाली बनता है और दूसरों को दबाये रखता है । ऐसा तीनों गुणोंका खेल चलता रहता है । (श्लो० १०)

इस देहके संपूर्ण इंद्रियद्वारोंमें जब प्रकाश होता है,सर्वत्र प्रसन्नता अनुभव होती है, असाधारण आनंद होने लगता है, स्वाभाविक नीरोगता रहती है, संदेहरहित ज्ञान ज्ञानेंद्रियोंके द्वारा होता है, उस समय सत्त्वगुण उस देहमें बढ गया है और प्रभावशाली हुआ है, ऐसा जानना योग्य है । (श्लो० ११)

जिस समय इस देहमें लोभ उत्पन्न होता है, यह मुझे मिलना चाहिये, ऐसी इच्छा प्रबल हो जाती है; उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये कर्म करने की प्रवृत्ति होती है,उस भोगलालसा की तृप्तिके

(५) तीनों गुणोंका फल।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥
सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं गछन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

अन्वयः-यदा तु सत्त्वे प्रवृद्धे (सति) देहभृत् प्रलयं याति तदा उत्तमविदां अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥ (देहभृत्) रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते। तथा (सः) तमसि प्रलीनः मूढयोनिषु जायते ॥१५॥ सुकृतस्य कर्मणः सात्विकं निर्मलं फलं,रजसः फलं तु दुःखं, तमसः च फलं अज्ञानं (इति) आहुः॥१६॥ सत्त्वात् ज्ञानं संजायते,रजसः लोभः एव च (संजायते),तमसः प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानं च एव भवति ॥१७॥ सत्त्वस्थाः ऊर्ध्वं गछन्ति, राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति, जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति ॥१८॥

लिये विविध कर्मोंका प्रारंभ किया जाता है,एक कर्मसे भोग न मिले तो दूसरे अनेक कर्म एकके पीछे दूसरा ऐसे आरंभ किये जाते हैं, इंद्रियोंका संयम करनेका यत्नतक नहीं होता, परंतु अशान्तिहि उन्नतिका साधन समझा जाता है, मुझे यह चाहिये आज मेरे पास यह है,कल उसको प्राप्त करूंगा, परसूं वह मिलेगा, और उस समय मैं बहुत ही सुखी हो जाऊंगा, इस तरह की वासना, कामना तथा भोगस्पृहा जब बढती हि जाती है, उस समय उस देहमें रजोगुण बढ गया है, ऐसा समझना योग्य है। (श्लो०१२)

जब देहमें कुछ कार्य न किये जांय, चुपचाप पडे रहें, कुछभी हलचल न करें, सो जाय, आलस्यमें पडे रहना ही सुखदायक है, ऐसी मनोवृत्ति हो जाती है, क्या करना चाहिये और क्या करना नहीं चाहिये, इस विषयमें कुछभी निश्चय नहीं होता, भविष्यके विषयमें अपने आंखोंके सामने बिलकुल अन्धेरा ही रहता है, उजालेका एकभी किरण सामने नहीं होता, जो किया जाता है उसमें प्रमाद गलतियां और अशुद्धियां ही होती है, कभी कुछ कर्म निर्दोष नहीं होता, मोह, अज्ञान अविद्या ही मनको घेरी रहती है, उस समय वहां तमोगुण प्रबल हुआ है,ऐसा समझना चाहिये।

इस वर्णनसे अपने अन्दर किस समय कौनसा गुण प्रबल हुआ है और किस समय अपना जीवन किस गुणके प्रभावके अन्दर गया है, यह निश्चित होता है। साधक इस तरह अपनी परीक्षा करे और जाने कि अपने जीवन को घेरनेवाला गुण कौनसा है। इसी विषयमें और आगे देखिये-

जब सत्त्वगुण की वृद्धि होनेपर देहधारी देहको छोड देता है, तब वह उत्तम ज्ञानियोंके निर्मल लोकोंको प्राप्त करता है ॥१४॥ रजोगुण की वृद्धि होनेके समय जब मृत्यु हो जाती है, तब वह कर्मसंगी लोगोंमें जन्म लेता है। वैसा ही तमोगुण के बढनेपर मृत्यु हो गयी, तो मूढ योनियोंमें उत्पन्न होता है॥१५॥ सत्कर्मका फल सात्त्विक और निर्दोष होता है, रजोगुणका फल दुःख और तमोगुण का फल अज्ञान है, ऐसा कहते हैं ॥१६॥ सत्त्वगुणसे ज्ञान होता है, रजोगुणसे लोभ होता है और तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान होता है ॥१७॥ सात्त्विक उन्नत होते हैं, राजस बीचमें रहते हैं और अधोगतिको जानेवाले तमोगुणी लोग नीचे गिरते हैं ॥१८॥

भावार्थ-सत्त्वगुणका प्रभाव रहनेपर मृत्यु हो गयी, तो अगला जन्म ज्ञानियोंमें होता है, रजोगुणके प्रभावके समय मरण हुआ तो कर्म करनेवालों में जन्म होता है और तमोगुणके प्रभावके समय मृत्यु हुई, तो मूढ जातियोंमें उत्पत्ति होती है। अतः सत्त्वगुण अपनेमें बढाना लाभदायक है। सत्त्व, रज और तमोगुणोंका फल क्रमशः सुख अशान्ति और अज्ञान है। सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुणसे असावधानी, मोह और अज्ञान होता है। सत्त्वगुणी लोग उन्नत होते हैं, रजोगुणी बीच की अवस्थामें प्रयत्न करनेमें दत्तचित्त होते हैं, और तमोगुणी लोग अधोगतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये साधक को अपनेमें सत्त्व गुणकी वृद्धि करनेका यत्न करना चाहिये ॥१४-१८॥

(१४-१८) सत्त्व, रज और तम ये गुण प्रभावशाली रहनेपर मृत्यु हो गई तो अगला जन्म किस प्रकार की परिस्थितिमें होता है, इसका विचार अब बताते हैं।

सत्त्वगुण प्रबल रहनेके समय मृत्यु होनेसे वह जीवात्मा उत्तम निर्मल निर्दोष ज्ञानी लोगोंके घरमें उत्पन्न होता है, वहां उसको सब प्रकारकी सात्त्विक परिस्थिति मिलती है और वह उत्तम उन्नतिको प्राप्त होता है।

जिस समय रजोगुण का जोर होता है, उस समय मृत्यु आनेपर वह जीवात्मा विविध कर्म करनेवालोंके घरमें जन्म लेता है और वहां विविध श्रेष्ठ पुरुषार्थ करता हुआ अनेकानेक भोग प्राप्त करता है।

इसी तरह तमोगुण की वृद्धि होनेके समय जिसकी मृत्यु होती है, वह मूढ जातियोंमें जन्म लेता है और वहां अज्ञानसे युक्त होकर प्रमाद और आलस्यमें सडता हुआ अत्यंत दुर्गतिको प्राप्त होता है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि, मृत्यु होनेके पश्चात् भी पूर्व जन्मके गुणका परिणाम कैसे भोगना पडता है, इसका उत्तर इतनाही है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण ऐसे तीन देह देहधारीके होते हैं। जो गुण प्रभावशाली होता है, वह इन तीनों देहोंमें प्रभावशाली होता है। स्थूल शरीर अन्नमय देह है, सूक्ष्म देह वासनामय देह है, मनोमय देह है और ज्ञानमय देह है। ये देह एक दूसरेके अन्दर होते हैं। सबसे बाहर स्थूल देह, यह अन्नका बनता है, इसके अन्दर सूक्ष्म वासनादेह और मनोमय देह है और इसके अन्दर कारणदेह अथवा बुद्धिरूप-ज्ञानरूप देह है। जिस समय सत्त्वगुण प्रधान होता है उस समय शरीर ही सात्त्विक गुणयुक्त होता है और मन आदि रज या तम गुणसे युक्त होते हैं, ऐसा नहीं

(६) द्रष्टाका गुणातीत होना ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अन्वयः—यदा द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यं कर्तारं न अनुपश्यति, गुणेभ्यः च परं (आत्मानं) वेत्ति, तदा सः मद्भावं अधिगच्छति ॥ १९ ॥ देही एतान् देहसमुद्भवान् त्रीन् गुणान् अतीत्य, जन्म-मृत्यु-जरा-दुखैः विमुक्तः (सन्) अमृतं अश्नुते॥२०॥

है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन देहोंमें एक ही गुण प्रभावशाली होता है। इस कारण स्थूल शरीर छूटनेपर अन्य दो शरीर जीवचैतन्यके साथ रहते हैं और उनमें वही गुण प्रभावशाली रहता है, जो मृत्युके समय प्रभावी हुआ था। वस्तुतः देखा जाय तो स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म और कारणदेहके गुणोंका प्रभाव अत्यधिक हुआ करता है। अतः मृत्युके पश्चात् सूक्ष्म देहोंके अन्दर के गुण इसको अपने साथ आकर्षित करके जहां पहुंचाना हो, वहां पहुंचा देते हैं। इससे स्पष्ट होगा कि, मृत्युके समय प्रभावशाली हुआ गुण मृत्युके पश्चात् दूसरा देह मिलनेतक और दूसरा देह धारण होनेके पश्चात् भी प्रभावशाली होता है। इसी लिये मरण के समय जो गुण प्रभावशाली रहेगा, उसका महत्त्व अधिक है।

जैसा निद्रा आनेके समय जो गुण प्रभावी रहेगा, उसका परिणाम पुनः जाग्रत होनेतक रहता है और सत्त्वगुणके समय निद्रा आ गयी, तो शान्त और गाढ निद्रा आती है, उत्तम स्वास्थ्य रहता है और आनन्द अनुभवमें आता है। रजोगुण के समय निद्रा आ गयी, तो अनेक स्वप्न आते हैं, भयभीत होनेके दृश्य दीखते हैं, भोग भोगनेके स्वप्न आते हैं और अशान्त नींद लगती है। इसी तरह तमोगुणके समय निद्रा आ गई तो बेहोषी जैसी छायी रहती है। इस तरह जितनी देरतक निद्रा आवेगी, उतनी देरतक उसी गुणका प्रभाव रहता है, जो गुण निद्रा आनेके समय प्रभावी रहता है। ऐसाही महानिद्रा-मृत्युके समय समझना उचित है। (श्लो० १४-१५)

सात्त्विक कर्मका निर्दोष सुखदायी फल, रजोगुणयुक्त कर्मका फल दुःख और तमोगुणी कर्मका फल अज्ञान और सुस्ती है। सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे अज्ञानजन्य प्रमाद और मोह होते हैं। इसकारण सत्त्वगुणसे उन्नति, रजोगुणसे मध्यम स्थिति और तमोगुणसे अधोगति होती है। (श्लो० १६-१८)

इस तरह इन तीनों गुणोंका प्रभाव और परिणाम जान कर साधक मनुष्य अपने आपको अवनति करनेवाले गुणोंसे बचावे और उन्नति करनेवाले गुणोंकी वृद्धि अपने अन्दर करनेका यत्न करे। इस तरह यत्न करनेपर निश्चयसे साधक की उन्नति होनेका उपाय उसके हाथमें आवेगा।

आगे इन गुणोंके बंधनोंसे मुक्त होनेके उपाय का उपदेश करते हैं। सो अब देखिये—

जब द्रष्टा इन गुणोंको छोडकर दूसरा कोई कर्ता नहीं है, यह प्रत्यक्ष देखता है, और गुणोंके परे रहनेवाले (आत्माको भी) देखता है, तब वह मेरे (ईश्वर के) स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ देह-धारी इन देहसे उत्पन्न होनेवाले तीनों गुणों के पार होकर जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखसे मुक्त होता है, तब वह अमरत्व को प्राप्त होता है ॥२०॥

भावार्थ-जब साधक देखता है कि,यहां ये तीन गुण ही सब कुछ कर रहे हैं, इनको छोड कर यहां दूसरा कोई कर्ता नहीं है, तब वह जानता है कि, इन गुणोंसे सदा पृथक् रहनेवाला आत्मा अकर्ता है और वही ईश्वर है तो स्वयं अकर्तृत्वको अपने आत्मामें अनुभव करके ईश्वरीय भावसे युक्त होता है। जब साधक इन तीनों गुणोंके पार होता है, तब वह जन्म,मृत्यु,जरा दुःखोंसे मुक्त होकर ईश्वरीय अमर भावसे युक्त होता है ॥१९-२०॥

(१९-२०) साधक ऐसा विचार करे कि मेरे शरीरके अन्दर अर्थात् मेरे स्थूल देहमें, सूक्ष्म देहमें और कारण देहमें किंवा मेरे इंद्रियोंमें, मनमें, वासना और आकांक्षामें तथा बुद्धिमें जो गुण प्रबल रहते हैं, वैसेही उसमें कर्मविचार और वासना कामना आदि होते रहते हैं। यह तो इन गुणोंका ही खेल है, तमोगुणी देह और तमोगुणी मनसे सत्वगुणी कर्म और विचार होना असंभव है। इस कारण यही सत्य है कि, ये गुण यहांके सब व्यवहारोंके सच्चे कर्ता हैं। और जो आत्मा यहां है, वह इन गुणोंके परे है, इन गुणोंसे ऊपर है, अतः वह अकर्ताही है।

ये गुण प्रकृतिके हैं, प्रकृतिका यह सत्वरजतमात्मक स्वभावगुणधर्म ही है। वेही एक दूसरे को दवाते और स्वयं प्रभावशाली बनते हैं और कार्य करते हैं। परंतु जो कार्य होता है, उसका फल जीवको भोगना पडता है, जैसा तमोगुणके प्रभावी रहनेपर मृत्यु हो गयी तो उसका जन्म अनाडी लोगोंमें होगा, इस कारण जो हीन परिस्थिति होगी, उसके कष्टोंका अनुभव देहधारी जीवको ही करना पडेगा। अतः कहा है—

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥
(गीता-अ० १३)

" प्रकृतिसे कार्यकारणपरंपरा शुरू होती है और पुरुष सुखदुःख भोगता है। पुरुष इस प्राकृतिक शरीरमें रहकर प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणोंका भोग करता है, इसके इस गुणसंग के कारण इस पुरुषको उत्तम और हीन योनियोंमें जन्म लेना पडता है।"

पुरुष जीव और द्रष्टा एकही है। प्रकृतिके गुण सब कुछ कर्म करते हैं और द्रष्टा केवल देखनेवाला है। जब वह द्रष्टा अपने आपको केवल द्रष्टा मानता है, कर्मके साथ अपना कोई संबंध नहीं, कर्म तो उक्त तीनों गुणोंसे होते हैं,यह बात असंदिग्ध रीतिसे वह अनुभव करता है, तब उस द्रष्टाको परमात्मभाव प्राप्त होता है। उस समय वह नरका नारायण बनता है। ईश्वरभावसे वह युक्त होता है।

साधक जब देहसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंको नीचे छोडकर ऊपर उठता है, तब वह जन्म-मृत्यु-बुढापा और मृत्यु से मुक्त हो कर अमृतत्वको प्राप्त होता है। अर्थात् ईश्वरभावको अपनाता है। ये तीनों गुण प्रकृतिके हैं, इनका खेल ऐसा ही होता रहेगा, मैं इनसे पृथक् हूं, ऐसा जब वह स्पष्ट देखेगा,तब वह इन गुणोंका बंधन तोडकर स्वतंत्र होगा और यही अमृतत्व है, न

(७) गुणातीत कैसा होता है ?

अर्जुन उवाच—लैंगिकैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानातिवर्तते ॥ २१ ॥
श्रीभगवानुवाच—प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ॥
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

अन्वयः—अर्जुनः उवाच—हे प्रभो! एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः (जीवः) कैः लिंगैः (ज्ञातः) भवति? (सः च) किमाचारः? (सः) एतान् त्रीन् गुणान् कथं अतिवर्तते ॥२१॥ श्रीभगवान् उवाच–हे पाण्डव! प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहं एव च संप्रवृत्तानि न द्वेष्टि, निवृत्तानि च न कांक्षति॥२२॥ यः उदासीनवत् आसीनः गुणैः न विचाल्यते, यः च गुणाः वर्तन्ते इति (मत्वा) एव अवतिष्ठति, (च) न इंगते ॥२३॥ (यः) समदुःखसुखः, स्वस्थः, समलोष्टाश्मकांचनः, तुल्यप्रियाप्रियः, धीरः, तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥ (यः) मानापमानयोः तुल्यः, मित्रारिपक्षयोः तुल्यः, सर्वारंभपरित्यागी (च अस्ति) सः गुणातीतः उच्यते ॥२५॥

यहां मृत्यु है और न दुःख है। यही सबसे उच्च प्राप्तव्य अवस्था है।

यहां का सब उपदेश प्रकृतिपुरुष को परस्पर भिन्न मानकर साधक को सुबोधतया ज्ञान देनेकी इच्छासे किया है। वस्तुतः सत्व-रज-तम ये गुण क्षर प्रकृतिके हैं, प्रकृति यह पुरुष की शक्ति है, शक्ति शक्तिधारीसे पृथक् कदापि नहीं होती, इसी कारण पुरुप और प्रकृति ये एकही पुरुषोत्तम के दो पहलू हैं। ऐसा होनेके कारण ये तीनों गुण पुरुपसे पृथक् नहीं है, तथापि साधक को बोध सहज प्राप्त करानेके लिये द्रष्टा जीव और प्राकृतिक गुण का भेद यहां वर्णन किया है। वह भेद बुद्धिगम्य है, वस्तुगत नहीं।

मैं गुणोंके आधीन नहीं हूं, परंतु गुण मेरे आधीन हैं, मैं हाथोंके आधीन नहीं; परंतु हाथ मेरे आधीन हैं, ऐसा माननेपर जैसा अपना प्रभुत्व सिद्ध होता है और अपना प्रभुत्व सिद्ध होनेपर जैसी अपनी शक्ति बढती है, वैसीहि गुणातीत होनेसे साधक की शक्ति बढती है, अखंड शक्तिका उसे अनुभव मिलता है। यही अमृतत्वकी प्राप्ति है और यही ईश्वरभाव की प्राप्ति है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि, गुणातीत कैसे हो सकते हैं और गुणोंका खेल कैसा देख सकते हैं और अपने आपको उनसे पृथक् द्रष्टाके स्वरूपमें किस रीतिसे अनुभव कर सकते हैं? येही प्रश्न अर्जुन करना चाहता है और भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन का समाधान करते हैं, वह मनोहारी प्रश्नोत्तर अब देखिये–

अर्जुनने पूछा कि—हे प्रभो! इन तीन गुणोंसे परे रहनेवाले की पहचान किन लक्षणोंसे होती है ? वह कैसा आचार करता है? और वह इन तीनों गुणोंसे परे किस तरह पहुंचता है ? ॥२१॥ श्रीभगवान्ने कहा कि—हे पण्डुके पुत्र ! प्रकाश (सत्त्व), प्रवृत्ति (रजः), और मोह (तमः) ये तीनों गुण प्राप्त होनेपर जो दुःख नहीं मानता, और इन तीनोंके निवृत्त होनेपर जो इनको चाहता नहीं, जो उदासीन के समान रहनेके कारण इन गुणोंसे हिलाया नहीं जाता, गुणही अपना कार्य करते हैं ऐसा मानकर जो स्वस्थ रहता है, और कंपायमान् नहीं होता है। जो सुखदुःख को सम मानता है, जो अपनेमेंहि आनंदित रहता है, जो मिट्टी पत्थर और सुवर्णको समान मानता है, जो प्रिय अथवा अप्रिय की प्राप्ति होनेपर सम अवस्थामें रहता है, जो धैर्यवान् रहता है, जिसको अपनी निन्दा और स्तुति समान प्रतीत होती है, जिसको अपने मान और अपमान समान होते हैं, जो मित्र और शत्रुके साथ समभावसे वर्तता है, जो सब कार्यारंभोंको त्यागता है, वही इन तीनों गुणोंसे परे होता है ॥२२-२५॥

भावार्थ- जिसको सुख-दुःख, हानि-लाभ, धनी-निर्धन, स्तुति-निंदा, जय-पराजय, प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान शत्रु-मित्र समान होते हैं, जो इन द्वन्द्वोंसे विचलित नहीं होता, जो इनको उदासीन जैसा देखता है, वह गुणातीत है। गुणातीतके ये लक्षण और ये आचरण होते हैं और इसी तरह साधक गुणातीत होता है ॥ २१-२५ ॥

(२१-२५) अर्जुन प्रश्न करता है कि गुणातीत की पहचान किन लक्षणोंसे होती है? वह आचार कैसा करता है ? और कैसे इन गुणोंसे ऊंचा उठता है? (श्लो० २१)

यह प्रश्न श्रवण करके भगवान् श्रीकृष्ण यह गुह्य ज्ञान भक्तका कल्याण करनेकी इच्छासे उसे सुबोधशब्दोंकेद्वारा प्रदान करते हैं।—

सत्त्वगुणसे प्रकाश, रजोगुणसे कर्मप्रवृत्ति और तमोगुणसे मोह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इन गुणोंसे ये परिणाम होतेही रहते हैं। (संप्रवृत्तानि न द्वेष्टि) ये हुए तो जो उसका द्वेष नहीं करता और (निवृत्तानि न कांक्षति) ये न हुए तो जो इनकी आकांक्षाभी नहीं करता वह गुणातीत कहलाता है। स्वभावसे जो चल-रहा है, उसमें न्यून करनेकी वा अधिक करनेकी जो अभिलाषा नहीं करता, परंतु जो गुणोंका खेल चल रहा है उसे केवल द्रष्टा होकर देखता है, जो (उदासीनवत् आसीनः) उदासीन जैसा देखता रहता है, फलना ही सत्त्वगुण का खेल मेरे सम्मुख हो और तमोगुणका न हो ऐसा आग्रह जो नहीं धरता, सत्त्वगुण के भाव सम्मुख आनेसे जो प्रसन्न नहीं होता और तमोगुणके भाव सम्मुख आनेसे जो क्रोधित नहीं होता, जो भी भाव आ जाय वह इन गुणोंका स्वाभाविक खेल चल रहा है ऐसा जो मानकर उदास जैसा देखता है और (गुणैः न विचाल्यते) गुणोंके कारण जिसमें हलचल या घबराहट नहीं होती, (गुणाः वर्तन्ते) ये गुण हैं और ये ऐसेही खेल खेलते रहेंगे ऐसा जो मानता है

(८) शाश्वत धर्मका आधार।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ॥
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रय-विभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अन्वय-यः मां च अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते, सः एतान् गुणान् समतीत्य, ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥ अमृतस्य अव्ययस्य च ब्रह्मणः, शाश्वतस्य च धर्मस्य, ऐकान्तिकस्य सुखस्य च हि अहं प्रतिष्ठा (अस्मि) ॥२७॥

जो मेरी (ईश्वरकी) एकनिष्ठ भक्तिभावसे सेवा करता है, वह इन गुणोंको लांघकर ब्रह्मके महत्त्वको प्राप्त करने योग्य बनता है ॥ २६ ॥ अमर और अव्यय ब्रह्मका, शाश्वत धर्मका और उच्च सुखका स्थान मैं (ईश्वर) ही हूं ॥ २७ ॥

और इस गुणोंके खेलमें जो आसक्त नहीं होता, वह गुणातीत कहलाने योग्य है। (श्लो०२३)

सुख देनेवाले सत्त्वगुण और दुःख देनेवाले रजोगुण के साथ जिसका रागद्वेष नहीं है, जो इनके संमुख आने न आनेपरभी एक जैसा रहता है, जो (स्व-स्थः) अपने ही शक्तिसे रहता है, जिसको ये गुण हिलाते नहीं, जो इन गुणोंके कारण अपने स्थानसे भ्रष्ट नहीं होता, जो सुख प्राप्त होनेपर गर्व नहीं करता, दुःख प्राप्त होनेपर विषाद नहीं मानता, कर्म करनेके समय त्रस्त नहीं होता,प्रिय वस्तु मिली तो हर्षित नहीं होता और अप्रिय स्थितिमें रहनेका अवसर आया तोभी जो दुःखी नहीं होता, प्रशंसा होने लगी, तो जिसकी छाती आगे नहीं आती और निन्दा हुई तो जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, जो पत्थरमिट्टी और सोनेको सम भावसे देखता है, अर्थात् बहुत सुवर्ण मिल गया तो हर्षवायुसे उन्मत्त नहीं होता और अपने पासका सुवर्ण चला गया और हाथमें मिट्टी आ गयी तो जिसका हृदय फट नहीं जाता, वह गुणातीत कहलाता है।

मान हो अथवा अपमान, मित्र साथ रहे अथवा शत्रु का सामना करना पडे, दोनों अवस्थाओंमें जो मनकी समान स्थिति रखता है, वह गुणातीत है। तथा जो मैं कर्ता हूं, ऐसा अहंकार धारण करके कर्म नहीं करता,वह गुणातीत कहलाता है।

यहां तक गुणातीत के लक्षण कहे, गुणातीत कैसा आचरण करता है, कैसा बोलता और चालता है, कैसा व्यवहार करता है, इसका वर्णन हुआ। इससे गुणातीत पहचाना जा सकता है। इन लक्षणोंसे साधक अपनी परीक्षा करें और उन्नतिमें कहांतक पहुंचा हूं, इसका निश्चय करें, अब ईश्वरसेवा का व्रत कहते हैं—

भावार्थ- जो एकनिष्ठ भक्तिसे ईश्वर की सेवा करता है, वह तीनों गुणोंको पीछे छोड कर आगे बढता है और ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त होता है। अमर ब्रह्म, शाश्वत धर्म और उच्च सुख का स्थान ईश्वरही है ॥ २६—२७ ॥

(२६-२७) जो अनन्य भक्तिसे परमेश्वरकी सेवा करता है, वह इन गुणोंको पीछे छोडता है, और आगे बढकर ब्रह्मभाव प्राप्त करता है। ब्रह्म, अमृत, उत्तम सुख और शाश्वत धर्म का आधार यही एकमात्र परमेश्वर है। इस परमेश्वरके साथ जो अनन्य हुआ, वह उससे अन्य न रहनेके कारण, उससे पृथक् न रहनेके कारण, उसी ईश्वरीय भावसे युक्त होता है। क्योंकि सब एकही अखण्ड सत्ता है, उसमें खण्ड नहीं है। उसमें यह मैं यह दूसरा, ऐसा भेदही नहीं है। इसतरह जिसके अन्दर यह अनन्यभाव स्थिर हुआ, वह ईश्वरके साथ अनन्य अभिन्न होनेके कारण ईश्वरभावसेही युक्त होता है।

श्रेष्ठ प्रकार की सेवा वही करता है कि, जो अपने आपको उससे अनन्य अथवा अभिन्न समझता हो। जो अपने आपको भिन्न तथा अन्य मानता है, वह सच्ची अनन्यसेवा अथवा अनन्य-भक्ति करही नहीं सकता। अतः यह सच्ची अनन्यभक्तिहि ब्रह्मभावको प्राप्त करनेवाली है। यहीं अनन्य भावसे की जानेवाली विश्व-सेवा सबको शाश्वत सुख देनेवाली है, क्योंकि ब्रह्म अमृत शाश्वत धर्म अखण्ड सुखका एकही आधार है, जो विश्वरूपी विश्वात्मा है, उसके साथ अनन्य अभिन्न और अखण्डित होनेसे हीं साधक ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त करता है। यहीं जीवका अन्तिम साध्य है, जो गुणातीत होनेसेहि सिद्ध हो सकता है। सब जीव इसी सिद्धिके लिये यत्न कर रहे हैं। जो अनन्यभावसे प्रयत्न करेंगे वेही सफलता प्राप्त करेंगे।

चतुर्दश अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्दश अध्याय का

थोडासा मनन।

इस अध्यायमें 'सत्त्व-रज-तम' ये तीनों गुण विश्वके संपूर्ण पदार्थोंमें कैसे हैं, इसका वर्णन उत्तम प्रकार किया है। प्रत्येक गुणका लक्षण क्या है और परिणाम क्या है, यह भी यहां दर्शाया है। ये गुण मनुष्यमें हैं और मनुष्यका स्वभाव इनसे ही बनता है। मनुष्यकी उच्चगति अथवा अधोगति होना इन गुणोंपर सर्वथा निर्भर है। इस कारण इस त्रिगुणविषयक ज्ञानकी साधक-को बडी आवश्यकता है।

इस ज्ञानसे साधक को परम सिद्धि मिलती है और साधक परमेश्वरके गुणधर्मोंको अपने अन्दर धारण करके परम उच्च अर्थात् 'नरका नारायण' बन सकता है।

शुद्ध बीज।

संपूर्ण विश्वका एक ही स्वामी परमपिता परमात्मा है और उसकी महाशक्ति अथवा आदिशक्ति है, जिसका नाम मूल प्रकृति है। इसीका नाम आदिमाता है और परमेश्वरका नाम आदि पिता है। ये दो मिलकर संपूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति करते हैं। परमेश्वरका शुद्ध बीज प्रकृतिमें जाकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। यह बीज ही वीर्य है। वीर्यमें पिताके सब गुणधर्म अंशरूपसे आते हैं और पुत्रके विकास के साथ उन गुणोंका विकास होता है।

पिताके अवयवोंके सदृश पुत्रके अवयव कई-वार होते हैं, इसका कारण यही है। पिताके वीर्यमें पिताके अवयवोंका अंशरूप सार रहता है और वह विकसित होकर पिताके जैसे अवयव पुत्रके होते हैं। पिताके वीर्यका प्रभाव यहां पाठक देखें और अपने अन्दर परमपिता परमात्माका वीर्य है, इसलिये मेरा विकास होकर, मैंभी परमपिता परमात्मा के सदृश होनेवाला हूं, मैं इस समय नर हूं परंतु भविष्य में नारायण बनूंगा क्योंकि मेरे अन्दर नारायणका वीर्य कार्य कर रहा है, मैं पुरुष हूं अतः मैं पूर्ण उन्नत होकर पुरुषोत्तम बनूंगा, मैं जीव हूं और शिव बनूंगा। इस तरह विचार करनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि, जगद्बीज परमात्मा का वीर्य प्रकृतिमें आकर यह सब संसार बना है, ऐसा कहनेसे यहां कौनसा महान् सिद्धान्त कहा है।

जिसका वीर्य होता है, वैसा पुत्र होता है। यह नियम संपूर्ण विश्वमें सदा अनुभवमें आता है, मनुष्यके वीर्यसे मनुष्यरूप पुत्र होता है, इसी तरह परमात्माके वीर्यसे जो पुत्र होगा, वह परमेश्वर स्वरूप ही बनेगा इसमें कोई संदेह नहीं है। जिस कारण मेरे अन्दर परमात्माका वीर्य है, उसी कारण मेरी पूर्णता परमेश्वर बननेमें होगी। हरएक मनुष्यके अन्दर परमात्माका वीर्य है, यह उपदेश यहां देकर भगवद्गीताने हरएक मनुष्यको यह विश्वास दिया है कि, वह अवश्यही नरका नारायण बनेगा, अथवा वह नररूपसे नारायण ही अवतीर्ण हुआ है।

इस उपदेशको ग्रहण करके, इस समयतकके ऋषि, मुनि, साधुसंत सब परमसिद्धिको प्राप्त हुए और परमेश्वर के साधर्म्यसे युक्त हुए, ऐसा जो यहां कहा है, उसका तात्पर्य यह है। पिताके वीर्यसे

उत्पन्न हुआ बालक अंशरूपसे पिताही होता है, पिताही बालकरूपसे अवतीर्ण हुआ होता है, वह दूसरा कोई नहीं होता, परंतु वह स्वयं पुत्र-रूपसे आया होता है । इसी तरह परमपिता संपूर्ण विश्वरूपसे अवतीर्ण हुआ है, उसीमें वह मानवरूपसे भी अवतीर्ण हुआ है। और साधक-भी वही है ।

पाठक यह शुद्ध ज्ञान अन्तःकरणमें धारण करें और विचारें, मनन करें, पुनः पुनः मनमें स्थिर करें और देखें कि इस ज्ञानसे कितना आत्मशक्तिका विश्वास बढता है। पहिले जो प्रतीत होता था कि, मैं यःकश्चित् क्षुद्र बलहीन हूं, तुछ हूं.वह विचार दूर होता है और मैं परमात्माके वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण परमात्मशक्तिसे संपन्न हूं और परिपूर्ण होकर परमेश्वरके साधर्म्यसे युक्त होऊंगा, इस समयभी यद्यपि मैं परमेश्वर का पुत्र हूं, तथापि वही इस रूपसे अवतीर्ण हुआ है, इत्यादि विचार प्रबल होनेके कारण अपनी सच्ची शक्ति का पता लगता है । और यही आत्मविश्वास मानवोंकी सच्ची उन्नतिका हेतु है ।

रजःसामर्थ्य ।

जैसा बीज उत्तम चाहिये, वैसा रजभी उत्तम चाहिये । पूर्वोक्त स्थानमें बीजके प्रभाव का वर्णन किया, अब रजके प्रभाव का विचार करते हैं । परमात्माकी आदिशक्ति ही यहां रजःशक्ति है, परमात्माके बीजको यह रज अपने अन्दर लेता है और उनके मेलसे पुत्र उत्पन्न होता है। यह रजः परमात्मा की आदिशक्तिका ही होनेसे यहां का रजःसामर्थ्यभी बडा विलक्षण है। परमात्माका बीज वीर्य और परमात्मशक्तिका ही रज ऐसा शुभ संयोग यहां हुआ है । अर्थात् बीजरूपसे परमात्मा हमारे अन्दर है और रजः स्वरूपसे परमात्मशक्ति हमारे अन्दर है । अतः पिता और माता की ओरसे देखा जाय, तो हमारा सामर्थ्य कम नहीं है । यह निश्चय जानना चाहिए।

जो आदिशक्ति मूल प्रकृति है, उसमें तीन गुण हैं, जो सत्त्व-रज-तम नामसे प्रसिद्ध हैं। सत्त्वगुण सुख देनेके कारण सुखसंगसे देहधारी को बांध देता है, रजोगुण विविध कर्मोंमें प्रेरित करनेके कारण विविध पुरुषार्थों में देहधारी को बांध देता है,और तमोगुण प्रमाद,आलस्यादि दोषोंसे बांध देता है। इस तरह ये तीनों गुण देहधारीको बांध देते हैं । और इनके पाशोंके बंधनसे छूटनाही इसका पुरुषार्थ है और यही मुक्ति इसे प्राप्त करनी है ।

सब प्रकारके बंधन इन प्राकृतिक तीनों गुणोंसे होते हैं, सब प्रकारके दुःख इन गुणोंके संगके कारण होते हैं, और सब प्रकारकी रुकावटें इन गुणोंसे होती हैं, इस कारण इनका बंधन दूर किस तरह हो सकता है और इस साधक को इन गुणोंकी सहायता किस रीतिसे हो सकती है, इसका विचार करना अत्यंत आवश्यक है । अतः इन तीनों गुणोंका स्वभाव कैसा है, वह देखेंगे-

तीन गुणोंका स्वभाव ।

सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
निर्मल (६, १६)	मलिनता	मलीन
निर्दोष	दोषयुक्त	दोषयुक्त
निष्कलंक	कलंकित	कलंकित
प्रकाश (६,११)	धूंधलापन	अन्धकार
दिन	संधिसमय	रात्री, अप्रकाश (१३)

अनामय (६)	रोग होकर निवृत्त होना,	आमय, रोगी होना।
नीरोगिता	" "	रोगमय
सुख (९)	दुःख (१६)	दुःख
ज्ञान (११, १७)	कर्मप्रवृत्ति (९)	अज्ञान (८, १६)
वैराग्य	राग (प्रीति) (७)	—
तृष्णा न होना	तृष्णा	—
निष्काम कर्म	कर्मसंगसे बंधन	कर्महीनता
उत्साह	सदा प्रयत्न	आलस्य, निद्रा (८)
मोह न होना	किंचित् मोह	मोह (१७)
अप्रमाद	" प्रमाद	प्रमाद (९,१७)
निर्लोभता	लोभः (१२, १७)	—
शान्ति	प्रवृत्तिः	अप्रवृत्ति (१३)
निष्काम भाव	कर्मोंका प्रारंभ	प्रमाद, मोह,
शम, दम	अशमः	—
उत्तम लोगों में जन्म (१४)	कर्मसंगियोंमें जन्म	मूढयोनिमें जन्म
ऊर्ध्वगति (१८)	मध्यम स्थिति (१८)	अधोगति (१८)

इस तरह यह गुणोंका प्रभाव है। सत्त्वगुणके विरुद्ध तमोगुण है और रजोगुण दोनोंके मेलसे होता है। तमोगुण में आलस्य होनेसे उससे रजोगुण उसकी कर्मप्रवृत्तिके कारण अच्छा है, परंतु इस रजोगुणमें अशान्तिके दुःख हैं। अतः उससेभी सत्त्वगुण नित्यसुखदायी होनेके कारण अच्छा है। परंतु ये तीनों गुण न्यूनाधिक प्रमाणसे प्रत्येक स्थानमें रहते ही हैं।

प्रत्येक मनुष्य तमोगुण का आश्रय करके विश्रान्ति लेता है, रजोगुणके आश्रयसे प्रयत्न करता है और सत्त्वगुणके आश्रयसे आनन्दका अनुभव करता है। ये तीनों इस तरह मनुष्यके सहाय्यकभी हैं। परंतु जब इनका प्रमाण बिगड जाता है तब इनहींसे बंधन होता है, जैसा मनुष्यको विश्राम–निद्रा चाहिये, परंतु यदि कोई मनुष्य दिनरात विश्रामही करता रहेगा, तो वही बंधन होगा। इसी तरह मनुष्यको प्रयत्न करनाही चाहिये, परंतु अविश्रांत रहकर रातदिन प्रयत्न करता रहेगा, तो विश्रामके अभावके कारण यह प्रयत्नशीलता उसकी हानि करेगी और बंधनरूप हो जायगी। इसी प्रकार मनुष्यको सुख और आनन्द चाहिये, परंतु जब यह सुखलालसा बढ जाती है, तब स्वार्थमें परिणत होनेके कारण यह अपने सुखके लिये संघकी हानि करता है, तब इसका यह सुख सबकी हानि करने लगता है और बंधनका हेतु होता है। इस रीतिसे येही सत्त्व, रज तम मनुष्यके सहायकभी होते हैं और विनाशकभी होते हैं।

मनुष्योंके सब कार्य इन गुणोंसेही होते रहते हैं। परंतु मनुष्यको इनके आधीन होना नहीं चाहिये और मनुष्यके स्वाधीन इनका रहना योग्य है। साधक इस जगत्में इन तीनों गुणोंके कार्य कैसे चल रहे हैं यह देखे और अपने आपको उनका द्रष्टा, उनसे स्वतंत्र, उनका निरीक्षक अनुभव करे। तब यह गुणोंके परे रहेगा और संपूर्ण दुःखोंको दूर करके परमात्मभावको अपने अन्दर धारण करेगा। जब तक यह साधक इन गुणोंके द्वारा घसीटा

जा रहा है, उनके पीछे उनका अनुगामी होकर उनसे बांधा जाकर पराधीनसा हो रहा है, तब तक इसके परतंत्र होनेके कारण इसको आनंद प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं है। अतः इसको अपना स्वातंत्र्य स्थापन करना आवश्यक है। इस स्वातंत्र्यके प्राप्त करनेकी युक्ति यह है-

स्वातंत्र्यकी स्थिति ।

साधक जब पूर्ण उन्नत होता है, तब उसको सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है, इस सिद्ध स्थितिमें वह इन तीनों गुणोंका कार्य देखता रहता है, सत्त्वसे होनेवाले प्रकाश और ज्ञान, रजोगुणसे होनेवाले लोभ और कर्म तथा तमोगुणसे होनेवाले प्रमाद और मोहको यह देखता है। इनमेंसे किसीको यह चाहता भी नहीं और नहीं चाहता ऐसाभी नहीं, इनमेंसे कोई इनके पास आये, तो यह न उनका द्वेष करता है और न उनसे प्यार करता है, जैसा कोई उदासीन मनुष्य स्वस्थ रहता है, वैसा यहभी स्वस्थ रहता है।

ये गुण अपना कार्य कर रहे हैं ऐसा यह देखता है और उनसे अपना कोई संबंध स्थिर करना नहीं चाहता। इनमेंसे कोई गुण आ गये, तो भी ठीक है और न आ गये तोभी ठीक है, ऐसी उदास वृत्तिका धारण यह करता है। यह अपनी प्रकृतिकाही खेल है, यह किसी दूसरेकी प्रकृति नहीं है, अतः यह जैसी है वैसी रहे, ऐसा यह मानता है और इनके कारण अपने अन्दर ईर्ष्या, द्वेष होने नहीं देता। इनके वेगसे यह चंचल नहीं होता है, इनका वेग कितना ही क्यों न बढे, यह वायुवेगसे पर्वतके न हिलनेके समान स्थिर रहता है।

सुख-दुःख, प्रियाप्रिय, निन्दास्तुति, मानापमान, मित्रशत्रु, सुवर्णमिट्टी आदिकी प्राप्ति होनेपर यह सम स्थितिमें रहता है। किसी भी परिस्थितिसे इसमें कोई हेरफेर नहीं होता, इसकी मनोवृत्ति विपरीत परिस्थितिमेंभी सम रहती है। ऐसा जो झंझावातमें स्थिर रहनेवाले मेरुपर्वतके समान सुस्थिर रहता है उसको गुणातीत कहते हैं, यही इन गुणोंका स्वामी है, यही गुणोंके परे है और यही ईश्वरभावसे युक्त है।

अनन्यभावसे ईश्वरभक्ति करनेवालाभी इसी तरह ईश्वरभावसे युक्त होता है, क्योंकि अमृत, सुख और ब्रह्मका वही एक आधार है, वही आधार इसे प्राप्त होता है। अतः वह ईश्वरभावयुक्त हुआ ऐसा कहते हैं।

आगे अठारहवें अध्यायतक इन तीनों गुणोंका विचार विविध प्रकारसे होनेवाला है। इसलिये इसका मनन हम आगे विशेषरूपसे करेंगे, अतः यहां इतनाही पर्याप्त है।

चौदहवें अध्यायका मनन समाप्त ॥ १४ ॥

चौदहवें अध्यायके सुभाषित ।

(१) सात्त्विक भावसे उन्नति ।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था
मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था
अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

" सात्त्विक लोगोंका उत्कर्ष होता है, राजस

लोग मध्य स्थितिमें रहते हैं, और तामस लोगोंकी अधोगति होती है।' अतः मनुष्य अपने अन्दर सात्त्विकभाव बढावे।

(२) त्रिगुणोंमें न फंसो।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्
देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखै—
विंमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

" देहमें उत्पन्न होनेवाले इन तीनों गुणोंको उलांघ कर जन्ममृत्यु, जरादुःखोंसे मुक्त होकर मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होता है।" अतः इन गुणोंमें न फंसना साधकको योग्य है।

(३) अव्यभिचारिणी भक्ति।

मां च योऽव्यभिचारेण
भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्
ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

"अव्यभिचारिणी भक्तिसे जो ईश्वरकी सेवा करता है, वहभी तीनों गुणोंके वंधनोंको तोडकर ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त करता है।" ईश्वरभक्तिकी यह महिमा है।

श्रीमद्भगवद्गीताके
चतुर्दश अध्यायकी विषयसूची

पंचदशोऽध्यायः।

पुरुषोत्तम-योगः।

(१) अश्वत्थ वृक्ष।

श्रीभगवानुवाच- ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥२॥

अन्वयः—श्रीभगवान् उवाच- छन्दांसि यस्य पर्णानि (सन्ति तं) अश्वत्थं ऊर्ध्वमूलं अधःशाखं अव्ययं प्राहुः। यः तं वेद, सः वेदवित् (इति उच्यते)॥ १॥ तस्य गुणप्रवृद्धाः विषयप्रवालाः शाखाः अधः ऊर्ध्वं च प्रसृताः (सन्ति); अधः च मनुष्यलोके कर्मानुबंधीनि मूलानि अनुसंततानि (सन्ति)॥ २॥

श्रीभगवान् कहते हैं- सब छन्द जिसके पत्ते हैं, उस अश्वत्थकी जड ऊपर है और शाखा नीचे फैली हैं, इसे अविनाशी कहते हैं। जो इसे जानता है, वही वेद्वित् कहा जाता है॥ १॥ उसकी (सत्त्वादि) गुणोंसे बढी हुई और (शब्दादि) विषयोंके कोमल पल्लवोंसे युक्त शाखाएं नीचे और ऊपर फैली हुई हैं, और नीचे मनुष्यलोकमें कर्मोंके साथ संबंध रखनेवाली जडें बहुत फैली हैं॥ २॥

भावार्थ— संसारका वृक्ष अनादि अनंत चारों ओर फैला है, इसके ज्ञानरूपी पत्ते सबको शीतल छाया देनेवाले हैं, शाखाएं ऊपर नीचे फैली हैं, इनमें सत्त्व-रज-तम गुणोंका रस भरपूर भरा है, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधरूप विषयोंके सुखदायी कोमल अंकुर लगे हैं और इनकी कर्मोंसे संबंध जोडनेवाली जडें चारों ओर फैली हैं॥ १-२॥

संसार का वृक्ष।

(१-२) यहां इस पंदरहवें अध्यायमें इस संसारको अश्वत्थ वृक्ष मानकर बडा सुंदर वर्णन किया है। "इसका मूल ऊपर है, शाखाएं नीचे हैं, इसके पत्ते सब प्रकारके छन्द हैं, ऊपर नीचे इसकी शाखाएँ फैली हैं। सत्त्व-रज-तम ये तीन गुणोंसे इन सब शाखाओंका पालन होता है, शब्द -स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये विषय इन शाखाओंके कोमल अंकुर बढ रहे हैं, इसकी जडें बहुत गहरी गयी हैं और आगे उनका कर्मोंके साथ संबंध हुआ है। मनुष्यलोकमें यही अव्यय वृक्ष है जिसके आश्रयमें सब मानव हैं।"

यह वर्णन बडा अर्थपूर्ण है। इसका विचार हम आगे करेंगे। उससे पूर्व इस तरह संसारको वृक्ष कहकर कहां कहां वर्णन किया है वे वर्णन देखेंगे। पहिले कठोपनिषद् का वर्णन देखिये—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोका श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥ कठ उ० ६ । १

"जिसकी जडें ऊपर हैं और शाखाएं नीचेकी ओर हैं, वह सनातन अश्वत्थ वृक्ष यह है। वही शुक्र, वही ब्रह्म और वही अमृत है ऐसा कहते हैं। इसीमें सब लोक आश्रय किये हुए हैं। इसको कोई उल्लंघ नहीं सकता, यही निश्चयसे वह है।"

भगवद्गीताके श्लोक का अर्थ समझनेके लिये इस वचनका अनुसंधान अवश्य करना चाहिये। इस वृक्षको यहां 'सनातन' कहा है और गीतामें 'अव्यय' कहा है, दोनोंका अर्थ एकही है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह वृक्ष क्षणभंगुर नहीं है। यह सनातन है और अव्यय अर्थात् अविनाशी है। बहुत लोग इसको क्षणभंगुर कहते हैं, परंतु यह क्षणभंगुर संसारकी कल्पना वेद, उपनिषद् और गीताकी नहीं है। भगवद्गीता तो परमात्माको 'विश्वरूप' मानती है, अतः परमात्मा अनादि अनंत है और अविनाशी है वैसाही परमात्माका विश्वरूप-संसारभी अनादि अनंत और अविनाशी है। यही भाव इस वृक्षको सनातन और अव्यय कहनेसे व्यक्त हो रहे हैं। पाठक ये शब्द अवश्य देखें।

इसी उद्देश्यसे यहां इस उपनिषद्के वचनमें इसी अश्वत्थ वृक्षको 'शुक्र ब्रह्म और अमृत' कहा है। यह वृक्ष ब्रह्मका ही रूप है, यही शुद्ध तथा बलशाली है और अमृत अर्थात् मरणधर्मरहित है। इसको जो बंधनकारक समझते हैं वे गलतीपर हैं, इसका विचार आगे किया जायगा। यहां प्रथम अन्यान्य स्थानोंपर इस वृक्षके विषयमें क्या कहा है वह देखेंगे। मुण्डक उपनिषद्में वृक्षका वर्णन इस तरह है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्व-
त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥
(ऋग्वेद १ । १६४ । २२; मुण्डक ३।१)

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया
शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य
महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥
(मुण्डक उ० ३।२)

"उत्तम पंखवाले, साथ साथ रहनेवाले दो पक्षी एक वृक्षपर साथ साथ रहते हैं, उनमें से एक पक्षी उस वृक्षका मीठा फल खाता है और दूसरा कुछभी न खाता हुआ प्रकाशता है॥ इस वृक्षपर रहनेवाला पुरुष इस वृक्षके फल में निमग्न हो कर मोहित होता है और अपने स्वामी न होनेके— अपने सामर्थ्यहीन होनेके– अपने निर्बल होनेके विषयमें शोक करता रहता है। जब यह दूसरे सच्चे स्वामीका दर्शन करता है और उसका ही यह महिमा है ऐसा जानता है, तब इसका शोक दूर होता है।"

यहां भी एक वृक्ष है और उसपर एक जीव और दूसरा शिव ऐसे दो पक्षी बैठे हैं, जीव नामक पक्षी इसका फलभोग करता है, इस लिये इसमें फलभोग की आसक्ति रहती है, और आसक्तिके कारण मोहशोक होते हैं और अपने बलहीन होनेका विचार वारंवार उसे कष्ट देता है। पश्चात् जब अपने साथी दूसरे शिवसंज्ञक पक्षीकी यह सब महिमा है, ऐसा यह जीवपक्षी जानता है, तब फलभोगके संगमें फंसता नहीं और शोकरहित होता हुआ जीवन की सफलता प्राप्त करता है।

इन मंत्रोंकी तुलना गीताके श्लोकोंके साथ करनेसे अर्थकी पूर्णता होती है और मुक्तिके मार्गका भी पता लगता है। असंगशस्त्र (श्लो०-१५।३) से वृक्षका छेदन करनेका जो उपाय गीतामें बताया है उसका संबंध उसके फलभोगके

साथ है, यह बात (पिप्पलं स्वादु अत्ति) मीठा फल खाता है, इस ऋग्वेदके वचनसे स्पष्ट होती है ।

महाभारतके आश्वमेधिक पर्वमें ब्रह्मारण्यका वर्णन इस तरह किया है-

प्रज्ञावृक्षं मोक्षफलं शान्तिच्छायासमन्वितम् ।
ज्ञानाश्रयं तृप्तितोयमन्तःक्षेत्रज्ञभास्करम् ॥ १६ ॥
येऽधिगच्छन्ति तत्सन्तस्तेषां नास्ति पुनर्भवः ।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक्च तस्य नान्तोऽधिगम्यते ॥
॥१७॥

महाभा० आश्व० अ० २८ (अनुगीता०)

" इस विद्यारण्य अथवा ब्रह्मारण्यमें प्रज्ञा नामक वृक्ष है, उनको मोक्षरूपी फल लगे हैं शान्तिरूप छाया वहां है, ज्ञानका आश्रय करने योग्य स्थान है, तृप्ति देनेवाला जीवन-जल वहां है । और क्षेत्रज्ञ आत्माका प्रकाश यहां पडा है । जो लोग इस वनमें जाते हैं उनको पुनर्जन्म नहीं होता, इस वनका ऊपर नीचे तिरछा तथा किसी भी ओर अन्त नहीं प्रतीत होता । " ऐसा यह वडा भारी अरण्य है । एक अश्वत्थ वृक्षके स्थानपर यहां अनन्त वृक्षोंका महावन कहा है । इस वृक्षपर वे जाते हैं कि जो मुक्तिके अधिकारी होते हैं, इन्हींको मोक्षरूपी फल प्राप्त होता है । भगवद्गीतामें जिस अश्वत्थ वृक्षका वर्णन है उसको असंगशस्त्रसे काटना है, वह वृक्ष इस वनमें नहीं है. इस वनमें पहुंचनेवालोंको मोक्ष रूपी अमृतफल मिलता है और किसी वृक्षके किसी टहनीको काटनेकी आवश्यकता नहीं है । अर्थात् ये वृक्ष मानवी प्रगतिमें रुकावट डालनेवाले नहीं है और भगवद्गीतामें कहा अश्वत्थ वृक्षका विस्तार साधक की उन्नतिमें रुकावट करनेवाला है । अतः वह असंगशस्त्रसे काटना पडता है ।

इन दोनों वृक्षोंके स्वरूपमें यह भेद है जिसका विचार पाठकोंको करना चाहिये । अब वेदके कतिपय मंत्रोंका विचार करते हैं—

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥१॥
पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया ।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः ॥२॥
(ऋग्वेद १० । १३५)

(ऋषिः—कुमारो यामायनः । देवता- यमः)

"जिस उत्तम पानोंसे युक्त वृक्षपर बैठकर सब प्रजाओंका पालनकर्ता पिता यम अन्य देवोंके साथ रसपान करता है और अपने साथ प्राचीन पितरोंको चाहता है । प्राचीन पितरोंको चाहनेवाले और पापी बुद्धिके साथ विचरनेवालोंको न चाहनेवाले यमका मैंने एकबार दर्शन किया और उसका फिर दर्शन करना चाहता हूं ।" इस मंत्रमें एक वृक्ष है, उसपर सबका पालक देव बैठा है और उसके साथ अन्य देव भी हैं ये सब वहां रसपान कर रहे हैं और वह पालनकर्ता देव पुराने लोगोंको वहां चाहता है, सभवतः उनको भी रस पिलाता ही होगा, और वह पापी बुद्धिके साथ रहनेवालोंको नहीं चाहता अर्थात् निष्पाप बुद्धिवालोंकोही चाहता है । यहां का यह वृक्ष असंगशस्त्रसे काटने योग्य नहीं है; क्यों कि यहां सद्बुद्धिवाले सत्पुरुष जाते हैं और परमपिता के साथ जो देवसभा बैठी है उसमें प्रवेश पाते हैं तथा ये सब मिलकर अमृत रसका पान करते हैं । इस कारण यह वृक्ष पूर्वोक्त महाभारतमें कहे प्रज्ञावृक्षके सदृश दीखता है; इसको यहां ' पलाश ' कहा है. गीतोक्त वृक्ष ' अश्वत्थ ' है परंतु ' वड ' के समान उसका वर्णन है ।

रुशत्पिप्पलं मरुतो वि धूनुथ॥ (ऋ० ५।५४।१२)

'पीपल वृक्षको मरुत् देव हिलाते रहते हैं ।' ऐसा एक स्थानपर कहा है । संभवतः ऊपरके मीठे फल गिरानेके लिये ही ये इस वृक्षको

हिलाते होंगे। यह स्वर्गीय पीपल है इसमें संदेह नहीं है। और देखिये—

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥
(अथर्ववेद ५।४।३; १९।३९।६)

"अश्वत्थ वृक्ष देवोंके रहनेका स्थान है, वह तीसरे द्युलोकमें रहता है, उस अमरत्व देनेवाले कुष्ठको देवोंने प्राप्त किया।" इस मंत्रमें अश्वत्थको देवोंका घर बताया है और इसका मूल स्थान तृतीय द्युलोक है। चूंकि इसके आश्रयसे देवताएं रहती हैं इसलिये इस वृक्षकी शाखाएं छेदन करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, जैसा कि गीतामें असंगशस्त्रसे अश्वत्थ वृक्षको काटनेको कहा है। अस्तु।

इस तरह वैदिक सारस्वतमें वृक्षके आश्रयसे देवताओंका निवास आदिके विषयमें कहा है। यहां 'वृक्ष' आदि शब्द आलंकारिक भाव दर्शाते हैं, और यहांके 'पक्षी' भी आकाशमें उडनेवाले पंखयुक्त प्राणी नहीं है, यह बात स्पष्ट ही है। अतः इसको आलंकारिक मानते हुए यहांतक जो वचन हमने देखे उसका संक्षेपसे आशय देखेंगे और उसका थोडासा मनन भी करेंगे—

अलंकारका स्वरूप।

१ जिसकी जडें ऊपर हैं और नीचे शाखाएं हैं ऐसा एक अश्वत्थ वृक्ष है, इसके पत्ते छन्द-वेद-हैं। (गीता १५-१, कठ ६।१)

२ इस वृक्षकी शाखाएं नीचे और ऊपर फैली हैं, इनमें सत्त्व-रज-तमका भाव रसरूप होकर भरपूर भर गया है, मानों इस रससे ही इस शाखाविस्तारका पोषण हो रहा है। (गी० १५।२)

३ इन शाखाओंपर विषयरूपी सुंदर पल्लव इसकी शोभा बढाते हैं और मोक्षधामके पान्थस्थोंको सुख देते हैं। इनके कारण ही इस वृक्षकी सुंदरता बढ गयी है। (गी० १५।२)

४ इस वृक्षकी जडें मनुष्योंके कर्मोंके साथ संबंध रखती हैं अर्थात् कर्मरूपी भूमिमें जडें जातीं हैं और वहांसे इस वृक्षका पोषण और संवर्धन होता है। (गी० १५।२)

५ जिसकी जडें ऊपर हैं और शाखाएं नीचे हैं वह अश्वत्थ वृक्षही सामर्थ्ययुक्त 'अमृत ब्रह्म' है, इसीके आश्रयसे सब लोग सुरक्षित रहे हैं और कोई इसको उल्लांघ नहीं सकता। (कठ उ० ६।१)

६ एक वृक्षपर दो पक्षी बैठे हैं, उनमें एक फल खाता है और दूसरा कुछभी न खाता हुआ चमकता रहता है, अर्थात् भोग न करनेवाला तेजस्वी है और भोग करनेवाला भूखा है। (ऋ० १।१६४।२२; मुण्ड० ३।१)

७ इस वृक्षके फलका भोग करनेमें जो तत्पर होता है वह मोहसे शोक करता है, अपनी निर्बलतासे दुखी होता है, जब दूसरे तेजस्वी पक्षीका दर्शन करता है और जानता है कि वह फलभोग न करनेके कारण तेजस्वी और समर्थ है तब उसकी यह सब महिमा है ऐसा जानकर शोक-रहित अर्थात् सुखी होता है। (मुण्ड० ३।२)

८ इस हरेभरे वृक्षके नीचे बैठकर सब देवोंके साथ यम रसपान करता है, वहां हमारे प्राचीन पूर्वज जिन्होंने देवत्वको प्राप्त किया वे भी उस सभामें विराजते हैं। (ऋ० १०।१३५।१)

९ यह सब विश्वका देव पापमयी बुद्धिको नहीं पसंद करता वह पुण्यमयी बुद्धिहि पसंद करता है। इस देवताका जो एकवार दर्शन करता है उसको उसका वारंवार दर्शन करनेकी तीव्र इच्छा होती है, क्योंकि उसका दर्शनही ऐसा सुंदर है। (ऋ० १०।१३५।२)

१० अश्वत्थ वृक्षपर देव रहते हैं और वह अश्वत्थ तृतीय द्युलोक में है। वहां ही अमृत का स्रोत है। (अथर्व० ५।४।३)

संक्षेपसे यह आशय यहां तक दिये वचनोंका है। यहांका वृक्ष यही संसार है। इस संसार-वृक्षपर कई जीवरूपी पक्षी बैठे हैं, उनमें कई नित्यतृप्त आप्तकाम और असंग वृत्तिसे रहनेवाले हैं, जो आनंदी और तेजस्वी हैं। अन्य जीव भोगी हैं वे चिन्तामें मग्न, मोहसे ग्रस्त, दुःखसे संतप्त और आधिव्याधियोंसे पीडित हैं। यहां पता लगता है कि भोगलालसासे दुःख और अनासक्तिसे सुख प्राप्त होता है।

जो आत्मा सुखी है वह (अनश्नन्) भोगमें अनासक्त है और (यमः) संयमी है। इसीमें उसके सुखका वीज है। अनासक्ति ही सुखका हेतु है। एकही वृक्षपर बैठनेवाले दो पक्षियोंमें जब अनासक्तको सुख और आसक्तको दुःख होता है, तब दुःखी जीवोंको उचित है कि वे अनासक्तिसे रहें और सुखी हो जांय। जो अनासक्त और संयमी है, वही ईश है। भोगी ईश होही नहीं सकता, क्योंकि भोगी होनेका अर्थ वह अपने आपको हीन दीन और अपूर्ण समझता है। जो अपूर्ण है और बाहरसे वस्तु आनेपर जिसकी तृप्ति होनेकी कल्पना है वह समर्थ और पूर्ण किस तरह हो सकता है? और समर्थ न होगा, वह ईश भी किस तरह हो सकता है?

यहां 'कर्मफलत्याग' के गीताके सिद्धान्त का वैदिक मूल हमें प्राप्त हुआ। इस संसारमें जीवोंको सुख देनेवाली छाया वेदोंसे ही प्राप्त होती है। छन्द ही यहांके (पर्णानि) पल्लव हैं, शाखाविस्तार सब यही वेदविस्तार है। आनंदसे और सुखसे इस छायामें जीव रहते हैं और वेदमार्गके अनुसार चलते चलते आगे मार्ग मिलता जाता है।

शाखाएं, पल्लव, जडें और वृक्षकी टहनियां ऐसी एक दूसरेके साथ मिलीं हैं कि उनके अन्दर अटका हुआ पक्षी बाहर खुली वायुमें आ नहीं सकता, क्योंकि उसको मार्गही नहीं मिलता। कर्म करो, उसका सुख भोगो, आगे भी कर्म करो और फिर सुख भोगो, फलसंग्रह करो, उसका रक्षण करो, उसको भोगो, इस तरह अनेक कष्टों और यातनाओंमें फंसा हुआ यह जीव बाहर कैसा निकल आवे? इसके पाश इतने हैं कि उनसे बाहर निकलना बिलकुल उसे कठिन होता है।

छोटेपनमें अज्ञानमें रहता है, तारुण्यमें स्त्रीभोगमें लिपट जाता है, आगे बालबच्चे होते हैं, पीछे उनके विवाहके मंगलकार्य है, मित्र हैं, सगे हैं, संबंधी हैं, दुःख और शोक हैं, वैयक्तिक और सामूहिक कार्य हैं, एक कार्य समाप्त होता है तो दूसरा शुरू होता है, इस तरह इसे इससे छूटनेका मार्ग नहीं दीखता। एकही मार्ग है जो यह (यम) संयमी बने और (अनश्नन्) भोग भोगनेका इच्छुक न रहे, इस असंगवृत्तिसे रहनेसे ही इसका मार्ग खुल जाता है।

कठ उपनिषदमें जो कहा है कि यह अश्वत्थ वृक्षही (शुक्र अमृत ब्रह्म) सामर्थ्ययुक्त अमृतमय ब्रह्म है वह सत्य है, क्योंकि (वासुदेवः सर्व। गी० ७।१९) वासुदेवही सब कुछ है और (पुरुष एवेदं सर्व। ऋ० १०।९०।२) पुरुष परमेश्वरही सब कुछ है, तब तो यही वृक्ष है और दूसरा कुछ भी नहीं है, यही सब कुछ है। हम अलग होकर भोग भोगना चाहते हैं। इस भोगी वृत्तिमें दुःख है। मुझसे दूसरे भिन्न हैं और मैं उनको दबाकर भोग भोगूंगा, इस वृत्तिमें सब दुःख है। यदि इसके मनमें अनन्यभाव स्थिर होगा और यहां अन्य कोई नहीं है, सब एकही सत्यवस्तु है, मैं और अन्य सब उसीमें अन्तर्गत हैं, यहां कोई पृथक् नहीं है, इस तरहके अनन्यभावसे यदि मनुष्य रहने लगें, तो असंगवृत्ति होनेके कारण सर्वत्र आनंद और एकरस सुखही सुख प्राप्त होगा। अतः अनन्यभाव और असंगवृत्ति धारण करना उचित है।

(२) असंग शस्त्रसे वृक्षका छेदन।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

अन्वयः— (यथा अयं वर्णितः) तथा अस्य रूपं इह न उपलभ्यते। (अस्य) अन्तः न, आदिः च न, संप्रतिष्ठा च न (उपलभ्यते,), सुविरूढमूलं एनं अश्वत्थं दृढेन असंगशस्त्रेण छित्वा, ततः ' यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता तं एव आद्यं पुरुषं अहं प्रपद्ये ' (इति) तत् पदं परिमार्गितव्यं, यस्मिन् गताः भूयः न निवर्तन्ति ॥ ३–४ ॥

(इस अश्वत्थ वृक्षका यहां जिस तरह वर्णन किया है) उस तरह इसका स्वरूप यहां व्यक्त रूपसे दीखता नहीं, अर्थात् इसका न अन्त, न आदि और न आधार दीखता है, अत्यंत गहरी जडोंसे युक्त इस अश्वत्थ नामक वृक्षको सुदृढ असंगरूप शस्त्रसे काटकर, 'जिससे पुरातन कालसे प्रवृत्ति चली आ रही है उसी आद्य पुरुषको मैं शरणागत होता हूं।' (ऐसी भावना करके) पश्चात् उस पदको ढूँढना चाहिये कि जिसमें गये हुए फिर वारंवार वापस नहीं आते।

भावार्थ— इस संसारवृक्षका आदि अन्त और आधार कहां है इसका पता नहीं लगता और इसका ठीक ठीक स्वरूप भी सर्वसाधारण के समझमें नहीं आता। इसलिये वैराग्यरूपी शस्त्रसे इसको काटना चाहिये और जिस बीजसे यह वृक्ष अनादि कालसे इतना फैल रहा है, उस आद्य जगद्बीज ईश्वरको मैं शरण जाता हूं ऐसी नम्र भावनासे उसे शरण जाकर, उस स्थानको ढूँढना चाहिये कि जहां पहुंचनेपर वारंवार वापस आकर दुःख भोगना नहीं पडता, अर्थात् जहां जाकर अखण्ड आनंद मिलता रहता है ॥ ३—४ ॥

जो पाश हमारे पीछे लगे हैं वे और किसीके बनाये नही हैं, वे तो सब भोगासक्तवृत्तिसे, संगभावसे अर्थात् हमारेहि कारण बनाये गये हैं। भोगी लोग अपने पाशोंको स्वयं बनाते हैं और अपने आपको उसीमें बांध देते हैं, बांधा जाने पर स्वयं रोते हैं, चिल्लाते हैं और पीटते हैं और कहते हैं कि 'हे देव! हमें छोड दो।' परंतु विचार नहीं करते कि बांधा किसने है ? पाश किसने निर्माण किये हैं? यहां तो बांधनेवाला और छोडनेवाला दूसरा कोई नहीं है। स्वयंही संगवृत्तिसे बांधा जाता है और असंगवृत्तिसे स्वयं बंधन टूट जाते हैं। अतः कहा है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।

'मन ही मनुष्योंके बंधन और मोक्षका हेतु है।' फिर भाई! कष्टोंसे बचानेवाला और कष्टोंमें डालनेवाला कौन है? अपने मनकी वृत्ति है, जो सब करती है, उद्धार करनेवाला भी स्वयं और अवनति करनेवालाभी स्वयंहि है।

असंगभावसे सब प्रकारकी उन्नतिका मार्ग खुला हो जाता है और संगवृत्तिसे सब प्रकारके कष्ट होते हैं। यही भाव भगवान् श्रीकृष्ण आगे बताते हैं—

(३-४) यहां जिस अश्वत्थ वृक्षका वर्णन किया गया है, उसका रूप साधारण मानव जानते नहीं। वे तो चारों और देखते हैं और उनको सर्वत्र सुंदर रमणीय भोग ही भोग दीखते हैं, सब ओर सुंदर जगत् है उसमें भोगविलास भरे हैं, प्रयत्न करो, भोग भोगो, आनंद करो, दूसरोंको मारो काटो, जो मर्जी हो वह करो, खाओ, पीओ आनंद लुटो, मरनेके पीछे किसने देखा है, ? ऋण करो और घी खाओ, इस तरहके विचारोंसे चलनेवाले लोग मोहवश अनेक अनर्थ करते ही रहते हैं, उनको तो इस वृक्षका (न रूपं उपलभ्यते) दर्शन भी नहीं होता। यहां दर्शन न होनेका तात्पर्य यही है कि उनको इसकी कल्पनातक नहीं है। वे तो दुःखको सुख माननेवाले अनित्यको नित्य मानकर विचार न करते हुए चलते हैं।

परंतु जो जीवनका विचार करते हैं उनको अपने बंधनकी कल्पना होती है और वे सोच विचार करने लगते हैं, सोचने लगते हैं और विचार करते करते उनको पता लगता है कि (न अन्तः न आदिः न संप्रतिष्ठा) जिसका आदि अन्त नहीं है और जिसका आधार भी नहीं है ऐसे घने जंगलमें हम अटक गये हैं। चारों और वृक्षवल्लियां हैं, मार्ग तो किसी जगह नहीं दीखता, कहां जांय, क्या करें, इस जंगलसे मुक्त किस तरह हो सकते हैं? ऐसा सोचते सोचते उसको पता लगता है कि (असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा) असंगरूप सुदृढ शस्त्रसे इस वनको काटा जा सकता है। जब इसका पता उनको लग जाता है और आगे चलकर कई पुरुषार्थी जीवोंने इसी असंगशस्त्रसे इस वनको काटा और मार्ग खुला किया है ऐसा ये देखते हैं, तो येभी पांथस्थ जीव अपने लिये मार्ग तैयार करते हैं। इस रीतिसे मार्ग बनता है और बद्धों को स्वतंत्रता इसी असंगवृत्तिसे प्राप्त हो सकती है। कितना भी घना जंगल क्यों न हो, वह सुदृढ शस्त्रसे काटा जाता है। और उसमेंसे सीधा मार्ग बनाया जा सकता है। इसीका नाम पुरुषार्थ है और यह हरएक मनुष्यको करना ही चाहिये।

यह प्रपंच अथवा संसाररूपी वृक्ष है और यह (सु-वि-रूढ-मूल) बडा सुदृढ मूलोंवाला है, अर्थात् इसके जड बडे गहरे गये हुए हैं। तथापि किसीको डरना उचित नहीं है, क्योंकि यह कितनाही सुदृढ क्यों न हो, असंगशस्त्र चलानेपर यह प्रतिबंधक नहीं होता। असंगशस्त्र उठाते ही पथिकका मार्ग सीधा हो जाता है। इसलिये भोगी वृत्ति रहनेतक ही इसका बंधन कष्ट देता है, भोगवृत्ति छोड दी और असंग अथवा अनासक्त वृत्ति बन गयी तो यह वृक्ष ऐसा ही रहने पर कोई कष्ट नहीं होता। ऋग्वेदमें जहां एक वृक्षपर दो पक्षी बैठनेका वर्णन है, वहां जो फलभोग करनेवाला पक्षी है वही शोकग्रस्त है, परंतु जो फलभोग नहीं करता वह आनंदसे चमकता रहता है। एकही वृक्षपर एक सुखी और दूसरा दुःखी है और इसका कारण एक भोगी है और दूसरा त्यागी है। यह ऋग्वेदका पाठ ही श्रीमद्भगवद्गीतामें अधिक विस्पष्ट कर दिया है। अर्थात् यहां स्पष्ट हुआ कि वृक्ष जैसा का वैसा रहनेपर भी संगवृत्ति और असंगवृत्तिसे बंध और मोक्ष होते हैं और यही असंगशस्त्रसे वृक्ष के काटनेका सच्चा तात्पर्य है।

असंग नामक कोई शस्त्र नहीं है जिससे वृक्षके काटने की संभावना है। वृक्ष के फल के भोग का त्याग करनेका ही नाम असंगशस्त्रसे वृक्षको काटना है। अतः पाठक यह न समझें कि यह अश्वत्थ वृक्ष किसी समय काटा जायगा और कभी यह वृक्ष बिलकुल न रहेगा। ऐसा कभी नहीं होगा। यह अश्वत्थ वृक्ष, यह संसारवृक्ष सदा रहेगा, परंतु जो यहां फलभोग करनेकी वासना त्याग देगा, उसके लिये यह न रहने के समान उपद्रवरहित अथवा सहायक बनकर रहेगा और इससे उसको कोई बंधन नहीं होगा। इतना ही आशय असंगशस्त्रसे इस वृक्षके काटने

(३) शाश्वत पदके अधिकारी।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

अन्वयः— निर्मानमोहाः, जितसंगदोषाः, अध्यात्मनित्याः, विनिवृत्तकामाः सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः, अमूढाः, तत् अव्ययं पदं गच्छन्ति ॥ ५ ॥ न सूर्यः, न शशांकः, न पावकः (च) तत् (पदं) भासयते। यत् गत्वा न निवर्तन्ते तत् मम परमं धाम ॥ ६ ।

जिनका अभिमान और मोह नष्ट हो चुका है, जिन्होंने विषयासक्तिके दोषोंको जीत लिया है, जो आत्मामें नित्य रमते हैं, जिनकी कामनाएं दूर हो चुकी हैं, जो सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त हो चुके हैं और जो ज्ञानी हैं, वे ही उस अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥ सूर्य चन्द्र अथवा अग्नि उस पदको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं है। जहां जानेपर वापस आना नहीं पडता, वही मेरा (ईश्वरका) परम धाम है ॥ ६ ॥

में है। पाठक विचार करके इसका ठीक ठीक आशय जाने।

ईश्वर उपासना।

फलभोगकी वासना छूट गयी और नित्यतृप्त रहनेकी स्थिति प्राप्त हो गयी, तो यह स्थिति चिरकाल रखने के लिये ईश्वरउपासना का अभ्यास करना चाहिये, अन्यथा मनका स्वभाव चंचल होने के कारण यह असंगवृत्ति कदाचित् स्थिर रूप से नहीं रहेगी और फिर भोगवृत्ति बढ जायगी। ऐसा न हो इस लिये कहा है—

यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता
तं आद्यं पुरुषं एव प्रपद्ये।

'जिससे पुरातन कालसे इस संसारकी प्रवृत्ति चली आयी है उसी आद्य पुरुष-परमात्मा -परमेश्वर को मैं शरण जाता हूं' और वह मुझे उस अमृत स्थानमें चिरकाल रखे। ऐसी मनोभावना से उस साधकको ईश्वरकी प्रार्थना करते हुए शरण जाना चाहिये। शरण जानेमें अपनी सब अहंकार की वृत्तिका त्याग होता है। अपने आपको परमात्माके लिये समर्पित करना भगवच्छरणागतिसे ही होता है।

जिस स्थानको पहुंचनेसे फिर वापस आना नहीं होता है, उस पद को प्राप्त करना मनुष्यका कर्तव्य है और वह इस तरह प्राप्त किया जाता है, ढूंढा जाता है, खोज किया जाता है और भगवच्छरणागतिसे वह निश्चयसे प्राप्त भी होता है। अपने अहंकार का इस तरह यज्ञ किया जाता है और पूर्ण अनन्यभाव मनमें स्थिर होता है। जिनको यह स्थिति प्राप्त होती है, वेही शाश्वत पद के अधिकारी हैं। इसका वर्णन आगे के दो श्लोकों में किया है वह मननीय वर्णन अब देखिये-

भावार्थ— जो अभिमानरहित, मोहरहित, अनासक्त, आत्मनिष्ठ, भोगवासना-रहित, द्वन्द्वभावसे दूर और ज्ञानी हैं वे उस अविनाशी परम पदको प्राप्त होते हैं। जहां सूर्य, चन्द्र अथवा अग्निका प्रकाश नहीं पहुंचता, वहां ईश्वरका परम धाम चमक रहा है, क्योंकि इसके प्रकाशसेही सूर्य चन्द्र और अग्नि प्रकाशित होते हैं ॥ ५-६ ॥

अव्यय पदके अधिकारी ।

(५-६) अव्यय परमात्मा के स्थानको कौन प्राप्त करते हैं इस का वर्णन यहां किया है-

अमूढाः अव्ययं पदं गच्छन्ति ।

' जिनकी मूढता दूर हुई है वे ही परमात्माके अव्यय पद को प्राप्त होते हैं ।' मूढता रहने तक, अर्थात् अज्ञान रहनेतक परमात्माका अव्यय पद प्राप्त नहीं हो सकता । जिनका अज्ञान दूर हुआ है उनके लक्षण पाठक इसी श्लोकमें देखें-

(१) निः-मान+मोहाः ।

जिनसे अभिमान दूर हुआ है और मोह भी दूर हुआ है वे परम पद के अधिकारी हैं। अज्ञानसेहि अभिमान और मोह होते हैं, अभिमान घमंड अहंकार ज्ञान प्राप्त होने तक ही रहते हैं । अभिमान का अर्थ ' मैं हूं, मैं दूसरोंसे पृथक् हूं, मैं भोग भोगूंगा, इससे दूसरोंकी हानि हुई तो भी मुझे उसकी पर्वाह नहीं है। ' इत्यादि भाव अहंकार से होते हैं। यह सब अज्ञान ही है, मोह भी इसी कारण होता है, मैं और दूसरा इस द्वैतभाव का ही फल मोह है, यह मेरा है और यह दूसरेका है, इस कारण ही मनुष्य मोहित होते और पाप करते हैं। यह सब अज्ञान है। ज्ञान वही है जिससे सर्वत्र अनन्यभाव प्रतीत होता है, सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व है उसे छोडकर उसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, ऐसी एकात्मदृष्टि स्थिर हो गई, तो उस में अहंकार और मोह के लिये कोई स्थान नहीं मिलेगा, जहां सर्वत्र एकात्मप्रत्यय आगया वह किसको पास करेगा और किससे दूर होगा? अतः घमंड, शोक, मोह, उसके पास नहीं रहेंगे।

(२) सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः ।

' सुख और दुःख नामक द्वन्द्वोंसे जो मुक्त होते हैं, ' सुखदुःख, हानिलाभ, जयपराजय, आप-पर, आदि अनेक द्वन्द्व हैं, वे अज्ञानीको ही कष्ट देते हैं, जिसमें सभी ब्रह्मके रूप हुए' विश्वात्मा के विश्वरूप में जिसने सबकी एकता देखी, उसको द्वन्द्वके सब प्रकार एकही अभिन्न ब्रह्मके अखंड रूप होनेके कारण उस अनन्यभाव धारण करनेवालेके सामने कोई द्वन्द्व भेदरूपसे रहते ही नहीं, अतः द्वन्द्वोंसे वह मुक्त होता है। जब सब द्वन्द्व ब्रह्मरूप होंगे, तब उनका द्वन्द्व होनेका दोष दूर होता है और द्वन्द्वभावसे यह मुक्त होगा ।

(३) वि-निवृत्त-कामाः ।

जिनके अन्तःकरणसे भोगोंकी कामनाएं' जिनके मनसे सब प्रकारकी कामनाएं दूर हो चुकी हैं, जो निष्काम हुए हैं, जिनमें तृष्णा रही नहीं, वे परम पदके अधिकारी हैं ।

(४) जित-संग-दोषाः ।

भोगासक्तिके दोषोंको जिन्होंने जीत लिया है, अर्थात् जिनमें फलभोगवृत्ति रही नहीं, जो नित्यतृप्त हैं, आप्तकाम हैं, असंग हो चुके हैं वे परम पदके अधिकारी हैं ।

(५) अध्यात्मनित्याः ।

(अधि+आत्मा) आत्माकी जो शक्तियां प्रकट होती हैं उनका नित्य मनन जो करते हैं, उनको आत्माकी अद्भुत शक्तिका पता लगता है, और उस कारण आत्मामें उनकी श्रद्धा दिनो दिन वढ जाती है। इन लोगोंको आत्माका ही यह सब आविष्कार है ऐसा निश्चय होता है और वे एक आत्मतत्त्वका सर्वत्र दर्शन करते

(४) ईश्वरीय अंश जीव।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

हैं अतः इसतरह आत्माका सर्वत्र साक्षात्कार करनेवाले आत्माके अव्यय पदको प्राप्त होते हैं; अर्थात् मैं उस आत्मासे पृथक् नहीं हूं यह ज्ञान उनमें सुदृढ होनेके कारण वे आत्मारूप बनते हैं :

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि,
आत्मा एव अभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक,
एकत्वमनुपश्यतः ॥ (ईश उ० ९)

'जिस समय सब भूत आत्माही हो चुके, उस समय उस एकतत्त्वका दर्शन करनेवाले विज्ञानी पुरुषको शोक और मोह किस तरह हो सकते हैं ?' ऐसी अवस्था जिनकी होती है, वे परम अव्यय पदके अधिकारी होते हैं।

निरभिमानी, मोहरहित, द्वन्द्वोंको समभावसे देखनेवाले, निष्काम, भोगोंके विषयमें अनासक्त और आत्माकी शक्तिका सतत मनन करनेवाले, आत्माको यथायोग्य रीतिसे जानते हैं और आत्मज्ञान होनेसे वे स्वयं आत्मारूप बनते हैं, स्वयं आत्मा बननेसे वे आत्मासे अनन्य होते हैं और पूर्ण रूपसे अनन्य होनाही परमात्माका अव्यय पद प्राप्त करना है।येही शब्द इस समयतक भगवद्गीतामें अनेक वार आ चुके हैं, अतः इनका अधिक स्पष्टीकरण जो वहां किया है, वह भी पाठक यहां देखें और इन निरभिमानिता आदि गुणोंका महत्त्व जानें। ये गुण प्राप्त होना ही श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होनेका लक्षण है।

परम पदका लक्षण।

अब परम पदका लक्षण बताते हैं। 'वहां सूर्य का प्रकाश नहीं पहुंचता, न वहां चन्द्रमा और अग्निकी ज्योति उजाला करती है। जहां पहुंचनेसे वापस नहीं आते, वही परमात्मा का श्रेष्ठ धाम है।', यह परमधाम का लक्षण है।

सूर्य, चन्द्र और अग्निका प्रकाश वहां नहीं पहुंचता अथवा वहांके तेजके सामने इनका प्रकाश बहुतही फीका है, क्योंकि उसीके तेजसे सूर्यादि पदार्थ तेजस्वी हुए हैं, अतः सूर्यादि पदार्थ वहां प्रकाश नहीं डाल सकते।

जहांसे वापस आना नहीं होता, वह परमात्म पद है। वापस आनेका तात्पर्य दुःखमें गिरना है। दुःख तो द्वैतका ही परिणाम है, जहां द्वैत न रहा, एकत्वानुभव का अनन्यभाव जहां स्थिर हुआ, वहां वापस आकर दुःखका अनुभव पाना कैसा संभव हो सकता है? एकवार जिसे अद्वैतका अनुभव हुआ, वह द्वैत में आवेगा ही नहीं, क्योंकि उसकी कल्पनामें द्वैत रहेगा ही नहीं। जैसा अनेक वस्तु मिश्रीकी बनाई हैं, जिसके मनमें उन सब का मिश्रीरूप स्थिर है, वह उन में विविधता कैसी अनुभव कर सकता है। अतः एकवार अद्वैतका अनन्य होनेका अनुभव हुआ, तो उसे द्वन्द्वका भान होना असंभव है। अतः यह परम पद ऐसा है, कि जिसे एकवार पहचाननेसे फिर शोक मोह होते ही नहीं। यहां पाठक पूछेंगे कि यदि ऐसा एक तत्त्व है, तो जीवका जीवभाव कहां सिद्ध हो सकता है, इस शंका के उत्तरमें कहते हैं, कि जीवभी परमात्मा का ही अंश है, देखिये–

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

अन्वयः- (अस्मिन्) जीवलोके मम एव सनातनः अंशः जीवभूतः (अस्ति सः) प्रकृतिस्थानि मनः षष्ठानि इंद्रियाणि कर्षति ॥ ७ ॥ यत् (एषः) ईश्वरः शरीरं अवाप्नोति, अपि च यत् उत्क्रामति (तत्) वायुः आशयात् गंधान् इव, एतानि गृहीत्वा संयाति ॥ ८ ॥ अयं (जीवः) श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च, रसनं घ्राणं मनः च एव अधिष्ठाय विषयान् उपसेवते ॥ ९ ॥ उत्क्रामन्तं स्थितं वा, भुञ्जानं गुणान्वितं वा अपि विमूढाः न अनुपश्यन्ति, ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति ॥ १० ॥ यतन्तः योगिनः आत्मनि अवस्थितं एनं पश्यन्ति, अचेतसः अकृतात्मानः च यतन्तः अपि एनं न पश्यन्ति ॥ ११ ॥

इस मनुष्यलोकमें मेरा (ईश्वर का) ही सनातन अंश जीव बन कर रहा है, वह प्रकृतिमें स्थिर रहनेवाले पांच इन्द्रियों और छठें मनको अपने पास आकार्षित करता है ॥ ७ ॥ जब यह शरीरका स्वामी शरीरको प्राप्त करता है अथवा जब उसे छोडता है, तब वह, वायु पुष्पोंसे सुगंध ले जाने के समान, इन इंद्रियोंको अपने साथ ले जाता है ॥ ८ ॥ यह जीव कान, नेत्र, त्वचा, जीह्वा, नाक और मन का आश्रय करके विषयोंका उपभोग करता है ॥ ९ ॥ शरीरको छोडनेवाले, शरीरमें रहनेवाले, विषयोंको भोगनेवाले, अथवा गुणोंसे युक्त होनेवाले इस जीव को मूढ जन देखते नहीं, परंतु ज्ञानी लोगही इसे देखते हैं ॥ १० ॥ यत्न करनेवाले योगी अपने अन्दर रहनेवाले इस आत्मा को देखते हैं, परंतु जो विचारहीन और संस्कारहीन होते हैं वे प्रयत्न करनेपर भी इस आत्माको देख नहीं सकते ॥ ११ ॥

भावार्थ- जीव ईश्वर का ही एक अंश है, वही नाना शरीरोंमें जीवभावसे रहता है, वह अपने पास इंद्रियोंको खींच कर रखता है। जैसा वायु अपने साथ सुगंध लाता है, वैसा यह जीव शरीरधारण के समय अपने साथ

इंद्रियोंको लाता है और शरीर छोडनेके समय इनको अपने साथ ले जाता है। यह जीव इन इंद्रियोंका आश्रय करके ही सब प्रकारके विषय भोगता है। यह किसी समय शरीरको छोडता है, किसी समय शरीरमें रहता है, रहकर भोग भोगता है, गुणोंको अपने पास लाता है, इतना करने पर भी मूढ मनुष्य इसे पहचानते नहीं, परंतु जो ज्ञानचक्षुसे देख सकते हैं, वे ही इसे देख सकते हैं। योगी लोग प्रयत्न करने पर इसे देख सकते हैं, परंतु अज्ञानी और संस्कारहीन मनुष्य यत्न करने पर भी इसे जान नहीं सकते ॥ ७- ११ ॥

ईश्वरका सनातन अंश।

(७-११) 'ईश्वरका सनातन अंश इस मानव लोकमें जीवभावको प्राप्त हुआ है।' अर्थात् जीवात्मा पृथक् नहीं है, वह ईश्वर का ही अंश है। यह श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त है। जैसा महासागरमें एक जलबिन्दु, जैसा सूर्यप्रभामें एक किरण, जैसी बडे प्रज्वलित अग्निमें एक चिनगारी, वैसा परमात्मामें जीवात्मा है। संपूर्ण सचेतन अचेतन का अन्तर्यामी आत्मा ही ईश्वर है, उसीका व्यक्तिगत अंश जीवात्मा है। जैसा आकाशमें मठाकाश और मठाकाशमें घटाकाश होता है वैसाही विश्वात्मामें राष्ट्रात्मा और राष्ट्रात्मामें वैयक्तिक आत्मा है। वेदमें कहा है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

'यह एकही प्रभु सब दिशा-उपदिशाओंमें है, वही पूर्व समयमें और इस समयमें गर्भमें आता है। वही पहिले जन्मा था, वही इस समय जन्मता है और आगेभी वही जन्मेगा। उसीका मुख सब ओर है और वही प्रत्येक मनुष्यके अन्दर रहता है।' तथा— (वा०यजु०३२।४)

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर्-
अजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा-
स्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
(वा० यजु० ३१।१९)

'प्रजापति परमपिता परमेश्वर गर्भके अन्दर संचार करता है, वह स्वयं अजन्मा होता हुआ भी अनेक प्रकारसे और विशेष रीतिसे जन्मता है। इसका मूल स्थान ज्ञानी लोग देखते हैं और इसीमें सब भुवन रहे हैं।'

परमात्माका वर्णन करते हुए ही 'वह न जन्मनेवाला होनेपर भी जन्म लेता है' ऐसा कहा है। आत्मा तो 'अज' है अर्थात् अजन्मा है, फिर भी घटमें आये आकाशके समान शरीर में आया आत्माका अंश शरीरके साथ जन्मता है। यह एक रूपक है, इससे इतनाही बताना है, कि विभु एकरस आत्माके अंश ही जीव रूप बन कर (मम एव अंशः जीवभूतः) इस विश्वमें नानारूप धारण करते हैं, इसी कारण उसको 'सर्वतो मुखः, विश्वतो मुखः, विश्वतश्चक्षुः, विश्वतस्पात्, विश्वतो बाहुः' कहा है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी
जनयन्देव एकः। (वा० यजु० १७।१९)

यदि वह प्रभु सब शरीरोंमें न होगा तो उसके सब ओर मुख, सब ओर हाथ, सब ओर चक्षु और सब ओर पांव कैसे हो सकते हैं। जो द्वैती परमात्माका अंश जीवात्मा है ऐसा नहीं मानते और जीवात्माको परमात्मासे सर्वथा पृथक मानते हैं उनका परमात्मा 'विश्वतो मुख, विश्वतो बाहु विश्वतस्पात्' किस तरह हो सकता है? क्योंकि जो मुख बाहु पाव चक्षु आदि अवयव दीखते हैं वे द्वैतियोंके पक्षमें जीवात्माओंके हैं, न कि परमात्माके। अतः हाथपांवबाहुमुख ये अवयव जीवात्माके होनेके कारण किसी तरह परमात्मा

के हो नहीं सकते। परंतु वेदोंमें परमात्माका ही वर्णन 'विश्वतो मुख' आदि शब्दोंद्वारा किया है, अतः मानना पडेगा कि 'न जन्मने वाला परमात्मा विशेष रीतिसे जन्म लेता है, (अजायमानः बहुधा विजायते) और विश्वतो मुखी बनता है।' यही भगवद्गीताकी भाषामें परमात्माका विश्वरूपवर्णन है, सब रूप उसीने धारण किया है। अस्तु।

परमात्माका अंश जीवात्माके रूपमें जीवसृष्टिमें जन्मता है, यह गीताका कहना इस तरह वेदसे भी प्रमाणित होता है। 'परमात्मा का अंश' ऐसा कहनेसे खण्डित अंश नहीं समझा जाता, परंतु जैसा आकाशका अंश मठाकाश या घटाकाशमें खंडित न होनेपर भी अंश कहा जाता है, वैसा यहां भी समझना चाहिये, क्यों कि परमात्मा अखंड एकरस है उसका टुकडा हो नहीं सकता। परंतु शरीरमें व्यापार करनेके कारण उसका अंश ऐसा समझानेके लिये यहां कहा है, वेदमें भी ऐसाही कहा है-

पादोऽस्य विश्वा भूतानि
त्रिपादस्याऽमृतं दिवि ॥ ३ ॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः,
पादोऽस्येहाभवत्पुनः ॥ ४ ॥ (वा०यजु०३१)

'पुरुष अर्थात् परमात्माका एक पाद अर्थात् अंश इस विश्वमें विश्वरूप बना है, और वारंवार विश्वरूप बनता है और तीन पाद अर्थात् तीन अंश द्युलोकमें अपने स्वरूपमें रहते हैं' यहां भी पाद शब्द अंशवाचकही है और यह अंश या पाद शब्द टुकडेका वाचक नहीं है, परंतु एकरस पदार्थके कुछ अंशका वाचक है।

यह परमात्माका सनातन अंश मन, कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका इन छः इन्द्रियोंका अपने पास आकर्ष करके इन छहों इंद्रियोंको अपने पास रखता है और इन इन्द्रियोंसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस गंध विषयोंका भोग करता है। जीव इन इन्द्रियोंको अपने पास आकर्षण करके विविध भोग भोगता है। मनके साथ छः इंद्रियां मिलकर जीवात्माका लिंगदेह होता है। वायु जैसा फूलोंका सुगंध अपने साथ ले जाता है, इसी तरह जीव एक शरीरको छोडता और दूसरे शरीरको प्राप्त करता है, उस समय इस लिंगदेहके साथ अर्थात् मन आदि छहों इंद्रियोंके साथ एक शरीरसे दूसरे शरीरको जाता है। जब यह एक शरीर छोडता है तब उस देहके मन आदि छः इन्द्रियोंको अपने साथ आकर्षण करके लेता है, और जब यह दूसरे देहमें प्रवेश करता है, तब उस देहमें इन छः इंद्रियोंको सुरक्षित रखता है। अर्थात् अकेला जीवात्मा किसी देहको छोडता नहीं और किसी देहको पकडता भी नहीं। जब देहको छोडता है उस समय मनके साथ छः इंद्रियोंके साथ छोडता है और जब किसी देहमें प्रवेश करता है तब भी इन छः इंद्रियोंके साथ ही प्रविष्ट होता है।

यहां पाठक स्मरण रखें कि जो आत्मा है वह 'सर्वगत' (गी० २।२४) अर्थात् सर्वव्यापक है तथा उसका अंश या टुकडा होता नहीं क्योंकि वह अखण्ड एकरस है। तथापि बृहदाकाशमेंसे अनेक घटोंमें आकाश रहनेके समान, सर्वगत आत्माका अंश अनेक देहोंमें विराजता है। यदि केवल आत्माका अंश शरीरकी उपाधीमें रहता, तो भी उसको जीवभाव कदापि प्राप्त न होता, क्योंकि अखण्ड एकरस आत्मामें एक या अनेक शरीर आये अथवा न आये, तो उसमें कोई परिवर्तन होनेका संभवही नहीं है।

परंतु जब यह आत्मा अपने साथ मन आदि छः इंद्रियोंको आकर्षित करता है और उन छः इंद्रियोंसे नाना भोग भोगनेका कार्य करता है, तब 'मैं भोक्ता' हूं ऐसा उसे अनुभव होता

है और यही जीवभाव है। अर्थात् मन आदि छः इंद्रियोंके साथ रहनेसेहि अपने भोक्ता होनेका अनुभव उसे हुआ और इसी कारण जीवभाव उसमें प्रतीत होने लगा। अतः यह मनके कारण प्रतीति है। मनके विना इंद्रियां कुछभी कार्य कर नहीं सकती, अतः मनके साथ रहनेसे आत्माके अंशमें 'मैं भोक्ता हूं और अन्य भोग्य हैं' ऐसा भान हुआ और जीवभावका प्रारंभ हुआ। यह मनका खेल है अतः मनकोही बंधन और मोचनका हेतु कहा जाता है।

कान, त्वचा, आंख, रसना, नासिका और मनके ऊपर अधिष्ठाता होकर इनके द्वारा यह शब्दस्पर्शरूपरसगंध आदि विषयोंका उपभोग लेता है, और मैं उपभोग करनेवाला हूं तथा ये उपभोगके विषय हैं, ऐसा अनुभव करता है। यही जीवभाव है। भोगकामना जीवभावका महत्त्वका लक्षण है। इसी कारण वासनाक्षयसे मोक्षकी प्राप्ति संभवनीय होती है।

शरीरको छोडते समय, शरीरमें रहते समय, भोग करते समय, तथा सत्त्वादि गुणोंसे युक्त होते समय आत्माको ज्ञानदृष्टिसे देखनेवालेही देखते हैं, परंतु जो ज्ञानदृष्टिसे रहित मूढ हैं उनको आत्माका पता तक नहीं होता।

शरीरमें जो कर्म होते हैं उनके देखनेसे आत्माका पता लगता है, यदि शरीरमें होनेवाले कर्मोंका अनुसंधान न किया जाय, तो आत्माका ज्ञान होनेका दूसरा कोई साधन नहीं है। इस सृष्टिमें स्थिर और चर, स्थावर–जंगम, निर्जीव-सजीव ऐसे दो भाव दीखते हैं। पत्थर पर्वत आदि स्थिर स्थावर अथवा निर्जीव कहलाते हैं और जीव, कृमिकीट, पतंग, पक्षी, पशु, मानव आदिकोंको सजीव- जिनमें जीवन है- ऐसा कहते हैं। यह सजीव–निर्जीव–भेद स्पष्ट है और हरएक मानव इसका अनुभव स्पष्टताके साथ कर सकता है। यदि सजीव सृष्टिमें दिखाई देनेवाले 'इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न' न देखे जांय तो जीवका अथवा आत्माके जाननेका इनसे भिन्न और कोई लक्षणही नहीं है।

ये लक्षण देखनेसेहि सजीवोंमें जीवात्मा–आत्मा–है और स्थावरोंमें आत्मा नहीं है ऐसा मनुष्य कहते हैं। यहां इतना सत्य है कि जीवोंकी हलचलसे आत्माका बोध होता है, परंतु इससे जो अनुमान किया जाता है कि जीवोंसे भिन्न स्थानोंमें आत्मा नहीं, यह अनुमान अशुद्ध है। उदाहरणके लिये आप देखिये कि वृक्ष हिलते हुए देखनेसे वायुके अस्तित्वका पता लगता है, इतना सत्य है, परंतु यदि वृक्ष न हिले किंवा किसी स्थानपर वृक्षही न रहे, तो वहां वायुही नहीं है ऐसा अनुमान करना अयोग्य है। इसी तरह प्राणियोंकी हलचल देखनेसे आत्माका ज्ञान होता है यह सत्य है, परंतु जहां प्राणी न हो, अथवा प्राणीकी हलचल न हो वहां आत्मा नहीं है ऐसा अनुमान करना अयोग्य है।

अतः मरनेके साथ साथ शरीरसे आत्मा चला गया, जन्म लेनेपर उसमें आत्मा आया, फलाने शरीरमें आत्मा भोग करता है और फलाने शरीरमें आत्मा फलाने गुणोंसे युक्त है, यह सब भाषा अशुद्ध है। आत्मा 'सर्वगत' (गी० २।२४) है इस लिये आत्मा तो सबमें और सर्वत्र है, न वह किसीमें पहिले न होता हुआ फिर आता है और न किसी स्थानपर पहिले होता हुआ फिर चला जाता है। वह सदा अखंड एक जैसा एकरसही है। आना जाना, होकर न होना, और न होकर होना यह उसके लिये असंभव है।

जैसा देखिये एक स्थानपर अनेक घडे रखे, तो क्या उनमें पहिले आकाश नहीं था? और क्या आकाशने उनमें पश्चात् प्रवेश किया? तथा उनमेंसे कई घडे टूट गये तो क्या वहांसे आकाश भाग गया? ये सब भाषाके बोलनेके प्रकार तत्त्वदृष्टिसे गलत हैं। आकाश सर्वत्र एक जैसा पहिलेसेहि है। घडे उत्पन्न होनेके कारण मनुष्य घटाकाशके विषयमें अपनी कल्पनासे जैसा चाहे

(५) सबके हृदयोंमें ईश्वरका निवास ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

वैसा बोलते हैं । जैसे आकाशमें घडे वैसेही परमात्मामें जीवोंके ये शरीर हैं । ये शरीर आये अथवा नष्ट हुए, तो परमात्मामें कोई न्यून वा अधिक नहीं होता । अतः आत्मा आया अथवा चला गया यह भाषा केवल व्यवहारकीही भाषा है उसमें पारमार्थिक सत्यता नहीं है । तीनों कालोंमें आत्मा ' सर्वगत ' है यही बात सत्य है । सबका एक आत्मा है न वह आता है और न वह जाता है ।

इतना होनेपरभी आत्माका अस्तित्व जाननेके लिये सजीव प्राणियोंका निरीक्षण करना आवश्यक है, और इस कारण जीवन, मरण, भोग, और गुणका विचार करना आवश्यकही है। क्योंकि इसके विना आत्माके अस्तित्वका भी पता नहीं लग सकता । अतः कहा है कि ज्ञानदृष्टिवाले लोग प्राणियोंके उत्क्रमण, भोग, अवस्थान आदिका विचार करके आत्माको पहचानते हैं, परंतु जिनको ज्ञानचक्षु नहीं है वे प्राणियोंकी हलचल देखनेपर भी आत्माको जानते नहीं । अतः मनुष्योंको उचित है कि वे विद्या प्राप्त करके ज्ञानदृष्टिका विकास अपने अन्दर कराकर, इस आत्माका साक्षात्कार करें ।

जो कृतात्मा योगी होते हैं वे जब आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रयत्न करते हैं तब वे अपने अन्दर ही आत्माको देखते हैं । परंतु जो अकृतात्मा और अयोगी होते हैं उनके प्रयत्न करनेपरभी उनको आत्माका साक्षात्कार नहीं होता । यहां कृतात्मा और अकृतात्मा कौन हैं इसका थोडासा विचार करना चाहिये । विद्या प्राप्त करके शास्त्रानुसार अनुष्ठान यमनियमादि साधन,सद्गुरुसेवन तथा श्रवणमनननिदिध्यास जो करते हैं वे अपने आपको यथायोग्य सुविद्य बनानेके कारण ' कृतात्मा ' कहे जाते हैं । तथा जो लोग अपने उद्धार के लिये योग्य अनुष्ठान नहीं करते अथवा आत्मघात के ही मार्गसे चलते हैं वे ' अकृतात्मा ' कहे जाते हैं । इनको आत्माका विचार भी नहीं सूझता ।

आत्माके ज्ञानका योग करनेवाले योगी और जो आत्माका विचार तक नहीं करते वे अयोगी होते हैं ।

इस तरह एक सर्वगत आत्माही विविध शरीरोंमें मन आदि इंद्रियोंका अधिष्ठाता होकर प्रत्येक शरीरका प्रत्यगात्मा करके प्रकट होता है , इसतरह इस आत्माने संपूर्ण विश्वान्तर्गत सब शरीर अपने ऊपर धारण किये हैं और वही एक आत्मा विश्वरूपी विश्वात्मा बना है । आत्मज्ञानी दिव्य दृष्टिवाले प्रयत्नशील योगी इसको अपने अन्दर भी देख सकते हैं, वैसाही सर्वत्र इसका साक्षात्कार कर सकते हैं, परंतु जिनको दिव्यदृष्टि नहीं है, उनको इसका ज्ञान नहीं होता । यही विषय अन्य रीतिसे स्पष्ट करते हैं—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५

अन्वयः— यत् आदित्यगतं तेजः अखिलं जगत् भासयते, यत् च चन्द्रमसि, यत् च अग्नौ (तत् मामकं तेजः (अस्ति इति त्वं) विद्धि ॥ १२ ॥ अहं च गां आविश्य ओजसा भूतानि धारयाा सोमः भूत्वा सर्वाः औषधीः पुष्णामि ॥ १३ ॥ अहं प्राणिनां देहं आश्रितः प्राणापानसमायुक्तः वैश्वान विधं अन्नं पचामि ॥ १४ ॥ अहं सर्वस्य च हृदि संनिविष्टः (अस्मि), मत्तः (सर्वस्य) स्मृतिः ज्ञ (भवति), अहं च एव सर्वैः वेदैः वेद्यः (अस्मि), अहं एव वेदान्तकृत् वेदवित् च (अस्मि)

जो सूर्यमें रहनेवाला तेज सब जगत्को प्रकाशित करता है, जो और जो अग्निमें है, वह तेज मेरा (ईश्वरका) है ऐसा तू समझ ॥ मैं पृथ्वीमें प्रवेश करके अपने बलसे सब भूतोंका धारण करता हूं । रूप सोम बन कर सब औषधियोंको पुष्ट करता हूं ॥ १३ ॥ मैं (ईश्व योंके देहोंमें जाकर, प्राण और अपानसे युक्त वैश्वानर अग्नि बन क अन्नका पाचन करता हूं ॥ १४ ॥ मैं (ईश्वर) सबके हृदयोंमें रहता सबोंको स्मरण, ज्ञान और इनका अभाव (विस्मरण और अज्ञान) मैं ही (ईश्वर) सब वेदोंके द्वारा जानने योग्य हूं, और मैं (ईश्वर) शास्त्र निर्माण करनेवाला और वेदका ज्ञाता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थ— सूर्य चन्द्र और अग्निमें जो तेज है वह तेज ईश्वर का है । पृथ्वी जिस बलसे सब करती है वह बल ईश्वर का है । जिस रस से सब औषधियां पुष्ट होती हैं वह रस परमेश्वर का अग्नि प्राणियोंके देहोंमें अन्न का पाचन करती है वह वैश्वानर अग्नि परमेश्वरका ही रूप है । जि ज्ञान और स्मरण, तथा अज्ञान और विस्मरण होता है वह ईश्वर का ही सामर्थ्य है । यही ईश्वर का निर्माता और ज्ञाता है और वेद में इसीका वर्णन है ॥ १२– १५ ॥

(१२–१५) परमात्मा हरएक रूपमें है अतः वह विश्वात्मा विश्वरूप है, इतना कहने मात्रसे हरएक आकृतिमें, मूर्तिमें, रूपमें, शरीरमें वह विद्यमान है यह बात सिद्ध होती है । और यदि वह हरएक वस्तुमें है, तो वही सर्वत्र विश्वमें कार्य चलाता है इसमें क्या संदेह हो सकता है?

इतनी बात मानने पर आदित्य और अग्निमें जो तेज है, वह ईश्वर इस विषयमें शंकाही नहीं हो सक नहीं परंतु सब तारकाओं में तथा तेज है वह सब तेज परमेश्वर से है । जहां जहां तेज, प्रकाश, उज

दीखती है, वह सब परमेश्वर से वहां रही है। यह तेज के विषयमें यहां कहा है, तेज के समान ही पृथ्वीका गंध, आपतत्त्वका रस, वायुतत्त्वका स्पर्श और आकाशतत्त्वका शब्द ये भी परमात्माके कारण ही वहां रहे हैं, यह बात इससे पूर्व ही कही गई है—

गुण और गुणी

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

(भ० गी० ७)

'जलोंमें रस, सूर्यचन्द्र और अग्निकी प्रभा, आकाश का शब्द, पृथिवी का गंध, वदोंमें प्रणव, मनुष्योंमें पौरुष, सब प्राणियोंमें जीवन, तपस्वियोंका तप, यह सब परमेश्वर का ही रूप है।'

इस आशय को ही सर्वत्र देखना चाहिये और यहां जो केवल प्रकाश के विषयमें कहा है, वह जैसा तेजस्तत्त्वके प्रकाशगुणके विषयमें सत्य है, वैसा ही जलतत्त्वकी रुचिके विषयमें और अन्यान्यतत्त्वों के अन्यान्यगुणों के विषयमें भी सत्य है, ऐसा विचारपूर्वक जानना चाहिये। यह भाव आगे स्पष्ट करते हैं—

(गां आविश्य) पृथ्वीमें परमेश्वर प्रविष्ट होकर सब प्राणियोंको वही धारण करता है, (औषधीः पुष्णामि) पृथ्वीके ऊपर उत्पन्न होनेवाली सब औषधियोंका पोषण करता है, और रसात्मक सोम (रसात्मकः सोमः) वन कर सब औषधि वनस्पतियोंमें संचार करता है। वैश्वानर वन कर अर्थात् सब विश्वका नेता वन कर संपूर्ण प्राणियोंके देहोंमें (प्राणिनां देहं आश्रितः) आश्रय करके परमेश्वर रहा है और वही प्राणअपान आदिसे युक्त होकर (अन्नं पचामि) सब प्रकार के अन्नका पचन करता है।

परमेश्वरका कार्य।

इस रीतिसे सर्वत्र प्रविष्ट होकर, यह परमात्मा सब भूतमात्र में जो कार्य हो रहा है, उसको चलाता है, परंतु अज्ञ मनुष्य समझते हैं, कि सूर्य प्रकाशता है, जल प्रवाहित होता है, पृथ्वी सबका धारण करती है, वायु सुखाता है इ० परंतु वस्तुतः देखा जाय, तो इन सबमें परमेश्वर है और वही यह सब कार्य करता है। इसी बातको और अधिक स्पष्ट करते हैं—

वेदवेद्य।

(सर्वस्य हृदि संनिविष्टः) परमेश्वर सबके हृदयमें- मध्यमें- बीचमें प्रविष्ट हुआ है, उसीसे सबकी स्मृति, ज्ञान और विस्मृति हो रही है। सब वेदोंके द्वारा (वेदैः वेद्यः) जानने योग्य वही परमेश्वर है, अर्थात् सब वेद उसीका वर्णन कर रहे हैं, वेदान्तकर्ता, वेदवेत्ताभी वही है, ज्ञानी वही है।

सबके हृदयोंमें रहकर सबको ज्ञान, पूर्वस्मरण और स्मरण होकर पुनः विस्मरण आदि होना परमेश्वरद्वारा ही होता है। वेदवेत्ता, वेदान्तप्रवीण, ज्ञानी वही है, अर्थात् यहां दूसरा कोई नहीं है। स्मरणभी वही कराता है और विस्मरणभी उसी कारण होता है। पाठकोंको इसका आश्चर्य प्रतीत होगा, अतः एक उदाहरण देते हैं। सूर्यके कारण दिनरात होते हैं यह सब जानते हैं, सूर्यके प्रकाशसे दिन वनना स्वाभाविक है, परंतु दिन वननेकेही कारण रात्री वनती है, यहभी उतनाही स्पष्ट है। इसी तरह स्मरण और विस्मरण एकहीसे हुआ करता है। अस्तु। एकही पुरुषोत्तम परमेश्वर परमात्मासे यह सब होता है। इस पुरुषोत्तम का स्वरूप अब देखिये—

(६) क्षर+अक्षर = पुरुषोत्तम।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ ८ ॥

अन्वयः— (अस्मिन्) लोके क्षरः अक्षरः च एव इमौ द्वौ पुरुषौ (स्तः), सर्वाणि भूतानि क्षरः, कूटस्थः च अक्षरः उच्यते ॥ १६ ॥ उत्तमः पुरुषः तु अन्यः (अस्ति), सः परमात्मा इति उदाहृतः, यः अव्ययः ईश्वरः लोकत्रयं आविश्य (तत्) बिभर्ति ॥ १७ ॥ यस्मात् अहं क्षरं अतीतः, अक्षरात् अपि च उत्तमः (अस्मि), अतः अहं लोके वेदे च पुरुषोत्तमः इति प्रथितः अस्मि ॥ १८ ॥

इस लोकमें क्षर और अक्षर ये दोही पुरुष हैं। सब भूतोंको क्षर कहते हैं और कूटस्थ (जीव) को अक्षर कहते हैं ॥ १६ ॥ उत्तम पुरुष तो (इन दोनोंसे) भिन्न ही है, उसे परमात्मा कहते हैं, जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर उसका धारण और पोषण करता है ॥ १७ ॥ जिस कारण मैं (ईश्वर) क्षरसे परे और अक्षरसेभी उत्तम हूं, इस कारण मैं (ईश्वर) लोकोंमें और वेदमें 'पुरुषोत्तम' इस नामसे प्रसिद्ध हूं ॥ १८ ॥

भावार्थ— इस विश्वमें एक क्षर पुरुष है और दूसरा अक्षर पुरुष है। सब भूतोंका नाम क्षर पुरुष है और जीव-चैतन्य का नाम अक्षर पुरुष है। क्षर और अक्षर ये जिसमें एक होते हैं वह पुरुषोत्तम है, और उसीको परमात्मा कहते हैं। यह परमात्मा संपूर्ण विश्वमें प्रविष्ट होकर उसका धारण और पोषण करता है. यह परमात्मा केवल क्षरसे श्रेष्ठ और केवल अक्षरसेभी उत्तम है, क्योंकि इसमें क्षर और अक्षर एकरूपता को प्राप्त हुए हैं, अतः इसको सब वेद और सब लोक 'पुरुषोत्तम' कहते हैं ॥ १६– १८ ॥

(१६– १८) इस विश्वमें 'क्षर और अक्षर' ये दो पुरुष हैं, एक नाशवान् है और दूसरा अविनाशी है. इसके वाचक नाम अनेक स्थानमें आये हैं, उनमेंसे कुछ यहां देते हैं—

क्षर	अक्षर
व्यय	अव्यय
प्रकृति	पुरुष
जड	चेतन
प्रकृति	आत्मा
स्थूल	सूक्ष्म
रयी	प्राण
जीव	शिव
मूर्त	अमूर्त
दिति	अदिती

चन्द्रमा	सूर्य
अनात्मा	आत्मा
अनीश	ईश

इस प्रकारके अनेक नाम अनेक ग्रंथोंमें लिखे हैं, इन सब संकेतोंका आशय एक ही है। हमें इस विश्वमें कई वस्तु नाश होनेवाली दीखती हैं और कई अविनाशी दीखती है। इन्हीं का नाम 'क्षर पुरुष' और 'अक्षर पुरुष' है। इसका स्वरूप इस तरह बताते हैं-

(क्षरः सर्वाणि भूतानि) सब भूतोंको क्षर कहते हैं और जो (कूटस्थ) सब भूतोंके मध्य में चेतना करनेवाला है, उसका नाम अक्षर है। मानवी देहमें देहको 'क्षर-पुरुष' समझिये, क्योंकि देह क्षीण होता जाता है, और आत्माको 'अक्षर-पुरुष' समझिये क्योंकि इसका नाश नहीं होता है। इसी तरह सर्वत्र देखकर क्षराक्षर विवेक करना उचित है।

(उत्तमः पुरुषः अन्यः) उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम इन क्षर और अक्षर पुरुषोंसे अन्य है, वही ईश्वर कहलाता है और यही तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका धारणपोषण करता है। यहां शंका होती है, कि यहां जो अन्य पुरुष- पुरुषोत्तम- कहा है, वह पहिले कहे दोनों पुरुषोंसे पृथक् है वा उनमें ही यह संमिलित है? यदि उनमें संमिलित होता तो—

उत्तमः पुरुषः अन्यः।

'उत्तम पुरुष अन्य' है ऐसा कहा न जाता, तथा यदि यह तीसरा पुरुष होता, तो पहिलेही श्लोकमें (द्वौ पुरुषौ) दोही पुरुष यहां हैं, ऐसा जो कहा है वहां (त्रयः पुरुषाः) तीन पुरुष हैं ऐसा कहा जाता। अतः पुरुष तीन नहीं हैं और केवल दोही हैं, यह सिद्ध है। यद्यपि (अन्यः) ऐसा तीसरे पुरुषका निर्देश यहां किया प्रतीत होता है तथापि, यहां तीसरा पुरुष जो कहा है, वह उन पूर्वोक्त दोनोंसे भिन्न होनेपरभी उनमें ही है। यह कैसे हो सकता है, ऐसी शंका कोई कर सकते हैं, इसके उत्तरमें कुछ न कुछ कहना यहां आवश्यक है। अतः इसका थोडासा स्पष्टीकरण करते हैं।

यहां एक पुरुष है और दुसरी स्त्री है, दोनोंका विवाह होनेपर उनको दम्पती कहते हैं। इसका वर्णन इस तरह हम कर सकते हैं-

(१) दोही मनुष्य यहां है, एक पुरुष और दूसरी स्त्री।

(२) संतान उत्पन्न करनेवाली स्त्री है और गर्भका आधान करनेवाला पुरुष होता है।

(३) दम्पती तो इनसे भिन्न है, जो गृहस्थाश्रम चलाती है।

स्त्री और पुरुष ये दो मनुष्यही हैं, इनके विवाहसंबंधसे दम्पती होती है, अविवाहित अवस्थामें स्त्री और पुरुष अलग अलग रहते हैं। विवाहित होनेपर दम्पती कहलाती है। यद्यपि स्त्रीपुरुष मिलकरही दम्पती होती है, तथापि केवल स्त्री और केवल पुरुष दम्पती नहीं होती। यहां पाठकोंको पता लगा कि दोनोंके अस्तित्वसे ही उनसे भिन्न तीसरेका संभव कैसा होता है। यही संबंध आगेके श्लोकमें कहा है—

जिस कारण उत्तम पुरुष केवल 'क्षर पुरुष' से श्रेष्ठ है और 'अक्षर पुरुष' से भी अधिक उत्तम है,अतः उस उत्तम पुरुषको लोकोंमें तथा वेदोंमें 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है।

क्षर+अक्षर = पुरुषोत्तम।

पुरुषोत्तममें क्षर भी है और अक्षरभी है, अतः वह केवल क्षरसे तथा केवल अक्षरसे उत्तम है, इसमें संदेह नहीं है। क्षर और अक्षर ये वस्तुगत भेद नहीं हैं, परंतु कल्पनागत भेद हैं,यह बात यहां ध्यानमें धारण करनी चाहिये। कोई ज्ञानी या विज्ञानी 'केवल क्षर' को एक बोतलमें और 'केवल अक्षर' को दूसरी बोतलमें भरकर अलग अलग रख नहीं सकता,

(७) सर्वभावसे भजन।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

अन्वयः—हे भारत! यः असंमूढः मां पुरुषोत्तमं एवं जानाति, सः सर्ववित् (भूत्वा) मां सर्वभावेन भजति॥ १९॥ हे अनघ! इति गुह्यतमं शास्त्रं मया उक्तं, हे भारत! एतत् बुद्ध्वा (जीवः) बुद्धिमान् कृतकृत्यः च स्यात्॥ २०॥

किंवा इस तरह पृथक् करनेयोग्य ये विभिन्न पदार्थ हैं ही नहीं।

जैसे मीठास और मिश्रीका ढेला ये दो पदार्थ कल्पनामें पृथक् माने जा सकते हैं, परंतु वस्तुतः पृथक् नहीं है, मिश्रीका ढेला और मीठास सदा एकत्रही रहेगी, उसी तरह क्षर और अक्षर, जड-चेतन ये पुरुषोत्तमके विश्वरूपमें सदा एक-रूपही हैं। पुरुषोत्तमही एक सत्यवस्तु है और क्षर-अक्षर ये समझानेके लिये कल्पनासे अलग अलग माने गये हैं। जैसा जल और रस भिन्न कल्पना होनेपर भी वस्तु एकही है, वैसाही यहां समझना चाहिये।

इस रीतिसे क्षर और अक्षर ये दो भिन्न कल्पनाएं हैं, दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। दोनों मिलकर सत्यवस्तु एकही होती है जो दोनोंसे पृथक् पुरुषोत्तम कही जाती है। यही सत्यवस्तु है और जो पहिले दो वस्तुएं कही थीं वह काल्प-निक—केवल शिशुबोधके लिये—समझानेके लिये कही गयी थी।

हरएक वस्तुके दो पहलू होते हैं। एक इस ओरका पहलू और दूसरा दूसरी ओरका। ये एक दूसरेसे पृथक् भी हैं। तथापि ये दोनों पहलू मिलकर जो सत्य-वस्तु बनती है वह दोनों पहलुओंसे पृथक् ही होती है, इसका कारण यह है कि किसी भी एक पहलूसे वह सत्यवस्तु अधिक मूल्य की होती है।

इसी तरह 'क्षर+अक्षर=पुरुषोत्तम' होनेसे पुरुषोत्तमका मूल्य केवल क्षरके मूल्यसे और केवल अक्षरके मूल्यसे निःसंदेह अधिक है। परंतु क्षर और अक्षर एक दूसरेसे पृथक् करना असंभव है, ये केवल सुबोधताके लिये माने हैं। इसलिये एकही पुरुषोत्तम सत्य है और दूसरे दोनों काल्पनिक हैं क्योंकि पुरुषोत्तमसे पृथक् सत्ता इनमेंसे किसी की भी नहीं है।

यह पुरुषोत्तमही 'सत्य' है। इसी पुरुषोत्तम का भजन सर्वभावसे सबको करना उचित है। वह कैसा करना चाहिये वह अब देखिये—

सर्वभावका महत्त्व।

(१९-२०) यहां 'सर्वभाव' से ईश्वरको जानना और सर्वभाव से ईश्वरकी सेवा करने का उपदेश किया है। मनुष्य अपने आपको अलग मानता है और अन्य विश्वको अपनेसे

हे भारतीय वीर! जो ज्ञानी मुझे (ईश्वरको) इस तरह पुरुषोत्तम समझता है, वह सर्वज्ञ होकर मेरी (ईश्वरकी) संपूर्णभावसे सेवा करता है ॥ १९ ॥
हे निष्पाप वीर! इस प्रकार यह अत्यंत गुह्य शास्त्र मैंने तुझे बताया है। हे भारतीय वीर! यह जानकर जीव बुद्धिमान और कृतकृत्य होता है ॥ २० ॥

भावार्थ- जो पुरुषोत्तम को इस तरह समझता है वह सर्वज्ञ होकर संपूर्णभावसे ईश्वर की सेवा करता है, यही गुह्य ज्ञान है, इसे जाननेसे मनुष्य ज्ञानी बनकर कृतकृत्य होता है। इस ज्ञानसे मनुष्यका जीवन सार्थ हो जाता है ॥ १९—२० ॥

पृथक् मानता है। मैं अलग हूं और मुझसे भिन्न जो विश्व है वह मुझसे पृथक् है, यह असर्व-भाव अथवा खंडभाव मनुष्यके मनमें सदा-सर्वदा रहता है और यही खंडभाव- असर्व-भाव- अपूर्णभाव अधर्म बढानेवाला है। इसीसे सब दुःख हो रहे हैं और सब आपत्तियां बढ रहीं है।

इसी लिये यहां कहा है, कि परमेश्वरको (एवं सर्वभावेन पुरुषोत्तमं जानाति) इस तरह सर्व-भावसे जानता है वह (सर्ववित्) सबको जाननेवाला होता है और सबको जाननेके पश्चात् (सर्वभावेन पुरुषोत्तमं भजति) वह सर्वभावसे परमेश्वरकी सेवा करता है। परमेश्वरको सर्वभावसे जानना और उसकी सर्व-भावसे सेवा करना यहां मुख्य है।

यही (गुह्यतमं शास्त्रं) अत्यंत गुह्यशास्त्र है, यह शास्त्र जो यथावत् जानता है, वह बुद्धिमान और कृतकृत्य होता है। अर्थात् बुद्धिमान और कृतकृत्य होनेका एकमात्र साधन 'सर्वभावसे परमेश्वरको जानना और सर्वभावसे उसकी सेवा करना ही है।' कृतकृत्य होनेका दूसरा कोई साधन नहीं है। सर्वभावसे ईश्वरको जाननेसे ही साधक (सर्व-वित्) सब कुछ जाननेवाला होता है अर्थात् जाननेयोग्य ऐसा कोईभी अवशिष्ट नहीं रहता।

अब यहां विचार करना है, कि सर्वभावसे जानना और सर्वभावसे सेवा करनेका तात्पर्य क्या है? और इसके विपरीत समझनेका आशय क्या है? इसका तात्पर्य समझमें आनेके लिये एक उदाहरण लेते हैं-

एक गुरु था और उसके दो शिष्य थे। सेवा करनेकी आतुरतासे वे वारंवार झगडा किया करते थे। उनका झगडा मिटानेके लिये गुरुने कहा, कि शरीरका एक भाग एक शिष्यका है और दूसरा दूसरेका है। हरएक शिष्य अपने अपने भाग की सेवा किया करे और इस बातपर न लडें। इस तरह समझौता होनेपर दोनों शिष्य अपने अपने गुरुके शरीरके भाग की सेवा करते थे। एक समय गुरु दायें पांवको बायें पांवपर रखकर आराम कर रहे थे। यह बायें पांव की सेवा करनेवाले शिष्यने देखा और क्रोधमें आकर गुरुके दायें पांवको पीटना आरंभ किया। और कहने लगा कि मेरे उपास्य अवयवपर बैठनेवाला तुम कौन हो! यह मूढ भक्तिभाव देखकर त्रस्त हुआ गुरु शिष्यसे कहने लगा कि 'हे शिष्य! तू तो मेरी सेवा खंडितभावसे कर रहे हो, जो अखंडभावसे अर्थात् सर्व-भावसे करनी चाहिये। जैसा दायां पांव मेरा है वैसाही बायां पांव भी मेरा ही है। यद्यपि यह पांव दूसरे को सेवाके लिये दिया है तथापि वह भी मैं ही हूं। अब तूने दूसरे पांवपर ताडन किया, इससे मुझे ही कष्ट भोगने पडे। अतः यह तुम्हारा मूढभाव है। सर्वभावसे सेवा करोगे तोही वह तुम्हारी सेवा सफल होगी

और जब तू खंडभावसे सेवा करोगे तो वह गुरुद्रोह ही होगा।"

इस जगत्‌में असर्वभाव अथवा खंडभावसे सब लोग ईश्वरसेवा कर रहे हैं। शैववैष्णवोंके उपासनाविषयक झगडे सबको पता हैं, मुसलमानोंके झगडे भी इसी कारण होते हैं। यदि इन उपासकोंको सर्वभावसे ईश्वरका स्वरूप समझेगा और सर्वभावसे उसकी सेवा करनेकी रीति ज्ञात होगी, तो कोई झगडेका कारण ही नहीं रहेगा।

सर्वभाव क्या है? एकही सद्वस्तु है जिसका नाम पुरुषोत्तम, ईश्वर, परब्रह्म आदि है। उस एक वस्तुका स्वरूपही यह विश्वरूप अथवा सर्वरूप है। जो रूप दीखता है वह उसी सद्वस्तुका है। उस सद्वस्तुको छोडकर यहां दूसरी वस्तुहि नहीं है। जो भी कुछ यहां है वह उसकाही प्रकटीकरण है। यही ईश्वर है और यही सब कुछ है। इसीका नाम 'सर्वभाव' है। यही सर्वभावसे उस एक अद्वितीय सद्वस्तुको जानना है। अब सर्वभावसे उसकी उपासना करना भी इसी तरह है। सबकी उपासना एक समय तो हो ही नहीं सकती। उपासक की मर्यादा छोटी होनेसे वह विश्वरूपके किसी छोटेसे अंशकीहि सेवा कर सकता है। परंतु जिस अंशकी सेवा करनी है वह अंश उस पूर्णका अंश है ऐसा जानकर और वह अंश उससे पृथक् नहीं है ऐसा मानकर, इस अंशकी सेवा ही सबकी सेवा है इस तरह सर्वभावसे सेवा करनी चाहिये। जैसी मनुष्यके किसी अवयवकी सेवा करनेसे उसकी सेवा हो सकती है, इसी तरह विश्वात्माके किसी अंशकी अखंडभावसे सेवा करनेसे ही वह विश्वात्माकी सेवा हो सकती है। यह है सर्वभावसे सेवा करनेका तात्पर्य।

खंडभावसे, असर्वभावसे सेवा करनेकी बात तो सब जानते ही हैं, मैं अलग हूं, मेरा उपास्य अन्यविश्वसे पृथक् है, अन्य विश्व मर जाय तो भी पर्वाह नहीं, मेरी, मेरी जातीकी और मेरे उपास्यकी प्रतिष्ठा हुई तो बस है, इस तरह जो किया जाता है वह खंडभावसे सेवा है। यही अपूर्ण अर्थात् असर्वभाव सब द्वन्द्वोंकी जड है, अतः सब दुःख इसीसे उत्पन्न होते हैं।

इसी कारण यहां कहा है कि जो सर्वभावसे पुरुषोत्तमको जानता है वह (अ-संमूढ) ज्ञानविज्ञानसंपन्न होता है और वही (सर्वविद् भवति) सब कुछ जाननेवाला होता है। यही उच्चतम शास्त्र है इसीके जाननेसे मनुष्य कृतकृत्य होता है। कृतकृत्यका आशय यह है कि जिस रीतिसे कर्म करना चाहिये उस रीतिसे वह कर्म कर सकता है। कर्तव्य उत्तम रीतिसे वह करता है। अशुद्धभावसे वह कुछ भी नहीं करता, क्योंकि वह सब जानता है और उसमें किसी प्रकारका अज्ञान रहता नहीं है।

कृतकृत्य होनेके लिये सर्वभावसे विश्वरूपको जानना चाहिये और सर्वभावसे उसकी सेवा करनी चाहिये। इस तरह जाननेवाला अपने आपको विश्वरूपमें संमिलित देखता है और विश्वरूपको भी अपनाही रूप जानता है। सब अखंड एकरस जीवन है ऐसा जाननेपर अशुद्धी होनेकी संभावनाही नहीं है। अपनी आवश्यकताकी पूर्ती करना भी जिसको विश्वसेवा प्रतीत होती है और विश्वसेवा भी जिसको अपनीहि सेवा करनेके समान प्रतीत होता है, वही सर्वभावसे व्यवहार करता है और वही कृतकृत्य होता है।

पंद्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥

पन्द्रहवें अध्यायका मनन।

पुरुषोत्तमयोग।

इस पंदरहवें अध्यायमें 'पुरुषोत्तमयोग' कहा है। पुरुषोत्तम के साथ अपना योग करना, अथवा पुरुषोत्तमसे मैं भिन्न नहीं हूं इसका अनुभव करना ही इस अध्यायका ध्येय है। इसका अनुभव करनेके लिये पुरुषोत्तम का स्वरूप जानना चाहिये। वह पुरुषोत्तमका स्वरूप इस तरह जानना योग्य है—

पुरुषोत्तम का स्वरूप।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
गी० १५।१८

क्षरपुरुष और अक्षरपुरुष ऐसे दो पुरुष हैं' इन दोनोंसे श्रेष्ठ जो है उसका नाम पुरुषोत्तम है। क्षरपुरुष, अक्षरपुरुष और उत्तमपुरुष ऐसे तीन पुरुषहैं, उनमें जो उत्तम पुरुष है वह तीनोंमें उत्तमोत्तम होनेसे उसको पुरुषोत्तम कहते हैं। यह शेष दोनोंसे पृथक् नहीं है, परंतु क्षर और अक्षर उस पुरुषोत्तम में एकरूप हुए हैं। इस विषयको समझानेके लिये एक उदाहरण लेते हैं।

अपनेपास शरवत है, इसमें जल है और मिश्री है। यहां जल+मिश्री=शरवत ये तीन पदार्थ हुए। जल एक वस्तु है, मिश्री दूसरी वस्तु है, जलसे श्रेष्ठ और मिश्रीसे उत्तम एक तीसरी वस्तु है उसका नाम शरवत है। इसमें जल और मिश्री एकरूप हो गयी है। इसी लिये शरवत कह सकता है कि चूंकि मैं जलसे श्रेष्ठ और मिश्रीसे भी उत्तम हूं। यह बात स्पष्ट है कि केवल जलसे और केवल मिश्रीसे अर्थात् इन दोनोंसे शरवत उत्तम होता है, तथा ये दोनों पदार्थ शरवतमें एकरूप होकर रहते हैं।

इसी तरह क्षर-पुरुष (पंचभूत मन, बुद्धि और अहंकार), तथा अक्षरपुरुष (जीवतत्त्व) ये दोनों पुरुष हैं। परंतु ये पुरुष ऐसे नहीं हैं कि जो अलग अलग बोतलोंमें भरकर रखे जा सकते हैं। ये सर्वत्र एक दूसरेके साथ एकरस मिले जुले हैं, तथापि कल्पनासे इनका भेद विदित होता है। जैसा ढेला और मीठास ये कभी अलग न होनेवाले पदार्थ परस्परभिन्न हैं ऐसा ही जागतिक बुद्धिको दीखता है। इनका जो एकरूपमें मेल है वही पुरुषोत्तम है, क्योंकि इसके रूपमें क्षर भी है और अक्षर भी है।

क्षर + अक्षर= पुरुषोत्तम।

{ पंचभूत मन-बुद्धि-अहंकार } + जीवतत्त्व = उत्तम पुरुष।

इस तरह पुरुषोत्तममें क्षर भी आगया, अक्षर जीवतत्त्वभी आगया और दोनोंका मेल होकर होनेवाला पुरुषोत्तम भी इसी में आगया है। इस तरह पुरुषोत्तममें पृथ्वी-आप-तेज-वायु-आकाश-मन-बुद्धि-अहंकार-जीवतत्त्व इन नव तत्त्वोंका एकरस मीलन है।

ये एकरस पहिले नहीं थे और पश्चात् मिले ऐसी बात नहीं है। सदासर्वदा ये सब भासमान तत्त्व एकरस ही हैं। अविवेकके कारण हमें जो भिन्नता प्रतीत हुई वह विवेकसे दूर होगई इतना ही समझना चाहिये।

जैसा जलका वर्फ किया गया, अथवा जलकी भांप बनाई तो वर्फ-जल-भांपमें भिन्न भिन्न भावके अनुभव होते हैं, तथापि आपतत्त्व के ही ये रूप हैं, अथवा मिश्रीके अनेक पदार्थ

बनाये तो भी विभिन्न पदार्थोंका भान होते हुए भी उन सबका मिश्रीपन कदापि हटता नहीं, इसी तरह एक सद्वस्तु-एकही पुरुषोत्तम-अनेक रूपोंमें प्रकट हुआ, तो उसमें भिन्नता किसी भी रीतिसे आ नहीं सकती।

इलेक्ट्रान्स

आजकल की साइन्स एकमतसे कहती है कि विद्युत्कणों (इलेक्ट्रान्स) से ही विश्वकी सब वस्तुएं बन गयी हैं। येही विद्युत्कण अनंत वस्तुओंके रूपोंमें हमारे सन्मुख उपस्थित हैं। बिजली, बिजली की तार, बिजलीके स्तंभ, बिजलीके दीप, आदि सब विद्युत्कणोंसे ही बने हैं।

ये पदार्थ अनंत हैं, विभिन्न गुणधर्मवाले हैं तथापि वे एकही सत्तत्वसे बने हैं। यही बात-

इन्द्र = विद्युत्

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' (ऋग्वेद)

'इन्द्र अपनी सामर्थ्यसे अनंतरूपोंमें प्रकट होता है।'

यहां इन्द्र नाम विद्युत्का ही है। जो सायन्सने कहा वही वेदने इतने सहस्रों वर्षोंके पूर्व कहा था। अस्तु। इस तरह एकही पुरुषोत्तम विश्वरूपमें प्रकट हुआ है।

अखंड विश्वरूप

क्या इस विश्वरूपमें हमारा रूप नहीं है? अवश्य है, फिर हमारा रूप भी किसका रूप है? उत्तरमें कह सकते हैं कि जिसका यह अखंड-विश्वरूप है उसीका यह रूप है। जहां दूसरी वस्तुही नहीं वहां दूसरे किसका रूप हो सकता है? अर्थात् मैं, तू, वह, यह सब व्यवहार पुरुषोत्तमके ही रूपमें हो रहा है इसमें संदेह नहीं है।

पुरुषोत्तम

जीवतत्त्व

अहंकार

मनबुद्धि

आकाश

वायु

तेज

आप

पृथ्वी

पुरुषोत्तमही स्वयं हरएक स्थूल रूपमें नटवत् प्रकट हो रहा है। जिस तरह एकही 'अ' कार सर्व वर्णमालाका रूप धारण करके पश्चात् वाङ्मयके अनेक रूपोंमें प्रकट होता है, उसी तरह यहां समझना चाहिये। एकहि 'अ' कारकी सब वर्णमाला बनी होगी तो भी शब्दोंके उलटपुलट अर्थ होते ही हैं, इसी तरह एकही सत्तत्त्वका सब विश्व बना होनेपर उस विश्वमें द्वन्द्वभाव प्रकट हुआ तो भी उसमें कोई आश्चर्य नहीं है, कारण यह है कि—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि, न त्वहं तेषु, ते मयि॥
भ० गी० ७।१२

"जो सात्त्विक राजस और तामस भाव इस विश्वमें प्रकट हो रहे हैं वे सबके सब

आत्मासे ही हो रहे हैं। " केवल सात्त्विक भाव आत्मासे हुए और तामस भाव किसी दूसरे सैतानसे हुए हैं, ऐसी बात नहीं है। एकही आत्मा है, दूसरी सैतान नामक कोई वस्तु नहीं है। अतः एकही सद्वस्तुसे ये सब विविध भाव उत्पन्न होते हैं।

इस आत्माकाही यह विश्वरूप है और उसीमें हम सब संमिलित हैं। अतः हम सब उससे भिन्न नहीं है। यह विश्व उसीका शरीर है। प्रत्येक मनुष्यका अथवा प्राणीका एक शरीर होता है। उस प्राणीके आत्माका दर्शन तो किसीको होता ही नहीं, जो दर्शन होता है वह उस प्राणीके शरीरकाही दर्शन होता है। इससे स्पष्ट है कि आत्माका साक्षात्कार उसकी प्रकृतिमेंही होना है। अतः इस विश्वात्माकी प्रकृति कौनसी है,इसको प्रथम जानना चाहिये। इस विश्वात्माकी प्रकृतिका वर्णन इस तरह किया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥६॥
(भ० गी० ७)

यहां परमेश्वरकी प्रकृति नवविध है, ऐसा कहा है। पृथ्वी आप तेज वायु आकाश मन बुद्धि अहंकार और जीवतत्त्व यह नवविध शरीर ही पुरुषोत्तमका है। इस शरीरमें संपूर्ण भूतमात्र हैं, संपूर्ण विश्व है, इससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। प्रकृतिका ही अर्थ शरीर है।

हमारे शरीरमें पंचभूत-मन बुद्धि अहंकार और जीवभाव हैं, जो पुरुषोत्तमके शरीरके घटक हैं वेही घटक हमारे शरीरमें हैं। पुरुषोत्तमका शरीर विश्वव्यापक है, उसीका थोडासा भाग लेकर हमारा शरीर बना है। अतः कहा है-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥७॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥
(भ० गी० १५)

"ईश्वरकाही अंश- अर्थात् पुरुषोत्तमकाही अंश यहां जीव हुआ है। वह यहां शरीरमें प्रकट होकर पांच ज्ञानेंद्रियोंके सहित मनको अपने साथ आकर्षित करता है। जिस शरीरके अन्दर जाता है अथवा जिस शरीरसे बाहर जाता है; वायु गंधको अपने साथ ले जानेके समान, यह इंद्रियोंको अपने साथ ले जाता है। श्रवण, दर्शन, स्पर्शन, रसन, घ्राण और मन इन इंद्रियोंपर यह अधिष्ठाता होकर सब विषयोंका सेवन करता है।' इस तरहके वर्णनोंसे स्पष्ट होता है कि विश्वात्माका एक अंश इस शरीरमें जीव होकर रहा है। अंशी विश्वात्मा है और अंश जीव है। अंशीसे भिन्न अंश नहीं हो सकता।

अपने शरीरमें जो स्थूल पार्थिव भाग है, वह विश्वात्माके पार्थिव शरीरका अंश है, अपने शरीरमें जो प्रवाहरूपसे आप् तत्त्व है, वह विश्वात्माके आपोमय शरीरका अंश है। अपने शरीर में जो तेजस्वी भाग है,वह सर्वात्माके तेज शरीरका अंश है। इसी तरह अपने अंदर वायुरूपी प्राण है और अवकाश रूप आकाश है,मनन करनेवाला मन है, ज्ञानग्रहण करनेवाली बुद्धि है और अहंकार भी सर्वोपरि 'मैं' करके रहा है, ये सब अंश विश्वात्माके विश्वव्यापक प्राण, अवकाश, मन, महत्तत्त्व और अहंकारके अंश हैं। हमारे पास जो कुछ है, वह विश्वात्माके विशाल शरीरसे ही लिया हुआ है। जो पूर्णतः विश्वशरीरमें है, वही अंशतः हमारे शरीरमें है

(७) सर्वभावसे भजन।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

अन्वयः—हे भारत ! यः असंमूढः मां पुरुषोत्तमं एवं जानाति, सः सर्ववित् (भूत्वा) मां सर्वभावेन भजति ॥ १९ ॥ हे अनघ! इति गुह्यतमं शास्त्रं मया उक्तं, हे भारत! एतत् बुद्ध्वा (जीवः) बुद्धिमान् कृतकृत्यः च स्यात् ॥ २० ॥

किंवा इस तरह पृथक् करनेयोग्य ये विभिन्न पदार्थ हैं ही नहीं।

जैसे मीठास और मिश्रीका ढेला ये दो पदार्थ कल्पनामें पृथक् माने जा सकते हैं, परंतु वस्तुतः पृथक् नहीं है, मिश्रीका ढेला और मीठास सदा एकत्रही रहेगी, उसी तरह क्षर और अक्षर, जड-चेतन ये पुरुषोत्तमके विश्वरूपमें सदा एक-रूपही हैं। पुरुषोत्तमही एक सत्यवस्तु है और क्षर-अक्षर ये समझानेके लिये कल्पनासे अलग अलग माने गये हैं। जैसा जल और रस भिन्न कल्पना होनेपर भी वस्तु एकही है, वैसाही यहां समझना चाहिये।

इस रीतिसे क्षर और अक्षर ये दो भिन्न कल्पनाएं हैं, दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। दोनों मिलकर सत्यवस्तु एकही होती है जो दोनोंसे पृथक् पुरुषोत्तम कही जाती है। यही सत्यवस्तु है और जो पहिले दो वस्तुएं कही थीं वह काल्पनिक—केवल शिशुबोधके लिये—समझानेके लिये कही गयी थी।

हरएक वस्तुके दो पहलू होते हैं। एक इस ओरका पहलू और दूसरा दूसरी ओरका। ये एक दूसरेसे पृथक् भी हैं। तथापि ये दोनों पहलू मिलकर जो सत्य-वस्तु बनती है वह दोनों पहलुओंसे पृथक् ही होती है, इसका कारण यह है कि किसी भी एक पहलूसे वह सत्यवस्तु अधिक मूल्य की होती है।

इसी तरह 'क्षर+अक्षर=पुरुषोत्तम' होनेसे पुरुषोत्तमका मूल्य केवल क्षरके मूल्यसे और केवल अक्षरके मूल्यसे निःसंदेह अधिक है। परंतु क्षर और अक्षर एक दूसरेसे पृथक् करना असंभव है, ये केवल सुबोधताके लिये माने हैं। इसलिये एकही पुरुषोत्तम सत्य है और दूसरे दोनों काल्पनिक हैं क्योंकि पुरुषोत्तमसे पृथक् सत्ता इनमेंसे किसी की भी नहीं है।

यह पुरुषोत्तमही 'सत्य' है। इसी पुरुषोत्तमका भजन सर्वभावसे सबको करना उचित है। वह कैसा करना चाहिये वह अब देखिये—

सर्वभावका महत्त्व।

(१९-२०) यहां 'सर्वभाव' से ईश्वरको जानना और सर्वभाव से ईश्वरकी सेवा करने का उपदेश किया है। मनुष्य अपने आपको अलग मानता है और अन्य विश्वको अपनेसे

हे भारतीय वीर! जो ज्ञानी मुझे (ईश्वरको) इस तरह पुरुषोत्तम समझता है, वह सर्वज्ञ होकर मेरी (ईश्वरकी) संपूर्णभावसे सेवा करता है ॥ १९ ॥ हे निष्पाप वीर ! इस प्रकार यह अत्यंत गुह्य शास्त्र मैंने तुझे बताया है। हे भारतीय वीर ! यह जानकर जीव बुद्धिमान और कृतकृत्य होता है ॥ २० ॥

भावार्थ- जो पुरुषोत्तम को इस तरह समझता है वह सर्वज्ञ होकर संपूर्णभावसे ईश्वर की सेवा करता है, यही गुह्य ज्ञान है, इसे जाननेसे मनुष्य ज्ञानी बनकर कृतकृत्य होता है। इस ज्ञानसे मनुष्यका जीवन सार्थ हो जाता है ॥ १९—२० ॥

पृथक् मानता है। मैं अलग हूं और मुझसे भिन्न जो विश्व है वह मुझसे पृथक् है, यह असर्वभाव अथवा खंडभाव मनुष्यके मनमें सदा सर्वदा रहता है और यही खंडभाव- असर्वभाव- अपूर्णभाव अधर्म बढानेवाला है। इसीसे सब दुःख हो रहे हैं और सब आपत्तियां बढ रहीं है।

इसी लिये यहां कहा है, कि परमेश्वरको (एवं सर्वभावेन पुरुषोत्तमं जानाति) इस तरह सर्वभावसे जानता है वह (सर्ववित्) सबको जाननेवाला होता है और सबको जाननेके पश्चात् (सर्वभावेन पुरुषोत्तमं भजति) वह सर्वभावसे परमेश्वरकी सेवा करता है। परमेश्वरको सर्वभावसे जानना और उसकी सर्वभावसे सेवा करना यहां मुख्य है।

यही (गुह्यतमं शास्त्रं) अत्यंत गुह्यशास्त्र है, यह शास्त्र जो यथावत् जानता है, वह बुद्धिमान और कृतकृत्य होता है। अर्थात् बुद्धिमान और कृतकृत्य होनेका एकमात्र साधन 'सर्वभावसे परमेश्वरको जानना और सर्वभावसे उसकी सेवा करना ही है।' कृतकृत्य होनेका दूसरा कोई साधन नहीं है। सर्वभावसे ईश्वरको जाननेसे ही साधक (सर्व-वित्) सब कुछ जाननेवाला होता है अर्थात् जाननेयोग्य ऐसा कोईभी अवशिष्ट नहीं रहता।

अब यहां विचार करना है, कि सर्वभावसे जानना और सर्वभावसे सेवा करनेका तात्पर्य क्या है? और इसके विपरीत समझनेका आशय क्या है? इसका तात्पर्य समझमें आनेके लिये एक उदाहरण लेते हैं-

एक गुरु था और उसके दो शिष्य थे। सेवा करनेकी आतुरतासे वे वारंवार झगडा किया करते थे। उनका झगडा मिटानेके लिये गुरुने कहा, कि शरीरका एक भाग एक शिष्यका है और दूसरा दूसरेका है। हरएक शिष्य अपने अपने भाग की सेवा किया करे और इस बातपर न लडें। इस तरह समझौता होनेपर दोनों शिष्य अपने अपने गुरुके शरीरके भाग की सेवा करते थे। एक समय गुरु दायें पांवको बायें पांवपर रखकर आराम कर रहे थे। यह बायें पांव की सेवा करनेवाले शिष्यने देखा और क्रोधमें आकर गुरुके दायें पांवको पीटना आरंभ किया। और कहने लगा कि मेरे उपास्य अवयवपर बैठनेवाला तुम कौन हो! यह मूढ भक्तिभाव देखकर त्रस्त हुआ गुरु शिष्यसे कहने लगा कि 'हे शिष्य! तू तो मेरी सेवा खंडितभावसे कर रहे हो, जो अखंडभावसे अर्थात् सर्वभावसे करनी चाहिये। जैसा दायां पांव मेरा है वैसाही बायां पांव भी मेरा ही है। यद्यपि यह पांव दूसरे को सेवाके लिये दिया है तथापि वह भी मैं ही हूं। अब तूने दूसरे पांवपर ताडन किया, इससे मुझे ही कष्ट भोगने पडे। अतः यह तुम्हारा मूढभाव है। सर्वभावसे सेवा करोगे तोही वह तुम्हारी सेवा सफल होगी

और जब तू खंडभावसे सेवा करोगे तो वह गुरुद्रोह ही होगा।"

इस जगत्में असर्वभाव अथवा खंडभावसे सब लोग ईश्वरसेवा कर रहे हैं। शैववैष्णवोंके उपासनाविषयक झगडे सबको पता हैं, मुसलमानोंके झगडे भी इसी कारण होते हैं। यदि इन उपासकोंको सर्वभावसे ईश्वरका स्वरूप समझेगा और सर्वभावसे उसकी सेवा करनेकी रीति ज्ञात होगी, तो कोई झगडेका कारण ही नहीं रहेगा।

सर्वभाव क्या है? एकही सद्वस्तु है जिसका नाम पुरुषोत्तम, ईश्वर, परब्रह्म आदि है। उस एक वस्तुका स्वरूपही यह विश्वरूप अथवा सर्वरूप है। जो रूप दीखता है वह उसी सद्वस्तुका है। उस सद्वस्तुको छोडकर यहां दूसरी वस्तुहि नहीं है। जो भी कुछ यहां है वह उसकाही प्रकटीकरण है। यही ईश्वर है और यही सब कुछ है। इसीका नाम 'सर्वभाव' है। यही सर्वभावसे उस एक अद्वितीय सद्वस्तुको जानना है। अब सर्वभावसे उसकी उपासना करना भी इसी तरह है। सबकी उपासना एक समय तो हो ही नहीं सकती। उपासक की मर्यादा छोटी होनेसे वह विश्वरूपके किसी छोटेसे अंशकीहि सेवा कर सकता है। परंतु जिस अंशकी सेवा करनी है वह अंश उस पूर्णका अंश है ऐसा जानकर और वह अंश उससे पृथक् नहीं है ऐसा मानकर, इस अंशकी सेवा ही सबकी सेवा है इस तरह सर्वभावसे सेवा करनी चाहिये। जैसी मनुष्यके किसी अवयवकी सेवा करनेसे उसकी सेवा हो सकती है, इसी तरह विश्वात्माके किसी अंशकी अखंडभावसे सेवा करनेसे ही वह विश्वात्माकी सेवा हो सकती है। यह है सर्वभावसे सेवा करनेका तात्पर्य।

खंडभावसे, असर्वभावसे सेवा करनेकी बात तो सब जानते ही हैं, मैं अलग हूं, मेरा उपास्य अन्यविश्वसे पृथक् है, अन्य विश्व मर जाय तो भी पर्वाह नहीं, मेरी, मेरी जातीकी और मेरे उपास्यकी प्रतिष्ठा हुई तो बस है, इस तरह जो किया जाता है वह खंडभावसे सेवा है। यही अपूर्ण अर्थात् असर्वभाव सब द्वन्द्वोंकी जड है, अतः सब दुःख इसीसे उत्पन्न होते हैं।

इसी कारण यहां कहा है कि जो सर्वभावसे पुरुषोत्तमको जानता है वह (अ-संमूढ) ज्ञानविज्ञानसंपन्न होता है और वही (सर्वविद् भवति) सब कुछ जाननेवाला होता है। यही उच्चतम शास्त्र है इसीके जाननेसे मनुष्य कृतकृत्य होता है। कृतकृत्यका आशय यह है कि जिस रीतिसे कर्म करना चाहिये उस रीतिसे वह कर्म कर सकता है। कर्तव्य उत्तम रीतिसे वह करता है। अशुद्धभावसे वह कुछ भी नहीं करता, क्योंकि वह सब जानता है और उसमें किसी प्रकारका अज्ञान रहता नहीं है।

कृतकृत्य होनेके लिये सर्वभावसे विश्वरूपको जानना चाहिये और सर्वभावसे उसकी सेवा करनी चाहिये। इस तरह जाननेवाला अपने आपको विश्वरूपमें संमिलित देखता है और विश्वरूपको भी अपनाही रूप जानता है। सब अखंड एकरस जीवन है ऐसा जाननेपर अशुद्धी होनेकी संभावनाही नहीं है। अपनी आवश्यकताकी पूर्ती करना भी जिसको विश्वसेवा प्रतीत होती है और विश्वसेवा भी जिसको अपनीहि सेवा करनेके समान प्रतीत होता है, वही सर्वभावसे व्यवहार करता है और वही कृतकृत्य होता है।

पंद्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥

पन्द्रहवें अध्यायका मनन ।

पुरुषोत्तमयोग ।

इस पंदरहवें अध्यायमें 'पुरुषोत्तमयोग' कहा है। पुरुषोत्तम के साथ अपना योग करना, अथवा पुरुषोत्तमसे मैं भिन्न नहीं हूं इसका अनुभव करना ही इस अध्यायका ध्येय है। इसका अनुभव करनेके लिये पुरुषोत्तम का स्वरूप जानना चाहिये। वह पुरुषोत्तमका स्वरूप इस तरह जानना योग्य है—

पुरुषोत्तम का स्वरूप।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
गी० १५।१८

क्षरपुरुष और अक्षरपुरुष ऐसे दो पुरुष हैं' इन दोनोंसे श्रेष्ठ जो है उसका नाम पुरुषोत्तम है। क्षरपुरुष, अक्षरपुरुष और उत्तमपुरुष ऐसे तीन पुरुषहैं, उनमें जो उत्तम पुरुष है वह तीनोंमें उत्तमोत्तम होनेसे उसको पुरुषोत्तम कहते हैं। यह शेष दोनोंसे पृथक् नहीं है, परंतु क्षर और अक्षर उस पुरुषोत्तम में एकरूप हुए हैं। इस विषयको समझानेके लिये एक उदाहरण लेते हैं।

अपनेपास शरबत है, इसमें जल है और मिश्री है। यहां जल+मिश्री=शरबत ये तीन पदार्थ हुए। जल एक वस्तु है. मिश्री दूसरी वस्तु है, जलसे श्रेष्ठ और मिश्रीसे उत्तम एक तीसरी वस्तु है उसका नाम शरबत है। इसमें जल और मिश्री एकरूप हो गयी है। इसी लिये शरबत कह सकता है कि चूंकि मैं जलसे श्रेष्ठ और मिश्रीसे भी उत्तम हूं। यह बात स्पष्ट है कि केवल जलसे और केवल मिश्रीसे अर्थात् इन दोनोंसे शरबत उत्तम होता है, तथा ये दोनों पदार्थ शरबतमें एकरूप होकर रहते हैं।

इसी तरह क्षर-पुरुष (पंचभूत मन, बुद्धि और अहंकार), तथा अक्षरपुरुष (जीवतत्त्व) ये दोनों पुरुष हैं। परंतु ये पुरुष ऐसे नहीं हैं कि जो अलग अलग बोतलोंमें भरकर रखे जा सकते हैं। ये सर्वत्र एक दूसरेके साथ एकरस मिले जुले हैं, तथापि कल्पनासे इनका भेद विदित होता है। जैसा ढेला और मीठास ये कभी अलग न होनेवाले पदार्थ परस्परभिन्न हैं ऐसा ही जागतिक बुद्धिको दीखता है। इनका जो एकरूपमें मेल है वही पुरुषोत्तम है, क्योंकि इसके रूपमें क्षर भी है और अक्षर भी है।

क्षर + अक्षर= पुरुषोत्तम।

{ पंचभूत मन-बुद्धि-अहंकार } + जीवतत्त्व = उत्तम पुरुष।

इस तरह पुरुषोत्तममें क्षर भी आगया, अक्षर जीवतत्त्वभी आगया और दोनोंका मेल होकर होनेवाला पुरुषोत्तम भी इसी में आगया है। इस तरह पुरुषोत्तममें पृथ्वी-आप-तेज-वायु-आकाश-मन-बुद्धि-अहंकार-जीवतत्त्व इन नव तत्त्वोंका एकरस मीलन है।

ये एकरस पहिले नहीं थे और पश्चात् मिले ऐसी बात नहीं है। सदासर्वदा ये सब भासमान तत्त्व एकरस ही हैं। अविवेकके कारण हमें जो भिन्नता प्रतीत हुई वह विवेकसे दूर होगई इतना ही समझना चाहिये।

जैसा जलका बर्फ किया गया, अथवा जलकी भांप बनाई तो बर्फ- जल -भांपमें भिन्न भिन्न भावके अनुभव होते हैं, तथापि आपतत्त्व के ही ये रूप हैं, अथवा मिश्रीके अनेक पदार्थ

बनाये तो भी विभिन्न पदार्थोंका भान होते हुए भी उन सबका मिथ्यापन कदापि हटता नहीं, इसी तरह एक सद्वस्तु-एकही पुरुषोत्तम-अनेक रूपोंमें प्रकट हुआ, तो उसमें भिन्नता किसी भी रीतिसे आ नहीं सकती।

इलेक्ट्रान्स

आजकल की साइन्स एकमतसे कहती है कि विद्युत्कणों (इलेक्ट्रान्स) से ही विश्वकी सब वस्तुएं बन गयी हैं। येही विद्युत्कण अनंत वस्तुओंके रूपोंमें हमारे सन्मुख उपस्थित हैं। बिजली, बिजली की तार, बिजलीके स्तंभ, बिजलीके दीप, आदि सब विद्युत्कणोंसे ही बने हैं।

ये पदार्थ अनंत हैं, विभिन्न गुणधर्मवाले हैं तथापि वे एकही सत्तत्वसे बने हैं। यही बात-

इन्द्र = विद्युत्

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' (ऋग्वेद)

'इन्द्र अपनी सामर्थ्यसे अनंतरूपोंमें प्रकट होता है।'

यहां इन्द्र नाम विद्युत्का ही है। जो सायन्सने कहा वही वेदने इतने सहस्रों वर्षोंके पूर्व कहा था। अस्तु। इस तरह एकही पुरुषोत्तम विश्वरूपमें प्रकट हुआ है।

अखंड विश्वरूप

क्या इस विश्वरूपमें हमारा रूप नहीं है? अवश्य है, फिर हमारा रूप भी किसका रूप है? उत्तरमें कह सकते हैं कि जिसका यह अखंड-विश्वरूप है उसीका यह रूप है। जहां दूसरी वस्तुही नहीं वहां दूसरे किसका रूप हो सकता है? अर्थात् मैं, तू, वह, यह सब व्यवहार पुरुषोत्तमके ही रूपमें हो रहा है इसमें संदेह नहीं है।

पुरुषोत्तम

जीवतत्त्व

अहंकार

मनबुद्धि

आकाश

वायु

तेज

आप

पृथ्वी

पुरुषोत्तमही स्वयं हरएक स्थूल रूपमें नटवत् प्रकट हो रहा है। जिस तरह एकही 'अ' कार सर्व वर्णमालाका रूप धारण करके पश्चात् वाङ्मयके अनेक रूपोंमें प्रकट होता है, उसी तरह यहां समझना चाहिये। एकहि 'अ' कारकी सब वर्णमाला बनी होगी तो भी शब्दोंके उलटपुलट अर्थ होते ही हैं, इसी तरह एकही सत्तत्वका सब विश्व बना होनेपर उस विश्वमें द्वन्द्वभाव प्रकट हुआ तो भी उसमें कोई आश्चर्य नहीं है, कारण यह है कि—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि, न त्वहं तेषु, ते मयि॥
भ० गी० ७।१२

"जो सात्त्विक राजस और तामस भाव इस विश्वमें प्रकट हो रहे हैं वे सबके सब

आत्मासे ही हो रहे हैं। " केवल सात्त्विक भाव आत्मासे हुए और तामस भाव किसी दूसरे सैतानसे हुए हैं, ऐसी बात नहीं है। एकही आत्मा है, दूसरी सैतान नामक कोई वस्तु नहीं है। अतः एकही सद्वस्तुसे ये सब विविध भाव उत्पन्न होते हैं।

इस आत्माकाही यह विश्वरूप है और उसीमें हम सब संमिलित हैं। अतः हम सब उससे भिन्न नहीं है। यह विश्व उसीका शरीर है। प्रत्येक मनुष्यका अथवा प्राणीका एक शरीर होता है। उस प्राणीके आत्माका दर्शन तो किसीको होता ही नहीं, जो दर्शन होता है वह उस प्राणीके शरीरकाही दर्शन होता है। इससे स्पष्ट है कि आत्माका साक्षात्कार उसकी प्रकृतिमेंही होना है। अतः इस विश्वात्माकी प्रकृति कौनसी है,इसको प्रथम जानना चाहिये। इस विश्वात्माकी प्रकृतिका वर्णन इस तरह किया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥६॥
(भ० गी० ७)

यहां परमेश्वरकी प्रकृति नवविध है, ऐसा कहा है। पृथ्वी आप तेज वायु आकाश मन बुद्धि अहंकार और जीवतत्त्व यह नवविध शरीर ही पुरुषोत्तमका है। इस शरीरमें संपूर्ण भूतमात्र हैं, संपूर्ण विश्व है, इससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। प्रकृतिका ही अर्थ शरीर है।

हमारे शरीरमें पंचभूत-मन बुद्धि अहंकार और जीवभाव हैं, जो पुरुषोत्तमके शरीरके घटक हैं वेही घटक हमारे शरीरमें हैं। पुरुषोत्तमका शरीर विश्वव्यापक है, उसीका थोडासा भाग लेकर हमारा शरीर बना है। अतः कहा है-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥७॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गंधानिवाशयात्॥८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥
(भ० गी० १५)

"ईश्वरकाही अंश- अर्थात् पुरुषोत्तमकाही अंश यहां जीव हुआ है। वह यहां शरीरमें प्रकट होकर पांच ज्ञानेंद्रियोंके सहित मनको अपने साथ आकर्षित करता है। जिस शरीरके अन्दर जाता है अथवा जिस शरीरसे बाहर जाता है; वायु गंधको अपने साथ ले जानेके समान, यह इंद्रियोंको अपने साथ ले जाता है। श्रवण, दर्शन, स्पर्शन, रसन, घ्राण और मन इन इंद्रियोंपर यह अधिष्ठाता होकर सब विषयोंका सेवन करता है।' इस तरहके वर्णनोंसे स्पष्ट होता है कि विश्वात्माका एक अंश इस शरीरमें जीव होकर रहा है। अंशी विश्वात्मा है और अंश जीव है। अंशीसे भिन्न अंश नहीं हो सकता।

अपने शरीरमें जो स्थूल पार्थिव भाग है, वह विश्वात्माके पार्थिव शरीरका अंश है, अपने शरीरमें जो प्रवाहरूपसे आप् तत्त्व है, वह विश्वात्माके आपोमय शरीरका अंश है। अपने शरीर में जो तेजस्वी भाग है,वह सर्वात्माके तेज शरीर का अंश है। इसी तरह अपने अंदर वायुरूपी प्राण है और अवकाश रूप आकाश है,मनन करनेवाला मन है, ज्ञानग्रहण करनेवाली बुद्धि है और अहंकार भी सर्वोपरि 'मैं' करके रहा है, ये सब अंश विश्वात्माके विश्वव्यापक प्राण, अवकाश, मन, महत्तत्त्व और अहंकारके अंश हैं। हमारे पास जो कुछ है, वह विश्वात्माके विशाल शरीरसे ही लिया हुआ है। जो पूर्णतः विश्वशरीरमें है, वही अंशतः हमारे शरीरमें है

और जो अंशतः हमारे शरीरमें है वही पूर्णतः विश्वात्माके विश्वशरीरमें है। यह पंचभूतात्मक विश्वशरीर परमात्माका है, इस विषयमें जैसा यहां भगवद्गीतामें कहा है, वैसाही बृहदारण्यकोपनिषद् में विस्तारसे कहा है-

...यस्य पृथिवी शरीरं...यस्यापः शरीरं... यस्याग्निः शरीरं... यस्यान्तरिक्षँ शरीरं... यस्य वायुः शरीरं ... यस्य द्यौः शरीरं ... यस्यादित्यः शरीरं...यस्य दिशः शरीरं... यस्य चन्द्रतारकं शरीरं ... यस्याकाशः शरीरं ... यस्य तमः शरीरं... यस्य तेजः शरीरं ... यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं... यस्य प्राणः शरीरं ... यस्य वाक्शरीरं... यस्य चक्षुः शरीरं ... यस्य श्रोत्रं शरीरं... यस्य मनः शरीरं...यस्य त्वक्शरीरं... यस्य विज्ञानं शरीरं...यस्य रेतः शरीरं, यः...अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः (एष) द्रष्टा... श्रोता.. मन्ता...विज्ञाता, एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।
(बृ० उ० ३।७।३—२३)

'परमात्माका शरीर "पृथिवी-आप-अग्नि-अन्तरिक्ष-वायु-द्यौ-आदित्य-दिशा-चन्द्रतारका-आकाश-तम-तेज-सर्वभूत-प्राण-वाणी चक्षु-श्रोत्र-मन-त्वचा-विज्ञान-रेत" है। यह परमात्मा इनके अन्दर रहता हुआ इनका नियमन करता है, यही मनुष्यका अमर आत्मा है, यह द्रष्टा श्रोता मननकर्ता ज्ञाता है, यही तेरा आत्मा है।'

भगवद्गीता (अ०७।४—६) में नवविध शरीर कहा है और यहां इक्कीस पदार्थोंकी गिनती की है, परंतु अधिक वस्तुएँ गिननेसे विशेष स्पष्टीकरण ही हुआ है, नवविध पदार्थोंसेही ये अनेक पदार्थ बने हैं। अस्तु। यहां पाठकोंको परमेश्वरके विश्वशरीरकी कल्पना हो सकती है। इस पुरुषोत्तमके विश्वशरीरमेंहि सब प्राणियोंके शरीर समाये हैं और हमारे शरीर भी उसी विश्वशरीरके अंश हैं। उससे पृथक् कोई नहीं है।

संपूर्ण विश्व एकही अखंड जीवन है, ऐसा यहां कहा है और यही विश्वात्मा पुरुषोत्तम है। जन्मनेवाले भी उसीमें और मरनेवाले भी उसीमें हैं। जनन और मरण सतत होनेपरभी विश्वात्मस्थितिमें कोई न्यूनाधिक नहीं होता। वह जैसा था, वैसा है और वैसाही सदा रहेगा।

इस विश्वात्माकाही यह सब विश्वरूप है। क्या यह विश्वरूप साधकके अनुभवमें आसकता है? यह मेरा ही रूप है, ऐसा साधक कभी न कभी अनुभव कर सकता है? यह शंका यहां उत्पन्न हो सकती है। इसके उत्तरमें निवेदन है कि यह अनुभव साधक भी कर सकता है। पहिले विश्वात्मस्वरूपका ज्ञान सद्गुरुसे प्राप्त करना चाहिये और पश्चात् उसका अच्छी तरह मनन करना चाहिये। जितना मनन होगा, उतनाही यह अपने व्यवहारमें भी लानेका यत्न करना चाहिये।

यहां प्रश्न हो सकता है कि इस ज्ञानको व्यवहारमें कैसे लाया जा सकता है? इसके उत्तरमें कह सकते हैं कि यह ज्ञान व्यवहारमें प्रयुक्त किया जा सकता है। वस्तुतः यह ज्ञान इसी लिये कहा गया है कि व्यवहारमें प्रयोग किया जावे और इस ज्ञानसे निर्दोष व्यवहार होता रहे। यह श्रेष्ठ ज्ञान है और जो व्यवहार इस ज्ञानसे होगा, वह भी श्रेष्ठ व्यवहार ही होगा। इस ज्ञानको जो ठीक ठीक आत्मसात् करेंगे, उनसे सदोष व्यवहार हो ही नहीं सकता।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि
आत्मा एव अभूद्विजानतः। (वा. य.४०।७)

'जिसको सब भूत आत्मा ही हो गये,' उसको ही (विजानतः) सच्चा ज्ञान हुआ। इस समय

उसको सब भूत- सब पदार्थ आत्माके ही रूप हैं ऐसा प्रत्यक्ष होगा, अथवा आत्माही सब रूपोंमें प्रकट हो रहा है ऐसा प्रत्यक्ष होगा, अथवा ईश्वर ही सब कुछ रूप धारण किये हैं ऐसा दिखाई देगा अथवा यह सब मेरा ही रूप है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा। ये सब वाक्य एकही आशयको दर्शा रहे हैं, यह बात भूलना किसीको उचित नहीं है। तदाकारवृत्ति होनेपर यह अनुभव आवेगा, तबतक यह ज्ञान केवल शब्दोंके ही रूपमें रहेगा।

परोक्षकृत मंत्र।

(पहिला अनुभव)

गुरुके पाससे ज्ञान प्राप्त होते ही, अथवा शब्दोंके द्वारा बुद्धिद्वारा इस ज्ञानको समझमें आतेहि जो अनुभव आवेगा, वह यह है—

पुरुष एवेदं सर्वं।	(ऋ. १०।९०।२)
आत्मा वा इदं सर्वं।	(छां० उ० ७।२५।२)
नारायण इदं सर्वं।	(नारा० उ० २)
ब्रह्म खल्विदं सर्वं।	(मैत्री उ. ४।६)
वासुदेवः सर्वं॥	(गी० ७।१९)

'पुरुष, आत्मा, नारायण, ब्रह्म, वासुदेव ये जिसके नाम हैं वह, सद्वस्तु इस विश्वके रूपमें प्रकट हुई है।' यह सब तृतीय पुरुषका प्रयोग है। 'वह ईश्वर इस विश्वरूपमें प्रकट हुआ है।' ईश्वर करके कोई है, वह अभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ, परंतु शब्दप्रमाणसे वह है, ऐसा मैं मानता हूं और वही विश्वरूप हुआ है यह भी शब्द-प्रमाणसे मैं स्वीकार करता हूं। इस तरहके तृतीय पुरुषके (वह करके कहे हुए) जो वेद-वचन होते हैं, उनका नाम श्रुति है। गुरुके उपदेशसे श्रवण करके यहां ज्ञान प्राप्त हुआ है।'यह विषय प्रत्यक्ष नहीं हुआ। यह केवल श्रुति' है, केवल ऐसा सुनकर माना है। ईश्वर करके कोई है, उसको आत्मा ब्रह्म नारायण वैश्वानर आदि कहते हैं, वही सब कुछ भूत भविष्य वर्तमानकालका विश्व बना है, वही सबका आत्मा है। यह अप्रत्यक्ष ज्ञान है, श्रौत ज्ञान इसे कहते हैं।

इसको सबसे प्रथम प्राप्त करना चाहिये। इसीका मनन करना और इसीको प्रत्यक्ष करना है। इन्हीं मन्त्रोंको 'परोक्षकृत मंत्र' कहते हैं। 'श्रुति' ही परोक्षकृत मंत्र है।

प्रत्यक्षीकृत मंत्र।

(दूसरा अनुभव)

साधक जब गुरुमुखसे सुनता है कि 'सब भूत आत्माही है,' जब वह इसका मनन करने लगता है, तब अनेकवार उसे संदेह होता है कि (सर्वाणि भूतानि आत्मा एव) सब भूत आत्मा ही कैसे हो सकते हैं? भूतमात्र बनते बिगडते हैं और आत्मा अखंड एकरस है, ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? ऐसी अनंत शंकाएं साधकके मनमें उठतीं हैं, वह अपने गुरुसे शंका पूछता है, गुरु उसका समाधान करता है और शंका शनैः शनैः दूर होती जाती है, एकताका अनुभव होता जाता है।

पहिले पार्थिव तत्त्वकी एकता देखी जाती है, पश्चात् आप् तत्त्व विश्वभरमें है ऐसी प्रतीति होती है, नंतर तेजस्तत्त्व सर्वत्र है इसका अनुभव सर्वत्र रूपदर्शनसे स्पष्ट होता है। रूप तेजस्तत्त्वका ही गुण है और वह रूप सर्वत्र है, कोई ऐसा स्थान नहीं है कि जहां रूप नहीं है, अतः सर्वत्र तैजस तत्त्वके होनेका निश्चय होता है। इसी तरह वायु आकाश मन बुद्धि अहंकारका होना सर्वत्र अनुभवमें आता है। सर्वत्र अवकाश की उपस्थिति है, यह तो तेजस्तत्त्वके समानही प्रत्यक्ष होनेवाली बात है। इसी तरह अहंकार भी सर्वत्र है। प्रत्येक कृमी कीट 'मैं हूं' ऐसा कहताही है, इससे भी वनस्पतिसृष्टिमें प्रत्येक वनस्पति 'मैं हूं और मैं सर्वत्र बहुत होकर फैलूंगी।'(एकोऽहं बहु स्यां) ऐसा कहती है। 'मैं हूं' यह अहंकार कोई छोडना नहीं चाहता, यहां कोई मरना नहीं चाहता, सब कोई बढना

चाहते हैं । इस तरह अहंकारको सर्वत्र देखनेसे शनैः शनैः सर्वत्र अहंकारके अनुसंधानसे 'एकात्मप्रत्यय' होने लगता है ।

जब साधकको इतना प्रत्यक्ष अनुभव आता है तब वह साधक कहता है कि 'हे ईश्वर ! तू ही सब कुछ हो ' इ० जैसा-

त्वं अक्षरं परमं वेदितव्यं ।
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥(गी० ११)
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः॥ (गी०१८।३८)

'हे ईश्वर ! तूहि अविनाशी ज्ञेय वस्तु है, तू ही इस विश्वका परम आश्रय है, तूही सनातन है और शाश्वत धर्मका रक्षक है । तूहि आदिदेव और पुराण पुरुष है ।' इस तरह परमेश्वरको प्रत्यक्ष पुकारनेवाली भाषा भक्त इस समय बोलता है ।

वह परमेश्वरकी उपस्थिति सर्वत्र देखता है और मेरे चारों ओर वह है ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव करता है । अपने शरीररूपी रथपर अपनी सहायता करनेके लिये वह उपस्थित है और अपनी सहायताके लिये उसने सब कुछ कर रखा है, इस बातको साधक इस समय प्रत्यक्ष देखता है । किसी स्थानपर वह साधक देखे, तो वहां वह ईश्वर साक्षात् है, ऐसा वह देखता है। इसलिये साधक इस समय ईश्वरको 'तू' करके पुकारता है, प्रत्यक्ष स्पर्श करनेका अनुभव लेता है, प्रभुके प्रेमका अनुभव करता है, गद्गद होता है । यह साक्षात्कार की अवस्था है । इस समय उसकी प्रार्थना इस तरह होती है—

वि न इन्द्र मृधो जहि
नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
यो अस्मानभिदासति
अधरं गमया तमः ॥ (ऋ०१०।१५२।४)

'हे प्रभो ! हमारे शत्रुओंका नाश करो, सेनाद्वारा हमारे ऊपर हमला करनेवालोंको पराजित करो और जो हमको दास करता है उसको अन्धेरेमें भेज दो अर्थात् उसकी दुर्गति करो ।' तथा—

त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।

'हे प्रभो ! तू ही मेरा सब कुछ है ।' इत्यादि रीतिसे प्रत्यक्ष देवताको संमुख रखकर बोलनेके समान भक्त देवताके साथ बातचीत करता है, मांगता है, प्रार्थना करता है,इ०

इस समय देवता इसको प्रत्यक्ष होती है, परंतु इस समय देवता देनेवाली और मैं लेनेवाला यह भावना रहती है । इसके पश्चात् भी भक्तकी उन्नति होती रहती है और आगे जाकर वह देवतासे अपना तादात्म्य अनुभव करता है, यह उच्चसे उच्च भूमिका है ।

अहंकारादेशके मंत्र ।

(आध्यात्मिक ऐक्यका अनुभव)

इस समय साधक देवतासे तादात्म्य प्राप्त करता है । देवतासे अपना अभेद-संबंध अनुभवता है । इस अनुभवके मंत्र ये हैं-

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये । (ऋग्वेद)

'मैं इन्द्र हूं, मेरा पराजय नहीं होगा ।' इस तरहके मंत्र आध्यात्मिक होते हैं । अर्थात् देवताके साथ अभेदका अनुभव इसमें होता है । इन मंत्रोंका नाम 'वेद' होता है, क्योंकि इनमें देवताका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ होता है । श्रुति और वेदमें यह भेद है । स्वयं देवतांश होनेका अनुभव साधकको इस तरह होता है । भगवद्गीतामें भी यही दर्शाया है-

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्१२
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा
रसात्मकः ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥ (भ०गी० १५)

"जो तेज सूर्य चन्द्र और अग्नि में है, वह मेरा तेज है। भूमिमें प्रविष्ट होकर मैं अपनी शक्तिसे रसात्मक सोम बनकर सब औषधियोंको पुष्ट करता हूं। मैं सब विश्वका नेता होकर सब प्राणियोंके देहोंमें रहकर प्राण और अपानसे युक्त होता हुआ चतुर्विध अन्नका पाचन करता हूं। मैं ही सबके हृदयोंमें हूं, मुझसे ही स्मरण, ज्ञान और विस्मरण होता है। सब वेदोंके द्वारा मैं ही जानने योग्य हूं और मैंहि वेदान्त का कर्ता और वेदका ज्ञाता हूं।"

यह साधक इस समय विश्वात्माके स्वरूपमें मिला होता है, विश्वात्मासे अभिन्न होता है, मैंहि देवतारूप हूं यह प्रत्यक्षानुभव इस समय इसको आता है। ये तीनों अनुभव उपनिषदोंमें स्पष्ट रीतिसे कहे हैं। इस विषयकी सुबोधताके लिये इन वचनोंको यहां पाठक अवश्य देखें-

१ स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स
दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति ॥

२ अथातोऽहंकारादेशः-
अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं
पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं
सर्वमिति ॥ १ ॥

३ अथात आत्मादेशः-
आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चा-
दात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्त-
रत आत्मैवेदं सर्वमिति ॥

४ स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं
विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन-
आत्मानन्दः स स्वराड् भवति । तस्य
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।

५ अथ येऽन्यथातो विदुः, अन्यराजानस्ते
अक्षय्यलोका भवन्ति,तेषां सर्वेषु लोकेष्व-
कामचारो भवति ॥

(छां०उ०७।२५।१-२)

(१) अब 'वह' शब्दसे वह ज्ञान कहते हैं-
'वह (ईश्वर) नीचे, वही ऊपर, वही पीछे, वही आगे, वह दाईं ओर वही बाईं ओर अर्थात् वही सब कुछ है।'

(२) अब 'अहं' शब्दसे वही कहते हैं-
'मैं नीचे, मैं ऊपर, मैं पीछे, मैं आगे, मैं दाईं ओर और मैं बाईं ओर अर्थात् मैंहि सब कुछ हूं।'

(३) अब 'आत्मा' शब्दसे वही ज्ञान कहते हैं—
'आत्मा नीचे, आत्मा ऊपर, आत्मा पीछे, आत्मा आगे, आत्मा दाईं ओर और आत्माही बाईं ओर अर्थात् आत्मा ही सब कुछ है।'

(४) जो इस तरह देखता है, इस तरह मानता है, इस तरह जानता है, वह आत्मामें रमता है, आत्मामें क्रीडा करता है, आत्मासे मिलता है और आत्मासे आनंदित होता है। इस समय वह स्वराट्-[स्वयं राजा-स्वयं प्रकाश—स्वतंत्र] होता है। इसकी गति सब लोकोंमें स्वेच्छासे होती है।

(५) परंतु जिनको यह ज्ञान नहीं है, वे दूसरेको राजा माननेवाले अर्थात् दूसरेको अपना स्वामी माननेवाले परतंत्र होते हैं, उनको अक्षय लोक कभी नहीं मिलता, उनकी परतंत्रताके कारण उनकी गति सब लोकोंमें नहीं हो सकती।

इस छांदोग्य उपनिषद्में स्पष्ट कहा है कि जबतक 'मैंहि विश्वरूप आत्मा हूं' ऐसा प्रत्यक्षानुभव नहीं होता, तबतक साधक दूसरेको

अपना अधिपति माननेवाला परतंत्र ही रहता है। वह जिस समय जानता है कि मैं ही आत्मा हूं तब वह स्वतंत्र और मुक्त होता है। इस वचनमें (सः) वह, (अहं) मैं और आत्माके निर्देश से एकही आत्माका ज्ञान कहा है। इसमें (अहं) मैं के निर्देशसे जो कहा है वैसा ज्ञान जिस समय साधकको होगा, उसी समय वह अपने आपको ही सर्वव्यापक अनुभव करेगा और अपनेसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है ऐसा अनुभव करता हुआ पूर्ण स्वतंत्रताका अनुभव करेगा।

पहिला अनुभव- वह ईश्वर सब कुछ है,
दूसरा अनुभव- तू ईश्वर सब कुछ है,
अन्तिम अनुभव- मैं सब कुछ हूं।

पहिले दो अनुभव अपनी अपूर्णताके हैं, तीसरा अनुभव अपनी पूर्णताका है। इस पूर्णताके अनुभवमेंहि 'जो आदित्यमें तेज है, वह मेरा है' ऐसा कह सकता है। इस रीतिसे विश्वात्माका अनुभव साधकको प्राप्त होता है। हरएक साधक इस अनुभवकी कसौटीसे अपनी परीक्षा कर सकता है और अपनी कितनी उन्नति हो चुकी है, इसका निश्चय कर सकता है।

व्यक्ति, कुटुंब, जाति, देश, राष्ट्र यहांतक अपना संबंध जोडने तक साधारणतः मनुष्यकी उन्नति अंशतः हुई है। 'वसुधैव कुटुंब' माननेकी वृत्ति संन्यासाश्रममें करनेकी प्रथा वर्णाश्रमधर्मनेही भारतीयोंको समझायी है। इसके पश्चात् सूर्यचन्द्रका तेज भी मेरा ही है, यह सीढी है। पाठक इसका विचार करें और अपनी अवस्थाका ज्ञान प्रात करें।

सर्वत्र आत्मस्वरूप देखनेवाला व्यवहार कैसा कर सकता है? यह भी एक प्रश्न लोग किया करते हैं।

मान लीजिये कि किसी साधकको 'पुरुषोत्तम-योग' की साधनासे 'मैं ही सब कुछ (अहं एव इदं सर्वं) हूं' ऐसा निश्चित ज्ञान हुआ। वह मानो पुरुषोत्तमरूपही हुआ है। वह सबको पुरुषोत्तमरूप अथवा अपना ही रूप मानेगा। उसके सामने शिष्य उपस्थित हुआ तो समझेगा कि पुरुषोत्तमही शिष्यभावसे संमुख आगया है अथवा मैं हि शिष्यरूपसे सम्मुख आगया हूं। दोनों अवस्थाओंमें वह निष्कपट भावसे अध्यापन करेगा। क्योंकि कपट अपने ही से नहीं हो सकता।

इसी तरह पुरुषके सामने स्त्री आगयी, वैद्य या डाक्तरके सामने रोगी आया, अधिकारीके सामने प्रजाजन आगया, मालिकके सामने नौकर उपस्थित हुआ अथवा राजाके सामने कोई मनुष्य आगया, तो इन सब आत्मज्ञानियोंका व्यवहार पूर्ण निष्कपट भावसे होगा। जितना निष्कपट व्यवहार अपने साथ किसीका हो सकता है, उतना निष्कपट और सीधा व्यवहार अन्योंके साथ हो सकता है। सर्वात्मभावसे जब व्यवहार होगा, तब ऐसा सीधा व्यवहार हो सकता है।

जो ज्ञानी होगा वह सर्वात्मभावको जानकर सहज भावसेहि सरल और निष्कपट व्यवहार कर सकता है, अथवा उनसे सरल व्यवहार स्वयं हो सकता है। परंतु सब अन्य लोग भी सबका आत्मा एकही है, यह अखंड एकरस अनन्यभाव बुद्धिद्वारा जानकर, ज्ञानीको अपना आदर्श मान कर सरल व्यवहार करें। इस तरह लोगव्यवहारसे छल कपट पूर्णतया दूर हो सकता है।

इस पुरुषोत्तम-विद्याको व्यवहारमें इस तरह लाया जा सकता है। वर्णधर्म और आश्रमधर्ममें प्रारंभसे यही पाठ मिलता है। पूर्ण ज्ञान न होते हुए भी वर्णाश्रमधर्मके पालनसे मनुष्य, ज्ञान होनेके समान ही उत्तम व्यवहार करनेमें

समर्थ होता है। वर्णाश्रमधर्ममें रहनेवाला साधक अपने धर्मपालनके मिषसे अहिंसा, संयम, इन्द्रियनिग्रह आदि करता है। और पुरुषोत्तम-स्वरूपको यथार्थ रीतिसे जाननेवाला सिद्ध पुरुष अपनी सहज वृत्तिसे अहिंसाशील, संयमी और इन्द्रियनिग्रही होता है। हिंसा, स्वैराचार आदि वृत्ति उसके मनमें उठतीहि नहीं। सिद्ध पुरुष होनेपर जो आचार सहज वृत्तिसे होगा, वही आचार प्रयत्नसे वर्णाश्रमधर्ममें हरएक मनुष्यको करना पडता है। इससे पाठकोंको ज्ञात हुआ होगा कि पुरुषोत्तमयोग सिद्ध होनेपर क्या होगा और उससे पूर्व कैसा आचरण करना होगा।

जो विश्वरूप भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें बताया गया है, वह सब विश्व अखंड एकरस अनन्य वस्तु है, यह स्पष्ट करनेके लिये ही बताया है। यहां एकही वस्तु है जिसपर इन विश्वगत पदार्थोंका रूप दीख रहा है। विश्व मिथ्या नहीं है, परंतु पुरुषोत्तमरूप ही है। अर्थात् सबही पुरुषोत्तमके रूप हैं, ऐसा मानकर जो साधक व्यवहार करेंगे, उनके व्यवहारमें अशुद्धि हो ही नहीं सकती। क्योंकि उनका सब व्यवहार पुरुषोत्तमके साथ ही होता है। जो अपना सब व्यवहार परमेश्वरके साथ हो रहा है ऐसा जानकर अथवा मानकर व्यवहार करेंगे, उनसे अत्यंत शुद्ध व्यवहार होगा, इसमें क्या संदेह हो सकता है?

अपने कर्मोंसे परमेश्वरकी पूजा करने (गी. १८।४६) का जो आदेश है वह भी परमेश्वरको सब भूतोंमें देखनेका अथवा सब रूपोंको परमेश्वरके रूप माननेका ही आदेश है। मनुष्य जो कुछ करता है, वह परमेश्वरकी पूजा करनेकी अभिलाषासे ही करे। तृषित मनुष्यको जल दिया, तो वह परमेश्वर को ही दिया है, भूखे मनुष्य को अन्न दिया, तो वह परमेश्वरकोही दिया है। ऐसे कर्मोंसे परमेश्वरकी पूजा होती है। प्रत्यक्ष परमेश्वरके ये रूप हमारे सामने आते हैं। इनसे हम जो व्यवहार करते हैं, वह प्रत्यक्ष परमेश्वरसे ही व्यवहार हो रहा है। जो मनुष्य अथवा पशुपक्षी हमारे सामने आता है, वह परमेश्वर का प्रत्यक्ष रूप है। उससे हम कैसा व्यवहार करते हैं? स्वकर्मसे उसकी पूजा करते हैं, या उसको कष्ट पहुंचा देते हैं? इसका विचार हरएक को करना चाहिये।

परमेश्वरसे व्यवहार।

दूसरोंपर अत्याचार किया जाता है, दुराचार किया जाता है, लूटमार की जाती है, धोखेबाजी की जाती है, यह सब व्यवहार परमेश्वरसे होता है। फिर इससे कौन कैसा बचेगा? प्रत्यक्ष प्रभुके साथ कुव्यवहार करनेसे उस अपराधसे बचनेका कोई साधन नहीं है। पुरुषोत्तमयोग हो रहा है, परंतु कैसा योग हो रहा है? जो चल रहा है, वह सब पुरुषोत्तमसे ही योग हो रहा है, परंतु जो जानेंगे वे निर्दोष आचरण करनेद्वारा पुरुषोत्तमकी पूजा करेंगे और दूसरे पुरुषोत्तमको कष्ट देनेके कारण स्वयं कष्टमें पडेंगे। व्यवहारमें यही हो रहा है। आज दूसरेको लूटनेवाला कल स्वयं लूटा जाता है और उस समय कष्टी होता है। परंतु वह अपना ही कर्म था।

पुरुषोत्तमका विश्वरूप जानकर और अपने कर्मोंसे उसकी पूजा करनेका व्रत करके पुरुषोत्तमकी सेवा करनी चाहिये। हरएक आचरण इस कसौटीसे परखा जायगा, तभी निर्दोष आचरण होगा। ब्राह्मण ज्ञानदानसे, क्षत्रिय रक्षाकर्मसे, वैश्य धनदानसे और शूद्र अपने सेवाकर्मसे परमेश्वरकी ही उपासना करता है। मूर्तिपर चंदनपुष्प चढानेको लोग पूजा समझते हैं। यह पूजा साक्षात् नहीं है। जो मानवादि प्राणियोंसे व्यवहार हो रहा है वह है साक्षात् पूजा करनेका विधि, इस विधिसे हरएकको साक्षात् भगवान्‌की सेवा करनेका अवसर प्राप्त

होता है। उस अवसरमें वह क्या कर रहा है, यही विचारणीय बात है। इसका विचार हरएक मनुष्य करे। यह एक नियम मनुष्यका आचरण यथायोग्य करनेवाला है।

जैसा संपूर्ण विश्वरूप पुरुषोत्तम है, वैसाही पूर्वोक्त अहंकारादेशसे यह सब विश्वरूप (अहं) मेरा ही है। जैसा पुरुषोत्तम इस विश्वरूपमें प्रकट हुआ है, वैसाही अहंकारादेशसे इस सब विश्वरूपमें मैं ही प्रकट हुआ हूं, जो कुछ विश्वमें हो रहा है,वह आत्मस्वरूपी मुझसे ही हो रहा है। यह जानकर विश्वसेवाका अद्भुत मार्ग जाना जाता है। विश्वमें जो कुछ कल्याणरूप हुआ वह तो ठीक ही हुआ है, उस विषयमें विशेष बोलनेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु जो कुछ हानिकारक, अहितकारक, अभद्रकारक हुआ हो वह सब मेरे अन्दरके दोषके कारण हुआ है, इसलिये उसको ठीक करनेके लिये आत्मसमर्पण, आत्मशुद्धि अथवा विश्व-सेवा करना मेरा कर्तव्य ही होता है। विश्वमें मेरे व्यतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है, अतः जो यहां बुराभला हो रहा है, वह मुझसे ही हो रहा है इसमें कोई संदेह ही नहीं है। जो तो यहां भला हुआ वह तो होनाही चाहिये था, इस लिये उसके विषयमें कुछ कहनेकी कोई आव-श्यकता नहीं है। परंतु जो अनिष्ट हुआ हो वह मुझे छोडकर कोई अन्य यहां न होनेसे मेरे कारण ही हुआ है, अतः उसके निराकरणके लिये अर्थात् इस अपने कर्तव्यसे विश्वसेवा करनेके लिये कटिबद्ध होना अपना कर्तव्य ही होता है। उस कर्तव्य करनेद्वारा विश्वात्माकी भक्ति-सेवा-पूजा करना साधकका कर्तव्य होता है। साधक विश्वसेवा करता रहता है, इसका कारण यह है। विश्वरूपी आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेके पश्चात् कर्तव्यक्षेत्रका वडा विस्तार होता है। साधक अपना जीवन विश्वरूपकी सेवा के लिये अर्पण करता है और जो करता है, वह निष्कामभावसे ही करता है।

विश्वमें दुःख, कष्ट और न्यूनता देखकर वह दूसरोंको दोष नहीं देता, क्योंकि उसके लिये इस विश्वमें दूसरा कोई रहा ही नहीं है। सब विश्वरूपही उसको अपना रूप हुआ है। अतः जहां कहां वह न्यूनताका अनु-भव करता है, वह न्यूनता अपनेमें है, ऐसा वह देखता है। जब इसको अपनेमें दोष दीखेगा तब वह दूसरोंको दोष क्यों कर दे सकता है? इस लिये वह अपना दोष जानकर अपना ही दोष दूर करता है, वह कदापि दूसरोंकी निंदा नहीं करता, क्योंकि दूसरा कोई है नहीं। जिस समय (सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्) सब भूत आत्माही हुए उस समय अपने कर्तव्यके संबंध में कोई शोक मोह नहीं होते। उसको उसका सीधा कर्तव्य स्पष्ट दीखता है। (वा० यजु० ४०।७)

सर्वात्मभाव जाननेसे परनिंदा करनेका कोई प्रयोजनही रहता और स्वकर्तव्य करनेमें दोष भी नहीं रहते। पाठक सबका आत्मा एक है अथवा सब रूप परमेश्वरके हैं, ऐसा मानकर व्यवहार करके देखें। इससे उनके व्यवहार पूर्ण निर्दोष होंगे।

सर्वभाव।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(गी० १५।१९)

'जो इस तरह ज्ञानी पुरुष पुरुषोत्तमको जानता है, वह सर्वज्ञ होता है और सर्वभावसे परमेश्वरकी पूजा करता है।' यहां पूजाके दो विधि निश्चित हुए दीखते हैं। एक सर्वभावसे पूजा करना और दूसरा असर्वभावसे किंवा खण्डभावसे पूजा करना। इन दोनोंका परिणाम कैसा होता है, वह हम अब देखेंगे।

जे खण्डभावसे पूजा करता है, वह किसी

मूर्तिकी पूजा करना है। जिस ग्राममें वह मंदिर हो वहां जाना, अन्य स्थानपर ईश्वर नहीं है ऐसा मानना. वह मूर्ति मुझसे भिन्न है, मैं भिन्न हूं, ऐसा मानकर तथा अन्य जनता उससे भिन्न है ऐसा मानकर और एक स्थान-परही उसका निवास मानकर मूर्तिकी उपासना होती है। यह सब उपासना असर्व-भावसे है। इसलिये मूर्तिमें ईश्वर है, अन्य जनतामें नहीं, ऐसी बुद्धि होती है और दैनिक व्यवहारमें लूट-मार करके मंदिरमें स्थित मूर्तिपर हजारों रुपयोंके चढावे-समर्पण-किये जाते हैं। असर्व-भावसे ये दोष होते हैं। जो साहुकार अपने ऋणकोंको लूटता है, वही मंदिरमेंहि जाकर देवताको धन अर्पण करता है, क्योंकि वह समझता है कि मंदिरमेंहि देवता है, मंदिरसे बाहर देवता नहीं है। जो अपने ऋणी हैं उनको लूटकर धन कमाना और मंदिरकी मूर्तिपर चढाना यह तबही होगा जब मंदिरसे बाहर देवताका अस्तित्व न माना जाय। जगत्के संपूर्ण पातक असर्वभावके माननेके कारण हो रहे हैं।

अब सर्वभावके माननेसे कैसा परिवर्तन होता है वह देखिये। संपूर्ण विश्व एक अखण्ड वस्तुका प्रकटीकरण है, मैं भी उसीमें हूं। संपूर्ण विश्व और मैं मिलकर एक अखण्ड भाव हुआ है, उसका नाम 'सर्व' है। यह सर्वभाव मेरा है। उपासक उपास्य सब इसी सर्वभावमें संमिलित हैं। यहां पृथक् कोई नहीं। सब मेरे अथवा ईश्वरकेही रूप हैं। ऐसा निश्चय होनेपर कौन किसे लूटे. कौन किससे कपट करे? जहां दूसरा रहा नहीं, जहां एकही सर्वत्र सत्ता हुई, वहां कौन किसका छल करे? इस प्रकार सर्वभावसे निर्दोष आचरण होता है। इसलिये सर्वभावसे भक्ति करनेवाले निर्दोषी होते हैं। सर्वभावसे व्यवहार करनेपर निर्दोष व्यवहार होता है। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक तथा राजकीय सब प्रकारके व्यवहार सर्वभावसे करनेसेहि झगडे नहीं होंगे। जो आजकल झगडे बढ रहे हैं, उसका कारण असर्वभावसे अर्थात् मैं व्यक्ति अलग हूं और शेष विश्व अलग है. ऐसा मानकर सब व्यवहार हो रहे हैं, यही सदोषता है। संपूर्ण धर्म मूलमें इस सर्व भावपर अधिष्ठित हैं, तथापि आगे जाकर धर्मप्रचारक असर्वभावही मानने लगते हैं, इसलिये धर्मके नामसे झगडे खडे होते हैं।

उदाहरणके लिये ईसामसीहने अपने ईसाई धर्मके पुस्तकमें कहा है कि जिस समय सामने कोई भीकारी दुःखी कष्टी आदमी आजाय तो उसको परमेश्वरका रूप मानकर उसकी सेवा करना चाहिये। ऐसा कई धर्मसेवक ईसाई करते भी हैं. परंतु सर्वसाधारण प्रचारक इस विश्वात्माके विश्वरूपको जानते तक नहीं! और न जानते हुए किस धर्मका प्रचार करते हैं, पता नहीं।

भारतवासी आर्यधर्मके अथवा सनातनधर्मके वेदधर्मानुयायी वेदको, उपनिषदोंको और भगवद्गीताको प्राणसे भी अधिक मूल्यवान् मानते हैं, परंतु विश्वरूपकी उपासना नहीं करते। इतनाही नहीं, परंतु अपनेही धर्मके भाइयोंको इतना दूर रखते हैं कि जितना दूर रखना विश्वरूपी परमेश्वरको माननेपर योग्य है ऐसा सिद्ध करना असंगत होगा।

अनेक धर्मोंका ऐसाही अयोग्य रीतिसे प्रचारकोंने प्रचार किया है. अतः सच्चे धर्मभावसे लोग बहुत दूर गये हैं। अतः श्रीमद्भगवद्गीताके भक्तोंको उचित है कि वे परमेश्वरके विश्वरूपको जानें, उसको यथायोग्य समझें और यह विश्वरूप अखण्ड एकरस तथा अनन्य है और सर्वभावसे विश्वरूपकी उपासना करनी चाहिये, यह ठीक ठीक समझकर. वैसा धर्माचरण करें। स्वकर्मसे विश्वसेवा करें और कृतकृत्य बनें।

ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ।

इस अध्यायमें ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ वृक्षका वर्णन

प्रारंभके तीन श्लोकोंमें किया है। यह अश्वत्थवृक्ष कौन है? इसकी शाखाएं ऊपर नीचे फैली हैं, जडें ऊपर हैं, शाखाविस्तार नीचे फैला है। यह विचित्र वृक्ष है कहां? ऐसा प्रश्न विचक्षण पाठक अवश्य करेंगे।

यह वृक्ष हरएक मनुष्यके शरीरमें है। (नर्वस सिस्टीम) मज्जा-संस्थान इसका नाम है। ऊपर मस्तकमें-मस्तिष्कमें इसकी जडें हैं और संपूर्ण शरीरभरमें अनंत छोटीमोटी शाखाएँ फैली हैं। इसका जाल ऐसा फैला है कि एक सूईके नोक जितना स्थानभी इससे खाली नहीं है। ऊपर नीचे शाखाविस्तार यहां प्रत्यक्ष है। इसका (ऊर्ध्वमूलं) मूल ऊपर है यहभी स्पष्ट है। तीन गुणोंसे ये युक्त हैं (गुणप्रवृद्धाः) ऐसा जो इसका वर्णन है वह यहां प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। (विषयप्रवालाः) विषयरूप अंकुरोंसे युक्त होनाभी इसका सिद्धही है क्योंकि इनका संबंध किसी न किसी विषयसे अवश्य आता है। संपूर्ण कर्मोंके साथ इसका संबंध आताही है, क्योंकि यदि इस मज्जामें बिगाड हुआ तो उससे होनेवाले कर्म होते नहीं और उस मज्जाके द्वारा ग्रहण किये जानेवाले विषयोंका ग्रहणभी नहीं होता है। मानो मनुष्यका मनुष्यत्व इन सब मज्जाकेन्द्रोंपरही निर्भर है।

इस वृक्षके पर्ण (छंदांसि यस्य पर्णानि) छंद है। छंदका अर्थ वेद और वेदका अर्थ ज्ञान है। उक्त मज्जातन्तुओंका भी प्रयोजन ज्ञान प्राप्त करनाही है। शरीरके किसीभी भागपर किसी पदार्थका स्पर्श हुआ तो झट उसका ज्ञान इनही मज्जातंतुओंके कारण होता है। यदि इनमें बधिरता आगयी तो ज्ञान होना बंद होता है। अर्थात् सब प्रकारका ज्ञान प्राप्त करना इन मज्जाकेन्द्रोंके कारणही होता है। वेदज्ञतामें इनका कितना कार्य है, यह यहां पाठक देखें और इस मज्जातन्तुओंका महत्व जानें।

ये मज्जातन्तु सब शरीरभर फैले हैं। ज्ञान लेते, ज्ञान पहुंचाते और कर्मकी प्रेरणा करते तथा कर्म करते भी येही हैं। (कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके) मानवलोकमें जो कर्म हो रहे हैं उनका मुख्य संबंध इनसे है।

यह मज्जासंस्थान मनुष्यकी जितनी सहायता करता है उतनी सहायता और किसीसे नहीं हो सकती। यह सहायता करता है, परंतु साथ साथ विषयोंसे बांधभी देता है, भोगलालसा बढाता है, बारीक बारीक तर्क करनेका कार्य यही करता है। सूक्ष्म विचार करना इसी मज्जाकेन्द्रोंके आधीन है। इसके जितने बारीक तन्तु होंगे उतनी विचारशक्ति बढती है और विचारशक्ति बढनेसे श्रद्धा कम होती जाती है। मज्जाका कार्य विचार तथा तर्कना बढाना है। इसके बहुत बढ जानेसे श्रद्धा और भक्ति उसी प्रमाणसे हट जाती है।

इसका परिणाम शुष्क विचार बढ जानेमें होता है और अन्तमें नास्तिकता की हदतक मनुष्य पहुंचता है। तर्कके बडे बडे जाल फैलाता रहता है और श्रद्धा तो होतीहि नहीं। जिसका (नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा) आदि अन्त नहीं और जिसकी प्रतिष्ठाभी कोई नहीं, ऐसी तर्क वितर्क कुतर्ककी श्रेणियां चलती हैं और भ्रमही भ्रम बढ जाता है। भोगप्रधान और कुतर्कप्रधान जीवन बढता जाता है और सर्वत्र असमाधान बढता है। क्या करें, कहां जांय, शान्ति किस तरह मिल सकती है इसकी विवंचना शुरू होती है और इस समय विवंचनासे त्रस्त हुआ मनुष्य गुरुको शरण जाता और अपनी अवस्था उसे निवेदन करता है।

'असंगशस्त्रसे इस अश्वत्थवृक्षके शाखाविस्तारको काटो' यह उपदेश गुरुसे प्राप्त होता है और उसका प्रयोग यह करता है। तर्कनाका शाखाविस्तार कटते ही भक्तिश्रद्धाका हार्दिक

भाव उदित होता है। मज्जाके जालोंकी अति सूक्ष्मता नष्ट होकर हृदयकी गंभीरता वढाई जाती है। इस तरह श्रद्धाका उदय होनेपर परमेश्वरकी खोज शुरू होती है। अन्तमें वह स्थान-परम पद-प्राप्त करता है।

यहां पाठकोंके ध्यानमें यह वात आगयी होगी कि यह वृक्ष अपने ही शरीरमें है, जिसके तन्तुजाल वढनेसे अपनी गति रुक जाती है और जाल कम होनेसे प्रगति होती है। तर्कना की शक्ति वढनेसे भक्तिकी न्यूनता और भक्तिके वढ जानेसे तर्ककी न्यूनता होती है। पूर्ण पुरुष होनेके लिये दोनोंका सम विकास होना चाहिये। अतः कहा है कि असंगशस्त्रसे उतना ही इसका शाखाविस्तार काटना चाहिये (सुविरूढमूलं छित्वा) कि जिससे (तत्पदं परिमार्गितव्यं) उस स्थानका अपना मार्ग दीखने लग जाय। उक्त वृक्ष सवका सव काटना नहीं चाहिये। परंतु उसकी शाखाएं उतनी काटनी चाहिये कि जिससे अपना मार्ग खुला हो जावे और अपना प्राप्तव्य स्थान दीख पडे और हम आसानीसे आगे वढ सकें।

आवश्यक तर्क तो चाहिये और प्राप्तव्य स्थानके मार्गपर दृष्टि स्थिर रहने योग्य भक्ति भी चाहिये। तर्कसे दुष्ट मार्गकी ओर नहीं फंसना होता और श्रद्धासे श्रेय मार्गपरसे चलना होता है। इस तरह तर्क और श्रद्धाका सहारा लेता हुआ साधक आगे वढता है।

व्यक्तिके अन्दर यह अश्वत्थ वृक्ष मज्जातन्तुओंका संस्थान ही है। इसका नाम 'अश्व-त्थ' अर्थात् जिसमें घोडे वन्धे हुए ऐसा है। घोडे नाम इंद्रियोंका है। हमारे सव इंद्रियरूपी घोडे इसी मज्जातन्तुओंसे वंधे हुए हैं। यह वृक्ष 'अ-श्व-त्थ' भी है, अर्थात् यह कलतक रहेगा ऐसा नियम नहीं है। संपूर्ण शरीर की नाश होनेकी अवस्थाका वर्णन 'अ-श्व-त्थ' शब्द कर रहा है। इस रीतिसे इस वृक्षका वर्णन पाठक अपने अन्दर देख सकते हैं।

जो व्यवस्था शरीरमें है, वैसी ही और उससे भी विशेष गूढ व्यवस्था विश्वमें है। इस शरीरमें रहनेवाली मज्जातन्तुओंकी व्यवस्थासे संपूर्ण शरीरके अवयवोंकी एकता सिद्ध हुई है। शरीरके किसी स्थानमें कुछ हुआ तो उसका पता झट लगता है, वह इसी मज्जातन्तुओंसे ही है। चोट पांवमें लगे, हाथमें लगे, या सिरमें लगे, उसका ज्ञान झट होता है। इतनी एकता विभक्त अवयवोंमें रही है, इसका कारण येही ज्ञानवाहक मज्जातन्तु हैं।

जैसा यह मनुष्य 'पुरुष' कहलाता है, वैसाही विश्वपुरुषका नाम 'विराट् पुरुष' है। अतः विराट् पुरुषमें हमारे मज्जातन्तु-संज्ञान-व्यवस्थाके समान कुछ न कुछ व्यवस्था होनी चाहिये। जिनको हम जड कहते हैं, उनमें भी सजीवता दिखाई देती है। भूमिपर गोवर या विष्टा पडनेसे स्वयं उसपर मिट्टी आती है, धातुओंका मारण अर्थात् विशेष विषप्रयोगसे मरण होता है, अतः यहां इस विश्वमें कोई जड या निर्जीव वस्तु नहीं है। संपूर्ण विश्वमें विश्वात्मा अपनी जीवनशक्तिके साथ रहनेसे संपूर्ण विश्व ही सजीव है, अतः उस विश्वमें किंवा विराट् पुरुषमें कुछ न कुछ सूक्ष्म मज्जाके ज्ञानवाहक केन्द्र होंगे ही। इस विश्वव्यापक सूक्ष्म मज्जाका सिर सूर्यलोकमें है, मन चन्द्रलोकमें हैं। ब्रह्माण्डके मध्यमें सूर्य है, वहांसे सूक्ष्ममज्जा-प्रवाह उसकी किरणोंके साथ संपूर्ण ब्रह्माण्डमें जाता है।

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात्। (ऋग्वेद)

ऐसा वेदमें कहा है। यहांका यंत्र शब्द नियमन-शक्तिका वाचक स्पष्ट है। तथा-

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।
(प्रश्न उ. १।७)

ऐसा उपनिषद्में सूर्यके विषयमें कहा है। सूर्यकिरणद्वारा संपूर्ण ग्रहोपग्रहोंका नियमन होता है। भूमिपर जो स्थिरचर जीवजन्तु तथा वस्तुजात है, उसका संपूर्ण जीवन सूर्यसे ही होता है। सबके जीवनके साथ सूर्यके सत्त्वांशका संबंध है। जैसा मज्जारस प्राणीके शरीरमें वैसाही सूर्यका सत्त्वांश इस सूर्यमालामें सबके जीवनका आधार है।

इस विवरणसे पाठकोंके ध्यानमें विराट् पुरुषके सजीव होनेकी कल्पना आसकती है। इसके अतिरिक्त यदि विराट् पुरुष जड और मृतवत् है, तो उसके जीवनसे जीवित रहनेवाले हम उसके जीवनके विना जीवित किस तरह रह सकते हैं? इससे भी संपूर्ण विश्व अखण्ड जीवनसे सजीव है, यह बात ध्यानमें आ सकती है।

यही विश्वव्यापी अखण्ड मज्जास्रोत है. जिसके वेद (छंदांसि पर्णानि) पत्ते हैं. त्रिगुणमयी शाखाएँ (गुणप्रवृद्धाः) चारों ओर फैलीं हैं, जिनका मानवी (मनुष्यलोके कर्मानुबंधीनि) कर्मोंके साथ सुदृढ संबंध है। असंगभावसे ही इसके ये बंधन दूर हो सकते हैं, इत्यादि वर्णन जागतिक दृष्टिसे देखना योग्य है।

परमात्माका एक अंश (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः) यहां जीव बनकर कार्य कर रहा है। इस अंशने अपने साथ विश्वकी संपूर्ण शक्तियोंके अंश लाये हैं, उनमें मज्जांश भी वहांसे ही लाया है। अतः इसका संबंध परमात्माके विश्वव्यापक शरीरसे स्पष्ट है। जीवका प्राण विश्वव्यापक प्राणका अंश है। जीवका पांचभौतिक शरीर विश्वव्यापक पांचभौतिक विराट् शरीरका अंश है। इसी तरह जीव शरीरकी सब शक्तियां विराट् पुरुषकी शक्तियोंसे संबंधित हैं। इस विचारसे भी जीवका शिवसे अखंड और अनन्य संबंध ज्ञात हो सकता है। इसी अनन्य संबंधका ध्यान करना चाहिये।

जीव परमात्माका अंश है, इसी कारण अंशको अंशी परमात्माके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये। अंशकी इतिकर्तव्यता अंशीकी सेवा तत्परतासे और अनन्यभावसे करनेसे ही हो सकती है, दूसरा कोई कृतकृत्यताका उपाय नहीं है। अंश जीव है और विश्वात्मा पुरुषोत्तम है, पुरुषोत्तम का अंश जीवपुरुष है। इस जीवका पुरुषोत्तमसे अखंड और अनन्य योग है। इसका ज्ञान प्राप्त करना, उस योगका अनुभव करना, मनुष्यकी पूर्णता के लिये अत्यंत आवश्यक है। जीवात्माका परमात्माके साथ अखण्ड और अनन्य संबंध कैसा है यही वर्णन इस अध्यायमें किया है। इस संबंधको अपने अंदर देखना और उसका अनुभव करना, तथा इस पुरुषोत्तमविद्याकी शिक्षा देना, इस अध्यायका उद्देश्य है।

इति गुह्यतमं शास्त्रं इदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥
(गी. १५।२०)

'यह पुरुषोत्तमविद्या अत्यंत गुप्त विद्या है। तथा यह (गुह्य-तम) सदा बुद्धि (गुहा) में धारण करनेयोग्य ज्ञान है। यह विद्या जाननेसे मनुष्य बुद्धिमान् होता है और कृतकृत्य होता है। क्योंकि संपूर्ण विश्व अखण्ड और अनन्य है, यह प्रत्यक्ष यहां दिखाया है।

इस प्रकार विचार करके पाठक इस पुरुषोत्तमयोगका आशय जानें और अनन्यभावसे विश्वसेवा करके अपनी कृतकृत्यता संपादन करें।

॥ यहां पंदरहवें अध्यायका मनन समाप्त ॥ १५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके

पंचदश अध्यायके सुभाषित ।

(१)

शाश्वत पदकी खोज ।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं ।

यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ॥ (गी. १५।४)

"उस पदको प्राप्त करना चाहिये, जहांसे वापस आना नहीं होता ।'

ऐसे स्थानपर बैठना चाहिये, जहांसे उठना न पडे । ऐसा स्थान प्राप्त करना चाहिये, जहांसे दूसरा कोई अपनेको न हटा देवे ।

(२)

आदिपुरुषकी उपासना ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्येत् ॥ (गी. १५।४)

"उस आदिपुरुषको शरण जाना चाहिये ।" आदि पुरुष परमात्माकी उपासना करना चाहिये ।

उपासना करनेके समय यह उपास्य आदि पुरुष है वा नहीं, इसका निश्चय करना चाहिये और वह आदिपुरुष होगा, तोही उसकी उपासना करनी चाहिये।

(३)

ज्ञानसे शाश्वत पदकी प्राप्ति ।

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ गी. (१५।५)

"जो मूढभावसे मुक्त होते हैं, वे अक्षय्य शाश्वत पदको प्राप्त करते हैं ।" अर्थात् ज्ञानसे ही शाश्वत पद मिलता है ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते

तद्धाम परमं मम। (गी. १५-६)

"जहां पहुंचनेपर वापस आना नहीं पडता वह श्रेष्ठ धाम है ।" अर्थात् जहां स्थानाभावके कारण रहनेका स्थान नहीं होता, वह श्रेष्ठ धाम नहीं कहलाता ।

(४)

अहंकी खोज ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । (गी० १५।१५)

"सब वेदोंसे 'अहं' की ही खोज की गयी है ।" मैं कौन हूं, इसकी खोज करनेके लिये ही सब शास्त्र लग गये हैं ।

(५)

उत्तम होनेका उपाय ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

(गी. १५।१८)

"क्षरभावसे परे और अक्षर-भावसे उत्तम

होनेसे वेदमें और लोकमें मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं।"

विनाशी होनेका कारण क्षर भाव दूर करने और अविनाशियोंमें (अक्षर भावमें) उत्तमता प्राप्त करनेसे सर्वोत्तमता (पुरुषोत्तम-भाव) की प्राप्ति होती है।

(६)

सर्वभावसे भक्ति।

सर्वविद्भजति सर्वभावेन। (गी. १५।१९)

'जो वस्तुको पूर्ण रूपसे जानता है, वही सर्व-भावसे उसका सेवन कर सकता है।"

जो जिसवस्तुको जितना जानता है, उतना ही उस वस्तु का वह उपयोग कर सकता है। अतः पूर्णका पूर्ण उपयोग करके पूर्ण लाभ प्राप्त करनेके लिये वस्तुका संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

(७)

कृतकृत्य होना।

गुह्यतमं शास्त्रं...बुद्ध्वा
बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च ॥

(गी. १५।२०)

"गुह्योंमें गुह्य (अध्यात्म) शास्त्र जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है।" अध्यात्मशास्त्र जाननेसे मनुष्य ज्ञानसंपन्न और कर्तृत्ववान् होता है।

श्रीमद्भगवद्गीताके

पन्द्रहवें अध्यायकी विषयसूची।



अथ षोडशोऽध्यायः ।

दैवासुरसंपद्विभागयोगः ।

(१) दैवी संपत्तिका स्वरूप ।

श्रीभगवानुवाच— अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच— अभयं, सत्त्वसंशुद्धिः, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः, दानं, दमः, च यज्ञः, च स्वाध्यायः, तपः, आर्जवं ॥ १ ॥ अहिंसा, सत्यं, अक्रोधः, त्यागः, शान्तिः, अपैशुनं, भूतेषु दया, अलोलुप्त्वं, मार्दवं, ह्रीः, अचापलं ॥ २ ॥ हे भारत ! तेजः, क्षमा, धृतिः, शौचं, अद्रोहः, नातिमानिता (इति एतानि लक्षणानि) दैवीं संपदं अभिजातस्य (पुरुषस्य) भवन्ति ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान् बोले–अभय, अन्तःकरणकी शुद्धता, ज्ञानमार्ग और योगमार्गमें विशेष स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् आत्मविद्याका अध्ययन, तप, सरलता, ॥ १ ॥ अहिंसा, सत्य, अक्रोध, (कर्मफल--) त्याग, शान्ति, चुगली न करना, भूतोंपर दया, अलोलुपता, मृदुता, (बुरे कर्म करनेकी) लज्जा, चंचलताका न होना, ॥२॥ हे भारतीय ! तेजस्विता, क्षमा, धृति, पवित्रता, द्रोह न करना, निरभिमानता, ये लक्षण दैवी संपत्ति लेकर उत्पन्न हुए मनुष्यमें होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो मनुष्य दैवी भावसे युक्त होता है, वह निर्भय होगा, उसका अन्तःकरण पवित्र होगा, ज्ञानयुक्त योगमार्गमें सदा रहेगा, उदार बुद्धिसे दान देगा, इन्द्रियदमन करेगा, यज्ञार्थ कर्म करेगा, आत्मा-अनात्माकी विद्याका अध्ययन करेगा, धर्ममार्गमें होनेवाले कष्ट वह सहेगा, सरलतासे वर्तेगा, किसीकी हिंसा नहीं करेगा, सत्यका पालन करेगा, कभी क्रोध नहीं करेगा, कर्मफलका त्याग करेगा, शान्तिसे रहेगा, चुगली नहीं करेगा, सब भूतोंपर दया करेगा, लोभ नहीं धारण करेगा, उसका हृदय मृदु होगा, कुकर्म करनेमें लज्जित होगा, चंचलताके कारण उसके कर्ममें बिगाड न होगा, वह तेजस्वी होगा, उसमें सहनशक्ति होगी अथवा वह क्षमाशील होगा, धैर्यवान् होगा, पवित्र आचार करेगा, कदापि द्रोह नहीं करेगा, अभिमान उसमें नहीं होगा । दैवी संपत्ति किसमें कितनी है, इसका निश्चय इन गुणोंके प्रमाणका विचार करनेसे हो सकता है ॥ १–३ ॥

(१-३) मनुष्य राक्षस न बने और देवतास्वरूप बने, इसलिये धर्मके नियम बनाये हैं। मनुष्यमें दो प्रकारके मानवी स्वभाव बने हैं। एक दैवी वृत्ति और दूसरी राक्षसी वृत्ति। सत्त्वगुणसे दैवी वृत्ति और रजोगुणसे राक्षसी वृत्ति बनती है। यह वृत्तियां शरीर और मनकी घटनामें ही जन्मसे बनी होती हैं और सहज बदलती भी नहीं। इसलिये आसुरी प्रवृत्तिवाला मनुष्य सहजही दैवी प्रवृत्तिवाला नहीं बन सकता, तथापि गुणोंका उत्कर्ष और अपकर्ष होना संभव है। यही कार्य धर्म करता है। दैवी प्रवृत्तिका उत्कर्ष करना और राक्षसी अथवा आसुरी प्रवृत्तिका नियंत्रण करके उसको मर्यादित और सात्त्विकतासे प्रभावित करना, यह धर्मका कार्य है। सब धर्मग्रंथोंमें इसी उद्देश्यसे सब आचारधर्म कहे होते हैं।

यहां पाठक पूछ सकते हैं, कि दैवी प्रवृत्ति और आसुरी प्रवृत्तिके लक्षण क्या हैं? इस मनुष्यमें दैवी भाव है या आसुरी भाव है, इसका निश्चय हम किस तरह कर सकते हैं? हरएक पाठक के मनमें ये प्रश्न आ सकते हैं, इस कारण इस अध्यायमें दैवी और आसुरी वृत्तियोंके लक्षणोंका विस्तृत विचार किया है। पाठक इस अध्यायका विशेष मनन करेंगे तो उनको अपने अन्दर कौनसी वृत्ति है, तथा अपने परिचितोंमें कौनसी वृत्ति है इसका निश्चय हो सकता है। अन्योंकी परीक्षा करनेकी अपेक्षा अपनी परीक्षा करना योग्य है और यह आत्मपरीक्षा हरएक मनुष्य कर सकता है। अब यहां दैवी वृत्तिका विचार किया जाता है—

दैवी वृत्तिके लक्षण।

इन तीन (श्लोक१से३ तक) श्लोकोंमें दैवी वृत्तिके छव्वीस लक्षण कहे हैं। केवल दैवी संपत्तिके छव्वीस ही लक्षण हैं और अधिक नहीं ऐसा नहीं है। इन छव्वीस लक्षणोंका विचार करनेसे अन्य लक्षणोंका बोध हो सकता है, अतः ये लक्षण मुख्य हैं ऐसा मान सकते हैं। इन छव्वीस दैवी लक्षणोंमें कई लक्षण व्यक्तिके अन्दर दीखनेवाले हैं, कई लक्षण सामाजिक व्यवहारमें अर्थात् एक मनुष्यके दूसरेके साथ होनेवाले व्यवहारमें दीखनेवाले हैं और कई ऐसे हैं कि जो व्यक्तिके तथा समाजके ऐसे दोनों व्यवहारोंमें दीखनेवाले हैं। जैसा—

(१) स्वाध्याय।

'स्व+अध्याय' अपनी सत्ताका अध्ययन, आत्माका ज्ञान प्राप्त करना, सद्विद्याध्ययन, सत्यविद्याका अभ्यास, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म इनका सत्यस्वरूप जाननेके लिये अध्ययन करनेका नाम स्वाध्याय है। अपने शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना, आत्मनिरीक्षण करना और अपने अन्दर जो दोष होंगे उनको दूर करना और अपने अन्दर सद्गुणोंका संवर्धन करना।

वस्तुतः 'स्व' अथवा 'आत्मा' का स्वरूप 'विश्व' ही है। भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें जो 'विश्वरूप' बताया है, वह आत्माका ही रूप है वही सच्चा 'स्व' है। इस विश्वरूपका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेका नाम स्वाध्याय है। अतः इसमें सब भौतिक और अभौतिक विद्याओंका समावेश होता है। कोई सत्यविद्या इससे बाहर नहीं रहती। जो भी कुछ मानवी हित के लिये ज्ञेय है, उस सबका इस स्वाध्यायमें अन्तर्भाव होता है।

यह स्वाध्यायसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान व्यक्तिमें रहता है अतः यह वैयक्तिक गुण है। राष्ट्रमें अनेक व्यक्तियां सत्य-ज्ञानयुक्त हुई, तो वह राष्ट्र अथवा वह समाज या जाति ज्ञानसंपन्न है ऐसा कहा जाता है। तथापि ज्ञान एक एक व्यक्तिमें रहता है, इसमें संदेह नहीं है।

स्वाध्याय करना भी व्यक्तिके कष्टोंपरहि अवलंवित है, तथापि जिस राष्ट्रमें ज्ञानप्रसारके केन्द्र अधिक होंगे, वहांका वायुमंडल ज्ञानग्रहणके लिये अनुकूल होगा और जहां ज्ञानियोंकी संख्या कम और ज्ञानप्रसारके केन्द्रोंकी न्यूनता होगी, वहांका वायुमंडल ज्ञानग्रहणके लिये प्रतिकूल होगा। इसी कारण मनुष्यमें वुद्धि प्रर्याप्त रहनेपर भी कई व्यक्तियोंको ज्ञान प्राप्त नहीं होता, जैसा भारतीय अन्त्यज, आफ्रिकाके निग्रो, इनमें कई लोग वुद्धिमान् भी होंगे तो भी उनको सत्यज्ञान प्राप्त होनेकी संभावना कम होनेसे ये लोग पीछे पडते हैं।

इस तरह 'स्वाध्याय' सर्वथा वैयक्तिक होनेपर भी ज्ञानप्रसारसुलभताकी अपेक्षासे उसमें सार्वजनिक भाव भी है, यह पाठक अवश्य देखें। इसका विचार करनेसे पाठकोंको विदित होगा, कि हरएक व्यक्तिका कर्तव्य स्वाध्याय करना होनेपर भी अपनी जातिमें ज्ञानग्रहणसुलभताके केन्द्र अधिकसे अधिक वनानेका यत्नभी ज्ञानियोंको करना उचित है।

(२) तप।

स्वाध्याय अथवा धार्मिक कर्तव्य करनेके समय जो कष्ट होंगे, उनको आनन्दके साथ सहनेका नाम तप है। स्वाध्याय कष्ट उठानेके विना हो नहीं सकता। धार्मिक कर्तव्यपालन कष्ट सहन करकेही हो सकता है। कोई पुरुषार्थ कष्टोंके सहन करनेके विना नहीं हो सकता। इस तरहके कष्ट सहन करनेका नाम तप है। शरीरका शीतोष्ण सहन करनेका सामर्थ्य वढाना तप है, मनकी शान्ति धारण करना तप है, दुष्ट न वोलना तप है। इस तरह अनेकविध तप मनुष्योंको करना होता है। इस विषयमें गीताके आदेश देखना योग्य है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते१५
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते१७
सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९
(भ. गी. १७)

शारीरिक तप।

देवोंकी पूजा करना, द्विजोंका सत्कार करना, गुरुजनोंका आदर करना, विशेष ज्ञानी लोगोंका संमान करना, पवित्रता करना, सरलता धारण करना, ब्रह्मचर्य पालन करना और अहिंसा पालन करना यह शारीरिक तप है।

वाचिक तप।

दूसरोंको उद्वेग न पहुंचानेवाला भाषण करना, जो सत्य हो प्रिय हो और हितकारक भी हो ऐसा भाषण करना, नित्य स्वाध्याय करना, यह वाङ्मय तप है।

मानसिक तप।

मनकी प्रसन्नता, मनकी सौम्यता अर्थात् कोमलता, मौन धारण करना, आत्मनिग्रह, मनके भावोंकी परिशुद्धता, यह मानसिक तप है।

सात्त्विक तप।

जो तप परम श्रद्धासे किया जाता है, उसके भी तीन भेद होते हैं। जो तप फलभोगकी इच्छा मनमें न धारण करते हुए किया जाता है, उसको सात्त्विक तप कहते हैं।

राजस तप।

जो वडे दंभसे किया जाता है, अपना सत्कार

होवे, अपना मान बढे और अपनी पूजा चारों ओर हो, इस उद्देश्यसे किया जाता है, उस अस्थिर और चंचल तपको राजस कहते हैं।

तामस तप।

मूढतासे, अपने आपको पीडा देकर जो किया जाता है, तथा जिसमें दूसरेका नाश करनेका उद्देश्य होता है, उसे तामस तप कहते हैं।

यहां इस तपके वर्णनमें पाठक देख सकते हैं कि जो यह तामस तप कहा गया है, उसमें दैवी भाग अत्यल्प है, आसुरी भावही इसमें बहुत है– इस तरहका तप दैवी संपत्तिमें नहीं आयेगा। निःसन्देह यह तप है, परंतु यह आसुरी भावसे युक्त है।

इस तरह विचार करके कौनसा तप इस दैवी संपत्तिमें लेने योग्य है, इसका निश्चय करना चाहिये। जो सात्त्विक तप है वही पूर्णतया दैवी संपत्तिमें अन्तर्भूत हो सकता है। इसके साथ साथ अहिंसा, शौच (पवित्रता), आर्जव (सरलता), सत्य, मार्दव (सौम्यत्वं), नातिमानिता, अचापल्य (अभ्रुवं) इत्यादि दैवी संपत्तिमें गिनाये लक्षण तपके विवरणमें भी आये हैं। यह देखकर ये लक्षण केवल साधारण कल्पना होनेके लिये गिनाये हैं, ऐसा स्पष्ट हो जाता है। जैसे तपमें ये दैवी संपत्तिके भाव आगये हैं, उसी तरह अन्यान्य दैवी लक्षणोंमें भी अन्य दैवी भावोंकी संकीर्णता दिखाई देगी। इसका कारण यह है कि ये लक्षण एक दुसरेसे अत्यंत पृथक् रह नहीं सकते। एक लक्षण होनेके साथ साथ अन्यान्य लक्षण भी साथ साथ होते ही हैं। जैसा 'अहिंसा' के साथ साथ 'मार्दव, दया, क्षमा' आदिका होना स्वाभाविक ही है। इसी तरह पाठक अन्यान्य लक्षणोंके विषयमें भी विचार करके जान सकते हैं।

(३) दम।

इन्द्रियदमन, मनःसंयम, आत्मसंयम इत्यादि भाव इसमें हैं। मनके वेगोंका शमन करना, मनके वेगोंको अपने आधीन रखना, अपनी भोगेच्छाको शान्त और नियमित करना, यह सब इस दममें आता है।

इस दम पर ही मनुष्यकी सभ्यता अवलंबित है। इस दम अर्थात् संयममें बडी शक्ति होती है। मानवी समाजकी उत्तम धारणा करनेका सामर्थ्य इसमें है। यदि किसी समाजमें दम कम होगा, तो उस समाजमें स्वैर भोगवृत्तिकी वृद्धि होगी और उस समाजका कभी धारण नहीं होगा। हरएक स्वैरभोगी व्यक्ति अलग अलग होगी और अन्तमें अदमशील समाज नष्ट होगा। अतः मानवी सभ्यता दमपर निर्भर है, ऐसा जानकर हरएक मनुष्य इंद्रियदमन करनेका प्रयत्न करे।

(४) सत्त्व-संशुद्धि।

अपने सत्त्वकी शुद्धता। अपने अन्दर जो शरीर मन बुद्धि आदिमें मल होते हैं, उनको दूर करनेका नाम सत्त्वकी पवित्रता है। पूर्ण पुरुष बननेके लिये सत्त्वकी पवित्रता चाहिये। जिसके सत्त्वकी पवित्रता हुई है, वह योग्य सोचेगा और योग्यही कर्म करेगा। उसके अन्दर अशुद्ध विचार आवेंगेहि नहीं। मलिनताके कारण अशुद्ध विचार मनमें आते हैं और अशुद्ध कर्म होते हैं, ये गिरावटके कारण हैं। अतः सत्त्वसंशुद्धिके लिये प्रयत्न होना चाहिये। संपूर्ण धर्मकर्मोंका उद्देश्य मनुष्यका सत्त्व परिशुद्ध करनाही है। सत्त्वसंशुद्धि करनेका साधन मुख्यतया ज्ञानयोगका आचरण है—

(५) ज्ञानयोगव्यवस्थिति।

ज्ञानयोग और कर्मयोगमें विशेष दृढतासे स्थिर रहना, अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोगका निश्चल वृत्तिसे आचरण करना, यह एकमात्र

मुख्य साधन सत्त्वकी शुद्धता होनेके लिये है।

तेहरवें अध्यायमें श्लोक ७ से ११ तक ज्ञान की व्याख्या की है, पाठक उसको यहां देखें। यही ज्ञानमार्ग है। कर्ममार्गका वर्णन अनेक स्थानों-पर भगवद्गीतामें है। उसको कर्ममार्ग कहते हैं। इस ज्ञानमार्ग और इस कर्ममार्गमें साधकोंकी सुस्थिति रहनाही उनके सिद्ध बननेका एकमात्र साधन है। ज्ञानियोंके लक्षण जो १३ वें अध्यायमें कहे हैं वे ये हैं—

ज्ञानके लक्षण।

१ अमानित्व, २ अदम्भ, ३ अहिंसा, ४ क्षमा, ५ सरलता, ६ गुरुसेवा, ७ पवित्रता-शुद्धता, ८ स्थिरता, ९ आत्मसंयम, १० इंद्रियविषयके संबंधमें वैराग्य, ११ अहंकार-घमंड न होना, १२ जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषोंका अनु-भव करना, १३ पुत्र-स्त्री-गृह आदिमें आसक्ति और ममत्व न हाना, १४ इष्टानिष्टके विषयमें समभावका धारण करना, १५ ईश्वरमें अनन्य भक्ति, १६ एकान्तसेवन, १७ जनसंघमें जानेके विषयमें अरुचि, १८ अध्यात्मज्ञान में नित्य मन को स्थिर करना, १९ तत्त्वज्ञानसे प्रत्यक्ष होने-वाले आत्माका दर्शन करना, इस सबको ज्ञान कहते हैं, इससे जो विपरीत होता है, उसको अज्ञान कहते हैं। (भ. गी. १३।७-११)

यहां १९ गुण ज्ञानके कहे हैं। दैवी संपत्तिका वर्णन करते हुए (अ. १६।१-३ में) २६ गुणों का कथन किया है। ये दोनों लक्षण परस्पर मिलते हैं। नातिमानिता, अहिंसा, क्षमा, (आर्जव) सरलता, (शौच) शुद्धता, स्थैर्य (स्थिरता-अचापल), दम (संयम), आदि तो दोनों स्थानोंमें एक जैसेही हैं, अन्य गुणभी परस्पर मिलनेवाले ही हैं। इस तरह जो ज्ञान है, वही दैवी संपत्ति है और जो दैवी संपत्ति है, वही ज्ञान है। अर्थात् आसुरी संपत्ति और अज्ञान ये समानार्थक शब्द बहुत अंशोंमें माने जा सकते हैं। अस्तु। ज्ञानयोगमें व्यवस्थितिका यह अर्थ है। जिस साधकमें दैवी संपत्तिका विकास होता है उसकी स्थिरता जैसी ज्ञानमें वैसीहि योगमें होती है।

(६) दान।

दानका अर्थ देना। जो अपने पास होगा उसका सबकी भलाईके लिये समर्पण करना दान है। हमारी स्थिति इस दानपर निर्भर है। गुरु विद्या का दान देता है, मातापिता अपनाही जीवन समर्पण करते हैं, इस तरह सैंकडों और हजारों ज्ञात अज्ञात मानवों और प्राणियोंपर हमारा अस्तित्व निर्भर है। यदि वे हमारे लिये दान न देंगे, तो हमारा जीवन समाप्त होगा। अकेला सूर्य उष्णता और जीवन न देगा, तो क्षणार्धमें हम मर जायगे। दूसरेसे कुछ लेकरही हम जीवित रहते हैं। इसी लिये प्रत्युपकारबुद्धिसे हमें उचित है कि हम अपनी शक्तिसे जितनी हो सकती है, सबकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करें। जो मनुष्य अत्यंत अल्प शक्तिवाला है, वह भी कुछ न कुछ विश्वसेवा कर सकता है। फिर जिसके पास ज्ञानधनादि विविध प्रकारका सामर्थ्य है वह उपकार करनेमें उसका व्यय करे, अवश्य आत्मशक्तिका दान करे, यह क्या कहनेकी आव-श्यकता है? अन्योंके दानसेहि जीवित रहनेवाले को उचित है कि वह भी आत्मसमर्पण अन्योंके लिये करे। परंतु यहां कोई अन्य अर्थात् दूसरा नहीं है। एकही आत्मसत्ता सर्वत्र है, एकही 'अहं' सर्व है, अतः न कोई दूसरोंसे दान लेता है और न कोई दूसरोंको दान दे सकता है। दूसरोंको दान देना यह भाषाही अशुद्ध और अज्ञानकी है। विश्वसेवाके लिये आत्मसमर्पण करनेका आशय स्वयं अपने लियेहि देना है। यहां सब अनन्य होनेसे दान न देना आत्मघात करना है, इस कारण आत्मघात टालनेके लिये

दान देना अत्यंत आवश्यक है । परंतु यह सत्पात्रमें देना चाहिये, अन्यथा कुपात्रमें दिया दान व्यक्ति की और समाज की निःसन्देह हानि करेगा ।

जिसमें दैवी संपत्ति विकसित हुई है, वह जानता है कि सत्पात्रमें दान देना किसका नाम है और कुपात्रमें क्यों दान नहीं देना चाहियें । दैवी संपत्तिवालेका स्वभाव सत्पात्रमें दान देना ही है । वह योग्य समय योग्य दान दिये विना नहीं रहेगा ।

(७) यज्ञ ।

यज्ञ एक ऐसी प्रक्रिया है कि जो सबके उद्धार का हेतु हो सकती है । यज्ञमें दान, कर्म, तप, स्वाध्याय, अहिंसा आदि सबका मिलान उत्तम रीतिसे होता है । यज्ञका नाम 'अध्वर' है, इसका अर्थ 'अहिंसा' किंवा 'अकुटिलता' है । यही यज्ञका मुख्य लक्षण है । हिंसा किसीकी न हो, किसीके साथ कुटिलताका व्यवहार न हो, यह वृत्ति यज्ञमें होती है । यज्ञके लिये तपकी आवश्यकता होती है, अहिंसा तो इस यज्ञका स्वरूपही है । अकुटिलता तो आर्जव (सरलता) का ही दूसरा नाम है । यज्ञसे तो अनेक अज्ञात व्यक्तियोंका लाभ होता रहता है । यहां हवन किया तो दूर दूरतक वायुशुद्धि होती है और उससे अनेक लाभ उठाते रहते हैं । योग्य स्थानपर सबकी भलाईके लिये कूवा खोदना यज्ञ है, उससे पानी निकालना कर्म है, उस पानीका दूसरोंको देना दान है, वहांकी पवित्रता- साफसफाई करना (शौच) शुद्धता है । इससे यज्ञ-दान-तपकी कल्पना पाठकोंको हो सकती है । 'यज्ञ दान तप ये कर्म कभी त्यागना नहीं चाहिये, ये सब अवस्थामें करने योग्य हैं, क्योंकि ये मानवोंकी पवित्रता करनेवाले हैं (गी. १८.५) यह गीताका कथन है । अपना जीवनही यज्ञमय बनाना चाहिये । अपनी सहज वृत्तिसे यज्ञही बनता रहे ऐसी शिक्षा मनुष्यको मिलनी चाहिये। यज्ञसे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनकी पवित्रता सिद्ध होती है ।

(८) आर्जव ।

आर्जवका अर्थ ऋजुता, सरलता, अकुटिलता, तेढेपनका न होना । यह भाव यज्ञके अर्थमें बतायाही है । इस तरह सरलता यज्ञका एक अंग है । अर्थात् अहिंसा और सरलताके विना यज्ञ बनता ही नहीं । अतः अहिंसाका भी यज्ञके साथ साथही विचार करना चाहिये ।

(९) अहिंसा ।

अहिंसाभी यज्ञकाही एक प्रमुख अंग है । अहिंसाका अर्थ है अपने द्वारा दूसरोंको किसी प्रकार कष्ट न पहुंचाना, अथवा कष्ट पहुंचानाही अपरिहार्य हो तो न्यूनसे न्यून कष्ट पहुंचानेका यत्न करना । अहिंसा सभ्यताकी परमावधिकी सीमा है । कौनसा समाज अधिक सभ्य है? ऐसा प्रश्न पूछनेपर उत्तर यही दिया जायगा कि जो अधिक अहिंसाका पालन कर सकता है, वही अधिक सभ्य है । आश्रमोंमें संन्यास और वर्णोंमें ब्राह्मण अधिक अहिंसा आचरणमें लाते हैं । अतः अन्योंकी अपेक्षा ये अधिक सभ्य समझे जाते हैं । हिंसाके अधिक होनेसे सभ्यता घटती है, क्योंकि हिंसा आसुरी वृत्तिका दुर्गुण है ।

(१०) अक्रोध ।

क्रोधका न होना अहिंसाके लिये अत्यंत आवश्यक है, क्रोधसेहि हिंसा होती है. क्रोध मनका भाव है, वही हिंसाके रूपसे बाहर परिणत होता है । कामकी असफलतासे क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोधसे हिंसा होती है, दूसरेका सकारण अथवा निष्कारण घातपात किया जाता है । इसलिये हिंसाको दूर करनेके लिये

क्रोधको शान्त करना चाहिये, अतः अक्रोधकी गणना दैवी संपत्तिमें की गई है, क्योंकि अक्रोधसेही अहिंसाकी सिद्धि होती है और अहिंसासे परम उच्च सभ्यता सिद्ध होती है। अतः मानवी परम उच्च सभ्यताको प्राप्त करनेका परम साधन अक्रोध है।

(११) अद्रोह।

अहिंसाकी सिद्धिके लिये द्रोहका न होना भी अत्यंत आवश्यक है। द्रोह करनेसे द्वेषवृद्धि बढ जाती है, जिससे क्रोध बढता और हिंसा भी होती है। इसी कारण द्रोहभावकी गिनती आसुरी वृत्तिमें होती है। अतः उन्नत होनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अद्रोहवृत्ति अपने अंदर बढावें और दैवी संपत्तिकी परिपुष्टता अपने अन्दर करें।

(१२) अपैशुन।

चुगली करनेकी वृत्तिका नाम पिशुनता है। एककी गुप्त बात बुरे भावसे दूसरे तक पहुंचाना और उससे अपने लाभका साधन करना चुगली का स्वरूप है। चुगलीखोरसे समाजमें अशांति फैलती है, एक दूसरेका घातपात करनेकी प्रवृत्ति बढती है और क्रोध बढकर हिंसक वृत्तिही फैलती है, जो मानवताकी हानि करती है, इस कारण पिशुनताको दूर करना आवश्यक है। यह कैसे किया जा सकता है? लोभको दूर करनेसेही होना संभव है, अतः अलोभका अंगीकार करना चाहिये।

(१३) अलोलुप्त्व।

निर्लोभवृत्तिका नाम अलोलुप्त्व है। अलोलुपता, लोलुप न होना, लोभका त्याग ये इसके आशय हैं। जो लोभी होता है, वही चुगली करके अपने लोभकी पूर्तिका साधन ढूंढता है। जिसे लोभही न होगा वह चुगली करेगा ही क्यों? कइयोंका स्वभावही चुगली करनेका होता है, परंतु इसकी जडमें देखा जाय तो स्वार्थ, लोभ अवश्य दीखेगा। अतः निर्लोभवृत्ति रही तो चुगली करनेका दुर्गुण दूर होगा और इससे आगेके दुष्परिणाम नहीं होंगे।

(१४) त्याग।

त्यागभावका अर्थ भोगत्याग है। स्वार्थी भोगोंका त्यागही सच्चा त्याग है। इसीका नाम कर्मफलत्याग है। फलभोगकी जो संगवृत्ति है, उसका त्याग करनाही बडा भारी साधन है। इस त्यागभावसे निर्लोभवृत्ति- अर्थात् अलोलुप्त्व-सिद्ध होता है और इसके पश्चात् क्रमसे अपैशुन, अक्रोध और अहिंसा सिद्ध होती है। अतः त्यागभावका महत्त्व उन्नतिकी साधनामें अधिक है। त्यागभावसेहि दैवी संपत्तिकी सिद्धता हो सकती है। जहां त्याग नहीं वहां आसुरी वृत्ति प्रबल है, ऐसा समझना चाहिये।

(१५) नातिमानिता।

अतिमानी होना योग्य नहीं है। अहंकार, घमंड, गर्व, मानीपन ये सब एकही भावके वाचक शब्द हैं। मनुष्यको आत्मसंमानकी रक्षा करना ही चाहिये। आगे 'तेजस्विता' आवश्यक है, ऐसा बतायेंगे। तेजस्वीपनके साथ आत्मसंमान जितना रह सकता है उतना तो मनुष्यको चाहिये। उससे जो अधिक अतिमानीपन है, अति घमंडी स्वभाव है, अत्यधिक अहंकार है, वह दूर करना चाहिये। अतिमानी मनुष्य अति क्रोधीभी होता है, अतिक्रोधी मनुष्य अपने क्रूरत्वके कारण अति हिंसक होता है। हिंसाका अर्थ दूसरेकी जीवहिंसा करना ही केवल नहीं है, परंतु दूसरेको चुभने योग्य बोलना भी हिंसा है। अतिमानी मनुष्य अपनी घमंडी वृत्तिके कारण दूसरोंको ऐसे शब्द बोलता है कि वे उसके हृदयसे चुभते हैं। अर्थात् अतिमानी मनुष्य परंपरया हिंसक होता है। अतः साधकको उचित है

कि वह अपने अन्दरसे अतिमानी वृत्ति कम करे, तेजस्विता रहने तक आत्मसंमानका भाव धारण करनेका विरोध यहां नहीं हुआ है, इतना पाठकोंको ध्यानमें धारण करना योग्य है।

(१६) भूतेषु दया।

अहिंसा शब्द हिंसाका न होना इतनाही निषेधका भाव बताता है। हिंसा न करने की अवस्थामें क्या करना चाहिये, यह 'अहिंसा' शब्दने नहीं बताया। वह पूर्णता 'भूतदया' शब्दने की है। भूतोंपर दया करनी चाहिये। यह अहिंसा के निषेधक भाव की विधायक पूर्णता है। अहिंसा तो पालन करना ही चाहिये, परंतु साथ साथ सबपर दयादृष्टि भी रखना चाहिये। अहिंसाने हिंसाका निषेध किया, परंतु कर्तव्य वस्तु का दर्शन नहीं कराया, परंतु भूतदया शब्दने अहिंसाकी स्थितिमें क्या करना चाहिये यह बतलाया। भूतदया विश्वसेवाका सच्चा स्वरूप है।

(१७) सत्य।

सत्य नाम परमेश्वरका है, सत्य ही सब दैवी संपत्तिका आधार है। सत्य ही विश्वका आधार है। सत्य नहीं तो कुछ भी नहीं है। अतः सत्यका तो ऐसा पालन करना चाहिये कि जिसमें कोई न्यूनता न रहे। जितनी अपनी शक्ति है उतनी लगा कर सत्यका पालन होना चाहिये। सत्य रहा तो सब अन्य दैवी संपत्तिके गुण रहेंगे। सत्यका पालन न हुआ तो कोई उन्नति नहीं होगी। सत्यका पालन ही धर्मका पालन है। सत्यपालन न हुआ ता आत्मघात होता है, असत्य बोलतेही वह अन्तरात्माको सताने लगता है। सत्य कहते ही ये क्लेश दूर हो जाते हैं। सत्यसे ही सब सिद्धियां मिलती हैं, अतः सत्यपालनका महत्त्व जान कर और आत्मोन्नति के लिये उसकी सहाय्यता देख कर हरएक साधकको सत्यपालनमें तत्पर होना योग्य है।

(१८) शौच [पवित्रता]

शुचिताका अर्थ पवित्रता है। यह अनेक प्रकारकी है। शारीरिक पवित्रता शुद्ध जलसे की जाती है, इंद्रियोंकी पवित्रता संयमसे होती है, मनकी शुद्धता सत्यसे होती है, बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है, तथा विद्या-तपसे आत्मशुद्धि होती है--

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥
(मनु० ५।१०९)

शुद्धिके अनेक साधन हैं, शुद्धता शरीरमें रही तो शरीर नीरोग होता है। शरीरमें मलसंचय हुआ तो विविध रोग होने लग जाते हैं। इसी तरह शुद्धतासे ही आसुरी वृत्ति दूर होकर दैवी भाव बढने लगते हैं।

(१९) ह्री।

बुरे कर्म करनेके लिये लज्जा होनी चाहिये। इसीका नाम ह्री है। इससे बुरे कर्मोंसे मनुष्य दूर रह सकता है, जिससे इसकी उन्नति होती है। जिस समय कुकर्म करनेमें इसको लज्जा नहीं होगी, उस समय यह असुर बना होगा। अर्थात् यह (ह्री) लज्जा कुप्रवृत्तिसे बचानेवाली है।

(२०) धृति।

धृतिका अर्थ धैर्य है। धर्मका कर्तव्य करनेके लिये किसीसे न डरनेका नाम धृति है। इस वृत्तिसे ही साधक अपने धार्मिक कर्तव्य निडर होकर करता रहता है। दैवी संपत्तिकी वृद्धि होनेके लिये इस वृत्तिकी अत्यंत आवश्यकता है। यदि यह धार्मिक कर्म करनेमें लज्जा करेगा और अधार्मिक कुकर्म करनेमें न डरेगा, तो इसमें आसुरी वृत्ति बढती जायगी। अतः यहांके धैर्यको केवल निडरता न समझते हुए अपने

शुद्ध धार्मिक कर्तव्य करने में जो निडरता आवश्यक है वही यह धृति है ऐसा मानना उचित है ।

(२१) क्षमा ।

क्षमा शब्दके दो अर्थ हैं । एक दूसरोंके अपराधोंकी शान्तिसे क्षमा करना और धर्मकर्म करनेके समय जो कष्ट होंगे उनको सहन करनेकी शक्ति अपनेमें धारण करना । ये दोनों गुण मनुष्यको अपनेमें बढाने चाहिये । दूसरे अर्थसे धर्मकर्म करनेकी अपनी शक्ति बढती है और पहिले अर्थको स्वीकार करनेसे निर्वैरता सिद्ध होती है । दोनों अर्थ सहाय्यक हैं ।

(२२) तेजः ।

तेजस्विता, तेजस्वी वृत्ति मनुष्यमें चाहिये, अपमान सहन करना नहीं चाहिये । अहिंसा, अक्रोध, क्षमा आदि शब्दोंसे तथा विशेषतः 'नातिमानिता' शब्दसे, तथा 'मानापमानयोः तुल्यः' इस वर्णनसे अपना अपमान सहन करना और दुःख कष्ट अपमान सहते जाना, ऐसा कई अर्थ मानते हैं और अपना अपमान हुआ तो वे सहते हैं, परंतु भगवद्गीताको यह अभीष्ट नहीं है । तेजस्विताके साथ नातिमानिता का संबंध देखना चाहिये । दैवी संपत्तिमें तेजस्विता रहनी है, आत्मसंमानके विना तेजस्विता कैसी रहेगी? अर्थात् तेजस्वीपन दैवी संपत्तिका प्रधान अंग है। मान-अपमानको तुल्य माननेका अर्थ इतनाही है कि संमान होने अथवा अपमान होनेपर अपना कर्तव्य न छोडना, दोनोंको समान मानकर अपना मन हतबल न होने देना चाहिये । जितने भी दैवी गुण हैं वे तेजस्विताके विरोधी नहीं हैं ।

(२३) अचापल ।

चपलताका अर्थ चंचलता है । इस क्षणमें एक करना, झट् दूसरे क्षणमें दूसराही करते जाना । किसी एक अनुष्ठानमें स्थिर न होनेसे कोई सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती । अतः चपलताका त्याग करके अनुष्ठानका स्थैर्य प्राप्त करना चाहिये । सिद्धिके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है ।

(२४) मार्दव ।

हृदयकी कोमलता । दूसरेकी हिंसा करनेके समय मनकी कठोरता कार्य करती है, कोमलता—मार्दव—रहा तो हिंसा, क्रौर्य, द्रोह हो ही नहीं सकते । मृदुतासे कई आसुरी कठोर वृत्तियां दूर होती हैं, इस लिये यह कोमलता सहाय्यक होती है ।

(२५) अभय ।

निर्भयता तो पूर्वोक्त गुणोंके साथ प्राप्त होनेवाली है । जो सत्य पालन करता है, जो द्रोह नहीं करता, जो पवित्र होता है, वह निर्भय होता है । यह तो बाहरसे प्राप्त होनेवाली अभयता है । परंतु यहां जो अभय कहा है वह इससे दूसरोंको प्राप्त होनेवाला है । यह साधक सबको अभय देवे । जिससे सबकी ओरसं यह अभय प्राप्त कर सकता है । धर्माचरण करनेके समय मनुष्य निर्भय रहे, किसीसे न डरे । सत्यपालनके लिये किसीसे न डरे । यह किसीसे भयभीत न होवे और इससे किसीको भय प्राप्त न होवे । इस तरह की निर्भय वृत्ति दैवी संपत्तिका परमविकास होनेके पश्चात् ही सिद्ध होगी ।

(२६) शान्ति ।

पूर्णतासे शान्ति प्राप्त होगी । यही सच्ची अन्तर्बाह्य शान्ति है । न इसका वैर कोई करेगा और न यह किसीका वैर करेगा । जगत् में अशान्ति कितनी भी रहे यह साधक परम शान्तिसे युक्त होगा । क्योंकि इसकी शान्ति हटानेका कोई कारण इसके पास आवेगा ही नहीं । यही पूर्णता का लक्षण है ।

इस तरह दैवी संपत्तिके ये लक्षण हैं । ये

लक्षण केवल सूचना मात्र हैं। और कई लक्षण हैं जो यहां दिये नहीं हैं। महाभारत के शान्ति-पर्वमें कई दैवी गुणोंका वर्णन है वह यहां देखने योग्य है-

दम का वर्णन।

दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनाः ॥ ७ ॥
नादान्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते ॥ ८ ॥
दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम्।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत्॥९॥

दम–लिंगानि।

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥१५॥
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः प्रियवादिता।
अविहिंसाऽनसूया चाप्येषां समुदयो दमः॥१६॥
गुरुपूजा च कौरव्य दया भूतेष्वपैशुनम्।
जनवादमृषावादस्तुतिनिन्दाविसर्जनम् ॥ १७ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम्।
रोषमीर्ष्यावमानं च नैव दान्तो निषेवते॥१८॥
अनिन्दितो ह्यकामात्मा नाल्पेष्वर्थ्यनसूयकः।
समुद्रकल्पः स नरो न कथंचन पूर्यते ॥ १९ ॥
एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं दमसंयुक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ३४ ॥
म० भा० शान्ति, अ० १५८

दम का वर्णन करते हुए भीष्मपितामह युधिष्ठिरसे कहते हैं— 'दम निःसंदेह मोक्ष देनेवाला है। जो दम पालन नहीं करेगा उसको कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। दान यज्ञ और अध्ययन से दमका महत्त्व अत्यंत अधिक है। दमसे तेज की वृद्धि होती है, पवित्रता रहती है, दमसे मनुष्य निष्पाप होकर महत्फल को प्राप्त होता है।' दम सिद्ध होनेसे जो लक्षण दीखते हैं वे ये हैं— 'क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, इंद्रियजय, दक्षता, मृदुता (कोमलता), ह्री (कुकर्मके विषयमें लज्जा), अचापल्य (स्थैर्य), कृपणताका न होना, ढोंगका न होना, संतोष, प्रियभाषण, असूया का न होना, गुरुका सत्कार करनेकी बुद्धि, भूतदया, चुगली न करना, वृथा वादविवाद न करना, व्यर्थ स्तुतिंनिंदा करते न बैठना ये सब लक्षण दमके होनेसे दीखते हैं।' इनसे पता लग सकता है, कि इस मनुष्यमें दम है और इसमें नहीं है।

'जो दमयुक्त है वह काम, क्रोध, लोभ, गर्व, निंदा, ईर्ष्या, तथा दूसरोंका अपमान कभी नहीं करता। दमयुक्त मनुष्य समुद्रके समान गंभीर रहता है। इस दममें एकही एक दोष है, वह यह कि दमयुक्त मनुष्यको सामान्य जन अशक्त समझते हैं। इसको छोडकर दममें कोई दोष नहीं है'। अब तपके विषयमें देखिये—

तप।

सर्वमेतत्तपोमूलं कवयः परिचक्षते।
न ह्यतप्ततपा मूढः क्रियाफलमवाप्नुते ॥ १ ॥
प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत्प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥
तपसैव ससर्जान्नं फलमूलानि यानि च।
त्रीं लोकांस्तपसा सिद्धाः पश्यन्ति सुसमाहिताः ॥ ३ ॥
औषधान्यगदादीनि तिस्रो विद्याश्च संस्कृताः।
तपसैव हि सिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ॥ ४ ॥
यद्दुरापं दुराराध्यं दुराधर्षं दुरुत्सहम्।
तत्सर्वं तपसा शक्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ ५ ॥
ऐश्वर्यं ऋषयः प्राप्तास्तपसैव न संशयः।
अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात्परम् ॥८॥
ऋषयः पितरो देवा मनुष्या मृगपक्षिणः।
यानि चान्यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ११ ॥

तपः परायणाः सर्वे सिध्यन्ति तपसा च ते ।
इत्येवं तपसा देवा महत्त्वं प्रतिपेदिरे ॥ १२ ॥
इमानीष्टविभागानि फलानि तपसा सदा ।
तपसा शक्यते प्राप्तुं देवत्त्वमपि निश्चयः ॥ १३ ॥
(म० भा० शां० अ० १५९)

"सबका मूल तप है। तप कियेविना किसीको भी कुछ फल प्राप्त नहीं होता। प्रजापतिने भी तपसेही इस सबको उत्पन्न किया। ऋषियोंको तपसे ही वेद प्राप्त हुए। फल मूल अन्न सब कुछ तपसेही प्राप्त किया जाता है। तपसे ही सिद्ध हुए महात्मा तीनों लोकोंका साक्षात्कार करते हैं। औषधियां दवाइयां तथा तीनों विद्याएं तपसेहि सिद्ध होती हैं। तपही सबका साधन है। जो दुष्प्राप्य है, जो दुराराध्य है, जो सिद्ध होना कठिन है और जिसके विषयमें उत्साहभंग होता है वह सब तपसे सिद्ध होता है। ऋषियोंने तपसेहि ऐश्वर्य प्राप्त किया था। अहिंसा, सत्यभाषण, दान, इंद्रियनिग्रह, इनसे भी तप श्रेष्ठ है। अनशन अर्थात् भोगसे दूर रहना ही श्रेष्ठ तप है। ऋषि, पितर, देव, मनुष्य, पशु पक्षी और जो भूत है वे सब तपसेहि सिद्धिको प्राप्त होते हैं। देवोंका जो महत्त्व है वह उनको तपके कारणहि प्राप्त हुआ है। संपूर्ण इष्ट फल तपसेही प्राप्त हो सकते हैं। तपसे मनुष्य देवत्व का भी प्राप्त कर सकते हैं।

तपके विषयमें यह लिखा है। इससे तपका महत्त्व पाठकोंको विदित हो सकता है। तपकी गणना दैवी संपत्तिमें क्यों हुई है इसका यह कारण है। सब उन्नतियां तपसे ही सिद्ध होनेवाली है। अब सत्यका वर्णन देखिये—

सत्य ।

धर्मः साधारणः सत्यं सर्ववर्णेषु भारत ॥ ३ ॥
सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः ।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥ ४ ॥
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्
॥ ५ ॥
सत्यं त्रयोदशविधं सर्वं लोकेषु भारत ॥ ७ ॥
सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता
॥ ८ ॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश
॥ ९ ॥
आत्मनीष्टे तथाऽनिष्टे रिपौ च समता तथा ।
इच्छाद्वेषं क्षयं प्राप्य कामक्रोधक्षयं तथा ॥ ११ ॥
दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च ।
अशाठ्यं क्रोधदमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते ॥ १२ ॥
अमात्सर्यं बुधाः प्राहुर्दाने धर्मे च संयमः ।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत्
॥ १३ ॥
अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च ।
क्षमते सर्वतः साधुस्ततः प्राप्नोति सत्यताम्
॥ १४ ॥
त्यक्तस्नेहस्य यस्त्यागो विषयाणां तथैव च ।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा ॥ १७ ॥
आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः ।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च ॥ १८ ॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥
एते त्रयोदशाकाराः पृथक्सत्यैकलक्षणाः ।
भजन्ते सत्यमेवेह बृंहयन्ते च भारत ॥ २२ ॥
नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
स्थितिर्हि सत्य धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्
॥ २४ ॥
(म० भा० शांति. १६०)

सर्वसाधारण मानवोंका धर्म सत्यपालन ही है। सत्यही सनातन धर्म है। सत्यही परम गति है। सत्यही धर्म, तप, योग, सनातन ब्रह्म, तथा यज्ञ है क्योंकि सत्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित हुआ है। यह सत्य तेरह प्रकारका है—

(२) आसुरी विपत्तिका रूप।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

अन्वयः— हे पार्थ! दम्भः, दर्पः, अभिमानः च, क्रोधः, पारुष्यं, एव च, अज्ञानं च (एतानि लक्षणानि) आसुरीं संपदं अभिजातस्य (पुरुषस्य भवन्ति) ॥ ४ ॥

हे अर्जुन! दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञानये दुर्गुण आसुरी संपत्तिके साथ उत्पन्न हुए मनुष्यमें होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थः— आसुरी भाववाले मनुष्यमें ढोंग, बडाई, अभिमान, क्रोध, क्रूरता तथा अज्ञान होता है। इन गुणोंके प्रमाणसे किस पुरुषमें कितना आसुरी भाव है इसका ज्ञान हो सकता है ॥ ४ ॥

समता, दम, मत्सर न करना, क्षमा, ह्री (कुकर्म करनेकी लज्जा), तितिक्षा (सहनशक्ति), अनसूयता (दूसरेका उत्कर्ष देखकर संतोष होना), त्याग, ध्यान, आर्यत्व, धृति (धैर्य सत्कर्म करनेमें), दया, अहिंसा ये तेरह सत्यके रूप हैं। आप-पर, इष्ट-अनिष्टके विषयमें समता अर्थात् निर्विकार होना, इच्छाद्वेषका और काम-क्रोधका क्षय करके, इंद्रियोंका दमन करना, गंभीरता, धैर्य, शठता न करना, आदि ज्ञानसे सिद्ध होते हैं। मत्सर न करना, संयम करना, दानधर्ममें रुचि ये सब सत्यके पालनसे हो सकते हैं। क्षमा-अक्षमा, प्रिय-अप्रिय इनके विषयमें निर्विकार समता स्थिर होनेसे सत्यका पालन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। भोगासक्ति छोडकर, रागद्वेषोंको दूर करके जो विषयोंका त्याग होता है वही सच्चा त्याग है। आर्यता उसका नाम है कि जिससे सब भूतोंका भला करनेके लिये सतत निरलस प्रयत्न होता है और भोगेच्छाका त्याग होता है। अद्रोह वह है जिससे सब प्राणियोंपर मन वाणी और कर्म द्वारा अनुग्रह किया जाता है, दान दिया जाता है, वह सज्जनोंका सनातन धर्म ही है। ये तेरह सत्यके लक्षण हैं। इनसे सत्यका पालन और सत्यधर्मकी बधाई होती है। अतः सत्य से बडा कोई धर्म नहीं है, और अनृतसे घोर पातक दूसरा कोई नहीं है। धर्मका आधार सत्य ही है, इस कारण सत्यका लोप करना किसीको भी उचित नहीं है।"

इस तरह सत्यकी महिमा वर्णन की है। अस्तु। यहां पाठकों के ध्यानमें यह बात आगयी होगी कि सत्य दम, तप आदि के वर्णनोंमें अहिंसा अनसूया, क्षमा, त्याग, संयम आदि आचुके हैं। इसका कारण यह है कि इन दैवी गुणोंका पर-स्पर संबंध इतना घनिष्ट है कि किसीको लेनेसे उसके साथ अन्यान्य गुण स्वयं ही आते हैं, इनमेंसे किसी एकको हि केवल लेना असंभव है। धर्मानुष्ठानसे जो सद्गुण आते हैं वे समूहसे आते हैं, अकेला अकेला कोईभी नहीं आ सकता। इसी तरह पतित होनेपर जब सद्गुण जाने लगते हैं, तबभी अकेला अकेला नहीं जाता, प्रत्युत समूहसे ही जाते हैं। अतः साधक को सावधान रहना चाहिये और ऐसा अनुष्ठान करना चाहिये कि जिससे दैवी संपत्तिके शुभगुण अपनेमें बढते जांय। अब आसुरी भावका स्वरूप देखिये-

(४) दैवी संपत्तिवाले मनुष्यमें दंभ नहीं होता, गर्व नहीं होता, घमंड नहीं होती, क्रोध नहीं होता, निष्ठुरता नहीं होती, इसका कारण उसमें सत्यज्ञान होता है। आसुरी वृत्तिवाले मनुष्यमें सत्यज्ञान नहीं होता, इस कारण इसमें दंभ, गर्व, अहंकार, क्रोध, क्रौर्य आदि राक्षसी दुर्गुण होते हैं। इनको देखनेसे किस मनुष्यमें कितनी असुरता है इसका निश्चय किया जा सकता है। यहां दैवी और आसुरी वृत्तियोंका अधिक निरीक्षण करना चाहिये, अतः पूर्वोक्त दैवी गुणोंके विरोधी आसुरी भाव कौनसे हैं ये देखेंगे—

दैवी भाव	आसुरी भाव
अभय	भय
सत्त्वसंशुद्धि	सत्त्वकी मलीनता
ज्ञानव्यवस्थिति	अज्ञानी स्थिति
योगव्यवस्थिति	योगहीनत्व
दान	अदातृत्व
दम, संयम	स्वैरवृत्ति
यज्ञ	यज्ञ न करना
स्वाध्याय	आत्मपरीक्षा न करना
तपः	तप न करना.
आर्जव (सरलत्व)	कुटिलता, तेढापन
अहिंसा	हिंसा, घातपातवृत्ति
सत्य	असत्य
अक्रोध	क्रोध, क्रौर्य
त्याग	भोग
शान्ति	अशान्ति
अपैशुन	पिशुनता (चुगलीखोरी)
भूतदया	निर्दयता
निर्लोभ	लोभ
मार्दव	कठोरता
ह्री	निर्लज्जा
अचापल्य	चापल्य
स्थैर्य	चांचल्य
तेजस्विता	निस्तेजता
क्षमा	क्षमा न करना
धैर्य	भीरुता
शुद्धता	अपवित्रता
अद्रोह	द्रोह
नातिमानिता	अतिमानिता
ज्ञान	अज्ञान
मोक्ष	बद्धता
निष्पापता	पापाचारप्रवृत्ति
समता	विषमता
इंद्रियजय	इंद्रियस्वैरता
दक्षता	अदाक्षिण्य
अकार्पण्य	कृपणता
असंरम्भ	संरम्भ
संतोष	असंतोष
प्रियवादिता	अप्रिय भाषण
अनसूया	असूया
गुरुपूजा	गुरुद्रोह
वाद न करना	मृषावाद
निष्कामता	कामीपन
निर्लोभता	लोभीपन
निगर्वता	दर्प
ईर्ष्या न करना	ईर्ष्या
अपमान न करना	अपमान करना
अनिन्दा	निंदा करना
गंभीरता	क्षुद्रता
भोगविषयमें संयम	भोगीपन
तितिक्षा	तितिक्षा का न होना
ध्यानसिद्धि.	ध्यानसिद्धि न होना,
आर्यत्व	अनार्यत्व
दया	निर्दयता
प्रेमभाव	निष्ठुरता
इच्छाद्वेषक्षय	इच्छाद्वेषवृद्धि
कामक्रोधक्षय	कामक्रोधवृद्धि
अशाठ्य	शठता
संयम	असंयम
त्यक्तस्नेह (ममता रहित)	धृतस्नेह (ममता युक्त)

विषयत्याग	विषयभोग
रागद्वेषहीन	रागद्वेषयुक्त

पूर्वोक्त दैवी संपत्तिके विवेचन में जो दैवी संपत्तिके गुण बताये हैं उनसे अनुमान करके जाने जानेवाले ये आसुरी दुर्गुण हैं। इनका विचार करनेसे पाठकोंको दैवी संपत्ति कौनसी है और आसुरी विपत्ति कौनसी है इसका ज्ञान हो सकता है। यहां यद्यपि बहुतसे दोनों ओरके गुणावगुण बताये हैं तथापि इनका विचार करनेपर अन्यान्य बहुतसे दोनों ओरके गुणावगुण ध्यानमें आसकते हैं। पाठक इस तरह अधिक विचार करके दैवी संपत्ति और आसुरी विपत्ति का स्वरूप विस्तारसे जाननेका यत्न करें।

यहां प्रारंभमें दैवी संपत्तिका वर्णन करते हुए २६ दैवी गुणोंकी गणना की है और आसुरी वृत्तिका वर्णन करनेके प्रसंगमें केवल ६ ही अवगुणोंका दिग्दर्शन किया है। वास्तवमें आसुरी भाव थोडे नहीं हैं तथापि आसुरी अवगुणोंका वर्णन जानबूझ कर थोडा किया है। इसका हेतु यह है कि दुष्ट गुणोंका चिन्तन भी अधिक नहीं करना चाहिये।

मनुष्यका मन ऐसा है कि जिसका चिन्तन वह करता है उसके गुणधर्मोंसे युक्त वह हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार भगवद्गीता को उचित ही था कि वह सद्गुणोंका वर्णन विस्तारसे करे और दुर्गुणोंका वर्णन केवल दिशामात्र करके छोड देवे। इसी तरह यहां किया है। तथापि आगे आसुरी वृत्तिके भयानक परिणाम इसी अध्यायमें श्लोक० ६ से २० तक बताये हैं, इसका कारण यह है कि पाठक इस भयानक परिणामको देखकर अपने आपको आसुरी प्रवृत्तिसे बचावे।

भगवद्गीतामें दैवी और आसुरी इन दोही भावोंका वर्णन किया है परंतु गणेशगीतामें दैवी-आसुरी-राक्षसी ऐसे तीन वृत्तियोंका वर्णन है। उसका यहां संबंध होनेसे वह वर्णन यहां देखिये-

दैव्यासुरी राक्षसी च प्रकृतिस्त्रिविधा नृणाम्।
तासां फलानि चिह्नानि संक्षेपात्तेऽधुना ब्रुवे ॥
(ग० गी० १०।१)

अपैशुन्यं दयाऽक्रोधोऽचापल्यं धृतिरार्जवम्।
तेजोऽभयमहिंसा च क्षमा शौचममानिता ॥३॥
इत्यादि चिह्नमाद्याया आसुर्याः शृणु सांप्रतम्।
अतिवादोऽभिमानश्च दर्पोऽज्ञानं सकोपता ॥४॥
आसुर्या एवमाद्यानि चिह्नानि प्रकृतेर्नृप ।
निष्ठुरत्वं मदो मोहोऽहंकारो गर्व एव च ॥ ५ ॥
द्वेषो हिंसाऽदया क्रोध औद्धत्यं दुर्विनीतता ।
आभिचारिक कर्तृत्वं क्रूरकर्मरतिस्तथा ॥ ६ ॥
अविश्वासः सतां वाक्येऽशुचित्वं कर्महीनता ।
निन्दकत्वं च वेदानां भक्तानामसुरद्विषाम् ॥७॥
मुनिश्रोत्रियविप्राणां तथा स्मृतिपुराणयोः ।
पाखण्डवाक्ये विश्वासः संगतिर्मलिनात्मनाम्
॥ ८ ॥
सदम्भकर्मकर्तृत्वं स्पृहा च परवस्तुषु ।
अनेककामनावत्त्वं सर्वदाऽनृतभाषणम् ॥ ९ ॥
परोत्कर्षासहिष्णुत्वं परकृत्यपराहतिः ।
इत्याद्या बहवश्चान्ये राक्षस्याः प्रकृतेर्गुणाः॥१०॥
(गणेशगीता अ० १०)

'मनुष्योंकी दैवी आसुरी और राक्षसी ऐसी तीन प्रकारकी प्रकृति होती है, उनके चिह्न संक्षेपसे ये हैं-

दैवी प्रकृतिके लक्षण ।

चुगली न करना, दया, अक्रोध, अचापल्य (स्थैर्य), धैर्य, सरलस्वभाव, तेजस्वीपन, निर्भयता, अहिंसा, क्षमा, शुद्धता, अमानिता ये लक्षण दैवी वृत्तिके हैं ।

आसुरी प्रकातिके लक्षण ।

अतिवाद (बहुत वाद करना), अभिमान, दर्प (घमंड), अज्ञान, क्रोध ये आसुरी वृत्तिके लक्षण हैं ।

(३) दैवी और आसुरी प्रकृतिके फल।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

अन्वयः— दैवी संपत् विमोक्षाय, आसुरी (संपत् च) निबंधाय मता। हे पाण्डव! (त्वं) दैवीं संपदं अभिजातः असि, मा शुचः ॥ ५ ॥

दैवी वृत्ति बंधनसे छुडानेवाली और आसुरी वृत्ति बंधनमें डालनेवाली है ऐसा माना जाता है। हे पाण्डुके पुत्र! तू दैवी संपत्तिसे युक्त पैदा हुआ है, अतः शोक मत कर ॥ ५ ॥

भावार्थः— दैवी भाव बंधनका नाश करता है और आसुरी भाव बंधन बढाता है। जो दैवी भावसे युक्त है वह कर्तव्य करनेके समय विषाद न करे, क्योंकि उसका कर्म उसे बंधनसे मुक्त करनेवाला होगा ॥ ५ ॥

राक्षसी प्रकृतिके लक्षण।

निष्ठुरता, मद, मोह, अहंकार, गर्व, द्वेष, हिंसा, निर्दयता, क्रोध, औद्धत्य, नम्रता का न होना, घातपात करना, क्रूर कर्ममें प्रीति, सद्वाक्यमें अरुचि, अपवित्रता, कर्महीनता (हीन कर्म करना), वेदोंकी निन्दा करना, देवोंके भक्तोंकी निन्दा करना, मुनिश्रोतिय विप्र तथा स्मृतिपुराणों की निंदा करना, पाखण्डवाक्यपर विश्वास, मलिनात्माओंकी संगति, दम्भके साथ कर्म करना, परद्रव्य का अपहार करना, अनेक कामनाओंका धारण करना, सदा असत्य भाषण करना, दूसरेकी उन्नतिको देखकर बुरा लगना, दूसरेके प्रारंभ किये कर्मोंमें विघ्न करना इत्यादि राक्षसी वृत्तिके लक्षण हैं।

इस तरह गणेशगीताने मानवी स्वभावके तीन विभाग किये हैं। तथापि आसुरी और राक्षसी वृत्तियोंको एकही कोष्टकमें गिन कर मानवी स्वभावके दोही विभाग मानना योग्य है, क्योंकि आसुरी और राक्षसीमें अधिक तारतम्य देखनेकी कोई आवश्यकता दीखती नहीं।

इस तरह आसुरी तथा राक्षसी वृत्तिवालोंका वर्णन पाठक देखें और ये दुर्गुण अपने अन्दर यदि हों तो उनको दूर करनेका यत्न करें, तथा दैवी गुणोंकी अपनेमें वृद्धि करनेका अनुष्ठान करते रहें। प्रयत्न करनेपर उन्नति हो सकती है। मनुष्योंको दैवी भाव ये हैं और आसुरी तथा राक्षसी भाव ये हैं ऐसा यहां इसी लिये कहा है कि मनुष्य स्वयं अपनी परीक्षा करें, अपने अन्दरके गुणदोष देखें, और अपना स्थान कहां है इसका निश्चय करें। तथा अपने अन्दरके आसुरी गुणोंको कम और दैवी गुणोंको अधिक करनेका अनुष्ठान करें। इस तरह क्रमशः करनेसे मनुष्यकी आसुरी तथा राक्षसी भावसे मुक्तता होकर उसके अन्दर दैवी भावकी स्थिरता हो सकती है। इसीका नाम नरका नारायण होना है, तथा--

तपसा शक्यते प्राप्तं देवत्वमपि निश्चयः।
(म० भा० शां० १५९)

'तपसे देवत्व प्राप्त होता है' ऐसा जो कहा है, उसकी प्रत्यक्षता इस पद्धतिसे दीख सकती है। अब दैवी तथा आसुरी वृत्तिके फल देखिये-

(५) दैवी वृत्तिसे बंधन की निवृत्ति होती है

(४) आसुरी विपत्ति।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

अन्वयः— हे पार्थ! अस्मिन् लोके दैवः आसुरः च एव द्वौ भूतसर्गौ (स्तः, तत्र) दैवः विस्तरशः प्रोक्तः, आसुरं मे शृणु ॥ ६ ॥ आसुराः जनाः प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च न विदुः, तेषु च न शौचं, न आचारः, न अपि सत्यं विद्यते ॥ ७ ॥ इदं जगत् असत्यं, अप्रतिष्ठं, अनीश्वरं, अपरस्परसंभूतं, काम हैतुकं (च अस्ति), अन्यत् किं (इति ते) आहुः ॥ ८ ॥ एतां दृष्टिं अवष्टभ्य नष्टात्मानः, अल्पबुद्धयः, उग्रकर्माणः, अहिताः जगतः क्षयाय प्रभवन्ति ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! इस लोकमें दैवी और आसुरी यह दो प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न हुई है, इसमें दैवी सृष्टिका वर्णन विस्तारसे कहा गया है, अब आसुरी सृष्टिका वर्णन मुझसे सुन ॥ ६ ॥ आसुरी लोग प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते, उनमें पवित्रता नहीं होती, सदाचार नहीं होता और नाही सत्य होता है ॥ ७ ॥ यह जगत् असत्य है, निराधार है और यहां कोई परमेश्वर नहीं है, तथा परस्परसंबंधके विना ही यहां सब उत्पत्ति होती है, इसलिये विषय-भोग को छोडकर इसका कोई हेतु नहीं है, ऐसाभी वे कहते हैं ॥ ८ ॥ इस प्रकारकी दृष्टिको स्वीकार करनेवाले, नष्टात्मा, मन्दमति, भयानक कर्म करनेवाले, और सबका अहित करनेवाले जगत् का विनाश करनेके लिये ही उत्पन्न हुए होते हैं ॥ ९ ॥

और आसुरी तथा राक्षसी वृत्तिसे बंधन बढते जाते हैं। इस लिये साधकको उचित है कि वह आसुरी वृत्तिसे दूर रहनेका और दैवी वृत्तिको अपने अन्दर बढानेका यत्न करे।

जो साधक दैवी वृत्तिसे युक्त हों वे अपने आपको आसुरी वृत्तिके प्रलोभनमें न फंसावें। क्योंकि आसुरी वृत्तिसे मनुष्य गिरताही है। साधकको इस आसुरी वृत्तिको एक वार जान कर इससे सावध रहना चाहिये। अतः इसका वर्णन देखिये—

कामममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १० ॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

अन्वयः-दुष्पूरं कामं आश्रित्य,मोहाद् असद्ग्राहान् गृहीत्वा,अशुचिव्रताः दंभमानमदान्विताः प्रवर्तन्ते ॥१०॥(ते) अपरिमेयां प्रलयान्तां चिन्तां उपाश्रिताः कामोपभोगपरमाः, एतावत् इति निश्चिताः ॥ ११ ॥ (ते) आशापाशशतैः बद्धाः, कामक्रोधपरायणाः, कामभोगार्थं अन्यायेन अर्थसंचयान् ईहन्ते ॥ १२ ॥ अद्य इदं मया लब्धं, इमं मनोरथं (श्वः) प्राप्स्ये, इदं (धनं अधुना) अस्ति, (इदं) अपि धनं च मे पुनः भविष्यति ॥ १३ ॥ असौ शत्रुः मया हतः, अपरान् अपि च हनिष्ये, अहं ईश्वरः, अहं भोगी, अहं सिद्धः, बलवान् सुखी (च अहं अस्मि) ॥ १४ ॥

कभी तृप्त न होनेवाली कामनाओंको धारण करनेवाले, मोहसे अनेक दुष्ट इच्छाओंको धारण करके, अशुद्ध आचरण करनेवाले दम्भी, मानी और मदान्ध लोग कर्म करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥ प्रलय होनेतक समाप्त न होनेवाली अपरिमित चिन्ताओंसे ग्रसे हुए, काम-भोगोंको ही परम माननेवाले, कामभोगको ही सर्वस्व माननेवाले ये होते हैं ॥ ११ ॥ सैकडों आशाओंके जालोंसे बंधे हुए, कामी और क्रोधी, अपने उपभोगके लिये अन्यायसे ही बहुतसा धनसंचय करते हैं ॥ १२ । आज मैंने यह प्राप्त किया, उस मनोरथ को कल प्राप्त करूंगा, यह धन इस समय मेरे पास है और यह धन मेरे पास कल हो जायगा ॥ १३ ॥ इस शत्रुको मैंने मारा है, इसी तरह अन्य शत्रुओंको भी मैं मारूंगा, मैं ही ईश्वर हूं, मैं ही भोगी हूं, मैं सिद्ध हूं और मैं ही बलवान् तथा मैं ही सुखी हूं ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

अन्वयः–आढ्यः अभिजनवान् अस्मि, मया सदृशः कः अन्यः अस्ति ? (अहं) यक्ष्ये, दास्यामि, मोदिष्ये, इति अज्ञानविमोहिताः ते (सन्ति) ॥ १५ ॥ अनेकचित्तविभ्रान्ताः मोहजालसमावृताः कामभोगेषु प्रसक्ताः, ते अशुचौ नरके पतन्ति ॥ १६ ॥ आत्मसंभाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः, ते दम्भेन अविधिपूर्वकं नामयज्ञैः यजन्ते ॥ १७ ॥ अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः, आत्मपरदेहेषु (स्थितं) मां प्रद्विषन्तः, अभ्यसूयकाः च (ते भवन्ति) ॥ १८ ॥ तान् द्विषतः क्रूरान्, अशुभान्, नराधमान् संसारेषु आसुरीषु एव योनिषु अजस्रं अहं क्षिपामि ॥ १९॥

मैं श्रीमान् और कुलीन हूं, मेरे जैसा दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूंगा, मैं दान दूंगा और मैंही मौज करूंगा, इस तरहके अज्ञानसे मोहित हुए ये आसुरी लोग होते हैं ॥ १५ ॥ अनेक चित्तविभ्रमोंमें पडे हुए, मोहजालोंसे घेरे हुए, कामोपभोगोंमें आसक्त होकर ये लोग अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥ अपनेको बडा माननेवाले, अकडबाज, धन और मानके मदसे मस्त ये आसुरी लोग दम्भसे विधिहीन ऐसे केवल नामके लिये ही यज्ञ करते हैं ॥ १७ ॥ अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोधका आश्रय करके, अपने तथा पराये देहोंमें रहनेवाले मुझ (ईश्वर) का द्वेष करनेवाले ये लोग सदा निंदा ही किया करते हैं ॥ १८ ॥ इन नीच द्वेषी क्रूर अमंगल नराधमोंको मैं (ईश्वर) इस संसारमें आसुरी योनिमें बार बार डालता हूं ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

अन्वयः- हे कौन्तेय ! आसुरीं योनिं आपन्नाः जन्मनि जन्मनि मूढाः (सन्तः) मां अप्राप्य एव, ततः अधमां गतिं यान्ति ॥ २० ॥

हे अर्जुन! इस तरह हर एक जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होनेवाले ये आसुरी लोग, मूढ होते हुए, मुझ (ईश्वर) को न पाते हुए, अधम गतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ— इस लोक में दैवी वृत्ति और आसुरी वृत्ति ऐसी दो वृत्तिवाले मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। दैवी वृत्ति-वालोंका वर्णन इससे पूर्व किया गया है, अब आसुरी वृत्तिवालोंका वर्णन करते हैं। आसुरी वृत्तिवालोंको प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति क्या है, इसका ज्ञान भी नहीं होता है । वे सदा अपवित्र होते हैं और दुराचारी भी होते हैं। उनमें सत्य नहीं होता। इस जगत्के अधिष्ठानमें सत्य है, ऐसा वे मानते नहीं। यह जगत् यों ही हुआ और वह आधारके विना ही रहा है। परमेश्वर कुछ भी नहीं है और यह कार्यकारणभावके विनाही बनता है, ऐसा ये आसुरी वृत्तिवाले लोग मानते हैं। इस जगत्का कोई नियंता नहीं है, यह केवल हमारे विषयोपभोग के लिये ही बना है। ऐसा माननेवाले ये दुष्टबुद्धिवाले असुरी लोग सबका अहित होनेका ही कार्य करते हैं और जगत्का नाश करनेके उद्यममें सदा लगे रहते हैं। इनकी भोगवासना सदा अतृप्त रहती है। ये दुष्टभाव धारण करते हैं, अपवित्र कर्मोंमें सदा लगे रहते हैं और घमंडसे सदा मदान्ध होते हैं। कामोपभोगमें सदा मस्त रहते हैं। विविध आशाओंसे बंधे हुए अपने भोगोंके लियेहि सदा अन्यायसेभी धनसंचय करते रहते हैं। आज यह कमाया, कल वह कमाऊंगा, परंतु इसका भोग भोगूंगा और ऐसा सुखी होऊंगा, मेरे जैसा इस जगत्में कौन है? मैं कर्म करूंगा और मैं उपभोग भोगूंगा, यही विचार सदा उनके मनमें होते हैं। जो करते हैं, दंभसे करते हैं। अपनी ही ऐंटमें होनेके कारण इनकी श्रद्धा कर्ममें होतीहि नहीं। परंतु अपने नामके लिये ही ये कुछ न कुछ कर्म करते रहते हैं। सर्वव्यापक परमात्माको ये मानते नहीं, धर्मकी निंदा करते हैं, ये अमंगल, क्रूर घमंडी आसुरी लोग अवनत होते हुए नरकमें ही जाते हैं ॥ ९—२० ॥

(९-२०) संपूर्ण सृष्टिमें तथा विशेषतः मानवजातिमें देव और असुर ऐसे दो प्रकार के मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। देवोंके लक्षण इससे पूर्व कहे गये हैं, असुरोंके संक्षेपसे ही कहे हैं, अतः उन असुरोंके लक्षण विस्तारसे अब कहे जाते हैं। पाठक इन लक्षणोंको देखकर अपने पासकी जनतामें कौन असुर हैं, इसका निर्णय करें, तथा अपने अन्दर जो आसुर भाव होंगे, उनका अनुभव करके उनको दूर करनेका यत्न करें। देखिये आसुरी मानवोंके लक्षण ये हैं-

(१) आसुराः जनाः प्रवृत्तिं निवृत्तिं च न विदुः

'आसुरी वृत्तिवाले लोगोंको प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति क्या है, इसका ज्ञान नहीं होता है। किस कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये और किस कर्मसे निवृत्त होना चाहिये, यह ठीक प्रकार आसुरी लोग जानते नहीं। इस लिये वे अयोग्य कर्ममें विना सोचते हुए प्रवृत्त होते हैं। इस कारण गिरते हैं। प्रायः इनकी शुभ प्रवृत्ति रहती नहीं, भोगी वृत्ति होती है, इसलिये अपने भोग बढानेके लिये चाहे जैसा

नीच कर्म करने लगते हैं संकोच तो इनको किसी प्रकार नहीं होता है । अतः शास्त्रीय दृष्टिसे किस कर्ममें प्रवृत्त होना हितकारी है, और किस कर्मसे निवृत्त होना हितकारी है इसका विचार इन आसुरी वृत्तिवाले मानवोंको नहीं होता है।

(२) न शौचं, नापि आचारो, न सत्यं तेषु विद्यते ।

' न उनमें पवित्रता, न आचारशुद्धता और न सत्यप्रियता उन आसुरी वृत्तिवालोंमें होती है ।' मलिन आचार, मलिन रहना और असत्य व्यवहार उनका चिह्न है । ये असुर लोग वैसे देखनेके लिये बाह्य दिखावेसे पवित्र और स्वच्छ दीखेंगे, परंतु सच्ची पवित्रता वहां नहीं होती। व्यभिचरादि दोष उनमें बहुत रहता है, यह आचारकी मलिनता उनमें बहुत रहती है ।

(३)ते जगत् असत्यं,अप्रतिष्ठं,अनीश्वरंआहुः

' वे जगत् असत्य, आधाररहित और ईश्वरके विनाही स्वयं हुआ है ' ऐसा मानते हैं। यह जो दीख रहा है, वह जगत् सत्य नहीं है, उसका सत्य और शाश्वत आधार कोई नहीं है, यह निराधार है और ईश्वर जगन्नियन्ता करके कोई नहीं है। नियामक के विनाही यह जगत् है, ऐसा इनका मत है अर्थात् ये लोग निरीश्वर-वादी होते हैं । ये असुर ईश्वरको मानते नहीं। दुसरा कोई नियंता नहीं, ऐसा मानकर अपने आपको ही सबका भोक्ता मानते हैं ।

(४) अपरस्परसंभूतं कामहेतुकं जगत् ।

यह जगत् परस्परके मिलापसे--क्रमपूर्वक परस्पर मेलसे बना है,ऐसा नहीं मानते । जगत् बननेमें कोई क्रम, कोई नियम, कोई पूर्वापर-कारणपरंपरा है,ऐसा नहीं मानते । यों ही बना, विना नियमके बना, विना कारणके बना ऐसा मानते हैं। इसका कोई हेतु नहीं और कोई नियामक वा नियंता नहीं ऐसा माननेपर, इस जगत्को केवल अपना भोग्यही ये आसुरी लोग मानते हैं। कामहेतुक ही यह जगत् है, अर्थात् 'मैं अपनी शक्ति बढाऊंगा और इस जगत्का यथेच्छ उपभोग ले लूंगा ' ऐसा इनका मत होता है।

जो बलवान् बनेगा, वही इसका भोग करेगा, यह मत प्रचलित होनेपर इन असुरोंकी वृत्ति अपना बल बढानेकी ओर होती है। वे कहते हैं कि 'मैं अन्योंसे अधिक बलवान् बनूंगा।' परंतु यह बने कैसे? यदि हरएक असुर अन्योंसे अधिक बलवान् बननेका यत्न करेगा, तो सब ही अस-फल होते हुए, एक दूसरेको काट मारनेके लिये प्रवृत्त होंगे, इसमें कोई संदेह नहीं।

(५) नष्टात्मानो अल्पबुद्धयः उग्रकर्माणः अहिताः जगतः क्षयाय प्रभवन्ति ।

'ये दुष्ट आत्मा अल्पबुद्धि क्रूर कर्म करनेवाले जगत्के शत्रु जगत्के विनाशके लिये कारण बनते हैं।' आसुरी वृत्तिका यही दृश्य है। अपना बल बढाना, संघटना करना, शस्त्रास्त्र बढाना और परस्परको मार काट करके मर जाना और यह सब अपने भोग बढानेके लिये करना ! कितना आश्चर्य है! परंतु ये ऐसा ही करते हैं ।

अपना सैन्य बढायेंगे, अपने शस्त्रास्त्र बढा-वेंगे, युद्धका कौशल्य विलक्षण दिखायेंगे; शारी-रिक शक्ति बढावेंगे, विद्या तथा हुनर बढावेंगे और यह सब करते हुए सब भोग मुझे चाहिये, दूसरोंसे ये सुख छिनेंगे और मैं सब भोगोंको प्राप्त करके सुखी होऊंगा, यह एक ही विचार इनका रहता है। इस कारण इनको सदा युद्ध की ही तैयारी करनी पडती है, सब ऐश्वर्य युद्धकी तैयारीमें व्यय करना इनको आवश्यक होता है। अपनी शक्ति बढाते हैं और एक दूसरों को कटवा कर मर जाते हैं। इनकी उत्पत्ति और इनके प्रयत्न इस तरहकी मार काटके लिये ही होते हैं। जगत्में सब युद्ध इनके इस विचार

परिपाठीके कारण ही होते हैं।

(६) दुष्पूरं कामं आश्रित्य दम्भमानमदान्विताः, अशुचिव्रताः मोहात् असद्ग्राहान् गृहीत्वा प्रवर्तन्ते।

'कभी पूर्ण न होनेवाली कामोपभोग की कल्पनाओंको हृदयमें धारण करके, ढोंग, मान और मदसे युक्त होकर, अशुद्धाचारमें प्रवृत्त होकर मोहसे असद्विचार-परिपाठीके पीछे पडकर महाभयंकर कर्ममें प्रवृत्त होते हैं।' कामोपभोगकी अदम्य इच्छाको धारण करते हैं, मुझे ही सब उपभोग चाहिये ऐसा मानते हैं, इस कारण उन भोगोंसे दूसरोंको निवृत्त करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं। इस तरह सर्वत्र संघर्ष उत्पन्न होता है और उसका शमन किसी प्रकार नहीं होता।

ये आसुरी लोग जो कर्म करते हैं, दम्भसे करते हैं, अपना नाम और मान बढे ऐसे दिखावेसे करते हैं। मैंने यह कर्म किया ऐसी घमंड इनको होती है, इस कारण ये दूसरोंको तुच्छ समझते हैं। इस तरह जिनको ये तुच्छ मानते हैं वे लोग इनका द्वेष करने लग जाते हैं। इस हेतुसे भी द्वेष, मत्सर और कलह उत्पन्न होते हैं।

मनमें अशुचि और असत्य भ्रान्त कल्पनाओंको धारण करते हैं और उन कल्पनाओंको सिद्ध करनेके लिये यत्न करते हैं। उनकी सिद्धि तो कभी होनेवाली नहीं होती, परंतु उनके पीछे पडते हुए वे नाना कष्टोंको करते रहते हैं। अपवित्र और असत्य ध्येयके पीछे जानेवालोंका अन्तमें नाश ही होगा, इसमें संदेह ही नहीं है।

(७) अपरिमेयां प्रलयान्तां चिन्तां उपाश्रिताः।

'अपरिमित और प्रलयकालतक समाप्त न होनेवाली चिन्ताको ये आसुरी लोग प्राप्त होते हैं।' चिन्ताके सिवाय इनके पास कुछभी सुख नहीं होता, क्योंकि इनके सिद्धान्तही चिन्ताको बढानेवाले और शान्ति को हटानेवाले होते हैं। भोगवासना न्यून करनेसे ही शान्ति मिलनेवाली है, वह शान्ति भोगोंकी वासनाएं अखण्ड बढाते रहनेसे कैसी मिलेगी? भोगवासनाओंकी वृद्धि करनेसे चिन्ता, कष्ट, सतत परिश्रम, अशान्ति, बेचैनी, परस्पर-संघर्ष, परस्पर-युद्ध, परस्परकी मार-काट, परस्परका अपमान ही बढता जायगा। असुरोंमें सदा यही बढता है, चिन्ता और अशान्ति बढती है।

(८) कामोपभोगपरमाः एतावत् इति निश्चिताः।

'कामोपभोग लेनाही एकमात्र मानवोंका ध्येय है, ऐसा वे मानते हैं।' और अपने कामोपभोग बढानेका प्रयत्न भरपूर करते हैं। परंतु अन्तमें बनता क्या है? कामोपभोग ही इनका भोग करके इन्हींको खा जाते हैं और हाय हाय करते हुए ये आसुरी लोग आपसके संघर्षसे मर जाते हैं। कामोपभोग ही अपने जीवनोद्देश्यका ध्येय माननेसे ऐसे अनर्थ होना संभव है। अतः कामोपभोगोंका शमन करना चाहिये।

(९) कामक्रोधपरायणाः आशापाशशतैर्बद्धाः कामभोगार्थं अन्यायेन अर्थसंचयान् ईहन्ते।

'अपने कामोपभोग बढानेवाले, काम शान्त न हुआ तो बडा क्रोध करनेवाले, भोगाशाके पाशोंसे सदा बद्ध होनेवाले, अपने कामोपभोगोंके शमनार्थ यदि न्यायसे धन मिला तो हरएक प्रकारके अन्यायसे धनोपार्जन करनेवाले ये आसुरी वृत्तिके लोग होते हैं।' जगत्में ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत है। हरएक प्रकारके अन्यायकी जडमें यही कामोपभोगकी प्रबल इच्छाही रहती है। स्वल्प कष्टसे बडा लाभ प्राप्त करनेके कारण ही कितने अन्याय हो रहे हैं! राजा-प्रजाके संघर्ष, मालक-मजदूरोंके संघर्ष इसी वृत्तिके परिणाम हैं। इनकी आशाएं अनंत होती हैं और सफलता न हुई तो ये क्रूर कर्म

करने लगते हैं और अपने भोग बढानेके लिये अनंत अन्याय करते हैं ।

(१०) मया इदं अद्य लब्धं,
श्वः इमं मनोरथं प्राप्स्ये,
मे इदानीं इदं धनं अस्ति,
पुनः मे इदं धनं भविष्यति ।

'मैंने यह भोग आज प्राप्त किया है, कल इस मनोरथको प्राप्त करूंगा, मेरे पास आज यह धन है, फिर मेरा इतना धन थोडेही समयमें होगा।' ऐसे भोगसाधनोंकी वृद्धि करनेके लिये इनके विचार चलते रहते हैं । आज यह धन कमाया, आज इसको ऐसा लूटा, इसके विरुद्ध ऐसी मुकदमेबाजी की, उसको ऐसा फँसाया, इसे ऐसे ठगाया, इस ढंगसे मैं इस वर्ष इतना धन कमाऊंगा और आगे मेरा इतना धन हो सकेगा तथा—

(११) असौ शत्रुः मया हतः,
अपरान् अपि हनिष्यामि ।

'इस शत्रुको मैंने मारा है, इसी तरह दूसरे शत्रुओंको भी मारूंगा ।' मेरे सामने कोई शत्रु ठहर नहीं सकते । मेरी शक्ति इतनी बडी है कि मैं शत्रुओंको जैसा कहूंगा, वैसाही वे मानेंगे । मेरे सामर्थ्यके सामने कौन ठहरेगा ? शत्रुओंका निर्दालन मैं करूंगा, भोगोंको प्राप्त करूंगा, उन असंख्य भोगोंको मैं ही अकेला भोगूंगा । मेरे सिवाय दूसरा इन भोगोंको भोगनेवाला कौन है ? मेरी दयासे दूसरे लोग भोग भोगें तो भोगें। मेरी दया न होगी, तो उनको भोग प्राप्त ही नहीं होंगे । ऐसे विचार आसुरी लोगोंके मनमें आते रहते हैं ।

(१२) अहं ईश्वरः, अहं भोगी, अहं सिद्धः,
अहं बलवान्, अहं सुखी, अहं आढ्यः,
अहं अभिजनवान् अस्मि ।

"मैं इन सबका स्वामी हूं, मैं ही भोग भोगनेका अधिकारी हूं, मैं ही सिद्धियोंको प्राप्त करनेवाला हूं, मेरे पास जैसा बल है वैसा अन्योंके पास नहीं है । मैं सुखी हूं, सुख मुझेही मिलना चाहिये, मैं श्रेष्ठ हूं, मैं संपन्न हूं और मैं ही कुलीन हूं ।" इस लिये मेरी योग्यता अन्योंको कैसी प्राप्त हो सकती है ? मैंही समर्थ और श्रेष्ठ हूं। मेरे पास ही सब लोगोंको आना चाहिये और मेरी सहायताके लिये मेरी प्रार्थना करनी चाहिये। इस तरह मेरी प्रार्थना करनेके लिये अनेक लोग आवेंगे, मेरी दयाके भागी बननेमें वे अपने आपको सफल समझेंगे, फिर मेरे समान कौन सामर्थ्यशाली होगा ? ऐसी मेरी धन्यता है, मेरा यश है और मेराही प्रभाव है। मेरे जैसा मैंही अकेला हूं। यह मेरा वैभव है,मैंही कर्ता धर्ता और हर्ता हूं। इस ढंगसे आसुरी वृत्तिवाले मनुष्यके विचार चलते रहते हैं ।

(१२) यक्ष्ये, दास्यामि, मोदिष्ये ।

'मै यज्ञ करूंगा, मैं दान दूंगा और मैंही आनंदभोग लूंगा.' यह सब करनेका सामर्थ्य मुझमें ही है । मेरे सदृश कौन दान देनेवाला है? मेरे समान यज्ञ करनेवाला भी कौन है? मेरे सदृश भोग भोगनेवाला भी कौन है? ऐसी घमंड आसुरी लोग करते रहते हैं ।

(१३) इति अज्ञानविमोहिताः, मोहजालसमावृताः, अनेकचित्तविभ्रान्ताः कामभोगेषु प्रसक्ताः, अशुचौ नरके पतन्ति ।

'इस तरहके अज्ञानसे मोहित हुए, विविध मोहजालोंसे युक्त, अनेक चित्तोंके विभ्रमोंसे भ्रान्त हुए, कामोपभोगोंमें विशेष आसक्त होकर नीचे गिरते जाते हैं और अन्तमें अपवित्र नरकमें गिरते हैं ।' ये आसुरी लोग जो करते हैं वह उनकी गिरावटके लिये ही होता है। ऐसी भयानक अवस्था इनकी होती है ।

(१४) आत्मसंभाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः, दम्भेन अविधिपूर्वकं नामयज्ञैः यजन्ते ।

(९) नरकके तीन द्वार ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

'अपने आपको सर्वश्रेष्ठ माननेवाले, अक्कडबाज, धन और मानके घमंडसे भरे हुए, दम्भसे विधिको छोडकर केवल नाममात्र यज्ञोंका यजन करते हैं।' अर्थात् इनमें घमंड अत्यधिक होनेसे तथा विधिविधान की पर्वाह न करनेके कारण दम्भसे जो ये करते हैं वह केवल नाममात्रकेही यज्ञ होते हैं। सच्चे यज्ञकर्तामें अहिंसा, सत्य, निर्मानता, विधिनिष्ठा अवश्य चाहिये। इन सद्गुणोंसे तो ये दूर रहते हैं, अतः इनसे होनेवाले यज्ञ सत्य होते ही नहीं और न ये सच्चे यज्ञ करनेमें समर्थ होते हैं। क्योंकि यज्ञके लिये आत्मसमर्पणका भाव चाहिये और इसके विरुद्ध इनमें आत्मभोगका भावही वढा हुआ रहता है। इसलिये इनसे सच्चा यज्ञ होना अशक्यही है।

(१५) अहंकारं, बलं, दर्पं कामं, क्रोधं च संश्रिताः ।

'अहंकार, बल, गर्व, काम, क्रोध आदिका आश्रय करके' ये आसुरी लोग बडे घमंडमें आकर जगत्का नाश करनेके लिये कारण होते हैं। इनके अन्दर आत्मवत् सर्वभूतोंको माननेका भाव थोडाभी नहीं रहता। दूसरोंको लूटमार कर अपने भोग वढानेका यत्न ये लोग सदा करते रहते हैं।

(१६) अभ्यसूयकाः आत्मपरदेहेषु मां (ईश्वरं) प्रद्विषन्तः ।

'ये निंदा करनेवाले आसुरी वृत्तिवाले लोग अपने तथा दूसरोंके देहोंमें रहनेवाले ईश्वरकी निर्भर्त्सना करते हैं।' अपमान करते हैं और द्वेष करते हैं। क्योंकि विश्वरूपी परमात्मा है, अतः उसका रूप हरएक रूपहि है। किसीके साथ छल कपट किया जाय, तो परमेश्वरके साथ ही छल कपट किया, ऐसा अर्थ होता है। सर्व भूतोंमें ईश्वरको समान भावसे देखना और वहां उसका अनुभव करके उसका आदर करना हरएक को उचित है। परंतु ये आसुरी लोग ऐसा क्यों करेंगे? क्योंकि घमंड से भरे हुए ये आसुरी लोग दूसरोंको संमानसे देखते तक नहीं और उनका छल करनेमें आनंद मानते हैं!

ये हैं आसुरी वृत्तिवालोंके लक्षण। ये असुर लोग जगत्में चारों ओर भरे पडे हैं। पाठक इनको अपने चारों ओर देख सकते हैं।

ऐसे आसुरी स्वभाववालोंको, वे क्रूर और नराधम होनेके कारण, ईश्वर अशुभ योनिमें चिरकाल फैंक देता है। आसुरी अधम अशुभ योनिमें पडे हुए ये जीव क्लेश भोगते हुए, मूढ बनते हुए, ईश्वरका विचारतक न करते हुए अधम गतिको प्राप्त होते हैं। अर्थात् हरएक प्रकारकी अधोगतिको प्राप्त होते जाते हैं। ऐसी भयानक अवस्था आसुरी प्रवृत्तिवालोंकी होती है। इस कारण पाठकोंको उचित है, कि वे इस आपत्तिसे अपने आपको वचावें और दैवी संपत्तिके पथपर अपने आपको स्थिर करें।

आगे नरक के तीन द्वारोंका स्वरूप देखिये—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

(६) शास्त्रप्रामाण्य।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुर–संपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अन्वयः– कामः क्रोधः तथा लोभः इदं त्रिविधं आत्मनः नाशनं नरकस्य द्वारं (अस्ति); तस्मात् एतत् त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥ हे कौन्तेय ! एतैः त्रिभिः तमोद्वारैः विमुक्तः नरः, आत्मनः श्रेयः आचरति, ततः परां गतिं याति ॥ २२ ॥

काम क्रोध और लोभ ये तीन प्रकारके, आत्मशक्तिका नाश करनेवाले नरकके द्वार हैं। इस लिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये ॥ २१ ॥ हे कुन्ती-पुत्र ! इन तीन तमोद्वारोंसे विशेष रीतिसे मुक्त हुआ मनुष्य अपने आत्माके कल्याणके लिये योग्य आचरण करता है, इस कारण वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

भावार्थ– काम, क्रोध और लोभ ये तीन मनोविकार मनुष्यकी शक्ति क्षीण करनेवाले हैं, इस कारण मनुष्य इनको दूर करे। इनको दूर करनेसेहि साधककी उन्नति होती है ॥ २१-२२ ॥

अन्वयः– यः शास्त्रविधिं उत्सृज्य, कामकारतः वर्तते, सः न सिद्धिं, न सुखं, न च परां गतिं अवाप्नोति ॥२३॥ तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ ते शास्त्रं प्रमाणं (अस्ति), शास्त्रविधानोक्तं कर्म ज्ञात्वा (तत् त्वं) इह कर्तुं अर्हसि ॥ २४ ॥

जो शास्त्रविधिको त्याग कर, मनमाना आचरण करता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न परमश्रेष्ठ गति प्राप्त होती है ॥ २३ ॥

(२१-२२) काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरकको पहुंचानेवाले तीन द्वार हैं। इनसे दूर रह कर जो अपने मोक्षका साधन करता है, वही परम श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है।

इस श्रेयःसाधनके लिये शास्त्र—वचन प्रमाण मानना चाहिये, यह सूचित करनेके लिये शास्त्र—प्रामाण्य का महत्त्व दर्शाते हैं।

इसलिये कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके लिये तुझे शास्त्रही प्रमाण मानना योग्य है। शास्त्रमें जो कहा है उस कर्मको जानकर, वही कर्म करना तुझे इस लोकमें उचित है ॥ २४ ॥

भावार्थ– शास्त्रविधि छोडकर कर्म करनेवालेकी अधोगति होती है, इस लिये हरएक मनुष्य शास्त्रको प्रमाण माने और जैसा शास्त्रमें कहा है, वैसा कर्म करके उन्नतिका प्राप्त होवे ॥ २३–२४ ॥

(२३—२४) आसुरी वृत्तिवाले लोग शास्त्र-विधिको छोडकर दम्भसे सब कर्म करते हैं, इसलिये उनको योग्य सिद्धि प्राप्त नहीं होती, न सुख प्राप्त होता ह और न श्रेष्ठ गति मिलती है। उनके लिये सदा बेचैनी, चिन्ता, घोर अशान्ति ही भोगनी पडती है। यदि ये आसुरी लोग अपना हठ छोडेंगे और शास्त्राज्ञाके अनु-सार कार्य करते जायंगे, तो निःसन्देह उनको सुख, शान्ति और सिद्धिके साथ परम गति भी अवश्य प्राप्त होगी।

शास्त्र क्या है? शास्त्र प्राचीन आप्त पुरुषोंका अनुभवही बताता है। इसलिये शास्त्रवचन प्रमाण माननेसे अनेकानेक आप्त पुरुषोंके अनु-भवोंका लाभ मिल सकता है और शास्त्रवचनों-को न माननेसे इतने अनुभवसे वंचित रहनेके कारण अनेक प्रकारकी हानियां भोगनी पडतीं हैं।

शास्त्रप्रमाण माननेसे अनंत लाभ हैं और शास्त्रवचनोंकी ओर दुर्लक्ष्य करनेसे अनेक हानियां हैं। इसलिये ज्ञानी लोगोंने प्रमाणोंमें शब्द-प्रमाण को महत्त्वका स्थान दिया है। इससे अति प्राचीन कालसे इस समयतक के अनेक आप्त पुरुषोंकी संमति इकट्ठी मिलती है और उसका विचार करनेसे बहुत ही संकटोंसे बचाव होनेकी संभावना होती है।

इसीलिये कर्तव्य और अकर्तव्य का निश्चय करनेमें शास्त्रवचनका प्रमाण मानना सबको योग्य है—

कार्याकार्यव्यवस्थितौ ते शास्त्रं प्रमाणं।

शास्त्र कहता है, कि यह कार्य करने योग्य है और यह करने योग्य नहीं है। इस शास्त्र-विधिको देखकर, शास्त्रविधिने क्या कहा है इसका विचार करके जो निश्चय होगा, वह करना हरएक के लिये लाभकारी है।

यहां कई पूछेंगे कि हम शास्त्रवचनोंकी गुलामी–परतंत्रता–क्यों मानें? क्यों हम स्वतंत्र विचारसे अपने कर्तव्याकर्तव्य निश्चय न करें? इस विषयमें उत्तर यह है कि शास्त्रवचन न माननेसे अपरंपार संकट आयेंगे। संकटोंसे अपने आपको बचानेकी इछा है, तो आपको आप्त वचनोंका प्रमाण मानना ही चाहिये। इसमें गुलामी या पारतंत्र्य नहीं है, प्रत्युत अनंत काल के अनुभवसे लाभ उठाना है।

हरएक मनुष्य स्वतंत्रतासे विचार करके अपना कर्तव्यकर्म करे, ऐसा कहना बडा सुगम है, परंतु आचरणमें लाना बडा हानि करनेवाला है। देखिये—एक बालक अक्षरलेखन जानना चाहता है, उसको गुरुजीने 'अ' अक्षर बताया। अब प्रश्न होता है कि वह उस 'अ' अक्षर 'अ' ऐसाही है, ऐसा विश्वास करे या न करे और न विश्वास करे, तो अक्षरविज्ञान किस ढंगसे प्राप्त करे? आप कहेंगे कि बालकोंको गुरुजनों के वचनोंपर विश्वास रखनाही चाहिये। यदि बालकोंको अक्षरविज्ञानके सीखनेके समय आप्त पुरुषोंके वचनोंपर विश्वास रखना चाहिये, अन्यथा उनको ज्ञान नहीं होगा, ऐसा कहेंगे, तो आध्यात्मिक ज्ञानक्षेत्रमें जो बालक जैसे अज्ञान हैं, उनको भी आध्यात्मिक ज्ञानी गुरुजनोंपर

पराविद्याके पाठ लेनेके समय वैसा ही विश्वास रखना चाहिये, यही सिद्धान्त मानना पडेगा और इसीका नाम शास्त्रवचनोंपर विश्वास रखना है।

जगत्‌का व्यवहार भी आप्त-वाक्यपर विश्वास रखनेके विना नहीं चलता। जैसा—किसीको किसी एक ग्रामको जाना है, मार्ग विदित नहीं, ऐसी अवस्थामें वह पूछते पूछते उस ग्राम-तक पहुंचता है। यदि वह किसीसे मार्ग पूछने-पर और उसके मार्ग बतानेपर यह अविश्वास करेगा और स्वयं अनुभव आयेविना किसीपर विश्वास न रखनेका निश्चय करेगा, तो वह अविश्वासी अपने इष्ट ग्रामको कैसे पहुंचेगा?

किसीके घरमें एक मनुष्य बडा बीमार है, उसका मित्र कहता है, कि फलाना वैद्य या डाक्तर इस रोगकी चिकित्सा करना जानता है, उसका इलाज करनेसे इसको आरोग्य होगा। बहुतसे लोग ऐसे वचनोंपर विश्वास करके आरोग्य पाते भी हैं; परंतु यदि हरएक मनुष्य कहेगा कि मुझे अनुभव आयेविना मैं विश्वास नहीं रखूंगा, तो वह किस चिकित्सकको बुला सकेगा? किसीपर तो इसका विश्वासही नहीं है। विश्वास न होनेके कारण वह अनुभव आनेतक किसीकोभी बुला नहीं सकता और अविश्वा-सीके घरका रोगी चिकित्साके विना वैसा ही सडकर मर जायेगा।

विश्वास रखनेवाले भी फसते हैं, परंतु अवि-श्वासियोंको अधिक दुःख भोगना पडता है, क्यों-कि किसीकी भी तो सहायता उनको मिल नहीं सकती। अतः विश्वासियोंकी अपेक्षा अविश्वा-सियोंको कष्ट अधिक भोगने पडते हैं। इसी कारण कहा है कि आप्त वचनोंपर विश्वास रखना चाहिये।

पाठक विचार करेंगे तो उनको विदित होगा कि जो किसीपर भी विश्वास नहीं करते, उनको तो क्षणक्षणपर कष्ट होना संभव है। इसलिये आप्त पुरुषोंके वचनोंपर अर्थात् शास्त्रवचनोंपर विश्वास रख कर, अपने कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना और जैसा निर्णय होगा, वैसाही श्रद्धा-पूर्वक करना सब साधकोंको योग्य होगा।

हां, प्रथम सद्गुरु करनेके समय 'यह अच्छा है वा नहीं,' इसका बहुत विचार करके निश्चय करना योग्य है। शास्त्रवचनप्रमाणमें कौनसा शास्त्रवचन आदरणीय है, इसकाभी निर्णय जागते हुए करना चाहिये। अन्यथा अन्ध परंपरा चल जायगी और वह अन्तमें हानिकारक सिद्ध होगी। तथापि इतना करनेपर अन्तमें शास्त्र प्रमाण मानना ही मनुष्योंके लिये हितकारक सिद्ध होगा।

शास्त्रवचन न मानते हुए अपने ही अहंकार के वशमें होकर चलनेवाले आसुरवृत्तिके लोग आप्त पुरुषोंके अनुभवका लाभ न मिलनेके कारण इधर उधर भटकते हुए, अनेक स्थानोंमें टक्कर खाते हुए, दुःख भोगते चले जाते हैं। इन दुःखोंको दूर करनेका मार्ग एक ही है और वह शास्त्रवचनोंको, आप्त वाक्योंको मानना और उनपर विश्वास करके उनकी ज्योतिमें अपना मार्ग आक्रमण करना। यही एक सुखकर मार्ग है।

आप्त पुरुषोंके वचनोंपर विश्वास रखनेवालों को भी सोचनेका अवसर नहीं होता है ऐसा नहीं। प्रत्येक अवस्थामें कुछ न कुछ अनुभव आता है और उसका अनुभव लेकर आगे बढना सुगम होता है। बीच बीचमें पूछते, गुरुजनोंसे मंत्रणा लेते हुए आगे बढनेसे बीचमेंका मार्ग सावधानी-से आक्रमण किया जा सकता है।

आप्तवचनोंपर विश्वास रखकर अनुष्ठान कर-नेवालोंको जो विश्वासका बल और भविष्य-

कालके परिणामसंबंधी चिन्तारहित शान्ति मिलती है, वह अविश्वासियोंको कदापि नहीं मिल सकती।

सारांश, यह कि शास्त्रवचनोंपर विश्वास रखनाही सदा सर्वदा लाभदायक है। अतः वैसा ही साधक करे और इह लोकमें सुख, शान्ति और सिद्धिको प्राप्त करके परलोकमें परम उच्च गति अर्थात् श्रेयसी अवस्था प्राप्त करे।

यहां सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

सोलहवें अध्यायका

थोडासा मनन।

दैवी वृत्ति।

श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें मनुष्योंके दो विभागोंका वर्णन है। एक दैवी वृत्तिवाले लोग होते हैं और दूसरे राक्षसी अथवा आसुरी-वृत्तिवाले होते हैं। दैवी वृत्तिवाले लोगोंमें "निर्भयता, पवित्रता, ज्ञान में रुचि, योगाभ्यासमें तत्परता, दान देनेकी इच्छा, इंद्रियदमन करने की दक्षता, आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करनेकी अभिलाषा, आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा, श्रेष्ठ कर्म करनेके समय होनेवाले कष्ट आनंदसे सहनेकी वृत्ति, सरल स्वभाव, अहिंसा, सत्यपालन, क्रोध न करना, कर्मफलका संग न करनेका स्वभाव, शान्त स्वभाव, चुगली न करना, भूतदया, निर्लोभी भाव, मनकी कोमलता, कुकर्म करनेकी लज्जा, चंचलताका न होना, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शुद्धता, किसीका द्रोह न करना, घमंड न करना, आदि शुभ गुण होते हैं।"

ये सबके सब शुभ गुण हरएकमें होते हैं, ऐसा भाव यहां नहीं है। कई गुण न्यूनाधिक प्रमाणमें होंगे, कई न भी होंगे, तथापि इनमेंसे बहुतसे गुण होते हैं। कई अधिक प्रमाणमें होंगे तो कई न्यून प्रमाणमें होंगे।

ये गुण अकेले नहीं रहते, एकके होनेसे दूसरेका होना स्वाभाविकसा होता है, इस कारण एक गुण बढनेसे दूसरे गुण स्वयंही आकर बसने लगते हैं।

इस तरह यह दैवी संपत्ति मानवताकी उच्च से उच्च कोटी का लक्षण है। उच्चसे उच्च, उन्नतसे उन्नत मनुष्य कौनसा है। इसका उत्तर यही है, कि जिसमें ये दैवी शुभ गुण उत्कर्षसे रहते हैं, वह मनुष्य उच्च है, वही श्रेष्ठ है और वही मानवताका पूर्ण विकास है। वही मोक्षका अधिकारी है और इसीके पास बंधन नहीं रह सकते। अस्तु। यह दैवी संपत्ति है।

आसुरी वृत्ति।

अब आसुरी वृत्तिका वर्णन देखिये। आसुरी वृत्तिवालों में कर्तव्याकर्तव्यका विचार न होना, अपवित्र व्यवहार, सदाचार का अभाव, सत्य-का पालन न करना, ईश्वरको न मानना, यह जगत् नियन्ताके विना चल रहा है ऐसा मानना, अपने उपभोगके लिये ही यह है ऐसा मानना, अपने भोग बढानेके लिये बडे क्रूर कर्मोंका करना, जगत्का संहार करकेभी अपने भोग

सब आपत्तियोंका मूल ।

इन असुरवृत्तिवालोंका आचार- व्यवहार देखनेसे इनमें काम, क्रोध और लोभ ये तीनही भाव प्रबल हुए हैं, ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है और दैवी वृत्तिवालोंमें येही तीन भाव संयमित और धर्मानुकूल रहते हैं। देव और असुरोंमें यही भेद है। पाठक इस भेदको विचारकी दृष्टिसे ठीक प्रकार देखें। और अपने चारों ओर इसका अनुभव करें। इतना करनेके पश्चात् इस जगत्में अपने चारों ओर काम-क्रोध-लोभोंने स्वैर प्रवृत्त होनेसे कितना अनर्थ किया है, वह अवश्य देखें और अपने अन्दर तथा अपने समाजमें काम-क्रोध-लोभोंको स्वैर होने न दें। इनका संयम करनाही सभ्यता का चिह्न है। और इनका असंयम अधःपातका कारण होनेवाला है।

यहां शास्त्रमर्यादा है। अतः शास्त्रमर्यादाका अवलोकन करके अपने कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय शास्त्रके अनुसार निश्चित करके अपना आचार, व्यवहार धर्मशास्त्रानुसार करना हरएक श्रेयोर्थी के लिये योग्य है।

यहां सोलहवें अध्यायका मनन समाप्त हुआ है ॥ १६ ॥

बढाना, दंभ, मान, मदसे युक्त होकर भोग बढानेवाले कर्ममें दंग रहना, मोहसे अशुद्ध को शुद्ध मानना, अशुद्ध व्रतोंका पालन करना, चिन्ताको बढानेवाले बहुतसे कर्म करनेका प्रयत्न करना, कामभोग बढानेका खटाटोप करना, कामी, क्रोधी, आशापाशोंसे बद्ध हुए, कुकर्मी, क्रूरकर्मी आसुरी लोग अपने भोग बढानेके लिये न्यायसे धन न मिला, तो अन्याय से धन प्राप्त करनेका यत्न करते रहते हैं, उस प्रयत्नमें कितना भी घातपात हुआ तो भी उसकी चिन्ता इनको नहीं होती।

यह आज कमाया है, उस धनको मैं कल प्राप्त करूंगा, परसूं उसका पराभव करके लूट कर धन ले आऊंगा, आज मेरी यह इच्छा सफल हुई है, कल मैं उस मनोरथको सुफल करूंगा। मैं अपना सामर्थ्य बढा रहा हूं। मेरा सेनाबल, बडा है, शारीरिक तथा मानसिक बल मैंने बढाया है, मेरी संघटना अद्भुत है, उसके सामने कोई ठहरनेवाला नहीं है, जो मेरा सामना करेगा उसको मार काटकर हटा दूंगा। सब जगत् मर गया तो भी मुझे पर्वा नहीं, मुझे भोग प्राप्त होते हैं वा नहीं यही देखना है।

मैं सब शत्रुओंका वध करूंगा, जय प्राप्त करके सबको लूट मार कर यथेच्छ उपभोग लेता रहूंगा। मेरा सामर्थ्य बढा हुआ है. मेरे सामने ठहरनेवाला अब कोई नहीं है, मेरे शस्त्रास्त्र प्रभावशाली हैं, मेरे सैनिक युद्धविशारद हैं, मेरे पास विद्याका, धनका और मानवोंका बल बहुत है, फिर मुझे किसकी पर्वा है? कमजोरोंपर मैं आक्रमण करूंगा, उनका राज्य छीन लूंगा, उनको पादाक्रान्त करूंगा, इनको दबाकर रखूंगा, उनको उठने नहीं दूंगा, उनके देशोंमें हमारे देशके विजयी वीर खूब संचार करेंगे, उनको जो रोकेंगे उनकी कत्तल की जायगी। वे जित लोग तो कःपदार्थ हैं, उनको जीवित रखना, अथवा उनको मारना हमारी इच्छापर निर्भर है। हमें रोकनेवाला कौन है? यदि कोई खडा होगा तो उसका नामनिशानतक नहीं रहने देंगे। जित राष्ट्रके व्यापारका नाश करेंगे, उनके धन छीननेके उपाय सोचेंगे, उनको धनसंग्रह करने नहीं देंगे, हरएक मार्गसे उनको आगे बढने नहीं देंगे।

जित लोगोंको दबाये रखेंगे। अब तो सब जगत्के राजशासनके बागडौर हमारे हाथमें हैं, जिसे हम उठायेंगे वही ऊपर रहेगा, जिसको हम मारना चाहें वही मर जायगा, सब कुछ तो हमारेहि मतानुकूल होगा। जो हमपर राजनिष्ठा नहीं रखेंगे, मारे जांयगे। हमारे लोगही भोग भोगेंगे। अन्योंको कौन पूछता है? वे चाहे मरें, चाहे रोगी हों, चाहे जो कुछ हो, हमही उनके उपभोग छीनकर सुख भोगेंगे।

दान देना हो तो हमही देंगे, यज्ञ करना हो तो हम जैसा कहेंगे वैसाही करना होगा, हम जितना चाहेंगे उतनी विद्या पढाई जायगी, हम जितना चाहेंगे उतनाही ये जित लोग वक्तृत्व करेंगे, उतनाही लेख लिखेंगे, उतनाही भोग वे भोगेंगे, हमारी दयापर उनका जीवित रहेगा। बस, हमारी दयाही सर्वतोपरि है।

इस तरह घमंड करते हुए ये लोग मोहजालोंमें फंसते हुए अनेक दुराचार, अनाचार और अत्याचार करते हैं और शास्त्रविधि की पर्वाह नहीं करते।

ये क्रूर, अधम और हीनाचारी लोग प्रतिदिन अपने ही कर्मोंके बंधनमें फँसते जाते हैं। जो अपनी उन्नतिके लिये ये करते हैं, वही इनको प्रतिदिन बंधनमें डालता है और इस तरह ये अनेक आशा चिन्ता आदिमें फँसते हुए प्रतिदिन हीनतर अवस्थाको पहुंचते हैं और अन्तमें ऐसे गढेमें गिरते हैं कि ये वहांसे कभी उठ नहीं सकते।

सब आपत्तियोंका मूल ।

इन असुरवृत्तिवालोंका आचार- व्यवहार देखनेसे इनमें काम, क्रोध और लोभ ये तीनही भाव प्रबल हुए हैं, ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है और दैवी वृत्तिवालोंमें येही तीन भाव संयमित और धर्मानुकूल रहते हैं। देव और असुरोंमें यही भेद है। पाठक इस भेदको विचारकी दृष्टिसे ठीक प्रकार देखें। और अपने चारों ओर इसका अनुभव करें। इतना करनेके पश्चात् इस जगत्में अपने चारों ओर काम-क्रोध-लोभों ने स्वैर प्रवृत्त होनेसे कितना अनर्थ किया है, वह अवश्य देखें और अपने अन्दर तथा अपने समाजमें काम-क्रोध-लोभोंको स्वैर होने न दें। इनका संयम करनाही सभ्यता का चिह्न है। और इनका असंयम अधःपातका कारण होनेवाला है।

यहीं शास्त्रमर्यादा है। अतः शास्त्रमर्यादाका अवलोकन करके अपने कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय शास्त्रके अनुसार निश्चित करके अपना आचार, व्यवहार धर्मशास्त्रानुसार करना हरएक श्रेयोर्थीके लिये योग्य है।

यहां सोलहवें अध्यायका मनन समाप्त हुआ है ॥ १६ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके

सोलहवें अध्यायके सुभाषित।

(१) बंध और मोक्ष।

दैवी संपद्विमोक्षाय
निबंधायासुरी मता॥ (गी० १६।५)

"दैवी गुणोंसे बंधनकी निवृत्ति होती है और आसुरी वृत्तिसे बंधनोंकी वृद्धि होती है।"

(२) मूढोंका अधःपात।

मूढा जन्मनि जन्मनि
यान्त्यधमां गतिम्॥ (गी० १६।२०)

"मूढ लोग जन्म जन्ममें अपनी मूढताके कारण अधःपातको प्राप्त होते हैं।"

(३) नरकद्वार।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गी० १६।२१)

"काम, क्रोध और लोभ ये नरकके तीन द्वार हैं, इनमें प्रविष्ट होनेसे आत्माका अधःपात होता है। अतः इनसे अपने आपका बचाव करना चाहिये।"

(४) परम गतिकी प्राप्ति।

आचरत्यात्मनः श्रेयः
ततो याति परां गतिम्॥ (गी० १६।२२)

"जो अपने श्रेयका आचरण करता है, वही परम उच्च अवस्थाको प्राप्त होगा।"

(५) शास्त्रवचन न माननेसे हानि।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गी० १६।२३)

"जो शास्त्रोंके आदेश छोडकर स्वैर वर्तन करते हैं, उनको सिद्धि, सुख तथा उन्नति प्राप्त नहीं होती।"

(६) शास्त्रप्रमाण मानो।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(गी० १६।२४)

"कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय शास्त्र-वचनोंसे हो सकता है, अतः शास्त्रोक्त कर्म करो।"

श्रीमद्भगवद्गीताके

सोलहवें अध्यायकी विषयसूची ।

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

श्रद्धात्रयविभागयोगः ।

(१) त्रिविध श्रद्धाका स्वरूप ।

अर्जुन उवाच— ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥
श्रीभगवानुवाच- त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

अन्वयः— अर्जुनः उवाच-- हे कृष्ण ! ये शास्त्रविधिं उत्सृज्य, श्रद्धयान्विताः (सन्तः) यजन्ते, तेषां तु का निष्ठा ? सत्त्वं, रजः आहो तमः ? ॥ १ ॥ श्रीभगवान् उवाच- देहिनां या स्वभावजा श्रद्धा, सा सात्त्विकी च राजसी च तामसी च एव इति त्रिविधा भवति, तां शृणु ॥ २ ॥ हे भारत ! सर्वस्य सत्त्वानुरूपा श्रद्धा भवति, अयं पुरुषः श्रद्धामयः (अस्ति), यः यच्छ्रद्धः भवति, सः एव सः (जीवः) ॥ ३ ॥ सात्त्विकाः देवान् यजन्ते, राजसाः यक्षरक्षांसि यजन्ते, अन्ये तामसाः जनाः प्रेतान् भूतगणान् च यजन्ते ॥ ४ ॥

अर्जुनने पूछा-- हे कृष्ण ! जो लोग शास्त्रविधिको छोडकर, परंतु श्रद्धासे युक्त होकर, यजन करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी होती है- सात्त्विक, राजस या तामस ? ॥ १ ॥

भगवान् बोले- प्राणिमात्रोंकी जो स्वभावतः श्रद्धा होती है, वह सात्त्विक, राजसी और तामसी ऐसी तीन प्रकारकी होती है, उसका वर्णन श्रवण

कर ॥ २ ॥ हे भारत! सब लोगोंकी श्रद्धा अपने अपने सत्त्वके अनुरूप अर्थात् प्रकृति-स्वभावके अनुसार होती है। यह मनुष्य श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह (जीव) वैसा ही होता है ॥ ३ ॥ सात्त्विक पुरुष देवोंका यजन करते हैं, राजस लोग यक्षों और राक्षसोंका यजन करते हैं, इसके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वे लोग प्रेतों और भूतगणोंका यजन करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ- कई लोग शास्त्रविधिके अनुसार तो कर्म करते नहीं परंतु जो कर्म करते हैं, वह बडी श्रद्धासे करते हैं, उनकी निष्ठा कौनसी समझनी चाहिये? इस प्रश्नके उत्तरमें निवेदन है, मनुष्योंके प्रकृतिके अनुसार तीन भेद होते हैं, उनको सात्विक, राजस और तामस कहते हैं। जिसकी प्रकृति सात्विक होती है, वे देवोंकी उपासना करते हैं, जो राजस प्रकृतिसे युक्त होते हैं वे यक्षराक्षसोंकी पूजा करते हैं और जिनकी प्रकृति तमोगुणी होती है, वे भूत-प्रेत-पिशाचोंकी भक्ति करते हैं। जिसकी जैसी प्रकृति होगी, उसकी वैसी ही कृति अथवा उपासना होगी। अपनी प्रकृतिके विपरीत कोई कुछ कर नहीं सकता ॥ १-४ ॥

(१-४) शास्त्रोक्त कर्म करनेवालोंके सात्त्विक राजस तामस भेद किस तरह पहचाने जाते हैं, इसका वर्णन पूर्व अध्यायमें किया। साथ साथ शास्त्रविधिके अनुसार हरएक कर्म करनेकी प्रशंसा और शास्त्रविधिको छोडकर मनमानी रीतिसे कर्म करनेवालोंकी निंदा भी की गई। तथापि एक शंका ऐसी रह गई कि कई लोग शास्त्रविधिकी बात तो जानते ही नहीं, परंतु जो करते हैं वह बडी धर्मश्रद्धासे करते हैं। उनके मनमें बडी धर्मश्रद्धा होती है। ऐसे श्रद्धालु लोग जो यज्ञ दान तप करते हैं, उनको सात्विक राजस अथवा तामस किस विभागमें रखेंगे? अर्जुनकी इस शंकाका निवारण करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

हरएक मनुष्यमें जो श्रद्धा होती है, वह सात्विक, राजस और तामस ऐसी तीन प्रकारकी होती है। श्रद्धाका अर्थ मनका सुदृढ विश्वास है, तथा मनकी स्वाभाविक प्रवृत्तिका नाम श्रद्धा होता है। कितना भी प्रयत्न किया जाय तथापि जो मनःप्रवृत्ति बदलती नहीं उसका नाम श्रद्धा है।

शरीर, इंद्रियां, मन आदिकी जैसी सत्त्वशुद्धि होती है, उस प्रकार यह प्रवृत्ति शुद्ध अथवा अशुद्ध रहती है और उसके अनुसार सात्त्विक राजस और तामस श्रद्धा प्रकट होती है। यह सत्त्वशुद्धिके ऊपर अवलंवित होनेके कारण जैसी आत्माकी शुद्धि या अशुद्धि होगी वैसीहि यह श्रद्धा होती है। उसमें न्यून वा अधिक नहीं हो सकती।

मनुष्य पूर्णतः श्रद्धाके आधीन होता है। जैसी जिसकी श्रद्धा अर्थात् मनःप्रवृत्ति वैसा ही वह होता है। अपनी मनःप्रवृत्तिके प्रतिकूल कोई विषय किसीके सामने आगया, तो वह उसके समझमें ही नहीं आता। इतना मनुष्य अपनी प्रकृतिके आधीन रहता है। क्रूर प्रकृतिका मनुष्य क्रूर कर्म करनेमें कोई दोष देखता ही नहीं, तथा शान्त प्रकृतिका मनुष्य कभी युद्ध जैसा क्रूर कर्म करनेमें प्रवृत्त होगा ही नहीं। यह श्रद्धासे होनेवाली स्वभावप्रवृत्तिसे होता है।

साधारणतः सात्त्विक लोग देवताओंका भजनपूजन करते हैं, राजस लोग यक्षराक्षसोंके अनुयायी होकर बडी शक्ति प्राप्त करते हैं और उसके द्वारा वहुत भोग बढानेका यत्न करते हैं। तामसी पुरुष भूत प्रेत पिशाच कबरस्थान

(३) अशास्त्रीय रीतिसे तप करनेवाले आसुरी लोग ।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तःशरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

अन्वयः—दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ये जनाः अशास्त्रविहितं घोरं तपः तप्यन्ते ॥ ५ ॥ अचेतसः च ये शरीरस्थं भूतग्रामं अन्तःशरीरस्थं मां च कर्षयन्तः तान् आसुरनिश्चयान् विद्धि ॥ ६ ॥

जो लोग दम्भ और अहंकारसे युक्त हो, कामभोगकी आसक्तिके वेगसे प्रभावित होकर शास्त्रविरुद्ध महाघोर तप किया करते हैं ॥ ५ ॥ तथा जो अविवेकी पुरुष शरीरस्थ पञ्च महाभूतोंके समुदायको तथा शरीरान्तर्गत जो मैं अर्थात् आत्मा है, उसको भी कष्ट देते हैं, उनको आसुरी निश्चयवाले समझो ॥ ६ ॥

भावार्थ– आसुरी स्वभाववाले लोग दम्भ और घमंडसे युक्त होकर, कामभोग भोगनेकी आसक्तिसे शास्त्र-विरुद्ध ही महाघोर तप करते हैं । ये लोग शरीरमें विद्यमान पञ्चभूतोंको तो ताप देते ही हैं, परंतु उनके अन्तर्यामी जो ईश्वरांश आत्मा है उसको भी वडा ताप देते हैं । इनका निश्चय निःसन्देह प्रवल होता है, परंतु वह आसुरी निश्चय है ॥ ५—६ ॥

आदिकी पूजा करते हैं । कौन कैसी उपासना करता है यह देखकर वह मनुष्य किस प्रवृत्तिका है, इसका ज्ञान हो जाता है ।

सात्त्विक वृत्तिवालोंको प्रेतपूजन पसंद नहीं होगा और तामसी श्रद्धावालोंको सात्त्विक देव-पूजा पसंद नहीं होगी । इसी कारण अनेकविध उपासना प्रचारमें आगयी हैं, वह मनुष्योंकी निसर्ग-प्रवृत्तिकी द्योतक है ।

अव अशास्त्रविहित घोर कर्म करनेवालोंकी अवस्था देखिये–

(५-६) कई लोग अशास्त्रविहित दम्भ-अहंकारसे युक्त होकर, घमंडके आधीन होकर, कामोपभोग भोगनेकी शक्ति वढानेके लिये वडा कठोर तप किया करते हैं । इनमेंसे कई लोग हाथ ऊपर ही धरते हुए उसे सुखाते हैं, कई एकही पांवपर खडा रहकर मंत्र-जाप करते हैं, कई तो दोपहरके समय धूपमें चारों ओर अग्नि जलाकर वीचमें वैठकर जप करते हैं, कई खीलोंके फट्टोंपर ही वैठते हैं, कई जलमें चार चार घण्टे खडा होकर मंत्र जपते हैं, कई गुफामें वंद रहकर अनुष्ठान करते हैं, कई तो कठोर उपवास करते हैं, कई अनेक प्रकारके कलेश सहकर कुछ साधन करते हैं, कई लोग उलटे टांगे रहकर जप करते हैं, कई धूवेंमें रहकर धूम्रपान करते हैं, कई तो वहुत दिन निराहार रहते हैं, इस तरह अनेक प्रकारके कष्ट भोगते हुए कुछ साधन करते हैं ।

इनकी इच्छा विशेष वल प्राप्त करनेकी होती है । वह वल प्राप्त करनेपर मुझे वडे भोग प्राप्त होंगे, ऐसा इनका भोग भोगनेका विचार रहता

(३) त्रिविध भोजन।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

अन्वयः- सर्वस्य प्रियः आहारः अपि तु त्रिविधः भवति, तथा यज्ञः, तपः,दानं च (सर्वस्य त्रिविधं भवति) (त्वं) तेषां इमं भेदं शृणु ॥ ७ ॥ आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः आहाराः सात्त्विकप्रियाः (सन्ति) ॥ ८ ॥ कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः दुःखशोकामयप्रदाः आहाराः राजसस्य इष्टाः (भवन्ति) ॥ ९ ॥ यत् यातयामं, गतरसं, पूति, पर्युषितं च, उच्छिष्टं अपि च अमेध्यं भोजनं, तत् तामसप्रियं (अस्ति) ॥१०॥

है और इस विचारकी पूर्तता करनेके लिये अपने शरीरको ये अत्यंत कठोर कष्ट देते हैं। शरीरस्थ सब भूतोंको इनके इस अशास्त्रीय तपके कारण अनेक प्रकारके कष्ट होते हैं।

जो अन्तर्यामी परमात्माका अंश बैठा है उसको भी इस अशास्त्रीय घोर तपस्याके कारण बडे कष्ट होते हैं, जब इस तरह आत्माको ही असंख्य कष्ट होते हैं, तब उनको प्रसन्नता किस तरह प्राप्त होगी ? अतः वे सदा अप्रसन्न, खिन्न, क्रोधसे भरे, आक्रोश करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। उनको तो अनुष्ठान करते हुए भी कष्ट होते हैं और अनुष्ठानके पश्चात् भी कष्ट ही होते हैं।

ये आसुरी वृत्तिवाले रजोगुणी या तमोगुणी लोग सदा दुःखमें ही सडते रहते हैं। इसलिये साधकोंको उचित है कि वे ऐसे अशास्त्रविहित दुःख बढानेवाले साधनोंमें अपने आपको न फंसावें। परंतु जहांतक हो वहांतक सात्त्विक साधनकी ओर झुकनेका यत्न करें।

अपनी मानसिक प्रवृत्तिके अनुकूल जो अपने योग्य सात्त्विक उपासनाका साधन होगा, वही किया करें। इस तरह थोडी भी सत्त्व-प्रवृत्ति दृढमूल हुई, तो वही आगे शनैः शनैः बढती जायगी और कभी न कभी उत्तम सत्त्व-गुणमें उस वृत्तिका विकास होगा।

सबकी रुचिको प्रिय लगानेवाला भोजन भी तीन प्रकारका होता है, तथा यज्ञ, तप और दानभी सबका इसी तरह तीन प्रकारका होता है, उनका भेद बतलाता हूं, सुन ॥ ७ ॥ आयु, सत्त्व बढानेवाले, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढानेवाले, रसयुक्त, स्निग्ध, शरीरमें स्थिररूपसे बडी देर रहनेवाले और मनको आनंद प्रसन्न करनेवाले आहार सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते हैं ॥८॥ कटु अर्थात् चटपटे, खट्टे, नमकीन, उष्ण, तीखे, दाहकारक, तथा दुःख, शोक और रोग बढानेवाले भोजन राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥ जो कुछ कालका रखा हुआ, नीरस, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा तथा अपवित्र भोजन होता है, वह तामस लोगोंको अत्यंत प्रिय होता है ॥ १० ॥

भावार्थ– जिसकी जैसी प्रकृति होती है उसको वैसा अन्न प्रिय होता है। यज्ञ दान तप भी प्रकृतिके अनुरूप ही हुआ करते हैं। आयु, शरीरका सत्व,बल, आरोग्य,सुख और प्रसन्नता बढानेवाले स्निग्ध रसदार अन्न सात्विक लोग आनंदसे सेवन करते हैं। कटु तीखे खट्टे उष्ण दाहकारक अन्न राजस लोग पसंद करते हैं और बासे, अपवित्र, नीरस, जूठे, दुर्गंधयुक्त अन्न तामस लोग पसंद करते हैं ॥ ७–१० ॥

(७-१०) मनुष्यका त्रिविध भाव भोजनसे भी विदित होता है। जिसको जो भोजन मनसे प्रिय प्रतीत होता है,उस भोजनसे उस मनुष्यका वर्ग कौनसा है, यह निश्चय होता है।

कई मनुष्योंको स्निग्ध और मधुर भोजन प्रिय लगता है, कई मनुष्य तीक्ष्ण रूक्ष और विदाहक भोजनमें रुची रखते हैं और कई मनुष्य बासी, सडा हुआ, जूठा और अपवित्र भोजन प्रेमसे खाते हैं। यह उनका प्रकृति स्वभाव है। बडा प्रयत्न करनेपर भी यह बदलता नहीं। जो मनुष्य मनसे कटु तीक्ष्ण रूक्ष और विदाहक चटपटे पदार्थोंका सेवन करना चाहते हैं, उनको स्निग्ध रसदार मीठे मधुर पदार्थ दिये तो वे उनको पसंद नहीं करते। ऐसे मनुष्य अपने समाजमें इस समय हैं कि जो हैयंगवीन घृत (ताजा घी) दूर करके बाजारका बदबूदार घीहि प्रेमसे खाते हैं। आज तैयार हुई रोटी न खाते हुए कलपरसूंकी अधिक रोचक मानकर आनंदसे खाते हैं।

दरिद्रताके कारण जो जूंठा अन्न लेते हैं, अथवा बासी रोटी खाते हैं, उनका प्रश्न ही स्वतंत्र है, वह उनका व्यवहार असहायताके कारण होता है। परंतु घरमें संपत्ति विपुल होनेपर और सात्विक भोजन लेनेके लिये पर्याप्त धन घरमें रहनेपर भी जो चटपटा तथा बासा अन्न स्वादसे तथा प्यारसे सेवन करते हैं, उनकी प्रकृति ही वह अन्न चाहती है इसमें संदेह नहीं है। इस तरह की अन्नकी अभिरुचि मनुष्यकी परीक्षा करनेमें सहायक हो सकती है। मनुष्य सात्विक है वा राजस अथवा तामस इसकी परीक्षा इस स्वाभाविक अभिरुचिसे हो सकती है।

प्रत्येक प्राणीको कोई न कोई आहार स्वभावसे प्रिय होता है। मनुष्य भी कोई इस नियममें अपवाद नहीं है। स्वभावसे ही मनुष्यकी परीक्षा होती है। इस तरह होनेवाली परीक्षामें अशुद्धि नहीं होती, क्योंकि यह परीक्षा स्वभावके अनुरूप होती है।

भोजनप्रियतासे होनेवाली परीक्षा सहजहीसे होनेवाली है, इसमें सदाके लिये कपट

होनेकी संभावना नहीं है। एक दो दिन कोई मनुष्य बतावेके लिये एक पदार्थका सेवन न करते हुए दूसरे पदार्थका सेवन कर सकता है, परंतु सदाके लिये कोई भी मनुष्य विरुद्ध अन्न आनन्दसे सेवन नहीं कर सकता। इस लिये यह परीक्षा सहज होनेवाली है और निःसंदेह होनेवाली है।

यज्ञ दान तपके द्वारा भी परीक्षा हो सकती है, परंतु लोगोंको दिखानेके लिये कोई मनुष्य इसमें मनमें एक होते हुए जनताको दिखानेके लिये दूसरा यज्ञ कर सकता है और इस कपटका किसीको भी पता नहीं लग सकता। दान और तप भी मनःप्रवृत्तिके विरुद्ध किसी समय किये जा सकते हैं। वैसा भोजनका नहीं। स्वभावविरुद्ध भोजन करना पडे, तो वमन भी होता है, क्योंकि शरीर ही उसको बाहर फेंकने का कार्य करता है। सात्त्विक पुरुषको तामस अपवित्र जूंठा वासा अन्न खाना पडे तो वमन होनेमें कोई संदेह ही नहीं। इस कारण इससे मनुष्यके सहज स्वभावकी परीक्षा हो सकती है।

किसी मनुष्यकी परीक्षा कोई दूसरा कर सके या न कर सके, परंतु हरकोई अपनी परीक्षा स्वयं कर सकता है,इसमें संदेह ही नहीं है। आत्मपरीक्षा करनेमें निःसंदेह यह कसौटी सहाय्यक होती है। मनुष्य दूसरोंको ठगा सकता है, परंतु कोई अपने आपको ठगा नहीं सकता। स्वयं अपने आपको पता रहता है कि मुझे स्वभावसे सात्त्विक अन्न प्रिय है अथवा राजस या तामस प्रिय है। बस, यह अपना स्वभाव देखकर अपनी परीक्षा हरकोई कर सकता है। इस आत्मपरीक्षा की दृष्टिसे यह आहारपरीक्षा महत्त्वकी है।

सात्त्विक भोजन।

रसदार होता है, स्निग्ध अर्थात् घृतकी मात्रा उसमें अधिक होती है, हृदयका आनन्द बढाने-वाला होता है, शरीरमें स्थिरता- वीर्यकी स्थिरता करनेवाला होता है। सात्त्विक अन्नसे दीर्घ आयु प्राप्त होती है, सत्त्व अर्थात् जीवन का बल बढता है, शरीरकी शक्ति बढती है, आरोग्य प्राप्त होता है, सुखकी वृद्धि होती है और मानसिक प्रसन्नता होती है। स्वभावतः सात्त्विक लोगोंको यह भोजन अत्यंत प्रिय होता है।

जिस अन्नमें अत्यधिक मिर्च न हो, बहुत खटाई न हो, बहुत नमक न हो, जो अति उष्ण अतिशीत और अति तीक्ष्ण न हो, जो रूखा सूखा न हो, जलाते हुए पेटमें प्रवेश करनेवाला न हो, सब षड्रसोंका ऐसा सम मिश्रण हो कि जिससे सरसता अन्नमें आ जाय, जो बहुत देरसे पडा हुआ न हो, नीरस तथा शुष्क हुआ न हो, जो ताजा बना हुआ हो, जो दुर्गंधि-युक्त न हो, जिसमें सडान न हो, जो उच्छिष्ट न हो, जो अपवित्र न हो, जो स्वच्छ निर्मल, पवित्र हो, देखनेसे मन प्रसन्न होने योग्य, जिसका पवित्र दर्शन हो, जो रसदार होते हुए स्निग्ध और हृदयंगम हो, ऐसे अन्नको सात्त्विक अन्न कहते हैं, और सात्त्विक मनुष्योंको यह स्वभावसे प्रिय होता है। इसके सेवन करनेवालोंको दीर्घायुष्य, सत्त्वसंशुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रसाद प्राप्त होता है। शरीरकी स्वस्थता, इंद्रियोंका सुख और मनकी प्रसन्नता इससे ही सिद्ध होती हैं।

राजस भोजन।

राजस अन्नमें अत्यंत मिर्च, अत्यंत खटाई, अति नमक, अर्थात् हरएक तीक्ष्ण रसकी मात्रा अधिक होती है। अति उष्ण अन्न अथवा अति शीत, अति तीक्ष्ण और अति रूक्ष अर्थात् खुष्की उत्पन्न करनेवाला राजस अन्न होता है। यह अन्न मुखमें रखते ही ज्वलन शुरू होता है, मुखसे नाकसे और आंखसे पानी निकलने लगता है, ऐसी जलन इससे उत्पन्न होती है। पेटमें

पहुंचनेपर वहांभी जलनेका अनुभव आता है। इस जलनसे ही राजसिक लोगोंको आनन्द मिलता है। यह जलन न हुआ तो वे कहते हैं कि यह अन्न बिलकुल फीका है, न इसमें मिर्च है न इम्ली। ऐसा फीका अन्न वे खाही नहीं सकते।

इस राजस अन्नमें खुष्कीकी प्रधानता होती है, चटपटे पदार्थ सूखे रूखे तले हुए रसहीन अन्न होते हैं, स्नेह नहीं होता, रसीलापन नहीं होता, जिससे प्यास बढती है, बहुत पानी पीनेपर भी प्यास नहीं बुझती, ऐसे जो दाह करनेवाले पदार्थ होते हैं व राजस अन्न होते हैं। इनसे रोगोंकी वृद्धि होती है, रोगोंसे दुःख और शोकोंकी वृद्धि होती है। सबको क्लेशोंकी प्राप्ति होती है।

शरीरकी समता इस राजस अन्नसे हटती है, शरीरके सप्त धातुओंमें विषमता बढती है। जिससे रोग और अशान्ति होनेमें कोई देरी नहीं लगती। ऐसे अन्न राजस लोग प्रेमसे खाते हैं और अनेक प्रकारका दुःख भोगते हैं।

राजस अन्नसे आयुष्य क्षीण होता है, धातुक्षय होता है। रोगोंके आक्रमण के कारण बल घटता है, आरोग्य नहीं रहता, इस कारण सुख और मनकी प्रसन्नता उसको कभी प्राप्त नहीं होती। इस तरह अनंत क्लेश राजस अन्नसे होते हैं। इसलिये प्रयत्न करके राजस अन्नका सेवन न्यून प्रमाणमें जितना किया जा सके उतने न्यून प्रमाणमें करना उचित है। स्वभाव राजस होनेपरभी और निजस्वभावके कारण राजस अन्नही प्रिय होनेपरभी मनुष्यको उचित है कि वह नमक मिर्च इमली की मात्रा कम करके अपने भोजनमे स्निग्धता, मधुरता रसमयता का प्रमाण बढावे। प्रयत्न करनेपर थोडा थोडा सुधार होनेकी संभावना रहतीहि है। इसका विचार करके मनुष्यको उचित है कि वह यत्न करके सात्त्विक अन्नका सेवन करनेका यत्न करे और जहांतक हो सके वहांतक राजस अन्नसे दूर ही रहनेका प्रयत्न करे।

शरीरकी प्रवृत्ति बडी बलवत्तर होती है, तथापि मनुष्य दक्षताके साथ प्रयत्न करेगा तो कुछ न कुछ अंशतः सफलता उसको अवश्य प्राप्त हो सकती है इसमें संदेह नहीं है।

तामस भोजन।

जो सडा हुआ, बडी देरका पडा हुआ, कृमिकीटोंसे अपवित्र हुआ, बाल नाखूनोंके स्पर्शसे दोषयुक्त हुआ, अपवित्र, दुर्गन्धियुक्त, उच्छिष्टसे लिया हुआ अन्न तामस होता है। यह हरएक प्रकारके रोगों और अस्वास्थ्यका कारण होता है, बुद्धिको मलिन करता है, आयुकी क्षीणता बढाता है और हरएक प्रकारसे कष्ट उत्पन्न करता है। इससे मनुष्य सुस्त, मलिन और प्रमादी होता है और इस कारण वह अवनत हो जाता है।

तामसी लोग भी इस अन्नका यह भयानक परिणाम जानें और जहांतक संभव हो वहांतक इससे दूर रहनेका यत्न करें। इससे थोडासा भी बचाव हुआ तो बडा अनर्थ टल जाता है।

व्रतनियम।

राजसी और तामसी लोगोंकी देहशुद्धि करनेके लिये ही व्रत और नियम रचे गये हैं। उपवासके दिन और उपासकी तिथियां, सात्त्विक देवताओंकी सार्वजनिक पूजा-अर्चा आदि धर्मनियम मनुष्योंकी राजसिक और तामसिक वृत्तियां शान्त होने और सात्त्विक वृत्ति बढानेके लिये हैं।

उपवाससे शरीरके अणू जलाये जाते हैं और उनके स्थानपर सात्त्विक अन्नके अणु भर दिये जाते हैं। उपवासके दिन दूधही पीना चाहिये, तेलमें तले पदार्थ नहीं खाने चाहिये, आदि नियम

(४) त्रिविध यज्ञ ।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

अन्वयः– अफलाकांक्षिभिः (पुरुषैः) यष्टव्यं एव इति मनः समाधाय विधिदृष्टः यः यज्ञः इज्यते, सः सात्त्विकः (यज्ञः मतः) ॥ ११ ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! फलं तु अभिसंधाय, अपि च दम्भार्थं एवं यत् इज्यते, तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥१२॥ विधिहीनं, असृष्टान्नं, मन्त्रहीनं, अदक्षिणं, श्रद्धाविरहितं च यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

शरीरके राजस और तामस अणुओंको जलाकर उनके स्थानमें सात्त्विक अणुओंकी संख्या बढानेके लिये रचे हैं ।

कृच्छ्रचांद्रायण आदि प्रायश्चित्त, यवागु-भक्षण, घृत-पान, दुग्धपान, फलभोज आदि व्रतोपवासनियम इसी उद्देश्यकी पूर्णताके लिये किये गये हैं । अपने शरीरकी अनुकूलताके अनुसार इनका प्रयोग करनेसे निःसंदेह लाभ होता है । इससे शरीरकी तामस और राजस प्रवृत्ति कम होकर सात्त्विक प्रवृत्ति बढती है । यह परिवर्तन अति शीघ्र नहीं होता, बीसियों वर्षोंके परिश्रमसे कुछ परिवर्तन होता है। क्यों कि शरीरकी प्रवृत्ति बडी बलवती होती है, योंही नहीं बदलती । सात वर्षोंमें शरीरके सब परमाणु बदलकर दूसरे नये आजाते हैं। यदि राजस और तामस परमाणुओंको उपवासादि द्वारा जलाकर सात्त्विक अन्नसेवनके द्वारा सात्त्विक परमाणुओंको शरीरमें भर दिया जाय, तो संभव है कि कुछ वर्षोंके पश्चात् अंशतः सफलता होगी ।

शरीरकी प्रवृत्ति अत्यंत प्रबल होनेके कारण इस परिवर्तनमें बहुत बदल नहीं होता, क्योंकि शरीर ही नहीं चाहता और जबरदस्तीसे परिवर्तन करना चाहेंगे तो शरीर साथ नहीं देता और किसी न किसी तरह विरोधी भाव बढ जाता है और इष्ट सफलता नहीं हो सकती।

इस कारण युक्तिसे और मनकी अनुकूलताके साथ यह व्रतनियमादिका प्रयोग करना उचित है । हठ किया जाय तो दम्भ और मिथ्याचार होकर हानिहि होगी । इसलिये बहुत परिवर्तन करनेकी इच्छा न धारण करते हुए जितना मनकी अनुकूलतासे हो उतनेहीपर संतुष्ट रहना चाहिये ।

बहुत परिवर्तन न हुआ तोभी अपनी निसर्ग-प्रवृत्तिके अनुरूप अपने वर्णके अनुसार कर्म करनेका निश्चय करके और उस कर्मको ईश्वरार्पणबुद्धिसे करनेसे हरकोई मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो सकता है । अतः बहुतपरिवर्तन न होनेपर भी दुःख करनेका कोई कारण नहीं है । अस्तु । अब यज्ञके विषयमें देखें ।

फलकी आशा छोडकर अपना कर्तव्य समझकर, मन शान्त रखकर शास्त्र-विधिके अनुसार जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक यज्ञ कहा जाता है ॥११॥ हे भरतश्रेष्ठ ! फलाशा मनमें धारण करके तथा दम्भसे जो यज्ञ किया जाता है उसको राजस यज्ञ समझो ॥ १२ ॥ शास्त्रविधिके विरुद्ध, अन्नदान न करते हुए, मन्त्रविहीन तथा दक्षिणारहित श्रद्धा न होते हुए जो यज्ञ किया जाता है उसको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ— फलाशा न धारण करते हुए, कर्तव्य करनेके उद्देश्यसे शान्तचित्तद्वारा शास्त्रविधिके अनुसार होनेवाला यज्ञ सात्त्विक है। फलप्राप्तिकी इच्छासे, दम्भसे, अपना ऐश्वर्य बतानेके लिये जो यज्ञ होता है वह राजस यज्ञ है। शास्त्रविरुद्ध, अन्नदानरहित, मन्त्रविहीन, दक्षिणा न देते हुए जो यज्ञ किया जाता है उसको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ ११-१३॥

(११-१३) यज्ञ भी करनेवालेकी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारके होते हैं। उनके नाम सात्त्विक यज्ञ, राजस यज्ञ और तामस यज्ञ हैं। स्वयं यज्ञ सात्त्विक या राजस है ऐसा नहीं, परंतु वह करनेवालेकी मनःप्रवृत्तिके कारण वैसा कहलता है।

सात्त्विक यज्ञ ।

फलका अपने भोगके लिये उपयोग करनेकी अभिलाषा न रखते हुए, शास्त्रमें जो विधि लिखी है उसके अनुसार जो किया जाता है, और इस समय यह यज्ञ करना ही चाहिये, यही मेरा इस कालमें कर्तव्य है ऐसा मानकर, मनकी समाधानवृत्ति रखते हुए जो यज्ञ किया जाता है उसको सात्त्विक यज्ञ कहते हैं।

इसमें स्वार्थी फलभोग की कामना नहीं है, दम्भ नहीं, दिखावा नहीं, अपना ऐश्वर्य दिखानेकी इच्छा नहीं, कोप आदि मनके असमाधानके प्रकार नहीं हैं, यह सात्त्विकताके लक्षण हैं।

राजस यज्ञ ।

यज्ञका फल मेरे भोगके लिये मिलना चाहिये ऐसी भोगतृष्णा मनमें रखकर जो यज्ञ किया जाता है, दम्भसे जो किया जाता है, अपने ऐश्वर्य का ठाठ दर्शाने के लिये जो किया जाता है, अपना कर्तव्य न होते हुए भी केवल दिखावे के लिये किया जाता है उसका नाम राजस यज्ञ है। इस यज्ञके करनेके समय कर्ताका मन शान्त नहीं होता, धनका व्यय होनेके कारण उद्विग्न हुआ होता है। मानापमान के कारण क्रोधादिसे व्याप्त होता है, अपमान-कर्ताका नाश करनेकी भावना सदा मनमें जाग्रत होती है, इत्यादि अनेक कारणोंसे मन अशान्त रहता है। इस कारण यह राजस यज्ञ दुःखदायी हुआ करते हैं।

तामस यज्ञ ।

जो यज्ञ अश्रद्धासे किया जाता है, शास्त्र-विधिकी ओर पूर्ण दुर्लक्ष्य करके किया जाता है, अन्नदान तथा दक्षिणाका दान जिसमें नहीं होता है और यथायोग्य रीतिसे मंत्रोंका उच्चारण भी जिसमें नहीं किया जाता, उस यज्ञका नाम तामस यज्ञ है। इससे न करनेवालेको यश मिलता है और न दूसरोंका हित होता है, संभवतः दोनों का अहितही होनेकी संभावना इसमें होती है।

इसलिये तामस यज्ञको अत्यंत हीन माना गया है, क्योंकि इससे सब प्रकारकी हानि ही

(५) त्रिविध तप।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

अन्वयः— देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं, शौचं, आर्जवं, ब्रह्मचर्यं, अहिंसा च इति शारीरं तपः उच्यते ॥ १४ ॥ यत् अनुद्वेगकरं सत्यं प्रियहितं वाक्यं च (यत्) स्वाध्यायाभ्यसनं च, (तत्) एव वाङ्मयं तपः इति उच्यते ॥१५॥ मनःप्रसादः सौम्यत्वं, मौनं, आत्मविनिग्रहः, भावसंशुद्धिः इति एतत् मानसं तपः उच्यते ॥ १६ ॥

देवता, द्विज, गुरु और ज्ञानियोंकी पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को कायिक तप कहते हैं ॥ १४ ॥ जो मनका उद्वेग न करनेवाला सत्य प्रिय तथा हितकारक भाषण है और जो स्वाध्यायका अभ्यास करना है उसको वाचिक तप कहते हैं ॥ १५ ॥ मनकी प्रसन्नता रखना, सौम्यता धारण करना, मौन अवलंबन करना, आत्मनिग्रह, और आत्माकी सम्यक् शुद्धता करना, यह सब मानसिक तप कहलाता है ॥ १६ ॥

होती है। ये तीन प्रकारके यज्ञ हैं, इनका पाठक विचार करें। हरएक कर्म इस तरह तीन प्रकार का हो सकता है।

सात्त्विक कर्मके लक्षण— फलासक्तिका न होना, यथाशास्त्रविधिके अनुरूप कर्म करना और कर्तव्य समझकर करना।

राजसिक कर्मके लक्षण— फलपर आसक्त होना, अपने भोग बढानेके लिये कर्म करना, दम्भसे कर्म करना, दिखावेके लिये करना।

तामसिक कर्मके लक्षण— कर्तव्याकर्तव्यका विचार छोडना, शास्त्रविधिका विचार ही न करना, विधिको छोडकर ही करना, अन्नदान और कर्मकर्ताको योग्य दक्षिणा न देना, श्रद्धा का न होना और मंत्रपूत कर्म न करना ये तामस कर्मके लक्षण हैं।

हरएक मनुष्य इनका विचार करके अपने द्वारा जो कर्म होते हैं वे किस प्रकारके होते हैं, इसका निर्णय कर सकता है। अस्तु। अब त्रिविध तपका विचार देखिये—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

अन्वयः— अफलाकांक्षिभिः युक्तैः नरैः परया श्रद्धया तप्तं यत् त्रिविधं तपः, तत् सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥ सत्कारमानपूजार्थं दंभेन च एव यत् तपः क्रियते, तत् इह राजसं, चलं, अध्रुवं प्रोक्तम् ॥ १८ ॥ मूढग्राहेण आत्मनः पीडया, परस्य उत्सादनार्थं वा यत् तपः क्रियते, तत् तामसं उदाहृतम् ॥ १९ ॥

फलभोगकी आसक्ति न रखनेवाले, योगावलम्बी साधकोंने जो उत्तम श्रद्धासे इन तीनों प्रकारोंका तप किया जाता है उसको सात्त्विक तप कहते हैं ॥ १७ ॥ जो अपने सत्कार मान और पूजा के लिये अथवा दम्भसे तप किया जाता है उस अस्थिर और चंचल तपको राजस तप कहते हैं ॥ १८ ॥ मूढतासे दुराग्रहसे, स्वयं कष्ट करके तथा दूसरोंको उखाडने के लिये जो तप किया जाता है उसे तामस तप कहते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—श्रद्धासे देवताओंकी पूजा करना, शुद्धता धारण करना, सरल स्वभाव, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का धारण करना यह शारीरिक तप है । हित मित प्रिय और सौम्य भाषण करना और सद्विद्याध्ययन करना वाचिक तप है । मनको प्रसन्न रखना, शान्तिका अवलंबन करना, मौन धारण करना, संयम करना और आत्मशुद्धि करना मानसिक तप है । फलभोग की आसक्ति न धारण करनेवाले योगसाधन करनेवाले उत्तम श्रद्धासे युक्त होकर जो ये तीनों प्रकारके तप करते हैं उसे सात्त्विक तप कहते हैं । इससे सबको सुख होता है । जो अपनी प्रतिष्ठा मान और ऐश्वर्यके दिखाने के लिये दम्भसे किया जाता है वह राजस तप चंचल और अस्थिर होता है, उसका फल कभी शाश्वत नहीं होता । जो तप मूढता और दुराग्रहसे किया जाता है, जिसमें स्वयं भी कष्ट सहे जाते हैं और दूसरोंको भी दुःख दिया जाता है वह तामस तप होता है । इससे सबको दुःखही होता है ॥ १४-१९ ॥

त्रिविध तप ।

(१४-१९) तपके शारीरिक, वाचिक और मानसिक ऐसे तीन भेद होते हैं । शरीरसे किया जानेवाला तप शारीरिक, वाणीसे होनेवाला तप वाचिक और मनसे होनेवाला तप मानसिक है । शारीरिक तपमेंभी मनका प्रयोग बिलकुल नहीं होता ऐसी बात नहीं है, परंतु यहां मुख्य साधनकी अपेक्षासे ये नाम दिये हैं ।

शारीरिक तप ।

द्विजोंकी अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंकी सेवा करना, ज्ञानी शूर और व्यापारियोंका संमान करना, देवताओंकी पूजा करना, गुरु अध्यापक

शिक्षक ज्ञानदान करनेवालोंका आदर करना, जो विशेष ज्ञानीजन हैं किसी विद्यामें प्रवीणता रखते हैं उन सबकी पूजा करना, उनका आदर सत्कार करना, उनकी हरएक प्रकारकी सहायता करना, यह शारीरिक तप कहलाता है, क्योंकि इसमें शारीरिक परिश्रमद्वाराही यह सेवा की जा सकती है। ब्रह्मचर्य शारीरिक तप इसलिये है कि इससे शरीरके बीजभूत वीर्यका संरक्षण होता है और ब्रह्मचर्यनाशसे वीर्यका नाश होनेसे शरीरका भी नाश हो जाता है।

शुचिता पवित्रता शुद्धता यहां शरीरकी अपेक्षित है जो शारीरिक प्रयत्नोंसे की जानेवाली है। सरलता (आर्जव) यहां शारीरिक है परंतु (शौच) शुद्धता और (आर्जव) सरलता जैसी शारीरिक होती है वैसीहि वाचिक और मानसिक भी होती है।

अहिंसा दूसरेके शरीरका नाश करनेसे होती है जो शारीरिक है, परंतु हिंसा और अहिंसा यह वाचिक और मानसिक भी होती है। इस लिये जो यहां शारीरिक तप करके कहा है वह दिशामात्र समझना चाहिये। ऐसा न समझनेसे किसीके मनमें वाचिक हिंसा नहीं होती है, ऐसा भाव बैठ सकता है, वह अशुद्ध भाव है। हिंसा वाचिक भी है, इसी तरह शौच और आर्जव आदिके विषयमें समझना योग्य है।

वाचिक तप।

दूसरेको कष्ट देनेवाला वाक्य न उच्चारण करना, सत्य प्रिय और हितकारक भाषण करना, विद्याध्ययन करना यह वाङ्मय तप है। दूसरेके हृदयको पीडा होने योग्य भाषण कदापि करना नहीं चाहिये। यह वाणीका संयम है। इससे दोषयुक्त भाषणका उच्चारण नहीं होगा। इसके पश्चात् क्या बोलना चाहिये और कैसा बोलना चाहिये यह प्रश्न उपस्थित होता है, उसका उत्तर सत्य-प्रिय-हित भाषण करना चाहिये यह है। जो बोलना हो वह सत्य हो, सुननेवालेको प्रिय लगे और बोलने तथा सुननेवालेका जिससे हित हो, सबका हित हो और किसीका अत्यंत अहित न हो। ऐसा भाषण करना हो तो बडी सावधानता धारण करनी चाहिये।

पहिली सावधानता सत्यासत्यके निर्णय के लिये धारण करनी चाहिये। यह निर्णय यौंहि नहीं हो सकता। बडे चातुर्य के साथ सत्यनिर्णय होना संभव है। सत्यनिर्णय हुआ, अब सत्य बोलना है, परंतु सत्य बोलना हुआ तो भी वह कटु बोलना नहीं चाहिये, प्रिय लगने योग्य उत्तम रीतिसे बोलना चाहिये। भाव सत्यही रहे परंतु बोलनेकी पद्धति मधुर हो।

कई लोग मधुर भाषण करनेकी इच्छासे असत्य तथा वृथा प्रशंसायुक्त बोलते हैं, वह बहुतही बुरा होता है। वह सत्य नहीं होता। अस्तु। इस तरह सत्य और प्रिय बोलना चाहिये यह इसका आशय है।

सत्य और प्रिय बोलनेके साथ और एक शर्त है वह हितकारक भाषण करनेकी है। सत्य भी हो, प्रियभी लगता हो, परंतु हितकारक न हो तो वह बोलना उचित नहीं है। जो जो सत्य हो वह सब बोलही देना चाहिये ऐसी बात नहीं है, वैसाही जो प्रिय हो वह भी अवश्य बोलना चाहिये ऐसी भी बात नहीं है। परंतु जो हितकर हो वह सत्य बात प्रिय लगने योग्य मधुर पद्धतिसे बोलना योग्य है। इस तरह सत्य-प्रिय-हित भाषण करना चाहिये। जो साधक इन तीन परीक्षाओंसे परीक्षित हुआ भाषण करेगा, उसके इस भाषणरूप तपसे ही उसकी उन्नति होगी। बोलनेके समय जो मैं बोलना चाहता हूं क्या वह सत्य है? क्या वह प्रिय है? और क्या वह हितकर है? ये तीन प्रश्न पूछकर यदि इन तीनों प्रश्नोंका अनुकूल उत्तर आगया तो वह भाषण करना

चाहिये। इन तीन प्रमाणोंसे सुपरीक्षित भाषण करनेसे बहुतसा भाषण करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी और मनुष्यकी उतनी शक्ति बच जायगी। शक्तिके बचनेसे उस शक्तिका किसी श्रेष्ठ कर्ममें उपयोग किया जा सकता है। जो मनुष्य बहुत बोलते हैं वे अपनी शक्तिका व्यर्थ व्यय करते हैं और अपनीहि अद्भुत शक्ति विना योग्य कारणके नष्ट करते हैं। इस तरह विचार करनेपर पता लग जायगा कि यह वाङ्मय तप मनुष्यकी उन्नति करनेवाला अवश्य है।

अब (स्वाध्यायाभ्यसनं) स्वाध्यायका अभ्यास करनेके विषयमें विचार करना रहा है। स्वाध्याय का मूल अर्थ 'स्व' नामक एक अखंड तत्त्व है उसका अध्याय अर्थात् अध्ययन। इस स्वाध्याय का अभ्यास करना वाङ्मय तप है। इस स्वाध्यायमें किन किन विद्याओंका समावेश होता है, इसका विचार करना यहां अत्यंत आवश्यक है।

'स्व' शब्द 'आत्मा' का वाचक है और आत्माका प्रभाव संपूर्ण विश्वान्तर्गत सब वस्तुओं पर पडा है। कोई वस्तु इस प्रभावसे दूर नहीं, इस कारण स्वाध्यायमें संपूर्ण विश्वान्तर्गत जितनी विद्याएं हैं उन सबका अन्तर्भाव होता है। कोई सद्विद्या ऐसी नहीं कि जो स्वाध्यायमें नहीं आती है। अतः संपूर्ण सद्विद्याओंका अन्तर्भाव स्वाध्याभमें होता है और संपूर्ण सद्विद्याओंका अध्ययन- अभ्यास- करना स्वाध्यायाभ्यसनमें समाविष्ट होता है। इसका विचार करनेसे पाठकोंको ज्ञात हो सकता है कि स्वाध्यायाभ्याससे सब उन्नतिसाधक विद्याओंका अभ्यास लेना है जो मनुष्य मात्रको अवश्यही करना चाहिये।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेषधर्मः सनातनः।
(मनु० ४।१३८)

असत्यभाषण न किया जाय, अहितकर भाषण न किया जाय, अप्रिय कठोर रीतिसे भाषण न हो, मनको दुःख जिससे हो वैसा भाषण न बोला जाय, यह सब न बोलने योग्य है, और किया क्या जाय? तो सब सत्य विद्याओंका स्वयं अध्ययन करके उस सच्छास्त्र विद्याका खूब प्रचार करनेका कार्य किया जावे। यही वाङ्मय तप है जो हरएकको करना चाहिये।

मानसिक तप।

प्रसन्नचित्त रहना, किसी प्रकारकी परिस्थिति प्राप्त हुई तोभी मनको अप्रसन्न न होने देना, मनकी सौम्यवृत्ति सदा स्थिर रखना, मनमें क्रूर वृत्ति उठने न देना, अपना मनोनिग्रह, इंद्रियनिग्रह आत्मसंयम करना, अपनी सब शक्तियोंको स्वाधीन रखना, (भाव-सं-शुद्धि) अपनी अन्तःकरणकी उत्तम पवित्रता रखना और मौन धारण करना मानसिक तप कहलाता है।

मौन धारण करनेसे एक तो अपनी वाणीके दोषोंके कारण जो अनर्थ होना संभव होंगे वे टलते हैं, वे नहीं होते, और दूसरी बात यह है कि अपनी शक्तिका व्यर्थ व्यय नहीं होता वह शक्ति संग्रहित होती है। हम जो भाषण करते हैं उस कारण हमारी बहुतही शक्ति नष्ट होती है। अतः यदि अपनी शक्तिका व्यय होना ही है तो उस भाषणका संयम करनेसे अथवा नियमित प्रयोग करनेसे अपना लाभ ही है। मौनावलंबनसे अपनी आत्मिक शक्तिका ज्ञान होता है। मौनधारण एक प्रबल योगसाधन है। साल छः मास मौन धारण करनेसे बडे लाभ होते हैं, परंतु सप्ताहमें एक दिन मौन धारण करनेसे भी बडा लाभ होना संभव है। मनस्ताप के शमनार्थ मौनावलंबन करना योग्य है।

आत्मनिग्रहमें मनःसंयम, इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह आदिका समावेश होता है। अपनी संपूर्ण शक्तियोंकी स्वाधीनता करनेसे अपनी शक्तिकी वृद्धि होती है। अनिग्रहसे जो स्वैराचार होता है वह शक्तिकी क्षीणता करनेवाला है अत;

आत्मनिग्रह करनेसे शक्तिकी क्षीणता नहीं होती।

'भावसंशुद्धि' का अर्थ अपने अन्तःकरणकी पवित्रता है। मनके अन्दर जो भाव होते हैं वे परिशुद्ध ही हों, मनमें कभी बुरे भाव न उठें, मनमें कभी अशुद्ध कल्पना न खडी हो, ऐसा करनेका नाम ही भावसंशुद्धि है। जिसकी भावसंशुद्धि हुई उससे कुकल्पनाका प्रचार कभी नहीं हो सकता। भावशुद्धि हुई तो मनुष्यकी आत्मिक उन्नति हुई ऐसा समझना चाहिये।

मनका सौम्यपन यह अहिंसाका प्रतीक है। हिंसा क्रूरतासे होती है। इसके विरुद्ध मन सौम्य-शान्त-भावसे युक्त हुआ तो उससे हिंसा नहीं होती। सौम्य स्वभाव मानवी पूर्णत्वका द्योतक है।

इस तरह यह मानसिक तप है। मनुष्य परम उच्च साधनासेही इस मानसिक तपको कर सकता है। यह शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप सात्त्विक-राजस-तामस भेदसे त्रिविध हुआ करता है, इसका वर्णन अब देखिये–

सात्त्विक तप।

परम श्रद्धासे जो तप किया जाता है, जिसमें फलका स्वयं उपभोग करनेकी आकांक्षा नहीं होती, जो कर्तव्य समझ कर हि किया जाता है, जिसमें अपना ऐश्वर्य दिखानेकी अभिलाषा नहीं होती, जिससे दम्भका लेश भी नहीं होता, अपना मानसंमान वढानेकी इच्छा जिसमें नहीं होती, अपने लिये तथा दूसरोंको पीडा होनेकी संभावना ही जिसमें नहीं प्रत्युत जिससे सबका हित होनेकी संभावना है, सब जनताकी सुस्थिरता, जिससे सबका हित होनेकी संभावना है, सब जनताकी सुस्थिरता जिससे सिद्ध हो सकती है ऐसा जो परम उच्च तप है उसको सात्त्विक तप कहा जाता है।

राजस तप।

अपना मान बढे, इसने इतना दान दिया है इसकी घोषणा चारों ओर होती रहे ऐसी प्रबल इच्छा जिसके अन्दर है, इससे अपना सत्कार चारों ओर होना चाहिये ऐसी आकांक्षा जिस तपके करनेके पहिले मनमें उत्पन्न हुई थी और जिसकी प्रेरणासे यह तप करनेकी स्फूर्ति हुई, इस तपसे जो उपभोग प्राप्त होंगे उनका भोग लेकर मैं बहुत सुख प्राप्त करूंगा ऐसा भोग वढानेका भाव जिस तपके करनेमें सदा जाग्रत रहता है, जो घमंडसे और बतावेके लिये किया जाता है, उस तपको राजस तप कहते हैं।

तामस तप।

जो मूढताके दुराग्रहसे किया जाता है, जिसमें करनेवालेके लिये पीडा होती है और देखनेवालोंको भी कष्ट होते हैं, जिसमें सबके हितकी भावना तो होतीहि नहीं परंतु इसके विरुद्ध दूसरेको जडसे उखाड देनेकी प्रबल इच्छा रहती है उसको तामस तप कहते हैं। तामस तपसे करनेवालेकी जैसी अधोगति होती है वैसीहि उसको उत्तेजना देनेवालोंकी भी अधोगति होती है।

फलभोगकी इच्छा न होनेसे सात्त्विक, प्रबल फलभोगकी आकांक्षासे राजस और मूढतासे तामस कर्म होता है। इन लक्षणोंको विचार-दृष्टिसे देखकर अपने द्वारा किस तरहके कर्म होते हैं इसका निश्चय हरएकको करना चाहिये। और यदि विचार सात्त्विक होते हों तब तो ठीक ही है, परंतु यदि राजस अथवा तामस होते हों तो अपनी सत्त्वशुद्धि करनेका यत्न हरएकको करना चाहिये। प्रयत्न करनेपर कुछ न कुछ सत्त्वसंशुद्धि अवश्यही हो जायगी इसमें संदेह ही नहीं है।

तपका प्रभाव।

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्।
तपो मध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः॥
ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्॥
औषधान्यगदो विद्या दैवा च विविधा स्थितिः।
तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम्॥

(६) त्रिविध दान।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अन्वयः— दातव्यं इति यत् दानं देशे च काले च पात्रे (च) अनुपकारिणे दीयते, तत् दानं सात्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥ यत्तु प्रत्युपकारार्थं, फलं उद्दिश्य वा, पुनः परिक्लिष्टं च दीयते, तत् दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥ यत् दानं असत्कृतं अवज्ञातं, अदेशकाले अपात्रेभ्यः च दीयते, तत् तामसं उदाहृतम् ॥ २२ ॥

दान देना अपना कर्तव्य है ऐसा समझकर जो दान योग्य देशमें, योग्य कालमें और योग्य पात्रमें, प्रत्युपकार न करनेवाले को दिया जाता है वह सात्त्विक दान है ॥ २० ॥ प्रत्युपकारकी आशासे फलभोगकी इच्छासे तथा बडे कष्टोंसे जो दिया जाता है उसे राजस दान कहते हैं ॥ २१ ॥ जो दान निन्दा करते हुए तथा अपमान करते हुए अयोग्य देशमें, अयोग्य समयमें और अयोग्य पात्रमें दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—कर्तव्य जानकर देश काल और सत्पात्र देखकर प्रत्युपकारकी आशा छोडकर होनेवाला दान सात्त्विक है, प्रत्युपकार की आकांक्षासे, फलभोग की आसक्तिसे तथा दान देनेकी इच्छा मनमें न होते हुए बडे मनस्तापसे दिया जानेवाला दान राजस है, और दूसरोंका अपमान करके क्रोध और आक्रोश करते हुए, निंदा करते हुए पात्रा-पात्रादि विचार न करके जो दान दिया जाता है वह तामस दान होता है ॥२०—२२॥

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥
महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषात् ॥
(मनु० अ० ११ श्लो० २३४-२३९)

"तपसे सब उत्कर्ष प्राप्त होता है, सब सुख तपसे ही मिलता है। ब्राह्मणका तप ज्ञानही है, क्षत्रियका तप प्रजाका रक्षण करना है, वैश्यका तप व्यापारव्यवहार है, और शूद्रका तप परिचर्या करना है। सब प्रकारकी विद्या चिकित्सा कला आदि सब तपसे साध्य होती है। जो दुष्प्राप्य है वह सब तपसे प्राप्त होता है, महापातकी और अत्याचारी भी तप करनेसेहि सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।" ऐसा तपका प्रभाव है अतः उत्तम सात्त्विक तप करना मनुष्योंको उचित है। अब दानका विचार करिये—

(२०-२२) दान देना अपना कर्तव्य है ऐसा देखकर देश काल परिस्थितिका विचार करके

(७) ओं तत्सत्

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

अन्वय—ओं तत् सत् इति ब्रह्मणः त्रिविधः निर्देशः स्मृतः, तेन ब्राह्मणाः वेदाः यज्ञाः च पुरा विहिताः ॥२३॥ तस्मात् ब्रह्मवादिनां विधानोक्ताः यज्ञदानतपःक्रियाः ॐ इति उदाहृत्य सततं प्रवर्तन्ते ॥ २४ ॥ मोक्षकांक्षिभिः तत् इति (उदाहृत्य) फलं अनभिसंधाय विविधाः यज्ञतपःक्रियाः दानक्रियाः च क्रियन्ते ॥ २५॥ (ज्ञानिभिः) सत् इति एतत् सद्भावे च साधुभावे च प्रयुज्यते; तथा हे पार्थ! प्रशस्ते कर्मणि सत् शब्दः युज्यते ॥२६॥

'ओं तत् सत्' ऐसा ब्रह्मका तीन प्रकारसे निर्देश किया जाता है। इसीसे पूर्व समयमें ब्राह्मण वेद और यज्ञ निर्मित हुए ॥ २३ ॥ इस कारण ब्रह्मवादी लोगोंके यज्ञ, दान, तप और कर्म ओंकारका उच्चारण करके सतत किये जाते हैं ॥ २४ ॥ मोक्षप्राप्तिकी इच्छा करनेवाले लोग 'तत्' शब्दका उच्चारण करके, फलकी भोगतृष्णा छोडकर विविध यज्ञ तप और क्रियाएं किया करते हैं ॥ २५ ॥ ज्ञानी लोग 'सत्' इस शब्दका प्रयोग सद्भाव और साधुभावके अर्थमें करते हैं, इसी प्रकार हे पार्थ! प्रशस्त कर्मोंके लियेभी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥

जो सत्पात्रमें दान दिया जाता है उसको सात्त्विक दान कहते हैं। नाम हो, फल प्राप्त हो, इससे प्रत्युपकार होता रहे, इस मनोभावनासे परंतु कष्टसे जो दिया जाता है उसको राजस दान कहते हैं। देश-काल-परिस्थितिके विपरीत, निंदा करते हुए, दूसरेका अपमान करके कुपात्र में जो दान दिया जाता है उसको तामस दान कहते हैं।

सात्त्विक दानसे सबका कल्याण होता है, राजस दानसे दाताका अहंकार बढता है और तामस दानसे देनेवाले और लेनेवालेकी हानि होती है। यह जान कर जहांतक हो सके वहां तक प्रयत्न करके दानमें तामस भाव कम हो और सात्त्विक भाव अधिक हो ऐसा यत्न करना चाहिये।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

अन्वयः— यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सत् इति च उच्यते । तदर्थीयं च कर्म सत् इति अभिधीयते ॥ २७ ॥

यज्ञ, तप और दान में जो स्थिर भावना रखनी होती है, उसको भी 'सत्' कहते हैं । तथा उसके निमित्त जो कर्म होता है, उसको भी 'सत्' ही कहते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ- ब्रह्मका निर्देश 'ॐ तत् सत्' इन तीन शब्दोंसे किया करते हैं । इस कारण यज्ञ दान तप कर्म अथवा वेदोच्चारण करनेके समय 'ॐ' कहा जाता है। 'तत्' कहकर निष्काम-भावसे कर्म करते हैं जिससे मोक्ष प्राप्त हो सकता है । अस्तित्व, साधुता और प्रशस्त कर्मके अर्थमें 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है, यज्ञ तप दान में दत्तचित्त होनेको भी 'सत्' कहते हैं और इसमें जो शुभ कर्म करते हैं उसका नाम भी सत् ही है । इस तरह 'ॐ तत्सत्' का निर्देश ब्रह्म-वेद-कर्मका वाचक है और यह परम पवित्र निर्देश है ॥ २३—२७ ॥

(२३—२७) ब्रह्मका निर्देश 'ओं-तत्-सत्' इन तीन पदों से करते हैं । 'तत्' का अर्थ 'वह'। वह तत्त्व जो है वही 'सत्' है अर्थात् त्रिकालाबाधित है, तीनों कालोंमें एक जसा रहनेवाला है, किसी भी कालमें उसमें परिवर्तन होनेवाला नहीं है। वही एक सत्य वस्तु है और उसीका 'ओं' नाम है। ओंकार उसी सद्वस्तुका वाचक है। ओंकार यह 'ओं' ही है। यह शब्द 'ॐ, ओं, ओ३म्' ऐसा लिखा जाता है। इसके अनेक अर्थ हैं जो सबके सब मनन करने योग्य हैं, इनमें से कुछ यहां दिये जाते हैं-

ओंकार के अर्थ ।

'मांडूक्य उपनिषद्' में 'अ+उ+म्' इन ओंकारके अन्दर के तीनों अक्षरोंका अर्थ क्रमसे 'जाग्रति-स्वप्नस्थिति—सुषुप्ति' देकर कहा है कि आत्माकी यह तीन अवस्थाएं हैं, अर्थात् इन तीन स्थितियोंमें आत्माकी शक्ति प्रकट होती है और अर्धमात्राकी जो चतुर्थी तुर्या अवस्था है वह उसकी स्वरूपस्थिति है। अर्थात् जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यामें प्रकट होनेवाली सब शक्ति आत्माकीहि है। ओं शब्दसे यही अर्थ मांडूक्योपनिषद् में लिया है। इन अक्षरोंके अन्य अर्थ ये हैं-

अ—(अवति, रक्षति, अतति, सातत्येन तिष्ठति इति अः) आदिम, प्रथम, सबसे पहिला, (आप्त, व्याप्त) सर्वव्यापक, सर्वत्र प्राप्त होनेवाला। ब्रह्मा, शिव, वायु, वैश्वानर, मूल तत्त्व। जाग्रति। जाग्रतिमें होनेवाला अनुभव।

उ—उत्कर्ष, उत्तम स्थिति, आदि अन्तको जोडनेवाली मध्य स्थिति, उभय अवस्थाओंका संग्रह (साम्यावस्था)। शब्द। शिव, ब्रह्मा, चन्द्रकला । स्वप्नस्थिति, स्वप्नमें होनेवाला अनुभव।

म्—परिमाण, लय, अन्तिम अवस्था। समय। विष, चन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, यम। जल, सुख, आनंद। सुषुप्ति-स्थिति, सुषुप्ति स्थितिमें आनेवाला अनुभव। ब्रह्मस्वरूपी स्थिति।

(अर्धमात्रा)- अद्वैत, अनिर्वचनीय आत्माकी शुद्ध अवस्था।

ओंकारके तीन पाद और चतुर्थ अर्धमात्राके ये अर्थ हैं। मनुष्यको जो ज्ञान इस विश्वमें मिलता है, वह जाग्रति स्वप्न और सुषुप्ती इन तीन अवस्थाओंमें ही प्राप्त होता है, इससे भिन्न और किसी अवस्थाका अनुभव मनुष्य नहीं प्राप्त कर सकता। इस लिये इन तीन अवस्थाओं का निदर्शक ओंकारही संपूर्णताका प्रदर्शक माना जाता है। और-

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं।
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वं ओंकार एव।
(मां० उ० १)

'ओं इस एक अक्षर का अर्थ यह सब है, भूत वर्तमान और भविष्यकालमें होनेवाला सब कुछ ओंकार ही है।' अर्थात् ऐसी कोई वस्तु हमारे ज्ञानमें नहीं आ सकती कि जो ओंकारमें नहीं समाविष्ट होती। अर्थात् सब कुछ, जो है, वह सब ओंकारसे ही बताया है, वह ओंकार ही है। ओंकारसे भिन्न यहां कुछभी नहीं है।

इसी लिये यहां कहा है कि 'ओं' (तत् सत्) वह सद्वस्तु है, क्योंकि सब कुछ जो है उसका नाम 'ओं' ही है। इस ओं शब्दका मूल अर्थ भी देखने योग्य है-

अवति इति ओम्।

जो सबका अवन-रक्षण करे उसको ओं कहते हैं। अवनके अर्थ ये हैं— 'अव=रक्षण-गति-कान्ति—प्रीति-तृप्ति--अवगम--प्रवेश-श्रवण-स्वाम्यर्थ-याजना-क्रिया-इच्छा-दीप्ति-अवाप्ति-आलिंगन- हिंसा-आदान-भाग-वृद्धिषु।'

१ रक्षण- संरक्षण करना,
२ गति- हलचल करना,
३ कान्ति- प्रीति करना, प्रिय होना,
४ प्रीति- संतोष करना, संतोष देना,
५ तृप्ति- समाधान प्राप्त करना,
६ अवगम- जानना, ज्ञान प्राप्त करना,
७ प्रवेश- घुसना, व्यापना,
८ श्रवण- सुनना,
९ स्वाम्यर्थ, सामर्थ्य- अधिकार जमाना, स्वामी होना, समर्थ होना,
१० याजना- मांगना,
१२ क्रिया- कर्म करना,
१३ इच्छा- इच्छा करना,
१४ दीप्ति- प्रकाशित होना,
१५ अवाप्ति- प्राप्त होना,
१६ आलिंगन- आलिंगन देना,
१७ हिंसा- (विरोधीका) नाश करना,
१८ आदान (ग्रहण)- स्वीकार करना,
१९ भाव- होना, अस्तित्व रखना,
२० वृद्धि- वढना,
२१ भाग (भजनीय)- भाग होकर रहना, सेवन करना,
२२ दहन- जलाना।

ये सब अर्थ 'अव्' धातुके हैं और इस 'अव्' धातुसे 'ओं' होनेके कारण 'ओं' के अंदर भी ये सब भाव हैं। जाग्रति-स्वप्न-सुषुप्ति तथा उत्पत्ति-स्थिति-लयके अन्दर समाविष्ट होनेवाले ये सब भाव हैं। इसी लिये ओंकारके अर्थोंमें इन सब भावोंका समावेश किया जाता है। अर्थात् 'ओं' कारसे (तत्) वह तत्त्व बताया जाता है कि जो (सत्) सत् है, उससे भिन्न और कोई सद्वस्तु नहीं है। इतना 'ओं तत् सत्' का आशय है। यह परमेश्वरका सत्य नाम है जो हरएक कर्मके आदि अन्तमें बोला जाता है, ताकि उस कर्मकी उत्तम सफलता हो और उस कर्मके द्वारा कर्ताको शुभ फल प्राप्त होकर कर्ता कृतकृत्य होवे।

'ओं तत्सत्' इति ब्रह्मणः निर्देशः।

'ओं तत्सत्' यह ब्रह्मका-परब्रह्मका-परमात्माका-परमेश्वरका निर्देश अथवा संकेत है। इस निर्देशसे ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञोंका विधान होता आ रहा है, क्योंकि ब्रह्मको

(८) असत् ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

जाननेवाले ब्राह्मण हैं। ब्रह्मका वर्णन वेदोंमें है और कर्मरूप यज्ञ भी ब्रह्मरूपही है। ब्रह्मसे ही उत्पन्न होनेके कारण ब्राह्मण वेद और यज्ञोंका यह 'ओं तत्सत्' ही संकेत हुआ है। इसी कारण ओंकारका उच्चारण करके ही यज्ञ दान तप आदि क्रियाएं ब्रह्मवादी लोग करते हैं। ओंकार की इसी कारण अत्यंत पवित्रता मानी है। संपूर्ण शब्द-ब्रह्मका मूल ओंकारमें है जिससे सब शब्दमय वेदादिकी उत्पत्ति हुई है।

शब्दगुण आकाशतत्त्वसे सब सूर्य चंद्र पृथ्वी वायु आदि तत्त्व बने हैं और आकाश आत्मासे ही हुआ है। इस तरह वस्तु और नाम एक ही तत्त्वके आविष्कार हैं। (आत्मनः आकाशः संभूतः)

आत्मा (ब्रह्म)
|
आकाश

नाद (ओं)	वायु
शब्द	अग्नि
स्वर	आप्
व्यंजन	पृथ्वी
पद	वनस्पति
मंत्र V	V प्राणी

इस तरह आकाशतत्त्वसे एक ओर नादसृष्टि हुई है और दूसरी ओर उसी आकाश-तत्त्वसे पंचभूत उत्पन्न होकर प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है। नामरूपात्मक विश्व इस तरह परस्पर संबंधित है।

फलसंगकी कामना छोडकर यज्ञ तप और विविध प्रकारके दान 'तत्' (वह परब्रह्म परमात्मा सत्य स्वरूप है) इस शब्दका उच्चार करके, अर्थात् उस परमात्माकी संतुष्टि के लिये ही यह सब किया जाता है ऐसा संकल्प करके, किये जाते हैं। इस सबका समर्पण उस परमात्माके लिये होनेके कारण फलभोग के कारण होनेवाले दोष कर्ताको नहीं लगते।

'सत्' शब्दके अर्थ 'अस्तित्व, होना, शुभ, प्रशस्त कर्म' ये होते हैं। तथा 'यज्ञ तप दान और ईश्वरार्पण बुद्धिसे किया हुआ कर्म' यह भी 'सत्' शब्दका अर्थ है।

'ओं तत् सत्' के ये सब अर्थ ध्यानमें लानेसे इसमें सब कुछ शुभमंगल साध्यों और साधनों का समावेश होता है। इस आशय को जाननेसे प्रत्येक कर्मका प्रारंभ करनेके समय 'ओं तत्सत्' क्यों कहते हैं यह पाठकोंके समझमें आसकता है। ओंकारवाचक वही एक वस्तु अथवा तत्त्व सत्य है। उसके साथ अनन्य-भाव प्राप्त करनेके लिये मैं यह दान तप आदि कर रहा हूं। इसका फल उस सद्वस्तुके लिये समर्पित हो और इस समर्पणसे मुझे वह शाश्वत ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो। यह शुभेच्छा हरएक साधक अपने मनमें धारण करे और ओं तत्सत् के उच्चारणपूर्वक सब शुभ कर्म करके अपने आपको कृतकृत्य करे। इस तरह 'सत्' का विचार हुआ। अब असत् का विचार देखिये–

अन्वयः— हे पार्थ ! अश्रद्धया हुतं दत्तं, तपः तप्तं, यत् च कृतं, तत् असत् इति उच्यते; तत् प्रेत्य, इह (अपि) च (फलप्रदं) नो (भवति) ॥ २८ ॥

हे पार्थ ! अश्रद्धासे जो हवन किया है, दान दिया हो, तप किया हो, या अन्य कुछ कर्म किया हो, उसका निर्देश 'असत्' शब्दसे किया जाता है, वह न मरनेके पश्चात् और न इहलोकमें सुफलता देनेवाला हो सकता है ॥ २८ ॥

भावार्थ— अश्रद्धासे जो किया जाता है वह असत् होनेके कारण वह किसी प्रकार भी हितकारक नहीं होता है ॥ २८ ॥

(२८) जो श्रद्धासे किया जाता है वह तो 'सत्' है, परंतु जो अश्रद्धासे किया जाता है-फिर वह यज्ञ हो, दान हो, तप हो अथवा अन्य कुछभी कर्म हो-उसको श्रद्धाहीनताके कारण 'असत्' कहते हैं। इस तरह जो असत् होता है, उसका फल न इस लोकमें मिलता है, न परलोकमें मिलता है। क्योंकि वह व्यर्थ ही चला जाता है। इस कारण जो किया जावे वह श्रद्धासे किया जावे, सद्भावनासे किया जावे। इससे मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है। यदि कुछ कर्म करना है तो श्रद्धा भक्ति और शास्त्रविधिके अनुसार हि किया जावे। अश्रद्धासे करनेसे श्रमादिका व्यय अवश्य होगा हि, परंतु इहपरलोकमें कुछभी फल नहीं मिलेगा। पाठक इस तरह श्रद्धाका महत्त्व जानकर श्रद्धासे हि अपनी कृतकृत्यताका साधन करें और पूर्णता प्राप्त करें।

यहां सतरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

सूचना—

सत्त्व रज तमका विचार आगे १८ वें अध्यायमें होनेवाला है, वह विचार इस अध्यायके कथनके साथ अत्यंत संबंधित है। इसलिये इस अध्यायके इस कथन का विशेष विचार १८ वें अध्याय के विचारके साथ किया जायगा।



श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तदशवें अध्यायके

सुभाषित ।

(१)

सत्त्वानुरूप श्रद्धा ।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति ॥

(भ० गी० १७।३)

"सत्त्वके अनुकूल ही सबकी मनोवृत्ति होती है ।" अन्तः-करणकी पवित्रता अथवा अपवित्रता जैसी होगी, वैसी हि सबकी मनोवृत्ति हुआ करती है। जैसा मन वैसी वृत्ति ।

(२)

श्रद्धामय मनुष्य ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो
यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

(भ० गी० १७।३)

"यह मनुष्य श्रद्धारूप ही है। जसी जिसकी श्रद्धा, वैसा वह मनुष्य होता है।"

(४)

सत् में स्थिति।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥

भ० गी० १७।२७

"यज्ञ, तप, दान और कर्ममें जो स्थिति होती है, उसको 'सत्' कहते हैं।" अर्थात् यज्ञ, तप, दान और कर्म करनेमें जो अपना समय जाता है, वही सत्कार्यमें जाता है। तथा इसके विपरीत कृत्यमें जो आयुका व्यय होगा, वह असत् कहलायेगा।

(५)

असत् का रूप।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

(भ० गी० १७।२८)

"अश्रद्धासे जो हवन, तप, दान और कर्म किया जाता है, उसका नाम असत् है, वह न यहां और न परलोकमें फलदायक होता है।"

अश्रद्धासे किया हुआ कर्म असत्, हानिकारक, निष्फल होता है।

इस कारण श्रद्धासे धर्मयुक्त कर्म करना सबको योग्य है।

श्रीमद्भगवद्गीताके सतरहवें अध्यायकी

विषयसूची।

सतरहवें अध्यायकी विषयानुक्रमणिका समाप्त।

अथ अष्टादशोऽध्यायः ।

संन्यासयोगः ।

(१) संन्यास और त्यागके लक्षण ।

अर्जुन उवाच–संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥
श्रीभगवानुवाच–काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

अन्वयः— अर्जुनः उवाच— हे महाबाहो केशिनिषूदन हृषीकेश ! अहं संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथक् वेदितुं इच्छामि ॥ १ ॥ श्रीभगवान् उवाच— कवयः काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं विदुः, विचक्षणाः च सर्वकर्मफलत्यागं त्यागं प्राहुः ॥ २ ॥

अर्जुन बोले कि— हे महा भुजावाले, केशि दैत्यका नाश करनेवाले और इंद्रियोंको स्वाधीन रखनेवाले श्रीकृष्ण ! मैं 'संन्यास' और 'त्याग' का रहस्य पृथक् पृथक् जानना चाहता हूं ॥ १ ॥ भगवान् श्रीकृष्णजीने उत्तर दिया कि— ज्ञानी लोग काम्य कर्मोंका त्याग करनेको 'संन्यास' कहते हैं और विद्वान् लोग सब कर्मोंके फलके त्याग करनेको 'त्याग' कहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— संन्यास और त्यागके लक्षण ये हैं । अपने भोग वढानेके लिये जो कर्म किये जाते हैं उनका त्याग करनेका नाम 'संन्यास' है और संपूर्ण कर्मोंके फलोंका त्याग करनेका नाम 'त्याग' है । संन्यासमें कर्म त्यागे जाते हैं और त्यागमें फल त्यागे जाते हैं ॥ १–२ ॥

संन्यास ।

(१–२) 'संन्यास' किसे कहते हैं और 'त्याग' का लक्षण क्या है, इसका विवेचन यहां किया है । कर्मोंमें 'काम्य कर्म' और 'निष्काम कर्म' ऐसे दो मुख्य भेद हैं । अपने भोग वढानेकी इच्छासे जो जो कर्म किये जाते हैं, उनको काम्य कर्म कहा जाता है । निष्काम कर्म केवल अपने भोगोंकी निरपेक्षतासेहि किये जाते हैं, इसलिये वे कर्ताको वाधक नहीं होते । वाधक होनेवाले सकाम अथवा काम्य कर्महि हैं । अतः इन सकाम कर्मोंका न्यास करनेका उपदेश धर्ममार्गमें किया गया है । सकाम कर्मोंका जितना हो सके उतना न्यास करना चाहिये । अर्थात् अपने भोग वढानेके लिये जो जो कर्म करने होंगे, उनको मर्यादित करना चाहिये, इस इच्छाका

संयम करना चाहिये ।

दूसरोंकी हानि न हो, दूसरोंको उपद्रव न पहुंचे, इस दृष्टिसे मनुष्य अपने कर्मोंकी परीक्षा जब करने लगेगा, तब उसके ध्यानमें यह बात आजायगी कि, काम्य कर्मोंसे ही दूसरोंको कष्ट पहुंचते हैं और जगत्में दुःख बढते हैं । स्वार्थसे प्रेरित होकर जब मनुष्य अपने पास भोगसंग्रह करनेकी इच्छा करता है, तब यह अपने पास अत्यधिक भोग बढाता है । इस कारण उतने दूसरोंके भोग कम होते हैं, इस कारण जगत्में दुःख बढता है । यदि यह मनुष्य अपने पास भोगसंग्रह न करेगा, अर्थात् यह अपरिग्रह-वृत्तिसे रहेगा, तो इसको संन्यासव्रतका आचरण करना पडेगा और यह भोगसंग्रह करनेके पापसे अपने आपको बचा सकेगा ।

परिग्रहवृत्तिही सब पापोंका कारण है । परिग्रहवृत्ति जिस व्यक्तिमें अथवा जिस राष्ट्रमें बढती है, वही पाप करता है और वही पापसे नहीं हट सकता । 'मेरे भोगके लिये मेरे पास भोग्य वस्तुओंका संग्रह होना चाहिये,' यह इच्छा काम्य अथवा सकाम कर्मोंके लिये कारण होती है और यही भोगेच्छा पापप्रवृत्ति की जननी है । इसी लिये कहा है कि—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ॥

"काम्य कर्मोंके छोडनेको ज्ञानी लोग संन्यास कहते हैं" । अर्थात् संन्यासमें स्वकीय भोगेच्छा बढानेवाले सकाम कर्मोंका संयमपूर्वक सम्यक् न्यास करना होता है । अतः इस संन्यासमें अपनी भोगेच्छापर मर्यादा रखनी पडती है, भोग भोगनेकी इच्छाका त्याग करना पडता है। इस तरह संन्यास-धर्म विश्वमें सुख बढानेका हेतु होता है । सच्चा संन्यासी संपूर्ण कर्मोंका त्याग नहीं करता, परंतु अपने भोग बढानेके लिये जो सकाम कर्म करने होते हैं, उनकाहि न्यास करता है अर्थात् उनको छोडता है ।

जिससे जगत्का उपकार हो, जिससे जगत् में शान्ति फैले, ऐसे निष्काम कर्मोंका त्याग करनेकी संन्यासीको आवश्यकता नहीं है। अपनी भोगकामनाके हेतुसे जो जो कर्म (काम्यानां कर्मणां न्यासं) होते हैं, उनका ही न्यास करना चाहिये । इस तरह विचार करने पर प्रतीत होगा कि संन्यासमें काम्य कर्मोंका ही निषेध है। काम्य कर्म जहांतक हो सकें वहांतक कम किये जांय, यही यहां मुख्य उद्देश्य है ।

काम्य कर्ममें भोगेच्छा होती है और यह भोगेच्छा अपने लिये भोग भोगनेकी इच्छा है । इसका एक उदाहरण देखिये, कि मनुष्य मात्र अन्नादि भोगोंपरहि जीवित रह सकता है, अन्नादि भोग न मिलनेपर वह मर जायगा। अतः जीवनके लिये आवश्यक भोग स्वीकारनेमें दोष नहीं है, क्योंकि वह तो जीवनके लिये आवश्यकहि हैं । परंतु मनुष्य इतनेमें ही संतुष्ट नहीं होता और वह अपने पास भोगसंग्रह करता जाता है । धनी लोग अपने धनसे धान्य खरीदते हैं और धान्य महंगा बेचना चाहते हैं। इससे गरीबोंको धान्य न्यून मिलता है और उनको भूखा रहना पडता है, इससे जगत्में दुःख बढता है । इसी तरह अन्यान्य भोगोंके संग्रह करनेमें जो दोष हो सकते हैं, उनका विचार पाठक कर सकते हैं और जान सकते हैं कि, भोगसंग्रह करनेकी मनोवृत्तिसे कैसे दोष हो सकते हैं और अपरिग्रह-वृत्तिसे ही किस तरह सुखकी वृद्धि हो सकती है। यह अपरिग्रह-वृत्ति संन्यासमें होती है, जिससे काम्य कर्म कम किये जाते हैं । यही काम्य कर्मोंका संन्यास है । अर्थात् संन्यासमें काम्य कर्मोंका संन्यास करना है न कि संपूर्ण कर्मोंका । पाठक संन्यास का यह लक्षण ठीक प्रकार ध्यानमें धारण करें ।

त्याग ।

अब त्यागका विचार करना है । त्याग में

(२) यज्ञ-दान-तपका त्याग न करो।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३॥

कर्मोंका त्याग अभीष्ट नहीं है। कर्म काम्य हों अथवा निष्काम हों, किसीका भी त्याग करना नहीं चाहिये। परंतु उन कर्मोंसे जो फल मिल जाय, उस फलका त्याग करना चाहिये, अर्थात् उस फलका उपभोग स्वयं कर्मकर्ताको लेना उचित नहीं है। उस कर्मफलको सब जनताकी भलाईके लिये समर्पण करना चाहिये। त्यागका यह अर्थ सबको विशेष ही मनन करने योग्य है।

'संन्यास' में काम्य कर्मोंको छोडना होता है, परंतु 'त्याग'में सब कर्मोंको करके उनके फलोंका सबकी भलाईके लिये समर्पण करना होता है। इससे संन्यासमें कुछ कर्मही नहीं होते, परंतु त्यागमें सब कर्म होते हैं और उनके फलोंका दान अथवा समर्पण किया जाता है। त्यागमें कर्मोंका क्षेत्र विस्तृत होता है और संन्यासमें काम्य कर्मोंका संभवही नहीं होता है, इसलिये संन्यासकी अपेक्षा त्याग अच्छा है। तथापि संन्यासकी अपेक्षा त्याग कठिन है, क्योंकि उसमें फल प्राप्त होनेके पश्चात् उसको न भोगते हुए सबकी भलाईके लिये समर्पण करना होता है।

फलभोगकी इच्छासे भोगोंका संग्रह करनेकी प्रवृत्ति होती है। वह भोगेच्छाही इस त्यागमें संयमित की जाती है, इस कारण कर्म करनेपर भी फलत्याग करके साधक निर्दोष रह सकता है। यह त्यागकी विशेषता है। संन्यासमें काम्य कर्म छोडे जाते हैं, इस कारण उन कर्मोंसे होनेवाले सुखसाधनोंसे जनता वंचित रहती है। परंतु त्यागमें काम्य कर्म करनेके पश्चात् उसका फल समर्पित किया जाता है, इससे काम्य कर्मसे जनताका लाभ होता है और फलभी सबकी भलाईके लिये बांटा जाता है। इससे स्पष्ट हुआ कि 'संन्यास' की अपेक्षा 'त्याग' अधिक लाभकारी है।

संन्यासी साधक कुछ कर्म (काम्य कर्म) करेगाही नहीं, परंतु त्यागी काम्य कर्मभी करेगा और संपूर्ण कर्मोंका फल जनताकी भलाईके लिये दे देगा।

संन्यास और त्याग एक नहीं है। संन्यासी काम्य कर्मोंसे डरता है, काम्य कर्मोंसे दोष होंगे, इस भयसे वह उनको करता नहीं। परंतु त्यागी साधक आवश्यक सब कर्म करता है और सब दोष फलभोगकी प्रवृत्तिसे होते हैं यह जानकर उन कर्मके फलोंको अपने पास न रखता हुआ सब जनताकी भलाईके लिये अर्पण करता है।

उदाहरणार्थ देखिये- एक व्यापार-व्यवहार करनेवाला है। वह व्यापारको काम्य कर्म समझकर लाभ होनेकी इच्छासे किया करता है ऐसा देखकर, व्यापार करनाही छोड देता है; परंतु त्यागी मनुष्य उत्तम व्यापार करेगा, व्यापार सत्य-व्यवहारपूर्वक करेगा, उसमें धोखा नहीं करेगा और उसमें जो लाभ होगा वह सब जनताकी भलाईके लिये अर्पण कर देगा। जिससे इसका समयभी सद्व्यवहारमें जायगा और फल सब जनताके हितके लिये बांटा जानेके कारण जनताका इससे अधिक हित होगा।

यहां संन्यासीका व्यापाररूप कर्मको छोडना और त्यागीका उक्त कर्म सुयोग्य रीतिसे करके उसके लाभका समर्पण करना इन दोनोंकी तुलना पाठक अवश्य करें। इस तुलनासे पाठक संन्यास और त्यागका स्वरूप तत्वतः जान सकते हैं।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

अन्वयः— एके मनीषिणः कर्म दोषवत् (अस्ति तस्मात्) त्याज्यं इति प्राहुः, अपरे च यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं इति (आहुः) ॥ ३ ॥ हे भरतसत्तम ! तत्र त्यागे मे निश्चयं शृणु । हे पुरुषव्याघ्र ! त्यागः हि त्रिविधः संप्रकीर्तितः (अस्ति) ॥४॥ यज्ञः दानं तपः कर्म न त्याज्यं, तत् कार्यं एव । यज्ञः दानं तपः च एतानि मनीषिणां पावनानि (एव सन्ति) ॥ ५ ॥ अपि तु एतानि कर्माणि संगं फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानि इति, हे पार्थ ! मम निश्चितं उत्तमं मतं (अस्ति) ॥ ६ ॥

कई विद्वान् कहते हैं, कि सब प्रकारके कर्म दोषयुक्त हैं, अतः उनको त्यागना योग्य है। दूसरे विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं ॥ ३ ॥ हे भारतीयोंमें श्रेष्ठ वीर ! इस त्यागके संबंधमें मेरा निर्णय सुन । हे पुरुषश्रेष्ठ ! त्याग तीन प्रकारका कहा है ॥ ४ ॥ यज्ञ, दान और तप रूपी कर्म त्यागने नहीं चाहिये, ये कर्म करनेही चाहिये । कारण यह है कि यज्ञ दान और तप रूपी कर्म मनको स्वाधीन रखनेवालोंको पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥ ये सब कर्म आसक्ति और फलभोगेच्छाको छोडकर करने चाहिये ऐसी, हे पार्थ ! मेरी निश्चित और उत्तम संमति है ॥ ६ ॥

भावार्थ– कर्मके विषयमें विद्वानोंके अनेक मत हैं । कई विद्वान् कहते हैं कि प्रत्येक शुभाशुभ कर्म दोषपूर्ण है, अतः सब कर्मोंको त्यागना चाहिये । दूसरे विवेकी तत्त्वज्ञानी कहते हैं, कि यज्ञ, दान और तप इन कर्मोंका त्याग कभी नहीं करना चाहिये । इस विषयमें निर्णय यह है कि यज्ञदानतपरूपी कर्म हरएक मनुष्यको करनेही चाहिये । क्योंकि इन कर्मोंसे मनुष्य पवित्र होता जाता है अतः ये कर्म त्यागनेसे मनुष्यका अधःपात और इन कर्मोंके करनेसे मनुष्यकी पवित्रता होनेके कारण उन्नति होती है । अतः इन कर्मोंको भोगासक्तिका तथा अपने पास फलसंग्रह करनेकी इच्छाका त्याग करके करना चाहिये, यही निश्चित रहस्य है ॥ ३–६ ॥

कर्मत्यागसे दोष ।

(३—६) कर्मोंका त्याग करनेसे दोष होते हैं । काम्य कर्मोंसे दोष होते हैं, इस कारण संन्यासपंथी लोग इन कर्मोंको नहीं करते । परंतु यह विचारपद्धतिहि दोषयुक्त है । भोगकामनाको हटाकर इन कर्मोंको करनेसे कोई दोष नहीं हो सकता । यह तत्त्व जानकर कर्मफल का दान कर देनेसे कोई दोष नहीं लग सकता ।

त्यागी इस तत्त्वको यथार्थ रीतिसे जानता है और संपूर्ण कर्म करके भी दोषोंका भागी नहीं होता। अतः त्यागवादी तत्त्वज्ञान के अनुसार कर्मका त्याग करना ही दोष वढानेवाला है।

यज्ञ, दान, तप ये कर्म कभी त्यागने नहीं चाहिये। हरएक को ये कर्म करने ही चाहिये, ऐसा कई तत्त्वज्ञानियोंका निश्चित मत है। यहां यज्ञ दान और तपका तत्त्व जानना आवश्यक है। 'तपः' का अर्थ 'कष्ट' है। परिश्रम, श्रम, कर्मोंके करनेमें जो आवश्यक कष्ट होते हैं उनको तप कहते हैं। तपके विना कुछभी कर्म हो नहीं सकता। 'दान' शब्दका अर्थ देना है, अपनी वस्तको दूसरेके हितके लिये अर्पण करनेका नाम दान है। और 'यज्ञ' वह है कि जिस, में 'सत्कार- संगति और उपकार' होता है। इन तीनों शब्दोंके ये मूल अर्थ हैं।

इनमें तपके कष्ट स्वयं भोगने पडते हैं। एकके लिये दूसरा तप करे, यह नहीं हो सकता। दान अपनी वस्तुका दान करनेसे सिद्ध हो सकता है। दाता, देय वस्तु और याचक इन तीनों का संबंध दानसे होता है और दाताकी वस्तु याचकके पास जाती है अर्थात् वस्तुपरका एक का स्वामित्व जाकर उसपर दूसरेका स्वामित्व उत्पन्न होता है। यहां याचक शब्दसे याचना करनेवाला भिक्षुक ही चाहिये, ऐसा नहीं। किसीने अपनी गौ किसी गुरुकुल संस्थाको दान दी, तो भी वह दान ही होता है। यहां गुरुकुल संस्था कोई याचक या भिक्षुक नहीं है। तथापि गुरुकुलमें अनेक छात्रगण पढते हैं, इसलिये उस संस्थाको गौवोंकी अपेक्षा रहती है, अतः उस संस्थाको गौवोंका दान करना योग्य है। गौका स्वामी गौपरका अपना स्वामित्व छोडता है और गुरुकुल का स्वामित्व उसपर कर देता है। यह दान है।

यज्ञ इससे विलक्षण है। ब्राह्मण ग्रंथोंमें—

ऋतुसंधिषु व्याधिर्जायते।
ऋतुसंधिषु यज्ञाः क्रियन्ते। (गोपथ ब्राह्मण)

'ऋतुसंधिमें व्याधियां होतीं हैं और उनके निवारण के लिये ऋतुपरिवर्तनके समय यज्ञ किये जाते हैं।' ये यज्ञ जो लोग करते हैं उन यज्ञोंसे वायुकी प्रसन्नता होती है, उससे संपूर्ण जनताका लाभ होता है। यहां की एक विचित्र घटना विवेक की दृष्टिसे देखनी योग्य है। एकने यज्ञ किया, उस यज्ञसे वायुकी शुद्धता और प्रसन्नता हो गयी, इस वायुशुद्धिसे जनताको आरोग्य प्राप्त हुआ, परंतु यज्ञकर्ताको पता नहीं कि किसको किस तरह आरोग्यलाभ हुआ है और आरोग्यलाभ करनेवालोंकोभी पता नहीं कि किसके कर्मसे मुझे आरोग्यलाभ हुआ है। यज्ञसे जो जनताका लाभ होता है, उसमें यह गुप्तता रहती है।

जैसा दान देनेवाला और लेनेवाला ये परस्पर पास आते और देतेलेते हैं, वैसा यज्ञका कर्ता और यज्ञसे लाभ लेनेवालों का संबंध नहीं होता। उपकारकर्ता और उपकार लेनेवाला परस्पर को पहचानते भी नहीं, परंतु अमूर्त संबंधसे जुडे होते हैं। यह यज्ञसे ही चमत्कार होता है।

और एक उदाहरण देखिये। एकने मार्गपर धर्मशाला वनवाई और कूवाँ खुदवाया। कई वर्षोंके पश्चात् वहां एक प्रवासी आया और उस धर्मशालामें रहा और उस कूवेका जल पीकर आनंदित हुआ। कूवा वनानेवाला और पानी पीनेवाला कालसे और स्थानसेभी दूर रहते हुए इस यज्ञकर्मके द्वारा एकत्रित हुए होते हैं। अतः यह कूप और धर्मशालाका निर्माण करना एक प्रकार का यज्ञ ही है।

अब एक मनुष्य उसी स्थानपर आता है और कूवेका पानी निकालकर कई लोगोंको देता है, इसमें पानी निकालनेमें उसे कष्ट हुए वह उसका

तप है और पानीका देना यह उसका दान है। यहां पाठक तप, दान और यज्ञका तत्त्व जान सकते हैं। शास्त्रोंमें इनकी गिनती की है और कहा है कि यह तप है, यह दान है और ये यज्ञ हैं। परंतु हमें इनकी गिनती करके हर-एक का विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। यहां केवल मूल तत्त्व ही देखना है, वह ऊपरके उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा। अस्तु। इस तरह पाठक यज्ञ, दान और तपको जानें और उनका स्वरूप समझें।

ये यज्ञ, दान और तप कभी भी त्यागने नहीं चाहियें, क्योंकि इनपर सब जनताकी स्थिति अवलंबित है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्। (गी. १८।३)

यज्ञ, दान और तप न हुआ तो जनतामें दुःख वढेगा। यज्ञोंमें ज्ञानयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ, प्राणयज्ञ ऐसे अनेक यज्ञ हैं, इनका वर्णन श्रीभगवद्गीता (अ० ४) में आया है, वहां पाठक देखें और यज्ञपर संपूर्ण सृष्टि कैसी रही है यह जानें। सब विश्व यज्ञ, दान और तप पर खडा है, इसका निश्चय हो जानेसे ही उनको छोडना अयोग्य है, यह निश्चित ज्ञान हो जायगा। अब यज्ञदानतपके विषयमें उपनिषदादि ग्रंथोंकी संमति देखिये—

तपः।

अथ यत्तपो दानं। (छां० उ० ३।१७।४)
तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। (तै० उ० १।९।१)
तपो ब्रह्मेति॥ (तै० उ० ३।२।१)
तपसापहतपाप्मा। (मैत्री० उ० ४।४)
ज्ञानमयं तपः। (मुण्ड० उ० १।८)
ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञं तपः भूर्भुवःसुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः॥
(महानारा २।१०)
तपो नानशनात्परं। (महानारा० २१।२)
तपसा देवता देवतामग्र आयन्, तपस ऋषयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नाप्रणुदामरातीः। (महानारा० २२।१)
येषां तपो ब्रह्मचर्यं। (प्रश्न उ० १।१५)
तपो वैराग्यं। (महा० २)
शारीरं तपः, वाङ्मयं तपः, मानसं तपः।
(भ. गी. १७।१४-१६)

"दान देना, अध्ययन करना, व्याख्यान देना, ज्ञान प्राप्त करना, सत्य पालन करना, सरलताका आचरण करना, शान्त रहना, इंद्रियदमन करना, विकारोंका शमन करना, यजन करना, अनशन करना, ब्रह्मचर्य पालन करना, वैराग्य धारण करना यह सब तप है। तपमें शारीरिक, मानसिक और वाचिक ऐसे तीन भेद हैं और प्रत्येकमें सात्विक, राजस और तामस ऐसे तीन तीन भेद होते हैं। तपसे पाप दूर होता है, तपसे ब्रह्मप्राप्ति होती है, तपसे मनुष्य देवत्व प्राप्त कर सकता है, तपसे ऋषियोंने स्वर्ग प्राप्त किया और तपसेही शत्रुओंको भगाया जाता है।" यह तपका वर्णन देखने योग्य है। यहां यज्ञ और दान यह तप है ऐसा जो कहा है वह विचार करने योग्य है। यज्ञ करने और दान देनेमें जो परिश्रम होते हैं वह उनमें तप है, ऐसा यहां समझना योग्य है।

दान।

अब दानके विषयमें उपनिषद्वचन देखिये—
एतत्त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयाम्। (बृ० उ० ५।२।३)
दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशंसन्ति दानान्नातिदुष्करं तस्माद्दाने रमन्ते॥ दानं... दानेनारातीरपानुदन्त दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दानं परमं वदन्ति। (महानारायण० २१।२; २२।१)

'इंद्रियदमन, दान देना और दया करना इन तीनोंका शिक्षण लेना हरएकको योग्य है। दानकी प्रशंसा सब कोई करते हैं, दानसे अधिक

दुष्कर कोई नहीं हैं, दानमेंहि सबकी स्थिति है, यही दानकी श्रेष्ठता है।' यह दानका महत्त्व विचार करने योग्य है। अब यज्ञके विषयमें देखिये—

यज्ञ ।

त्रयो धर्मस्कंधा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति ।
(छां. उ. २।२३।१)
पुरुषो वाव यज्ञः । (छां. ३।१६।१)
एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते । यदेष यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः ।
(छां. उ. ४।१६।१)
भेषजकृतो ह वा एष यज्ञः । (छां. उ. ४।१७।८)
यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् ।
(छां. उ. ८।५।१)
असुरान् यज्ञ उद्गीतेनात्ययाम । (बृ. उ. १।३।१)
अहं ब्रह्म अहं यज्ञः । (बृ. १।५।१७)
वाग्वै यज्ञस्य होता, चक्षुर्वैयज्ञस्याध्वर्युः, प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा ।
(बृ. ३।१।१-६)
यज्ञः प्रजापतिः । (बृ. ३।९।६)
विज्ञानं यज्ञं तनुते । (तै० उ० २।५।१)
यज्ञो विष्णुः प्रजापतिः । (मैत्री. उ. ६।१६)
यज्ञस्तपः । (म० नारा. ८।१)
शरीरं यज्ञः । (म० नारा. २०।१२)
यज्ञेन हि देवा दिवं गता; यज्ञेनासुरानपानुदन्त, यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति ।
(म० ना०२३।१)
यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च । (प्रश्न० उ० २।६)
स्वे शरीरे यज्ञं परिवर्तयामि ॥ (प्राणाग्नि. २)

"यज्ञ, अध्ययन और दान ये धर्मके तीन आधार हैं। मनुष्यका जीवन ही यज्ञ है। जो सबकी पवित्रता करता है वह यज्ञ है। यज्ञ औषधियोंके हवनसे किये जाते हैं। ब्रह्मचर्य ही एक यज्ञ है। यज्ञमें उद्गीथसे असुरोंको दूर भगाया जाता है। मैंहि यज्ञ हूं (मेरा जीवन यज्ञरूप हो)। वाणी, नेत्र, प्राण और मन ये क्रमशः आत्मयज्ञके होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा है। यज्ञ ही प्रजाका पालन करता है। विज्ञान यज्ञका विस्तार करता है। यज्ञ ही परमेश्वर-स्वरूपी प्रजापालन करनेवाला है। यज्ञ तप है। शरीर ही यज्ञ है। यज्ञसे देवोंने स्वर्ग प्राप्त किया, यज्ञसे असुरोंको दूर भगाया, यज्ञसे शत्रु मित्र बनते हैं, यज्ञमें सब कुछ रहा है, इस लिये यज्ञकी सबसे श्रेष्ठता मानी है। क्षात्रबल और ब्राह्मणोंका ज्ञान यह यज्ञही ही है। अपने शरीरमें यज्ञ परिवर्तित करना चाहिये।"

इस तरह यज्ञ, दान और तपका वर्णन उपनिषदोंमें किया है। इनका इतना महत्त्व होनेसे ही इनके आश्रयसे सब कुछ है ऐसा कहा है, और इसी लिये सब जगत्के आधारभूत यज्ञ-दान-तप कभी छोडने नहीं चाहिये, और इनका आचरण अवश्यमेव करना चाहिये ऐसा कहा है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।
(गी. १८।५)

क्योंकि यज्ञ दान और तपसे मनुष्योंकी पवित्रता होती है। इसलिये हरएक मनुष्यको अपनी पवित्रताके लिये इनका पालन अवश्यमेव करना आवश्यक है।

इन कर्मोंको करना तो योग्य है परंतु फल-भोगका संग करनेका विचार छोडना चाहिये, अपने भोग बढानेके हेतुसे इनका आचरण कोई न करे, प्रत्युत कर्तव्य समझकर इनको करे और करनेके पश्चात् जो फल मिले वह जनताकी भलाईके लिये अर्पण करे। ऐसा करनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है।

अब त्यागका त्रिविध रूप देखिये—

(३) तीन प्रकारका त्याग।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

अन्वयः— नियतस्य कर्मणः तु संन्यासः न उपपद्यते। मोहात् तस्य परित्यागः तामस परिकीर्तितः ॥ ७ ॥ यः दुःखं इति (मत्वा) एव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्, स राजसं त्यागं कृत्वा त्यागफलं न एव लभेत् ॥८॥ हे अर्जुन ! कार्यं इति (मत्वा) एव यत् नियतं कर्म, संगं फलं च एव त्यक्त्वा क्रियते, सः त्यागः सात्त्विकः मतः ॥ ९ ॥

नियत कर्मका त्याग करना उचित नहीं है। यदि कोई अज्ञानवश नियत कर्मका त्याग करेगा तो उस त्यागको 'तामस त्याग' कहते हैं ॥ ७ ॥ दुःख समझकर शरीरको कष्ट होनेके डरसे जो कर्मोंको त्यागते हैं, वह 'राजस त्याग' है, इसलिये त्याग करनेपर भी उसे त्यागका फल नहीं मिलता ॥ ८ ॥ हे अर्जुन ! अपना कर्तव्य है ऐसा मानकर, जो नियत कर्म, आसक्ति और फल-भोगेच्छा छोडकर किया जाता है, उस त्यागको 'सात्त्विक त्याग' कहते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— धर्म्य कर्मका त्याग अज्ञानसे किया जाय तो वह तामस है, दुःखके भयसे किया जाय तो वह राजस है, और नियत कर्म करके जो फलासक्तिका त्याग करना है वह सात्त्विक त्याग कहलाता है ॥ ७-९ ॥

(७-९) यहां कर्मका त्याग करनेके तीन भेद बताये हैं। कर्मका त्याग 'सात्त्विक, राजस और तामस' ऐसा तीन प्रकारका है। राजस और तामस त्याग बडा हानि करनेवाला है, क्योंकि इसमें कर्म ही त्यागा जाता है।

तामस त्याग।

'नियत कर्तव्यकर्मका त्याग कभी करना नहीं चाहिये, परंतु मोहसे और अज्ञानसे जो लोग आवश्यक कर्तव्यकर्मका भी त्याग करते हैं, अर्थात् कर्तव्य भी नहीं करते, और कर्तव्य त्यागनेके कारण अपने आपको संन्यासी बताते हैं, वह उनका त्याग तामस अर्थात् अज्ञानजन्य है (गी. १८।७)। तामस त्याग हानिकारक है क्योंकि (अधो गच्छन्ति तामसाः। गी. १४।१८) तामस लोग अवनत होते हैं, ऐसा स्पष्ट कहा है। जो अपना कर्तव्यकर्म छोड देते हैं उनकी निःसंदेह अधोगति होगी इसमें क्या संदेह है ?

यह कर्तव्यकर्मका त्याग होनेसे दुःखकारक है। जो त्याग भ०गी० ने करनेका आदेश दिया है वह त्याग यह नहीं है। वह कर्मके फलका त्याग है। उसके करनेसे जनताका दुःख न्यून होना संभव है, परंतु कर्मका ही त्याग करनेसे और अपना कर्तव्य न करनेसे, अपने जीवन के लिये अत्यंत आवश्यक कर्तव्य भी न करनेसे उसका भार दूसरोंपर पडता है, इस कारण कर्तव्यत्याग करनेवाले संन्यासी जनताका दुःख वढाते हैं। इसका एक उदाहरण देखिये—

कर्तव्यत्यागसे दुःख ।

प्रत्येक मनुष्यके जीवित रहनेके लिये अन्न और जलकी आवश्यकता है, इस कारण संन्यासीको भी अन्न और जलकी आवश्यकता निःसन्देह है। खानपानकी प्राप्तिके लिये जो कुछ यत्न करना आवश्यक है, वह तो करना ही चाहिये। यदि यह संन्यासी कुछभी नहीं करेगा, तो इसके जीवननिर्वाह के लिये दूसरोंको कष्ट उठाना ही पडेगा। इससे दूसरोंको अपने जीवनके लिये तथा इसके जीवनके लिये यत्न करनेका भार सहना पडेगा। इस तरह जनताके कष्ट इसके कर्तव्यत्यागसे वढेंगे।

एक मनुष्यके कर्तव्यकर्मके त्यागसे यदि अन्योंके कष्ट वढते हैं, तो वैसे कर्मत्याग करनेवाले वहुत हुए तो वह समाज दुःखी होगा इसमें कोई संदेह ही नहीं है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि संन्यासी अपना अन्न पकावे और अपने लिये पानी भर लावे। इसके लिये कोई दूसरा ये कर्म करे, परंतु संन्यासी ऐसे कर्म करे कि जिससे जनता सत्यज्ञानसे युक्त हो और अपना कर्तव्य करनेमें समर्थ वने। ऐसा सत्यज्ञान का प्रदान करनेवाला जो होगा वह अपने खानपानके लिये दूसरोंकी सेवा ले सकता है। अस्तु। इस तरह विचार करनेपर कर्तव्य का त्याग करनेसे जगत्में दुःख किस तरह वढ सकता है, इसका पता पाठकोंको हो जायगा। यह तामस त्याग अज्ञानसे ही होता है।

राजस त्याग ।

राजस त्याग दुःखके भयसे होता है। कर्म करनेमें जो दुःख होगा और जो शरीरको कष्ट होंगे, उनके डरसे जो कर्म छोडे जाते हैं वह राजस त्याग है। शरीरकी सुंदरतामें विघाड होगा, कपडोंकी स्वच्छता और वालोंकी सुंदरता विगडेगी, इसलिये जो लोग कर्तव्यकर्म करना छोड देते हैं उसको राजस त्याग कहते हैं। कई युवक व्यायामशालामें जाते नहीं और वहां इस लिये मल्लयुद्ध (कुश्ती) खेलते नहीं कि शरीरको और कपडोंको मिट्टी लग जाय और शानमें न्यूनता आजाय। शरीरकी सुंदरता और कोमलताकी रक्षा करनेके लिये शरीरका स्वास्थ्य और वलका त्याग ये लोग करते हैं। शरीरस्वास्थ्य और वल लाभदायक है, वैसी कोमलता लाभकारी नहीं। परंतु ये राजस प्रवृत्तिके लोग क्षणिक सुख की आशासे शाश्वत सुख को त्यागते हैं। और पश्चात् यह होता है कि शाश्वत सुख तो मिलता ही नहीं, परंतु जिस सुखकी आशा वे करते हैं, वह क्षणिक सुखभी उनको नहीं मिलता। इस तरह दोनों सुखोंसे वंचित होते हुए वे अत्यंत दुःखमें गिरते हैं।

राजस त्याग यह इस प्रकार दुःखका हेतु वनता है। यह राजस त्याग करनेपर भी उसको त्याग का सुफल मिलता नहीं, क्योंकि यह कर्तव्यका ही त्याग है। कर्तव्यका त्याग करनेसे लाभ कैसा होगा? इस तरह तामस और राजस त्याग हानिकारक है। अव सात्त्विक त्याग का विचार करते हैं—

सात्त्विक त्याग ।

सात्त्विक त्यागमें कर्तव्यकर्म उत्तम रीतिसे किया जाता है, परंतु उस कर्मके फलका स्वयं

(४) सच्चा त्यागी ।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्यते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

अन्वयः— (यः) त्यागी सत्त्वसमाविष्टः मेधावी छिन्नसंशयः (च भवति सः) अकुशलं कर्म न द्वेष्टि, कुशले च न अनुषज्यते ॥ १० ॥ देहभृता अशेषतः कर्माणि त्यक्तुं न शक्यं, यः तु हि कर्मफलत्यागी सः त्यागी इति अभिधीयते ॥ ११ ॥

जो त्यागी सत्त्वयुक्त, बुद्धिवान् और संदेहरहित होता है, वह कुशलता-रहित कर्मका द्वेष नहीं करता और कुशलतायुक्त कर्ममें रममाण भी नहीं होता ॥ १० ॥ देहधारण करनेवाले मनुष्यके लिये कर्मोंका संपूर्ण त्याग संभव नहीं है, अतः जो कर्मफलका त्याग करता है, वही त्यागी कहलाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो ज्ञानी और जो निःसंदेह होकर कर्मका रहस्य जानता है, वह सात्त्विक त्यागी किसी कर्मका विशेष आदर और दूसरे का निरादर नहीं करता, क्योंकि हरएक नियत कर्मका कुछ न कुछ उपयोग होताही है, यह तत्त्व वह जानता है। वस्तुतः देखा जाय तो मनुष्य संपूर्ण कर्मोंका त्याग कभी कर नहीं सकता, क्योंकि जीवन भी एक कर्मही है, अतः कर्मफलका त्याग करना ही सच्चा और श्रेष्ठ त्याग है ॥ १०—११ ॥

भोग करनेकी इच्छा भी नहीं की जाती और कर्मका सब फल जनताकी भलाईके लिये समर्पण किया जाता है। इस कारण यह कर्म निर्दोष होता है और उससे सबका भला होता है।

इस सात्त्विक त्यागमें कर्मका त्याग नहीं होता, प्रत्युत कर्मफलका सबके हित करनेके लिये पूर्णतया समर्पण होता है। जैसा कोई फलोंका उद्यान लगावे और फलोंकी प्राप्ति होनेपर उन फलोंको गुरुकुलके विद्यार्थियोंको अर्पण करे। यहां कर्म तो हुआ, परंतु फलका त्याग हुआ, और फलभोग का संगभी नहीं रहा। जिस राष्ट्रमें ऐसे सात्त्विक त्यागी बहुत होंगे, उस राष्ट्रमें जनता अधिक सुखी होगी। इस लिये यह सात्त्विक त्याग सबकी उन्नति करनेवाला है, इसी कारण (ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः। गी० १४।१८) सात्त्विक लोगोंकी उन्नति होती है ऐसा कहा है, वह प्रत्यक्ष ही है। यहां सबके उपकार के लिये स्वयं कष्ट करना होता है, स्वयं दुःख-भोग कर दूसरोंको सुखी करनेका यत्न होता है। राजस प्रवृत्तिमें शारीरिक कष्टोंके भयसे ही कर्म छोडे जाते हैं और तामस प्रवृत्तिमें अज्ञान के कारण कर्म छोडे जाते हैं। पाठक यहां तामस, राजस और सात्त्विक कर्मत्यागका स्वरूप जानें। सात्त्विक त्यागही सच्चा त्याग है। पाठक इसका स्वरूप विशेष सूक्ष्म रीतिसे देखें-

सच्चा त्यागी ।

(१०-११) सच्चा त्यागी कैसा होता है। यह यहां उत्तम और स्पष्ट शब्दोंमें कहा है । यह सच्चा त्यागी (मेधा-वी) बुद्धिवान् होता है, धारणावती बुद्धिका नाम मेधा है । जो अध्ययन किया है, उसको मस्तिष्कमें जो धारण कर सकता है, और जो अपना ज्ञान सदा तेजस्वी रखता है, सदा उपस्थित रख सकता है, भूलता नहीं, वह मेधावी है । ऐसा मेधावीहि सच्चा त्यागी हो सकता है । इसके उत्तम ज्ञानके कारण यह (छिन्न-संशयः) संदेहरहित होता है, वह अपनी प्रबल युक्तिसे कर्तव्याकर्तव्य ठीक तरह जान लेता है, कर्म करनेकी रीतिके विषयमें उसे कोई संदेह नहीं होता । जो करता है आत्म-विश्वाससे करता है। जो करता है कर्तव्यबुद्धिसे करता है। जो करता है ठीक तरह करता है, अर्थात् निडर होकर करता है। बुद्धिमत्ता और संदेहरहितता ये दो गुण यहां सच्चे त्यागीके हैं ।

इसके पश्चात् वह (सत्त्व-समाविष्टः) सत्त्व-रूपी बलसे युक्त होता है । सत्त्व नाम उस बलका है जिससे शरीर, मन और बुद्धि की धारणा होती है । यही सच्चा बल है जिससे जीवन धारण होता है ।

ये तीन गुण (मेधावी, छिन्नसंशयः, सत्त्व-समाविष्टः) सच्चे त्यागीमें अवश्य रहने चाहिये, जिससे फलत्याग करनेका सामर्थ्य उस सात्त्विक मनुष्यमें स्थिर रह सकता है । जिस मनुष्यमें ये शुभगुण रहेंगे, उसमें असाधारण सामर्थ्य उत्पन्न होगा, इसमें संदेहही नहीं है; क्योंकि अज्ञान, संदेह और सत्त्वहीनता ये दुष्ट गुण मनुष्यकी शक्ति घटाते हैं, इनमेंसे एक एक मनुष्यको निर्बल करनेवाला है, फिर जहां ये तीनों अनिष्ट गुण रहेंगे, वहां की शोचनीय निर्बलताका ठिकानाही क्या होगा ? अतः ज्ञान, बुद्धिमत्ता, संदेहरहितता और संपन्नता ये गुण मनुष्यका सामर्थ्य बढाते हैं इस कारण और सामर्थ्यके विना त्याग का होना असंभव है, इसलिये सच्चे त्यागके लिये इन शुभगुणोंकी अत्यंत आवश्यकता है ।

कर्मत्याग-असंभव ।

देहभृता अशेषतः कर्माणि त्यक्तुं न शक्यं । (११)

' देहधारी मनुष्य अशेष कर्मोंका त्याग करनेमें असमर्थही है ।' कर्मत्याग करनेसे उसका मृत्युही होगा । इसलिये जीवित रहनेके लिये कुछ न कुछ कर्म करनाही चाहिये । जीवनके लिये कर्म अत्यंत आवश्यक सिद्ध होनेपर वह कर्म कैसा किया जाय और उस कर्मके दोषोंसे किस तरह अपने आपको बचाया जाय, यही देखना चाहिये । मनुष्य कर्म करे, परंतु उसका फल जनतारूपी जनार्दनके लिये समर्पण करे, जिससे उस कर्मफलत्यागके साथ उस कर्मके सब दोष धुले जायंगे और कर्ता निर्दोष होकर विराजेगा । अत—

यः कर्मफलत्यागी सः त्यागी इति अभिधीयते ॥ (११)

' जो कर्मके फलका त्याग करता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है ।' मनुष्य फल प्राप्त होनेपर उसका दान, समर्पण अथवा त्याग कर सकता है । जैसा किसी वैश्यने खेत किया और उस खेतकी कृषीरूप कर्म करनेसे उसको धान्य-रूपी फल प्राप्त हुआ । इस समय उसका इस धान्यपर अधिकार हुआ । यह अधिकार होनेके पश्चात्ही वह उसका भोग करे, दान करे, समर्पण करे अथवा त्याग करे । इनमेंसे जो चाहिये सो किया जा सकता है । सब लोग भोग करनेवालेहि होते हैं, इसलिये भोगेच्छाके कारण वे सब फलको अपने संग्रहमें इकट्ठा करनेमें लगते हैं और दोषी हो जाते हैं । यदि वे फलका त्याग करेंगे, तो निःसंदेह निर्दोष होंगे । इसका

(५) कर्मका त्रिविध फल।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अन्वयः— *अनिष्टं, इष्टं, मिश्रं च इति त्रिविधं कर्मणः फलं प्रेत्य अत्यागिनां भवति, संन्यासिनां तु क्वचित् न (भवति)॥ १२॥*

अनिष्ट, इष्ट और संमिश्रित (इष्टानिष्ट) ऐसा कर्मका तीन प्रकारका फल, कर्मफलका त्याग न करनेवालोंको होता है। परंतु कर्मफलका त्याग करनेवाले संन्यासियोंको उन तीनों फलोंकी प्राप्ति किसी समयमें भी नहीं होती ॥१२॥

भावार्थ— मनुष्य जो कोई कर्म भोगलालसासे करता है, उस कर्मका उसको कभी शुभ फल मिलता है, कभी अशुभ मिलता है और कभी संमिश्रितसा मिलता है। परंतु जो मनुष्य निष्कामभावसे फलभोगकी कामना त्याग करके अपना नियत कर्म करता है, उसकी उस कर्मके साथ भोगवासना न रहनेके कारण, उसको वैसा कोई फल नहीं मिल सकता, क्योंकि फल तो उसने त्यागहि दिया होता है, फिर वह फल शुभ हो या अशुभ, उसका उसके साथ कोई संबंधही नहीं होता ॥ १२॥

संक्षेपसे सार यह है कि कर्मके फलको अपने पास संग्रहित करके रखना नहीं चाहिये, उसका त्याग ईश्वरकी प्रीतिके लिये कर्तव्यबुद्धिसे करना चाहिये।

अब कर्मफलका स्वरूप बताते हैं। कर्मका फल विविध प्रकारका होता है, उसका अब विचार करेंगे—

त्रिविध फल।

(१२) प्रत्येक कर्मका अनिष्ट फल, इष्ट फल तथा मिश्र अर्थात् इष्टानिष्ट फल होता है। किसी कर्मसे इष्ट फल होगा, किसीसे अनिष्ट होगा, और किसीसे इष्टानिष्ट होगा। यह त्रिविध फल किसको प्राप्त होता है और किसको नहीं यहभी निश्चित हुआ हुआ है।

अत्यागिनां कर्मणः फलं भवति
संन्यासिनां तु न। (१२)

'जो कर्मके फलका त्याग नहीं करते उनके लियेहि इष्टानिष्ट फलभोग भोगने पडते हैं, अतः इष्टफलसे सुख और अनिष्ट फलसे दुःख भोगना उनके लिये आवश्यकही होता है। उदाहरणके लिये देखिये-किसीने ईखकी खेती की, उससे बहुत गुड तैयार हुआ, वह सब उसने अपने उपभोगके लिये किसी स्थानपर संग्रहित किया, पश्चात् वृष्टि हुई और उस स्थानपर पानी भर गया और सब गुड खराब हुआ। यह गुडके नाशका दुःख उसको इसलिये भोगना पडा, कि उसने अपने कर्मके फलका संग्रह अपने पास कर रखा था। यदि उस गुडकी विक्रीसे उसे बहुत धन प्राप्त हुआ तो उसे बडा आनंद होगा। इस तरह इष्ट तथा अनिष्ट अवस्थाओंमें यह हिलता और सुखदुःख भोगता रहता है। इससे मुक्तिका मार्ग एकही है और वह यह है कि वह कर्मफलका त्याग करे। देखिये इसका उदाहरण यह है—

उसी किसानने एक वर्ष सब अपना सब गुड सब जनताकी सेवा करनेके शुद्ध भावसे राजाके पास दान किया। राजाकी अपनी शासन-व्यव-

(६) पांच कारण।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

अन्वयः- हे महाबाहो ! सर्वकर्मणां सिद्धये कृतान्ते (कृत+अन्ते) सांख्ये प्रोक्तानि इमानि पञ्च कारणानि मे निबोध ॥ १३ ॥ अधिष्ठानं, तथा कर्ता, पृथग्विधं करणं च विविधाः पृथक् चेष्टाः, अत्र दैवं पंचमं एव (भवति) ॥ १४ ॥ नरः शरीरवाङ्मनोभिः न्याय्यं वा विपरीतं वा यत् कर्म प्रारभते, तस्य (एते) पञ्च हेतवः (सन्ति) ॥ १५ ॥

स्थासे इस गुडका उपयोग प्रजापालनमें किया जायगा, तथा इस कर्मकर्ताका भी पालन राजप्रबंधसेही होता रहेगा। इस गुडके दान करनेसे उसकी रक्षाकी चिन्ता उसको नहीं रही, इस कारण जलप्रलयसे गुडके नाश होनेका दुःखभी उसको नहीं रहा। गुडविक्रीसे प्राप्त होनेवाला धन रक्षण करनेका कष्टभी नहीं रहा, अपने योगक्षेमकी भी चिन्ता नहीं रही, क्योंकि सब प्रकारसे राजप्रबंधद्वाराही उसका योगक्षेम होताही रहेगा, यह उसका निश्चयही है।

इस तरह कर्मका फल प्रजापतिको समर्पण करनेमें और प्रजापतिद्वारा सबका योगक्षेम चलानेमें सबका लाभ है और फलसंगके दोषसे सब लोग इसी एक उपायसे मुक्त हो सकते हैं। कर्मफलका विनियोग तो कई रीतियोंसे हो सकता है—

१ कर्मफल-दान- कर्मका फल किसीको विशेष उद्देश्यसे देना,
२ कर्मफल-त्याग- कर्मके फलका त्याग करना और उसपरका अपना अधिकार छोडना,
३ कर्मफलसमर्पण- कर्मके फलको पूर्ण रीतिसे किसीके आधीन करना,
४ कर्मफलसंन्यास- कर्मके फलका संपूर्ण रीतिसे न्यास करना, अर्थात् किसी स्थानपर उसको सुरक्षित रखना, अपने पास नहीं, परंतु जहां वह सुरक्षित रह कर सबकी भलाईके कार्यमें लग जाय, ऐसे स्थानपर रखना।

ऐसी अनेक रीतियें कर्मफलत्यागकी हैं। किसीभी पद्धतिसे त्याग किया जाय तो वह कर्ताके लिये शान्ति देनेवालाही होता है। इसलिये यहां कहा है कि, कर्मफलका त्याग न करनेवालोंकोही कष्ट होते हैं, कर्मफलके संन्यास या त्याग करनेवालोंको कोई कष्ट नहीं होते। पाठक इसका विशेष मनन करें और यह उपाय किस तरह व्यवहारमें लाया जा सकता है, इसका विचार निश्चित करें। अब और कर्मका विचार देखिये—

हे महाबाहूवाले अर्जुन! सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये, कर्मके दोषका अन्त करनेवाले सांख्य शास्त्रमें, ये पांच कारण बताये हैं, उनको तू जान ॥ १३ ॥ आधारक्षेत्र, कर्ता, अनेक प्रकारके साधन, अनेक प्रकारकी क्रियाएं, ये चार और यहां पांचवां दैव होता है ॥ १४ ॥ मनुष्य शरीर, वाणी और मनके द्वारा योग्य अथवा अयोग्य जो कुछ कर्म करता है, उसके ये पांच हेतु होते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ-सांख्यशास्त्र कर्मोंके दोषोंका समूल नाश करनेवाला शास्त्र है। उस शास्त्रमें कर्मके पांच कारण कहे हैं। क्षेत्र, कर्ता, साधन, क्रिया और दैव। शरीर, वाणी और मनसे मनुष्य जो कर्म करता है, उसमें ये पांच हेतु होते हैं। फिर वह कर्म धर्मानुकूल हो अथवा प्रतिकूल ॥ १३-१५ ॥

कृतान्त सांख्य।

(१३-१५) सांख्यशास्त्रको कृतान्त कहते हैं, इसका कारण यह है कि उस सांख्यशास्त्रके अनुसार समबुद्धियुक्त होकर कर्म करनेसे वह कर्म निर्विघ्नतासे अन्ततक पहुंचता है, बीचमें किसी प्रकार विघ्नोंकी बाधा नहीं होती और बीचके विघ्नोंसे कार्यकी क्षतीभी नहीं होती। सांख्यशास्त्रका यह महत्त्व है।

इस कृतान्त सांख्यशास्त्रमें सब कर्मों की सिद्धताके लिये जो कारण कहे गये हैं, वे ये हैं—(१) अधिष्ठान, आधारक्षेत्र, (२) कर्ता, (३) करण-अनेक प्रकारके साधन, (४) अनेक प्रकारकी क्रियाएं, और (५) पांचवां दैव। ये पांच साधन हैं जिनसे हरएक प्रकारके कर्मकी सिद्धता होती है।

अधिष्ठान।

इन पांच साधनोंमें गौण कौनसे हैं और मुख्य साधन कौनसे हैं, इसका विचार यहां करना चाहिये। सबसे प्रथम अधिष्ठान है। अधिष्ठानका अर्थ आधारक्षेत्र। कर्ताको ठहरनेके लिये कुछ स्थान चाहिये। उसीका नाम अधिष्ठान है। इसी तरह कर्मके साधन रखनेके लिये और क्रिया करनेके लिये भी स्थान चाहिये। ठहरनेके लियेहि स्थान न रहा, तो कर्ता अपना कर्म कहां करेगा? इसलिये उक्त पांचों साधनोंमें अधिष्ठान मुख्य है, इसी लिये इसको सबसे प्रथम गिना है।

कर्ता।

इसके पश्चात् 'कर्ता' मुख्य है। क्योंकि कर्ताही कर्म करता है, कर्ताही सब प्रकारकी क्रियाएं कर सकता है, साधनोंका उपयोग करनेवाला कर्ताही होता है। साधन न रहे तो कर्ताही उनको निर्माण करके उनका उपयोग कर सकता है। इसलिये 'कर्ता' का महत्त्व अत्यधिक है। विविध चेष्टा और दैव इन तीनों की अपेक्षा कर्ताकी प्रधानता विशेष है। क्योंकि इनके दोष दूर करनेवाला कर्ता है और अपनी कुशलतासे इनकी हीनताको दूर करना उत्तम कर्ताही कर सकता है। इस तरह कर्ताका महत्त्व पाठक जानें।

करण।

कर्ताके पश्चात् (पृथग्विधं करणं) विविध प्रकारके साधनोंका विचार होता है। कर्ताके ये सहाय्यक होते हैं, जैसे सुतार तर्खाणके सहायक विविध प्रकारके अवजार होते हैं, कुंभारके साधन चक्र मिट्टी आदि होते हैं,

चित्रकारके साधन वर्ण, फलक आदि होते हैं, ये सब करण अथवा उपकरण हैं। ये साधन जितने अच्छे होंगे, उतना कार्य अच्छा होगा और इनमें यदि दोष रहे, तो कार्यमें भी दोष होंगे। साधनोंके कई दोष कर्ता दूर कर सकता है, इसमें संदेह नहीं है, परंतु उसके लिये कर्ता को अपनी शक्ति लगानी पडती है और निर्दोष साधनोंकी उपस्थितिमें उतनी कर्ताकी शक्ति बच जाती है। इसलिये करणोंकी निर्दोषता अवश्यही रहनी चाहिये।

विविध चेष्टा।

कार्यके करनेके लिये कर्ता इन साधनोंको अपने पास लेता है और उनसे विविध चेष्टा करता है। इन चेष्टाओंसे कार्यकी सिद्धि होती है। अधिष्ठान, कर्ता और सब साधन तथा दैव इन सबकी अनुकूलता रहनेपर कर्ताने विविध आवश्यक चेष्टाएं न कीं, तो कार्यसिद्धि कभी नहीं होगी। जो लोग 'दैव' कोहि प्रधान मानते हैं, उनको आवश्यक है कि वे इन कर्ता की चेष्टाओंका महत्त्व जानें, जिनके विना कोई कार्य बननेकी संभावनाही नहीं है।

दैव।

'दैव' यह अन्तिम कारण है। दैवका अर्थ परिस्थितिकी अनुकूलता। उत्तम साधनसंपन्न कुलमें जन्म होना, उत्तम कुशल लोगोंके घरमें जन्म होना, उत्तम कर्तृत्ववान् पुरुषोंके देशमें जन्म होना, यह दैवयोगसेहि होता है। कर्ताका प्रयत्न और दैवकी अनुकूलता इनपर कर्मकी सिद्धि अवलंबित है।

पुरुषार्थ श्रेष्ठ अथवा दैव श्रेष्ठ, यह वाद बहुत ही प्रबल है। कई लोग पुरुषार्थको प्रधान मानते हैं और कई लोग दैवको प्रधान मानते हैं। परंतु गीतामें 'दैव' को पांचवां कारण माना है, पहिला नहीं माना। संपूर्ण अध्यात्मशास्त्रोंमें पुरुषार्थको प्रधान और दैवको गौण माना है। परंतु जो मानते हैं कि 'दैव' कुछ भी नहीं है, वे ठीक नहीं मानते। कलका कर्म आज दैव होकर पीछे लगता है, यह ठीक है, परन्तु वह दैव बनने पर उसका प्रभाव होता ही है।

जैसा कल भोजनमें अत्यधिक अन्न खाया, जिस पुरुषार्थका परिणाम आज दैवरूपसे होकर आज अजीर्ण हुआ और पेट दूखने लगा। यह दैव कलकेअपनेही पुरुषार्थका परिणाम है, इसमें संदेह नहीं है, परंतु एक वार पुरुषार्थका दैवमें रूपान्तर हुआ, तो वह दैव पीछे लगताही है। अत्यशन करनेसे पेट दर्द करने लगा तो उसे भोगनाही चाहिये। इसी तरह सब प्रकारके दैवके विषयमें जानना योग्य है। यह दैव प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण आदि प्रकारसे अनेकविध होता है। इसी तरह उपादान कारण, निमित्त कारण, समवाय कारण आदि कारणोंमें भी अनेक प्रकार हैं। परंतु इन भेदोंका विचार करनेकी यहां हमें आवश्यकता नहीं है। ये पांच कारण हैं, इतनाही यहां देखना और समझना चाहिये और इनका परस्पर संबंध जानना चाहिये।

मनुष्य अपने शरीरसे, वाणीसे, मनसे जो कुछ कार्य करता है, वह कर्म न्याय्य हो या अन्याय्य हो, वह धर्म्य हो वा अधार्मिक हो, वह योग्य हो वा अयोग्य हो, उसके ये पांच हेतु होते हैं। इन पांचों हेतुओंके निर्दोष होनेसेही वह कर्म उत्तम बनता है। इसका विचार हर-एक साधकको अवश्य करना चाहिये।

अपना अधिष्ठान कैसा है, अपना कर्तृत्व कैसा है, अपने साधन कैसे हैं, अपनी विविध चेष्टाएं कैसी होती हैं, और दैवकी अनुकूलता है वा प्रतिकूलता है, इन सबका विचार हरएक साधकको करना चाहिये। क्योंकि इनमें जहां जितना दोष होगा, वहां उतनी सिद्धिमें न्यूनता अवश्य होगी।

(७) कर्ता और अकर्ता।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

अन्वयः— तत्र एवं सति यः तु केवलं आत्मानं कर्तारं पश्यति, सः दुर्मतिः अकृतबुद्धित्वात् न पश्यति ॥१६॥ यस्य अहंकृतः भावः न, यस्य बुद्धिः न लिप्यते; सः इमान् लोकान् हत्वा अपि न हन्ति, न निबध्यते ॥१७॥

यह सत्य होते हुए जो केवल अपने आत्माको ही कर्ता मानता है, वह हीन मतिवाला संस्कारहीन बुद्धिके कारण कुछ भी नहीं जानता ॥ १६ ॥ जिसको अहंकार का भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह, इन सब लोगोंका वध करनेपर भी वध न करनेके समानही (निर्दोष) है, अतः वह बंधनमें नहीं पडता ॥ १७ ॥

भावार्थ— प्रत्येक कर्मको उक्त पांच कारण हैं, यह सार्वकालिक सत्य है, इसको न मानना और अपनेको कर्ता समझना यह बुद्धिहीनता और संस्कारहीनताका लक्षण है। इसलिये जिसको यह कर्तृत्वाभिमान नहीं है, जिसकी बुद्धिमें दोष नहीं है, उसने सबका वध किया तो भी उस वधके दोपसे वह दोषी नहीं होता, अतः उसे बंधन में भी पडनेका कारण नहीं है। अर्थात् अहंकार के त्यागनेसे सब दोष दूर होते हैं ॥ १६-१७ ॥

कर्ता और उसके साधनोंका यह विचार हुआ। कर्ता अपना कर्म निर्दोष रीतिसे कैसा कर सकता है, यह इस विचारसे ध्यानमें आ सकता है। अब निर्दोष कर्ता कैसा हो सकता है इसका विचार करते हैं। कर्म करकेभी न करनेके समान कर्ता निर्दोष किस तरह रह सकता है, इसका विचार अब होगा—

कर्मके साधन।

(१६-१७) अधिष्ठान, कर्ता, साधन, चेष्टा और दैव ये पांच साधन प्रत्येक कर्मके लिये रहते हैं। इन पांचोंके होनेसे ही हरएक कर्म होता है, इस लिये किसी कर्मके शुभाशुभ होनेका मूल इन पांचोंमें होना संभव है। ऐसा होते हुए कर्ताही अपने आपको अहंकारसे किसी कर्मका पूर्ण कर्ता किस तरह मान सकता है? मनुष्य अहंकारवश अपने आपको कर्ता मानता ही है और जिस समय कोई कर्म विशेष प्रशंसनीय होता है, उस समय तो ' यह कर्म मैंने किया,' ' मैं हि इसका कर्ता हूं' ऐसी घमंड मारता है, परंतु ऐसे समय यह सोचना चाहिये, कि इस कर्मके बननेमें अधिष्ठान, कर्ता, विविध साधन, विविध चेष्टाएं और दैवका भाग कितना है। चारोंका भाग कितना और कर्ताका भाग कितना है, इसका विचार करना चाहिये।

इन सब पांचों हेतुओंमें ' कर्ता ' को प्रधान मानने और अन्य चारोंको गौण माननेपर भी, अन्य चारोंके प्रतिकूल होनेपर अकेला कर्ता

कुछ भी कर नहीं सकता, इसमें संदेह ही नहीं है। अतः जो कर्म पांचोंकी अनुकूलतासे हुआ है, उसके बननेके विषयमें अकेले कर्ताको अभिमान धारण करना अयोग्य है ।

इनमें भी दैवके अनुकूल होनेमें मेरा कोई हाथ नहीं है, अधिष्ठान तो पहिलेसे ही है, चेष्टा करनेकी शक्ति अन्य किसीकी निर्माण की है, सब साधनोंका भागभी कर्मके होनेमें विशेषही है, इस तरह जो कर्म मैंने किया, वह बननेके लिये मेरे पूर्वसेही कैसी अनुकूलता बनती आयी है, इसका विचार कर्ताको करना चाहिये ।

उदाहरणके लिये देखिये। आज मैंने रोटी बनायी है। जिन गेहूं की यह रोटी बनाई गयी उनके निर्माण करनेके लिये सेकडों और सहस्रों मानवोंके परिश्रम लगे हैं। खेत तैयार करनेमें, हलनिर्माणमें, खेती करनेमें, गेहूं पीसनेमें, जल लाने आदि कर्मोंमें सेकडों मानवोंके परिश्रम सहायक हुए हैं। अतः रोटीका निर्माण करना मेरे अकेलेके परिश्रमका कार्य निश्चयसे नहीं है। अतः रोटीके निर्माण करनेका अहंकार जो धारण करता है,वह व्यर्थ धारण करता है, इसमें संदेहही नहीं है। इसी तरह अन्य सब कार्योंके विषयमें जानना चाहिये ।

इसलिये (केवलं आत्मानं कर्तारं पश्यति स दुर्मतिः) केवल अपनेको कर्ता मानना, केवल आत्माको कर्ता समझना, यह अहंकारमय दोषयुक्त बुद्धिका द्योतक है। यहां जो दुर्मतित्व है वह निराधार अहंकारके कारण हुआ है, व्यर्थ अहंकारके कारण मति दुष्ट हुई है। जैसा मैं नहीं हूं वैसा अपने आपको मानना यह दुष्ट मतिसेही होता है। प्रत्येक कर्मका कर्तृत्व अपने पास कितना है और कितना नहीं, इसका विचार करनेसे मनुष्यको स्पष्ट ज्ञात होगा कि मनुष्यके पास अहंकर करने योग्य कर्तृत्व नहीं है, जो कुछ कर्तृत्व मनुष्यके पास आसकता है वह अधिकसे अधिक पांचवाँ हिस्सा है और वह भी अन्योंकी अनुकूलतासेहि प्रभावित होनेवाला है। इसलिये जो अपने कर्तृत्वकी घमंड करता है, उसकी घमंड अयोग्य है, अस्थानमें है, असत्य है। अतः सबसे पहिले यह अहंकारका भाव मनुष्यको अपने अन्तः-करणसे दूर करना चाहिये। इस अहंकारसे अपनी मतिको दोषयुक्त बनाना किसीको भी उचित नहीं है ।

जो इस तरह शुद्ध विचार करके (नाहंकृतः) अहंकारसे दूर रहता है, घमंड नहीं करता, अपने आपको कर्ता माननेका अविचार नहीं करता, घमंडसे जिसकी (बुद्धिः न लिप्यते) मति कलंकित नहीं होती जिसकी बुद्धि अहंकार-रहित होनेसे शुद्ध रहती है, निर्दोष होती है, ऐसा भद्र पुरुष इन सब सैनिकोंका (हत्वा अपि न हन्ति) वध करनेपर भी वध न करनेके समान निर्दोष रह सकता है और (न निबध्यते) वध-दोषके कारण उसे बंधन भी नहीं हो सकता ।

कर्ता होनेपर भी अकर्ता होनेके समान वह निर्दोष रहता है। सेनापतिके शासनके नीचे रहनेवाले सैनिक युद्धमें अनेक शत्रुवीरोंका वध करते हैं, परंतु वह सब सेनापतिकी आज्ञासे होता है। इस लिये किसी सैनिकको किसी शत्रुवीरका वध करनेका दोष नहीं लगाया जाता और नहीं लग सकता। वह सैनिक भी अपने आपको उसका वधकर्ता नहीं कहता, क्यों कि वह अपनी स्वतंत्रतासे वह वधकर्म नहीं करता है, परंतु सेनापतिकी आज्ञासे वह केवल गोली चलाता है, जिससे शत्रुके वीर मरते हैं।

शत्रुके फलाने वीरको मारनेका अहंकार इस को नहीं था। इसलिये उसके वधका यह कर्ता नहीं है। अहंकारसेही कर्तृत्वका दोष होता है, इसलिये जिसने अहंकार छोड दिया, वह कर्ता

(८) त्रिपुटीकी त्रिविधता।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

(९) त्रिविध ज्ञान।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

अन्वयः– ज्ञानं, ज्ञेयं, परिज्ञाता इति त्रिविधा कर्मचोदना (अस्ति,) करणं, कर्म, कर्ता इति त्रिविधः कर्मसंग्रहः (अस्ति) ॥ १८ ॥ ज्ञानं, कर्म च कर्ता च त्रिधा एव गुणभेदतः गुणसंख्याने प्रोच्यते, तान् अपि यथावत् शृणु ॥ १९ ॥

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता यह तत्त्व कर्मकी प्रेरणामें है, तथा साधन, क्रिया और कर्ता ये तीन प्रकारके कर्मके अंग हैं ॥ १८ ॥ ज्ञान, कर्म और कर्ता गुणके त्रिविध भेदके कारण तीन प्रकारके होते हैं, उनका वर्णन जैसा है, वैसा तू श्रवण कर ॥ १९ ॥

भावार्थ– ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता यह कर्मप्रेरक त्रिपुटी है; करण (साधन), कर्म और कर्ता यह त्रिपुटी कर्मसाधक है। सत्त्व रज तम इस गुणभेदके कारण इनके तीन भेद होते हैं, उनका विचार अवश्य करना योग्य है ॥ १८–१९ ॥

होनेपरभी अकर्ता जैसाही निर्दोष रहता है। कर्मोंके दोषोंसे बचनेका यह एकमात्र साधन है, जिसके अवलंबनसे साधक निरहंकार वृत्ति धारण करके अपने आपको, संपूर्ण कर्मोंको करते हुएभी निर्दोष रख सकते हैं। अब कुछ त्रिपुटीयोंका विचार देखिये—

(१८–१९) ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान, कर्ता कर्म और करण इस तरहकी त्रिपुटियां सर्वत्र होतीं हैं। सत्त्व-रज-तम-भेदसे इनके त्रिविध भेद होते हैं। उनका वर्णन अब करते हैं—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अन्वय—येन (जीवः) विभक्तेषु सर्वभूतेषु अविभक्तं, एकं, अव्ययं भावं ईक्षते, तत् ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥२०॥ यत् ज्ञानं पृथक्त्वेन सर्वेषु भूतेषु पृथग्विधान् नानाभावान् वेत्ति, तत् ज्ञानं राजसं विद्धि ॥ २१ ॥ यत् तु एकस्मिन् कार्ये कृत्स्नवत् सक्तं अहेतुकं अतत्त्वार्थवत् अल्पं च, तत् ज्ञानं तामसं उदाहृतम् ॥ २२ ॥

जिससे जीव परस्पर विभक्त सब भूतोंमें अविभक्त और अविनाशी भावको देखता है, वह ज्ञान सात्त्विक है, ऐसा तू समझ ॥ २० ॥ जिस ज्ञानसे पृथक्त्वका अनुभव होनेके कारण सब भूतोंमें विविध प्रकारके नाना भाव देखे जाते हैं, वह ज्ञान राजस है ऐसा तू जान ॥२१॥ जो तो एकही कार्यमें यही सब कुछ है ऐसा मानकर आसक्त होना है, जो हेतुरहित रहस्य-हीन और अल्प होता है, वह ज्ञान तामस कहलाता है ॥२२॥

भावार्थ— विभक्तोंमें अविभक्त अखण्ड एकरस अविनाशी भाव देखना सात्त्विक ज्ञानसे होता है। पृथग्भावका अनुभव होनेका कारण राजस ज्ञान है और जो सत्त्वहीन मिथ्या ज्ञान होता है, वह तमोगुणी समझना योग्य है ॥ २०-२२ ॥

(२०-२२) यहां सत्त्व-रज-तम भेदसे ज्ञानके तीन भेद होते हैं, उनका वर्णन है। सात्त्विक ज्ञान, राजस ज्ञान और तामस ज्ञानके लक्षण ये हैं—

सात्त्विक ज्ञान ।

इस विश्वमें अनेक विविध भूत हैं। प्रत्येक भूत अन्योंसे पृथक् है। वस्तुओंकी विविधता ही विश्व का स्वभाव है। इस विविधतामें, इस पृथक्त्वमें, इन विभक्त वस्तुओंमें, एकत्वके भावका अपृथक्त्वका, अविभक्त सत्ताका जिससे अनुभव होता है, वह सात्त्विक ज्ञान है। अर्थात् सात्त्विक ज्ञानसे अनेक विभक्त वस्तुओंमें एक अविभक्त सत्य तत्त्वका दर्शन होता है। अनेक पृथक् एक दूसरेसे भिन्न वस्तुओंमें एक अखण्ड भावका दर्शन होता है, अर्थात् अनेक भेदोंमें अभिन्न सत्ताका अनुभव होता है।

उदाहरणके लिये देखिये, कि समुद्रकी अनेक और परस्पर भिन्न लहरियोंमें एकही जल भरपूर भर रहा है, अतः एक लहरि दूसरी लहरिसे भिन्न होती हुईभी जलरूपकी एकही सत्ता उन सबमें है। सब विभिन्न लहरियोंमें जलरूपसे अभेद देखनेका नाम सात्त्विक ज्ञान है।

सुवर्णके विविध अलंकार बनाये, वे परस्पर-भिन्न हैं और उनका उपयोगभी भिन्नभिन्नही है। परंतु उन सबमें एक जैसीहि सुवर्णकी सत्ता है, यह एक सत्ता विविध पृथक् भावोंमें देखनेका नाम सात्त्विक भाव है।

एक मिट्टीके अनेक घडे बनाये, हरएक घडे-का अस्तित्व भिन्न है, तथापि सब घडोंमें मिट्टी की सत्ता एक जैसी है। इस तरह अनेकोंमें एकत्व देखना यह सात्त्विक ज्ञानसेही होता है।

कपासके अनेकविध सूत्र बनाये और उसके बुननेकी विविध कारीगरीसे विविध कपडे बनाये। इन कपडों कि विविधता निःसंदेह है,

इस विविधतामें सर्वत्र कपासरूपी वस्तुकी एकरूप सत्ताका दर्शन करनेका नाम सात्त्विक भावका दर्शन है।

एक राष्ट्रमें हिंदु,बौद्ध,जैन, मुसलमीन,खिस्ती, यहुदी आदि विविध धर्म माननेवाले तथा संस्कृत, हिंदी, मराठी, पंजाबी, बंगाली, कनडी आदि विविध भाषा बोलनेवाले अनेक लोग हैं। यह मानवोंकी विविधता निःसंदेह है। इस विविधताके होते हुए इन सबमें 'हिंदी' होनेका अद्वैत भाव देखकर ये सब हिंदी रूपमें समान हैं ऐसा मानकर इन सबसे समान व्यवहार करना यह सात्त्विक ज्ञानसेहि होता है।

सब मानव प्राणी, पशुपक्षी, कीट, पतंग ये परस्परभिन्न हैं। परंतु इनमें एक और अखण्ड जीवतत्त्व है, यह देखकर उस जीवभावसे इन सबको समान मानना और सबको जीवनधारण के साधन भक्ष्यभोज्यादि यथायोग्य रीतिसे समानही चाहियें, सबका जीव सबको प्रिय है, सबको भूक प्यास समान है, मृत्यु सबको समान कष्टप्रद प्रतीत होता हैं, इन विविध प्राणियोंमें जीवनकी यह समानता देखना सात्त्विक ज्ञानसे होता है।

इसी तरह संपूर्ण विश्वकी विविध वस्तुओंकी पृथक् सत्तामें आत्माका अथवा ब्रह्मका अखण्ड अविभक्त भाव देखना सात्त्विक ज्ञानसे होता है।

सात्त्विक ज्ञानका स्वरूप इन उदाहरणोंके विवेकसे पाठकोंमें सुस्थिर हो सकता है। सात्त्विक ज्ञानका फल बहुत श्रेष्ठ और सच्ची उन्नतिका साधक होता है, इसका विचार आगे किया जायगा। अब राजस ज्ञानका लक्षण देखिये—

राजस ज्ञान।

भेदका ज्ञान, पृथग्भावका ज्ञान, प्रत्येकके नाना भावोंका अनुभव राजस ज्ञानसे होता है। राजस ज्ञानसे हरएक भूतमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म भेद दिखाई देते हैं। एकही वस्तुमें राजस ज्ञानसे विविध भेद दिखने लगते हैं और उनके पृथक् होनेका प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

एकही मानवजातिमें ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णभेद, ब्रह्मचर्य-गृहस्थादि आश्रमभेद, हिंदूमुसलमीनादि धर्मभेद, हिंदू ऊर्दू आदि भाषाभेद, दाढी बढाना या शिखा रखना आदि चिह्नभेद, इस तरहके भेदोंपरहि दृष्टि रखकर और उन भेदोंको बढाकर तथा उन भेदोंकी भिन्नताको फैलाकर जो भेदोंकी वृद्धि करना होता है, यह राजस ज्ञानके कारण होता है।

राजस दृष्टि सर्वत्र इस तरह भेद बढाती जाती है। इस कारण एक दूसरेके साथ मेल होना असंभव हो जाता है। जहां मेल होगा, वहां राजस दृष्टिका उद्भव होनेसे भेद निर्माण होंगे और वे बढते ही जांयगे।

सात्त्विक दृष्टिवालेने कहा कि यह मुख सुंदर है, तो राजस दृष्टिवाला उसी समय कह उठेगा कि यहां तो नाक है, कान हैं, आंख हैं, जिह्वा है, होंट हैं, गाल हैं, थाडी है, सिर है, ये भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। यहां आपके कथनानुसार मुख कहां है? इस तरह राजस दृष्टिवाला झगडा करनेके लिये खडा होगा। किसीने कहा कि यह रथ है तो राजस बुद्धिवाला कहेगा कि यहां चक्र, अक्ष, धुरा, आसन आदि हि भिन्न भिन्न वस्तुएं हैं। गाडी करके कोई एक वस्तु नहीं है। इस तरह प्रतिपादन करता हुआ वह लडनेके लिये भी तैयार होगा।

यह भारतीय मानवसमाज है, ऐसा किसीने कहा तो वह राजस दृष्टिवाला कहेगा कि यहां तो हिंदु, मुसलमान, खिस्ती आदि विभिन्न जातियां हैं, इनका मेल नहीं होगा, यहां भारतीय मानवसमाज करके एक समाज नहीं है।

इस तरहकी जो मनोवृत्ति होती है, जिससे भेदही भेद नजर आते हैं, वह राजस ज्ञानकी वृत्ति है। इससे भेदही भेद दीखते हैं, भेद ही वढानेकी रुचि होती है, एकता करनेके लिये प्रयत्न नहीं होते, भेदोंमें अभेद देखनेकी रुचि भी नहीं होती।

राष्ट्रमें भेद वढ रहे हैं यह देखकर समझ सकते हैं, कि उस राष्ट्रमें राजस वृत्ति वढ रही है। यदि किसी राष्ट्रमें सात्त्विक मनोवृत्ति वढेगी तो भेद होते हुए भी एकताकी मनोवृत्ति वढती जायगी और संघटनाका फैलाव होगा। राजस मनोवृत्तिसे विघटना होती है और मेलमिलाप असंभव हो जाता है।

अव तामस ज्ञानका लक्षण देखिये—

तामस ज्ञान।

(अ-हैतुकं) जिसमें कार्यकारणका यथायोग्य वोध नहीं होता, तथा (अ-तत्त्वार्थवत्) जिसमें सत्य तत्त्वका भी ठीक ठीक वोध नहीं होता है और जिसमें संपूर्णके समान ही एक अंशमें आसक्तियुक्त भाव रखा जाता है, उसको तामस ज्ञान कहा जाता है।

कार्यकारण-भावकी गोलमाल होना यह अज्ञानका लक्षण है। इसी अज्ञानका नाम 'तामस ज्ञान' है। तामस ज्ञान वस्तुतः शुद्ध अज्ञान है,किंवा उसे 'मिथ्या ज्ञान' भी कह सकते हैं। मिथ्याज्ञान विपरीत ज्ञानको कहते हैं। तामस ज्ञानमें विपरीत भावना और अशुद्ध भावना दोनों रहते हैं। कार्यकारण-भावका यथायोग्य ज्ञान ही सत्य ज्ञान है। वह इसमें नहीं रहता, यह तामस ज्ञानका पहिला दोष है।

तामस ज्ञानका दूसरा दोष इसमें (अतत्त्वार्थवत्) सत्य तत्त्वका वोध नहीं होता। या तो विपरीत वोध होगा, अथवा अवोध ही होगा, परंतु यथायोग्य तत्त्वका ज्ञान कभी नहीं होगा। तामसी मनुष्य प्रत्येक वस्तुके विषयमें विपरीत कल्पना करता हुआ झगडता रहेगा और अपना ही मत सच्चा है ऐसा कहेगा।

तीसरा दोष तामस ज्ञानमें यह है कि (कृत्स्नवत् एकस्मिन् कार्ये सक्तं) अंशमें पूर्णकी भावनाका अनुभव तामसी मनुष्य करता है। यह समझता है कि अपनी उदरपूर्ति हुई तो अपने कुटुंवियोंकी तृप्ति हो चुकी। अपने कुटुंवको सुख हुआ तो अपना ग्राम सुखी हो चुका। अपनी जातिका सुख वढानेके लिये तामसी लोग सव राष्ट्रका नाश करनेके लिये भी तैयार होते हैं। इस तरह ये तामसी लोग संपूर्णके स्थानपर अंशको मानकर अंशकी संतुष्टीके लिये संपूर्णका नाश करनेको भी प्रवृत्त होते हैं। अतः इस कारण यह तामस ज्ञान नाशके लिये कारण होता है। अंशमें (सक्तं) अत्यंत आसक्त होना और उस आसक्तिके कारण संपूर्णका हित हो चुका ऐसा मानकर संपूर्णके हितके विषयमें उदासीन रहना, यह घोर परिणाम इस तामस ज्ञानसे होता है।

सत्त्व और तम।

इस तरह ये तीन ज्ञान हैं। सात्त्विक ज्ञान अनेकोंमें- परस्परविभिन्नोंमें एकत्व देखता है और उसके अत्यंत विपरीत यह तामस ज्ञान एकमें भी भेदभाव देखकर संपूर्णके स्थानपर उसके अल्प अंशको मानकर, अंशके लिये ही आसक्ति धारण करके संपूर्णका त्याग करता है। सत्त्व और तम इनमें यह भेद है, इसका पाठक विचार करें।

यह ज्ञान ठीक तरह समझमें आनेके लिये एक उदाहरण देते हैं। आर्य धर्म मानता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण मानवी सुसंस्कृत समाजमें उनके गुणकर्मोंके कारण होते हैं। सुसंस्कृतोंके ये चार वर्ण होनेसे इनसे भिन्न असंस्कृत लोगोंका एक पांचवां गण

(१०) विविध कर्म।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

मानना पडता है। इस तरह इन पांच वर्गोंमें अखिल मानवी जनता वँटी है। इसकी ओर सात्त्विक मनुष्य देखता है और इन पांच वर्गोंमें वँटी हुई विभिन्न मानवजातिमें मानवत्वभावसे एकता है, यह सात्त्विक ज्ञानसे वह देखता है और इस एकतासे वह सबकी उन्नतिके लिये यत्न करता है। इसके विपरीत तामस मनुष्य ब्राह्मणब्राह्मणेतर, शूद्रशूद्रेतर ऐसे अस्वाभाविक भेद बढाता हुआ अपनी जाति-उपजातिमें हि संपूर्ण मानवसमाज समाप्त हुआ है, ऐसा मानकर जो कार्य संपूर्ण जनताके लिये करने चाहिये, वे अपनी उपजातिके लिये करता है और अपनी उपजातिके हितके लिये संपूर्ण जनताके अहित होनेकी कोई चिंता नहीं करता; इतनाही नहीं अपनी उपजातिके हितके लिये संपूर्ण मानवजातिको दुःख देना अपना कर्तव्यही समझता है। इस कारण इस तामस ज्ञानसे मानवी कष्ट बढते जाते हैं।

इस उदाहरणसे सात्त्विक और तामस ज्ञानका ठीक ठीक पता पाठकोंको लग सकता है। पाठक देखेंगे कि सात्त्विक-राजस—तामस इन तीन प्रवृत्तियोंसे समाज त्रिविध हुआ है और उनके ज्ञानविज्ञान और आचारविचारमें भी वही भेद दीखता है। यह देखकर साधक अपनी प्रवृत्ति जानें और तदनुसार अपने कर्मका तथा गुण धर्मका निश्चय करें।

यद्यपि सात्त्विक ज्ञानसे उन्नति, राजस ज्ञानसे मध्यम स्थिति और तामस ज्ञानसे अवनति होनेका वर्णन (गीता अ० १४।१८) में कहा है, तथापि सात्त्विक ज्ञानके विपरीत रहनेवाले राजस और तामस ज्ञानका कोई उपयोग नहीं, ऐसी बात नहीं है। जैसा देखिये- सात्त्विक ज्ञानसे संघटना हो सकती है, राजस ज्ञानसे हरएक विभेदका दूसरेसे क्या संबंध है इसका ठीक ठीक ज्ञान होता है, सब विज्ञानकी उन्नति विभेदोंकी विशेषताओंको पहचाननेसे ही हो सकती है। विज्ञानके लिये पृथग्विध नाना भावोंके पृथक्पृथक् ज्ञानकी भी अत्यंत आवश्यकता है और तामस ज्ञानसे हरएक अपने अपने अंशकाही विचार कर सकता है। इस तरह अविरोधसे सब अंश उन्नत होनेसे सबकी उन्नति होना संभव है। अर्थात् इन तीनों ज्ञानोंका *मानवी उन्नतिमें स्थान है*, परंतु उनके *मर्यादाके* अधिक बढनेसे हानिकी संभावना हो सकती है।

ज्ञानकी त्रिविधताका यह विचार है। अब त्रिविध कर्मका विचार देखिये—

अन्वयः- अफलप्रेप्सुना यत् नियतं कर्म संगरहितं अरागद्वेषतः कृतं, तत् सात्त्विकं उच्यते ॥ २३ ॥ पुनः यत् तु कामेप्सुना, साहंकारेण वा बहुलायासं कर्म क्रियते, तत् राजसं उदाहृतम् ॥ २४ ॥ अनुबंधं क्षयं हिंसां पौरुषं च अनपेक्ष्य, यत् कर्म मोहात् आरभ्यते, तत् तामसं उच्यते ॥ २५ ॥

फलकी इच्छा न करते हुए जो नियत कर्म आसक्तिरहित और रागद्वेष-रहित होकर किया जाता है, उसको सात्त्विक कर्म कहते हैं ॥ २३ ॥ परंतु जो कर्म फलकी इच्छासे, अहंकारसे और बडे आयाससे किया जाता है, उसे राजस कर्म कहते हैं ॥ २४ ॥ परिणाम, हानि, हिंसा और अपना सामर्थ्य इनका विचार किये विना ही मोहसे जो कर्म किया जाता है, उसे तामस कर्म कहते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ— जो कर्म निष्काम भावसे रागद्वेषरहित होकर होता है, वह सात्त्विक कर्म है। जो भोगवृद्धिके लिये अहंकारसे होता है वह राजस कर्म है। परिणाम का विचार न करते हुए अज्ञानसे किंवा मोहसे होता है, वह तामस कर्म है ॥ २३—२५ ॥

(२३—२५) सात्त्विक कर्म, राजस कर्म, और तामस कर्म का स्वरूप यहां बताते हैं। जो नियत कर्म आसक्तिरहित होकर तथा रागद्वेष छोडकर और उसका फल अपने भोगके लिये लेनेकी इच्छा न करते हुए किया जाय, वह सात्त्विक कहा जाता है। अर्थात् सात्त्विक कर्म के लिये फलभोग की इच्छा का त्याग करना चाहिये, राग और द्वेष छोडना चाहिये, यह मुख्य बात है। राग अर्थात् भोगकी प्रिति, द्वेष अर्थात् दूसरेकी कायिक, वाचिक मानसिक हिंसा करनेकी वृत्ती यह सब मानवके अधोगतिके साधन हैं। इनके होते हुए सात्त्विक कर्म होना असंभव है। रागद्वेषसे मन कंपायमान होता है, रागसे मनुष्य भोगकी ओर जाता है और द्वेषसे वैरके प्रभावमें फंसता है। इसलिये रागद्वेषोंके कारण अशान्तिमें फँसता है। अतः रागद्वेषको दूर करके मनको शान्त करना चाहिये। इस मनकी प्रशान्त स्थितिसे जो कर्म होता है, वही सात्त्विक कहलाता है।

इसके विपरीत जो कर्म फलभोग करनेकी प्रबल अभिलाषा से किये जाते हैं, जिनके फल इसलिये अपने पास संग्रहित करनेका यत्न किया जाता है कि, उनका भोग अपनेकोहि सदा मिलता रहे, कितनेभी परिश्रम हों और सायास पडें तो भी उनकी पर्वाह न करते हुए बडे आयासोंको सहते हुए भी जो कर्म किया जाता है और जिसमें अपने कर्तृत्व की घमंड बहुत ही रहती है, वह राजस कर्म है।

अब सात्त्विक और राजस कर्मके लक्षण देखिये—

(सात्त्विक कर्म)	(राजस कर्म)
अहंकाररहित होकर	अहंकार से किया
फलभोगका विचार छोडकर।	फलभोगकी इच्छासे
आसक्ति छोडकर	आसक्तिसे
रागद्वेप छोडकर	रागद्वेपसे

राजस और सात्त्विक कर्म के ये लक्षण देखने योग्य हैं। इनका विचार करनेसे इन कर्मोंके परिणामोंकी भी कल्पना हो सकती है। जिसमें अहंकार, आसक्ति, रागद्वेप और भोगवासना होगी, वे राजस कर्म दुःख बढानेवाले होंगे इसमें कोई संदेह ही नहीं है। अतः जो कर्म फलभोगकी कामना छोडकर, अहंकार न धारण करते हुए,

(११) त्रिविध कर्ता।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

आसक्तिरहित होकर और रागद्वेषरहित होकर किये जांयगे, वेही मनुष्यका सुख बढायेंगे, इसमें संदेह नहीं है।

अब तामस कर्मका लक्षण देखिये-, जो कर्म अपना सामर्थ्य है वा नहीं है, इसका बिलकुल विचार न करते हुए हानि और हिंसाका विचार भी छोड कर, परिणाम क्या होगा इसका अनुसंधान न करते हुए मोहसे किये जाते हैं, वे तामस कर्म अधोगतिको ले जानेवाले होते हैं। क्योंकि अपनेमें इस कर्मको करनेका सामर्थ्य न होनेपर जो कर्म किये जांयगे, वे अपूर्ण हि रहेंगे और उनपर व्यय हुई शक्ति व्यर्थ ही जायगी, इसमें संदेह नहीं है। इसमें क्षय, हानि और हिंसा कितनी होगी, इसका विचार न करते हुए, जो कर्म किये जांयगे, वे भी किसी समय निःसंदेह हानि करेंगे तथा इसका परिणाम क्या होगा इसका यदि पहिले विचार न किया जायगा, तो संभवतः ये कर्म भयानक परिणाम करनेवाले सिद्ध होंगे। इसलिये तामस कर्म अपने हाथसे न होंगे, ऐसा यत्न हरएकको करना चाहिये।

मनुष्यकी प्रवृत्तिके अनुसार उससे कर्म होते हैं। सात्विक प्रवृत्तिके मनुष्यसे सात्विक कर्म होगा, राजस मनुष्य राजस कर्म करेगा और तामस प्रवृत्तिके मनुष्यसे तामस कर्मही स्वभावतः होंगे। यह तो स्वभावसे ही होगा। परंतु राजस और तामस कर्मोंसे हानि होनेवाली है यह जानकर, यदि थोडी सावधानीके साथ वेही कर्म किये जांयगे, तो हानि कम होगी। धर्म यही करता है। तामस कर्मसे जितनी हानी होना संभव है उतनी हानि होने न देना धर्मका कार्य है।

उदाहरण के लिये देखिये-एक तामसी मनुष्य है, वह मोहयुक्त होनेसे अज्ञानी है। उसे ज्ञान न होनेके कारण उससे अनेक अशुद्धियां होना संभव है। इस मोहको छोडकर जो इसमें अन्य दुर्गुण अर्थात् अपनी शक्तिका अपरिचय, हिंसा और हानि की उपेक्षा, परिणामकी ओर दुर्लक्ष्य आदि होते हैं, उनका भयानक परिणाम दूर करने के लिये धर्मविधिकी योजना हुआ करती है। इस लिये तामसी लोग भी धर्मविधिके अनुसार अपने कर्म करते जांयगे, तो उनको उतनी हानि भोगनी नहीं पडेगी, जितनी कि वे धर्मको छोडकर बर्ताव करनेपर उनको भोगनी पडेगी। एक तामसी मनुष्य तामस-उपासना करता है और दूसरा तामसी मनुष्य मनमाना आचार करता है। इसकी उपासनामें प्रवृत्ति होनेके कारण उस उपासकका तमोगुण उतनी हानि नहीं करेगा कि जितनी हानि दूसरेको भोगनी पडेगी। इससे धर्मके द्वारा राजस और तामस कर्म भी किस तरह कम हानी करनेवाले हो सकते हैं, इसका निश्चय हो सकता है। अस्तु। अब त्रिविध कर्ताका विचार देखिये—

अन्वयः—मुक्तसंगः अनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः कर्ता सात्त्विकः उच्यते ॥२६॥ रागी, कर्मफलप्रेप्सुः, लुब्धः, हिंसात्मकः,अशुचिः,हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥ अयुक्तः, प्राकृतः, स्तब्धः, शठः, नैष्कृतिकः, अलसः, विषादी, दीर्घसूत्री च कर्ता तामसः उच्यते ॥ २८ ॥

जो आसक्ति और अहंकारसे रहित, धैर्य और उत्साहसे युक्त, सिद्धि और असिद्धिके विषयमें हर्षशोक न माननेवाला है, वह सात्त्विक कर्ता है ॥ २६ ॥ जो भोगी, कर्मफलकी इच्छा करनेवाला, लोभी, हिंसाशील, अशुद्ध, हर्षशोक करनेवाला है, वह राजस कर्ता है ॥ २७ ॥ जो अव्यवस्थित–अकुशल, संस्कार-रहित, सुस्त, शठ, नीच–परोत्कर्ष सहन न करनेवाला, आलसी, विषादी, दीर्घसूत्री कर्ता है, उसे तामस कर्ता कहते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ— घमंड और भोगासक्तिरहित, उत्साहयुक्त, द्वन्द्वोंके विषय में सम भाव रखनेवाला कर्ता सात्त्विक है; भोगी, लोभी, हिंसक, अशुद्ध और शोक तथा हर्ष युक्त कर्ता राजस होता है और प्रमादी, आलसी, सुस्त कर्ता तामस समझना योग्य है ॥ २६—२८ ॥

सात्त्विक कर्ता ।

(२६—२८) जिसमें भोगकी आसक्ति (मुक्तसंगः) नहीं है, जिसमें (अन्- अहं-वादी) अहंकार नहीं है,जो धैर्य और उत्साहसे (धृत्युत्साहसमन्वितः) युक्त है, तथा जो सिद्धि और असिद्धिके (सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः) विषयमें निर्विकार रहता है, अर्थात् सिद्धि प्राप्त होनेपर जिसे घमंड नहीं होती और असिद्धि होनेसे जो निरुत्साह नहीं होता, वह कर्ता सात्विक कहलाता है । जो कर्मके फलको अपने भोगके लिये अपने पास संग्रहित करके रखना नहीं चाहता; इतनाही नहीं, परंतु जो कर्मफलका ईश्वरार्पणवुद्धिसे समर्पण करता है, अपने कर्मके फलको अपना न मानकर परमेश्वरका मानता है और उसे परमेश्वर का भाग मानकर व्यवहार करता है, वह आसक्ति-रहित समझना चाहिये ।

कर्मका अभिमान जिसमें नहीं, कर्म करनेके कारण जो अपने आपको परमोच्च नहीं समझता, मैंही ऐसा कर्म कर सकता हूं, दूसरे मेरे मुकावलेमें हीन हैं, वे क्या कर सकेंगे? ऐसा जो कभी नहीं मानता, वही अभिमानरहित कहलाता है । अभिमान से दूसरोंके साथ द्वेष उत्पन्न होता है । इसलिये जो निरभिमानी होता है, वह अपने आपको द्वेपसे वचा लेता है।

सात्त्विक मनुष्य धैर्य और उत्साहसे सदा युक्त होता है, क्योंकि धैर्य और उत्साहका नाश करनेवाले शोकमोहादि विकार उसके पास नहीं होते । सिद्धि असिद्धिकी चिन्ता उसको सताती नहीं, इसलिये सिद्धि होनेसे उसको घमंड नहीं चढती और असिद्धि होनेसें उसका निरुत्साह भी नहीं होता । ऐसा सात्त्विक कर्ता सव कर्ताओंमें श्रेष्ठ है ।

राजस कर्ता ।

अब राजस कर्ताका विचार करेंगे। राजस कर्ताका सबसे पहिला लक्षण उसका 'भोगी' होना है। भोग भोगनेकी लालसा उसके मनमें तीव्र रहती है। भोग भोगनेके लिये ही वह कर्म करता है। उसके कर्म करनेके अन्दर भोग भोगने की प्रवृत्तिहि रहती है। भोगोंपर आसक्ति होनेसे हि वह अपने कर्मके फलोंकी अपने उपभोगके लिये अभिलाषा मनमें धारण करता है। लोभ इसके मनमें रहता है, यह तो कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि भोगी और फलासक्त मनुष्य लोभी होंगे ही। (हर्षशोकान्वितः) भोग प्राप्त होनेसे वह हर्षसे नाचने लगेगा और भोग दूर होनेसे वह ऐसा शोकमें मग्न होगा, कि उसका वर्णन होना कठिन है। हर्षसे एक ओर उसका मन झुकेगा तो शोकसे दूसरी ओर चला जायगा। इस तरह वह सदा अशान्त ही रहेगा।

जिस समय ऐसे अशान्त मनवाले मनुष्यके प्रयत्न करनेपर भी उसको भोग मिलनेमें बाधा होती है, तब वह बडा क्रोध करता है और उस क्रोधके वशमें (हिंसात्मकः) हिंसा करनेमेंभी वह प्रवृत्त हो जाता है। जो उसकी भोगप्राप्तिमें विघ्न करता है, उसका नाश करनेका वह यत्न करता है। इससे द्वेष वढता है और हिंसा भी वढती है। भोगी राजस वृत्तिका यही परिणाम है।

हिंसा जहां होगी, वहां अशुद्धता होगीहि। इस कारण राजस कर्ता (अशुचिः) अशुद्ध होता है, ऐसा कहा है। जहां भोग, लोभ और हिंसा होगी, वहां काया, वाचा, मन शुद्ध रहना कठिन है। इस तरहका राजस कर्ता भोगी वृत्तिके कारण रोगी होता है, कर्मफलसंग्रहके कारण उस फलके संरक्षणकी चिन्तासे दुःखी होता है, लोभी होनेसे वह हीनवृत्तिवाला होता है, हिंसक होनेसे क्रूर बनता है, अशुचिताके कारण अपवित्र होता है, हर्षशोकग्रस्त होनेके कारण चंचल होता है। अर्थात् इन सब कारणों से वह दुःखी होता है। वह कदापि शान्त नहीं रह सकता। अशान्ति बेचैनी का ही नाम है।

तामस कर्ता ।

अब तामस कर्ताके लक्षण देखिये। तामस कर्ताका प्रधान लक्षण अज्ञान और मोह है। इस कारण उसमें योग अर्थात् कर्मका कौशल्य नहीं हो सकता। अतः उसको (अ–युक्तः) कर्मकी कुशलता जिसमें नहीं, ऐसा अकुशल, कला-कौशल्यहीन पुरुष कहते हैं। कर्मकौशल्य जिसमें नहीं होगा, उससे कोई भी कर्म यथायोग्य रीतिसे नहीं हो सकता और योग्य रीतिसे कर्म न होनेके कारण सफलताभी उसको नहीं प्राप्त हो सकती।

तामस कर्ता अपने अज्ञानके ही कारण (प्राकृतः) संस्कारहीन होता है। मनुष्य सुसंस्कारसंपन्न रहनेसे ही वह उत्तम नागरिक हो सकता है। संस्कारहीन पुरुष प्राकृत किंवा पराकृत अर्थात् समाजसे दूर रखने योग्य समझा जाता है। समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त होनेके लिये मनुष्य शुभ संस्कारोंसे संपन्न होना चाहिये। ये शुभ संस्कार ज्ञानसे हि हो सकते हैं। परंतु तामस मानवके पास तो ज्ञान रहता ही नहीं, परंतु मोह भरपूर रहता है। इसलिये शुभ संस्कारोंका न होना ही तामस कर्ताकी स्वाभाविक स्थिति है।

जिसके पास कर्मकौशल्य नहीं और ज्ञानजन्य शुभ संस्कार भी नहीं, वह क्या करेगा? वह तो स्वभावतः आलस्यमें पडा रहेगा और सुस्ति ही उसका प्रधान लक्षण बना रहेगा। अतः इस तामस कर्ताको यहां (स्तब्धः)

(१२) त्रिविध बुद्धि ।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

स्तब्ध कहा है। न वह ज्ञानकी बातें बोल सकता है, न वह कुशलताके कर्म कर सकता है, न वह शुभ, विचार फैला सकता है, इस तरह जिस क्षेत्रमें हो, उस क्षेत्रमें वह सुस्त और स्तब्ध रहता है। स्तब्धताके कारण उससे कोई अच्छे कर्म नहीं होते और वह हीन स्थितिमें सडता जाता है। सुस्त होनेके कारण (अलसः) वह आलसी होता है। कोई कर्म करनेमें उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती, फिर उन्नति कैसे होगी?

जब अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नति कर लेनेका सामर्थ्य किसीमें नहीं होता, तब उसकी बुद्धि टेढी चालें चलने लगती है और वह अन्तमें शठ बनता है, ठगानेका यत्न करके कुछ कमानेका यत्न करता है, परंतु वह भी साध्य करनेके लिये कौशल्य तो अवश्य चाहिये। वह उसके पास नहीं होता है। इस कारण वह सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अपनी असफलताका विषाद मानता है और दूसरे लोक सफल मनोरथ हुए देखकर वह उनका भी द्वेष करने लगता है। इस तरह वह नीच बनता है, दूसरोंके उत्कर्षसे आनंद माननेकी उदारता उसमें नहीं होती, इसीको 'नैष्कृतिक' कहते हैं। इस कारण यह मनुष्य सदा विषाद माननेवाला, सदा दुःख करनेवाला और उत्कर्षको पहुंचनेवाले दुसरोंका द्वेष करनेवाला होता है।

जिसके पास किसी प्रकारका ज्ञान नहीं, कौशल्य नहीं, कर्म करनेका उत्साह नहीं, विषादसे जिसका मन खिन्न हुआ है, आलस्यके कारण जिससे कुछ कार्य बनता नहीं, वह हरएक काम करनेमें दीर्घसूत्री होना स्वाभाविक है। दीर्घसूत्री का भाव यह है कि जिस कामको एक घण्टा लगनेवाला है, वही कार्य करनेके लिये आठ दस घण्टे लगाकर भी वह अपूर्ण ही रखना। इससे सफलताकी कोई आशा नहीं होती।

तामसी कर्ताकी यह अवस्था है। इसकी उन्नति संभवनीयही नहीं है। हरएक कार्यमें असफल होनेके कारण उसकी सदा अवनति हि होती रहेगी।

इस तरह कर्ताके तीनों भेदोंका यह विचार है। अब त्रिविध बुद्धीका विचार देखिये—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

अन्वयः— हे धनंजय ! बुद्धेः धृतेः च एव गुणतः त्रिविधं भेदं अशेषेण पृथक्त्वेन प्रोच्यमानं शृणु ॥ २९ ॥ हे पार्थ ! या बुद्धिः प्रवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये बंधमोक्षं च वेत्ति, सा सात्त्विकी मता ॥ ३० ॥ हे पार्थ ! यया च (बुद्ध्या जीवः) धर्मं अधर्मं च, कार्यं अकार्यं च, अयथावत् प्रजानाति, सा बुद्धिः राजसी (. मता) ॥ ३१ ॥ हे पार्थ ! या तमसा आवृता (बुद्धिः) अधर्मं धर्मं इति सर्वार्थान् विपरीतान् च मन्यते, सा बुद्धिः तामसी स्मृता ॥३२॥

हे धनंजय ! बुद्धि और धृतिके गुणोंके अनुसार तीन प्रकारके भेद होते हैं, उनका पूर्ण और पृथक् वर्णन कहता हूं, वह तू सुन ॥ २९ ॥ हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बंध-मोक्षको यथावत् जानती है, वह सात्त्विक बुद्धि है ॥ ३० ॥ हे पार्थ ! जिस बुद्धिसे जीव धर्म--अधर्म, कार्य--अकार्य का भेद यथार्थ रीतिसे नहीं जानता, वह राजसी बुद्धि हैं ॥ ३१ ॥ हे पार्थ ! जो अज्ञानसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है और सब अर्थोंको विपरीत जतलाती है, वह तामस बुद्धि है ॥३२॥

भावार्थ— बुद्धि और धृति भी सात्त्विकराजसादि भेदोंसे तीन प्रकारकी है । कर्तव्याकर्तव्य का विचार ठीक तरह करनेवाली बुद्धि सात्त्विक; जिससे कर्तव्याकर्तव्यका विचार ठीक नहीं होता, परंतु जिससे त्यागकी अपेक्षा भोग पसंद किया जाता है, वह बुद्धि राजस और गाढ अज्ञानके कारण जो अज्ञानको ही ज्ञान मानती है और सब बातोंको विपरीत बतलाती है, वह तामस बुद्धि है ॥ २९-३२॥

(२९-३२) बुद्धिके सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद होते हैं । किसमें प्रवृत्ति करनी योग्य है, किससे निवृत्त होना चाहिये, कौनसा कार्य करना चाहिये, कौनसा कर्म करना नहीं चाहिये, किससे वन्ध होता है और किससे वन्धका नाश होकर साधक मुक्त होता है, इसका ठीक ठीक ज्ञान जिस बुद्धिको ठीक समयपर होता है, उस बुद्धिका नाम सात्त्विक बुद्धि है । जिस बुद्धिसे धर्मको अधर्म, अधर्मको धर्म, कर्तव्यको अकर्तव्य और अकर्तव्यको कर्तव्य, वन्धको मोक्ष और मोक्षको वन्ध, स्वातंत्र्यको पारतंत्र्य और पारतंत्र्यको स्वतंत्रता, अर्थात् जिस बुद्धिसे सत्य ज्ञान न होकर मिथ्या ज्ञानहि होता है, जिससे जो जैसा नहीं है वैसा ही प्रतीत होता है, वह राजस बुद्धि है । तमसे आवृत हुई, अज्ञानसे मूढ हुई बुद्धिको संपूर्ण बातें विपरीत ही प्रतीत होती हैं और कुछ भी यथार्थ ज्ञान उसे नहीं होता है। इस कारण तामस बुद्धिवाला धर्माधर्मका निर्णय नहीं कर सकता। ये त्रिविध बुद्धिके भेद हैं। अब धृतिके तीन भेद देखिये—

(१३) त्रिविध धृति ।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३ ॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! (नरः) यया अव्यभिचारिण्या धृत्या मनःप्राणेंद्रियक्रियाः योगेन धारयते, सा धृतिः सात्त्विकी (अस्ति) ॥ ३३ ॥ हे अर्जुन ! यया धृत्या प्रसंगेन फलाकांक्षी (सन्) धर्मकामार्थान् (नरः) धारयते, सा धृतिः राजसी (अस्ति) ॥ ३४ ॥ हे पार्थ ! दुर्मेधाः (नरः) यया स्वप्नं, भयं, शोकं, विषादं, मदं एव च न विमुंचति, सा धृतिः तामसी (मता) ॥३५॥

हे पार्थ ! मनुष्य जिस एकनिष्ठ धृतिसे मन, प्राण और इंद्रियक्रियाओं का साम्य वृत्तिसे धारण करता है, वह सात्त्विक धृति है ॥ ३३ ॥ हे अर्जुन ! जिस धृतिसे आसक्त बुद्धिसे फलभोगकी आकांक्षा करता हुआ धर्म,अर्थ और कामको मनुष्य धारण करता है, वह राजस धृति है ॥ ३४ ॥ हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृतिसे निद्रा, भय, शोक, खेद और मदको नहीं छोडता, वह तामस धृति है ॥ ३५ ॥

भावार्थ— सम-बुद्धिसे इंद्रिय-शक्तिका धारण करनेका नाम सात्त्विक धृति है। फलभोगकी इच्छासे धर्मार्थ कामोंको धारण करनेका नाम राजस धृति है और निद्राभयशोकादिको न छोडनेका नाम तामस धृति है ॥ ३३-३५ ॥

(३३-३५) धृतिका अर्थ धारण करनेकी शक्ति। शरीरमें मन-प्राण-इंद्रियोंकी क्रियाओंका धारण जिस शक्तिसे हो रहा है, उस शक्तिका नाम धृति है। जिस शक्तिसे योगीके शरीरमें मन-प्राण और इंद्रियोंकी शक्तियोंका सम वृत्तिसे अर्थात् सम स्थितिसे धारण होता है, अर्थात् मन, प्राण और इंद्रियां परस्पर सहायक, पोषक और संवर्धक होती हैं, उस धारणशक्तिको सात्त्विक कहते हैं । आसक्त वृत्तिसे फलोंका भोग मैं करूंगा, फलोंका संग्रह मैं अपने उपभोगके लिये अपने पास बढाऊंगा, इस तरहकी आसक्तिसे धर्मके कर्म करने, अर्थका उपार्जन भी भोगके लिये ही करना और कामवृत्तिकी वृद्धि हो, ऐसेहि कार्य करना, यह जिस शक्तिसे होता है, वह राजस धृति है। तामस धृतिसे अर्थात् तमोगुणी धारणशक्तिसे मनुष्यमें

(१४) त्रिविध सुख।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे भरतर्षभ! इदानीं तु त्रिविधं सुखं मे शृणु, यत्र (सुखे जीवः) अभ्यासात् रमते, दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥ यत् अग्रे विषं इव, परिणामे अमृतोपमं आत्मबुद्धिप्रसादजं (अस्ति) तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् ॥ ३७ ॥ यत् विषयेंद्रियसंयोगात् अग्रे अमृतोपमं, परिणामे च विषं इव (अस्ति), तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥ यत् अग्रे च अनुबन्धे च आत्मनः मोहनं निद्रालस्यप्रमादोत्थं, तत् सुखं तामसं उदाहृतम् ॥ ३९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकारके सुखके भेद मुझसे तू सुन। इस सुखमें जीव अभ्याससे रमता है और दुःखका नाश होता है ॥ ३६ ॥ जो आरंभमें विषके समान लगता है, परंतु परिणाममें अमृतके समान होता है और जो आत्मबुद्धिकी प्रसन्नतामें उत्पन्न होता है, उसको सात्त्विक सुख कहते हैं॥३७॥ जो विषयोंके साथ इंद्रियोंके संयोग होनेसे उत्पन्न होकर प्रारंभमें अमृतके समान लगता है, परन्तु अन्तमें जो विषके समान होता है, वह सुख राजस है ॥ ३८ ॥ जो प्रारंभमें और अन्तमें आत्माको मोहमें डालता है और जो निद्रा आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होता है, उसे तामस सुख कहते हैं ॥ ३९ ॥

भावार्थ- जिस सुखमें जीव सदा रमता है और जिसको प्राप्त होनेसे दुःखका नाश होता है, वह सुख भी तीन प्रकारका है। जो आत्मज्ञानकी प्रसन्न वृत्तिमें उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक, जो भोगोंसे उत्पन्न होता है,वह राजस और जो मोह, निद्रा, आलस्यसे होता है, वह तामस सुख है ॥ ३६–३९ ॥

बहुत निद्रा, अतिस्वप्न, भीति, घबराहट, डर, शोक, रोनेमें प्रवृत्ति, अल्प कारणसे रो पडना, खेद, विषाद, दुःख, अकारण दुःख करते रहनेकी वृत्ति और मद, गर्व,घमंड उत्पन्न होती है। इन दुर्गुणोंको मनुष्यके अन्दर देखनेसे समझ सकते हैं,कि इसमें तमोगुणी धृति रहती है। सात्त्विक, राजस और तामस धृतिके ये लक्षण हैं। अब त्रिविध सुखका विचार किया जाता है–

(१९) सबकी त्रिविधता।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

अन्वयः— यत् सत्त्वं एभिः प्रकृतिजैः त्रिभिः गुणैः मुक्तं स्यात्, तत् पृथिव्यां वा दिवि वा पुनः देवेषु (वा) न अस्ति ॥ ४० ॥

जो वस्तु इन प्राकृतिक तीनों गुणोंसे अलिप्त हो, वह पृथ्वीमें, द्युलोकमें वा देवोंमें भी नहीं है ॥ ४० ॥

भावार्थ— ऐसी एक भी वस्तु नहीं है, कि जिसमें सात्त्विक, राजस अथवा तामस भाव न हो, अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें किसी न किसी गुणका भाव होता ही है ॥४०॥

(३६-३९) सुख भी तीन प्रकारका है, एक सात्त्विक सुख, दूसरा राजस सुख और तीसरा तामस सुख। तामस सुखको दुःखही समझना उचित है, निःसन्देह वह दुःखको उत्पन्न करता है। इन सुखोंके अन्दर अपनी प्रकृतिके अनुसार जीव रमता है और दुःख दूर हुआ ऐसा समझता है।

सात्त्विक सुखका लक्षण यह है, कि यह सात्त्विक सुख आरंभमें विष जैसा दुखदायी प्रतीत होता है, परंतु इसका परिणाम अमृत जैसा अत्यंत हितकर होता है, जिसमें आत्माकी और बुद्धिकी मानो मनुष्यकी अति सुप्रसन्नता होती है, चारों ओर आनन्दहि आनन्द प्रतीत होता है, स्वाभाविक अकृत्रिम आनन्दका अनुभव आता है। यह है सात्त्विक सुख। यह सुख मिलनेके समय दुःख होगा, परंतु इसका स्थायी परिणाम आनन्द होगा। यह सात्त्विक सुखका लक्षण है। दूसरा सुख राजस सुख है। यह प्राप्त होनेके समय अत्यंत सुख प्रतीत होता है, परंतु इसका परिणाम बहुतही भयानक होता है। परिणाममें दुःख, क्लेश और हानि उठानी पडती है, यह सुख तो इंद्रियोंको विषयोंके साथ संयुक्त करनेसे हि होता है, विषय न मिले तो यह राजस सुख मिलता नहीं। मनमें क्षुधा उत्पन्न हुई हो, विषय समीप हों और इंद्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त हों, तब यह सुख मिलता है। इस तरहका यह राजस सुख होता है। यह दुःखपरिणामी होनेके कारण इसको सुख कहा जाय या नहीं, इस विषयमें सन्देह है। तथापि सब जीवजन्तु इस सुखके लिये यत्न कर रहे हैं, और इसमें प्रथम सुख मिलता हि है और जैसा सात्त्विक सुखके प्रयत्नमें प्रथम कष्टके अनुभव होते हैं वैसा यहां नहीं है।

जो प्रारंभसे अन्ततक और बीचमें भी आत्माको मोहमें फंसा देता है, जिसमें निद्रा आलस्य और अकर्मण्यके भाव बढते हैं और जिसमें प्रमाद हो जाते हैं, वह तामस सुख है। तामसी मनुष्य सोना चाहता है, खूब निद्रा लेता है, आलस्यमें सुस्तीसे बैठा रहता है, कुछ भी करनेको दिल नहीं चाहता, सरासर प्रमाद होते जाते हैं। सुस्तीमें जो सुखका अनुभव करना है, वह तमोवृत्तिका भाव है। प्रयत्नमें जो सुखका अनुभव है, वह रजोवृत्तिका भाव है। समवृत्तिमें सुखका अनुभव करना है, वह सत्त्वगुणका भाव है।

इस तरह त्रिविध भाव बतानेके पश्चात् सब विश्व त्रिविध है, ऐसा भगवान् कहते हैं—

(१६) स्वभावज कर्म।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः- हे परंतप ! ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च कर्माणि स्वभावप्रभवैः गुणैः प्रविभक्तानि (सन्ति)॥४१॥ शमः, दमः, तपः, शौचं, क्षान्तिः, आर्जवं, ज्ञानं, विज्ञानं, आस्तिक्यं एव च (इति) स्वभावजं ब्रह्मकर्म (अस्ति) ॥४२॥ शौर्यं, तेजः, धृतिः, दाक्ष्यं, युद्धे अपि च अपलायनं, दानं, ईश्वरभावः च (इति) स्वभावजं क्षात्रं कर्म (अस्ति) ॥४३॥ कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं स्वभावजं वैश्यकर्म (अस्ति), अपि (च) शूद्रस्य परिचर्यात्मकं कर्म स्वभावजं (अस्ति) ॥ ४४ ॥

हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र के भी कर्म स्वभावजन्य गुणोंसे विविध हुए हैं ॥४१॥ शम, दम, तप, शुद्धता, सहनशक्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मणके स्वभावजन्य कर्म हैं ॥४२॥ शौर्य, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्धसे पीछे न हटना, दान और शासनका प्रभुत्व क्षत्रियके स्वभावजन्य कर्म हैं ॥४३॥ खेती, गोरक्षा और वाणिज्य ये वैश्यके स्वभावजन्य गुण हैं और परिचर्या यह शूद्रोंका स्वभावजन्य गुण है ॥ ४४ ॥

---

(४०) इस पृथ्वीपर, अन्तरिक्षमें तथा आकाशमें जो भी वस्तुएं हैं, वे सबकी सब सत्त्व, रज और तम इन तीनों प्राकृतिक भावोंसे युक्त हैं । एक भी ऐसी वस्तु नहीं है, कि जिसमें इनमेंसे एक भी भाव न हो । मनुष्य संपूर्ण विश्वमें इन तीनों गुणोंका खेल और मेल देखें और मानव जातिमें भी ये तीनों प्राकृतिक गुण हैं, इसका अनुभव करें । कई मनुष्य सत्त्वगुणविशिष्ट, कई रजोगुणविशिष्ट, और कई तमोगुणविशिष्ट होते हैं । अपनी प्रकृतिके अनुकूल हरएक के गुण कर्म हुआ करते हैं, इसलिये मानवजातिके चार भेद होना स्वाभाविक है । इन चार विभेदोंका वर्णन इस तरह है-

भावार्थ— चार वर्णोंके गुण भी सत्त्वरजतमरूप प्रकृतिके अनुसार स्वाभाविक ही हैं । शमदम आदि ब्राह्मणोंके, शौर्यतेज आदि क्षत्रियोंके, खेतीव्यापार आदि वैश्यके और सेवा करके आजीविका करना शूद्रके स्वभावसिद्ध कर्म हैं ॥ ४१-४४ ॥

(४१-४४) मानव जातिमें सत्त्व-रज-तमो-गुणोंसे कुछ भेद होना स्वाभाविकही है। जिसकी जैसी प्रकृति होती है वैसे उसके गुण और गुणोंके अनुसार कर्म होना स्वाभाविकही है। पहिले कहाही है कि—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(गी० ३-३३)

" ज्ञानी मनुष्यभी अपनी प्रकृतिस्वभावके अनुकूल कार्य करता है, प्रकृतिस्वभावके अनुकूल भूतोंका बर्ताव होता है, अतः निग्रह क्या करेगा ?" इस तरह प्रकृतिस्वभावकी प्रबलता बतायी है। जिसकी प्रकृति सात्त्विक है, वह राजस तामस कर्म करनेमें असमर्थ होगा, तथा जिसकी प्रकृति राजस होगी वह सात्त्विक अथवा तामस कर्म नहीं कर सकेगा; इसी तरह जिसकी तामस प्रकृति होगी वह सात्त्विक और राजस कर्म करनेमें पूर्ण असमर्थ होगा। यही अर्थ ' ज्ञानी मनुष्यभी अपनी प्रकृतिके अनुकूल कर्म करता रहेगा, फिर जो ज्ञानी नहीं है, ऐसी जनता अपनी प्रकृतिके अनुकूलही चलती रहेगी,' इसमें संदेहही क्या है ?

मनुष्योंके अन्दर प्रकृतिके गुण-वृत्तिके अनुकूल अनेक भेद होते हैं,इसी लिये एक मनुष्यका स्वभाव दूसरेके साथ मिलाता नहीं। ये भेद शरीर-इंद्रिय-मन-बुद्धिकी स्वभावप्रवृत्तिके अनुसार विभिन्न हुआ करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में जो त्रिगुणोंका विचार अ० १७ में तथा अ० १८ में किया है, वह मनुष्योंकी स्वभाव-प्रवृत्ति कैसी है, इसकी परीक्षा करनेके लिये ही कहा है । भ० गी० अ० १८ में ज्ञान-कर्म-कर्ता-बुद्धि-धृति-सुख-के भेदोंका वर्णन किया है । इस वर्णनके साथ अ० १७ का त्रिगुणोंका वर्णन भी देखने योग्य है। वहां यजन-उपासना-आहार-यज्ञ-तप-दान-के वर्णनसे इसी त्रिगुणमयी मानवी प्रवृत्ति का वर्णन है। मनुष्यकी परीक्षा इन कसौटियोंसे हो सकती है। यह परीक्षा दूसरा भी कर सकता है और पक्षपात-रहित होकर स्वयं अपनी परीक्षा भी की जा सकती है। अपनी प्रवृत्ति सात्त्विक है राजस है वा तामस है, यह स्वयं अपने आपको भी इस परीक्षाद्वारा ज्ञात हो सकता है। यह परीक्षा दूसरोंको बतानेके लिये नहीं की जाती, परंतु धार्मिक क्षेत्रमें अपनी स्थिति किस सीढीपर-किस भूमिकापर-है, यह जाना जा सकता है। और यह जानना सत्य धर्मान्वेषीके लिये अत्यंत आवश्यक है। यह परीक्षा किस तरह की है, यह अब देखना है। यह निम्नलिखित कोष्टकसे ज्ञात हो सकता है-

अ० १७	सात्त्विक	राजस	तामस
उपासना	देवतोपासना	यक्षराक्षसोपासना	भूतप्रेतोपासना
भोजन	रस्य स्निग्ध-हृद्य	तीक्ष्ण-रूक्ष	उच्छिष्ट बासा-दुर्गंधयुक्त
यज्ञ	निष्काम भावसे	भोग बढानेकेलिये	श्रद्धारहित
तप	,,	दंभसे	दूसरेके नाशके लिये
दान	देशकालोचित	प्रतिफलभोगके लिये	कुपात्रमें दिया

अ० १८	सात्विक	राजस	तामस
कर्मत्याग	फलत्यागयुक्त	दुःखके भयसे	मोहसे
ज्ञान	विभक्तोंमें अविभक्त भावका ज्ञान	पृथग्भावका ज्ञान	मिथ्या ज्ञान
कर्म	निष्काम भावसे किया	सकाम कर्म	हिंसादि दोषयुक्त
कर्ता	निष्काम कर्ता	भोगी कर्ता	विषादी,दीर्घसूत्री
बुद्धि	कार्याकार्यज्ञ	अयथाज्ञान युक्त	विपरीत भावयुक्त
धृति	समभावयुक्त	फलाकांक्षी	शोकमोहयुक्त
सुख	आत्मबुद्धि प्रसादज	विषयजन्य	निद्रालस्योत्पन्न

संक्षेपसे मनुष्यकी परीक्षा करनेकी कसोटियां ये हैं। विस्तारसे देखना हो तो गीता अ० १७ और १८ में देख सकते हैं। किस मनुष्यमें स्वाभाविक प्रवृत्ति कैसी है, यह देखकर उसमें सत्त्व रज या तम इन गुणोंमेंसे किस गुणकी प्रवृत्ति है, इसका निर्णय इस परीक्षासे हो सकता है। इसीसे स्वयं अपनी भी परीक्षा की जा सकती है। मनुष्य क्या खाता पीता है, क्या करता है, क्या चाहता है, इसका निरीक्षण करनेसे उसकी प्रवृत्ति निश्चित की जा सकती है।

इस तरह मनुष्यके तीन वर्ग होते हैं। कई मनुष्य सात्विक, कई राजस और कई तामस होते हैं। ये मनुष्य शीघ्रही पहचाने जा सकते हैं। परंतु कई लोग ढोंगसेभी अपनी दूसरी स्वभाववृत्ति है, ऐसा दिखावा करते हैं, इस कारण यह परीक्षा समाजमें कठीन हो रही है।

सात्विक गुणवालेकी योग्यता समाजमें अधिक समझी जाती है,इसलिये अपनेआपको सात्विक न होते हुएभी सात्विक बतानेकी इच्छा कइयोंमें होनेके कारण समाजमें यह प्रवृत्ति परीक्षा करके पहचानना कठिन हो रहा है। जो मनुष्य स्वयं जान बूझ करके अपनी निजवृत्तिको रोकता और दूसरी वृत्ति अपनेमें होनेका ढोंग रचता है वह अपनाही घात करता है। उदाहरणके लिये देखिये कि किसीने अपनी निजवृत्ति तमोगुणी होनेपरभी उसने राजस या सात्विक बतानेका ढोंग किया, तो अन्तमें उसीकी हानि होगी। तमोगुणी सुस्त होगा, उससे राजस वृत्तिके चुस्त कार्य होंगेभी नहीं। और वह न इधरका और न उधरका बनेगा। इसलिये अपनी प्रवृत्तिको ढोंगसे भिन्न दर्शाना अपनाही घात करना है और समाजकाभी घात करना है।

यद्यपि सत्त्व-रज-तम ये तीनहि गुण हैं, तथापि इन तीन गुणोंके कारण मानवोंमें चार भेद होते हैं। सत्त्वगुण स्थिर है और तमोगुण सुस्त है, इसलिये एक सत्त्वगुणी और दूसरे तमोगुणी ऐसे दो भेद स्पष्ट होते हैं। मानवोंके ये दो भेद पहिले जानना चाहिये। तीसरा गुण रजोगुण है, यह स्वयं चञ्चल है, इसलिये यह रजोगुण अपनी चञ्चल वृत्तिके कारण एक समय सत्त्वगुणकी ओर झुका होता है और दूसरी ओर रजोगुणकी ओर झुका होता है। इस झुकावके कारण दो प्रकारका रजोगुण समाजमें दिखाई देता है। इसलिये रजोगुणके दो भेद और सत्त्वगुण तथा तमोगुण ये दो भेद मिलकर मानवोंके मुख्यतः चार भेद हुआ करते हैं। इसीका नाम चातुर्वर्ण्य है।

सत्त्वगुण	सत्त्वमिश्रित रजोगुण	तमोमिश्रित रजोगुण	तमोगुण
ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र

इस प्रकार गुणभेदसे- अर्थात् त्रिगुणोंके भेदसे चार वर्ण होते हैं। इन चार वर्णोंमें इन तीनों

गुणोंका सर्वसामान्य प्रमाण इस तरह होता है-

वर्ण	निजस्वभाव-गुण		
१ ब्राह्मण	सत्त्व	रज	तम
	·॥·	·।·	·।·
२ क्षत्रिय	रज	सत्त्व	तम
	·॥·	·।·	·।·
३ वैश्य	रज	तम	सत्त्व
	·॥·	·।·	·।·
४ शूद्र	तम	सत्त्व	रज
	·॥·	·।·	·।·

१ ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म— शम, दम, तप, शुद्धि, शान्ति, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य।

२ क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म- शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्धमें स्थिर रहना, न भागना, दान, स्वाभिमान, स्वामित्व।

३ वैश्यके स्वाभाविक कर्म- कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य।

४ शूद्रके स्वाभाविक कर्म-सेवा अथवा हुनर, कला।

निज स्वभावगुणोंके अनुसार स्वभावसिद्ध कर्म ये हैं। अर्थात् जिसके अन्दर सत्त्वगुण होगा, उससे शमदमादि गुण ही होंगे, जिसमें सात्त्विक रजोगुण होगा, उससे शौर्यादि कर्म ही होंगे, जिसमें तामस रजोगुण होगा, वह वाणिज्य करना पसंद करेगा, अर्थात् जितना देगा उससे अधिक लेना चाहेगा। इसी तरह तमोगुणी किसी न किसीका दास ही बनेगा। उसमें जो रजाधिक्यवाला होगा वह हुनरके कार्य करना चाहेगा। इस विचारसे पाठक जान सकते हैं कि निज गुणोंके अनुकूल कर्म करना मनुष्यके लिये स्वाभाविक है और वेही कर्म उससे उत्तम हो सकेंगे। निज गुणके विपरीत कर्म करनेका कोई यत्न करेगा, तो उससे वे कर्म होंगे नहीं, और यदि बलात् करनेका यत्न किया जायगा, तो उस प्रयत्नमें असफलता ही प्राप्त होगी।

इस चातुर्वर्ण्य के संबंधका विवरण गी० अ० ४, श्लो० १३ के प्रकरणमें पाठक देखें।

प्रत्येक मनुष्यमें न्यूनाधिक प्रमाणसे सत्त्व+रज+तम गुण होते हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्यमें चातुर्वर्ण्य न्यूनाधिक हुआ ही करता है। इस कारण प्रत्येक मनुष्य थोडा शमदममें रुची रखनेवाला, थोडा शूर वीर, थोडा उद्यानमें वृक्षादि लगानेमें रुची रखनेवाला, और थोडा परस्पर सेवा करनेवाला होताही है। ब्राह्मणमें भी रज, तम ये गुण होते ही हैं, वैसाही सत्त्वगुण अधिक होता है। प्रत्येक मनुष्यमें अंशतः चारों वर्णोंके कामका भाव रहता है, परंतु जो गुण उसमें विशेष होता है, उसकी प्रबलता रहती है।

इस कारण शमदमादि गुण ब्राह्मणमें पूर्ण विकसित और अन्य वर्णोंमें कुछ न्यून, इसी तरह अन्य वर्णोंके कर्मोंके विषय में जानना उचित है। अतः शमदम शूद्रमें नहीं हो सकते ऐसा कोई न समझे। होते तो हैं, परंतु दबे होते हैं। इसी लिये राष्ट्रपर आपत्ति आ जाय तो सब लोग शस्त्रास्त्र लेकर उठ खडे हो सकते हैं, उस समय चारों वर्ण क्षत्रियका कार्य करेंगे। आपत्ति जानेके पश्चात् अपना अपना कार्य प्रत्येक वर्ण करता जायगा।

इससे राष्ट्रीय शिक्षा किस तरह देनी चाहिये, इसका निर्णय हो सकता है। हरएकमें चारों वर्ण सामान्यतः हैं, इसलिये सामान्यतः प्रत्येकको चारों वर्णोंके कर्तव्योंका पता लग जाय, ऐसी सामान्य शिक्षा सब राष्ट्रको देनी चाहिये। इस सर्वसामान्य शिक्षाके पश्चात् जिसमें जो विशेष गुण है, उसके विकासके योग्य उसको विशेष शिक्षा मिलनी चाहिये। सर्वसामान्य और विशेष शिक्षा राष्ट्रमें शुरू करनेकी रीति इससे ज्ञात हो सकती है।

सामान्य शिक्षा।

प्रत्येक मनुष्यमें तीनों गुणोंका मिश्रण १६ आने है, ऐसा माननेपर सत्त्व, रज, तम प्रत्येकमें चार चार आने मिलकर बारह आने और उस वर्णका गुण चार आने मिलकर १६ आने मनुष्य होता है। इसलिये सर्वसामान्य शिक्षा तीनों गुणोंके कर्मोंकी हरएक विद्यार्थीको सबसे प्रथम मिलनी चाहिये। जैसा—

इंद्रियोंका शम, मनका दमन, पवित्रता-साधन, शीतोष्ण सहन करनेकी शक्ति, सरलतासे व्यवहार करना, ज्ञान-विज्ञान, आस्तिक्य और उपासना की रीति, शूर-वीरताके कार्य करनेका अभ्यास, तेजस्विताकी वृद्धि, धारणशक्तिका संगोपन, दक्षता, युद्धमें स्थिर रहकर युद्ध करना, युद्धसे न भागना, दान देना, स्वामीभाव, कृषिकर्म, गोरक्षा, व्यापारव्यवहार, कारीगरी और सेवाशुश्रूषा आदि चारों वर्णोंके सामान्य कर्तव्योंकी शिक्षा राष्ट्रके सब लडके-लडकियोंको देनी चाहिये।

इसका विचार करके सुविचारी पाठक पठन-पाठनका कार्यक्रम विस्तारपूर्वक बना सकते हैं। प्राथमिक पढाई सर्वसाधारण बालकोंको इस तरहकी देनेपर जो बालक अपने निज स्वभाव गुण विशेष प्रकारके बतावेंगे, उनको स्ववर्णोचित विशेष शिक्षा देना उचित है।

इससे यह नहीं सिद्ध होता कि शौर्यवीर्यादि गुण ब्राह्मणमें न रहें और शमदमादि शूद्रमें न हों। सब गुण सबमें न्यूनाधिक रहते ही हैं, उनको शिक्षित करना आवश्यकहि है। परंतु आगे जाकर कई लडके ऐसे होंगे कि जो ज्ञान-विज्ञानकी चर्चामें प्रवीण हो सकेंगे और युद्ध-विद्यामें वैसे नहीं हो सकेंगे, कई ऐसे होंगे कि जो युद्धकलामें निपुण होंगे और उनकी वृद्धि वाणिज्यमें नहीं चलेगी, तीसरे कोई ऐसे होंगे, जिनको कृषि अथवा वाणिज्यही प्रिय होकर उसीके पीछे लगनेमें उनको आनन्द होगा, शेष कई ऐसे होंगे कि जो कारीगरीमें प्रवीण होंगे और कई सेवाशुश्रूषाके कार्य प्रेमसे करेंगे। ऐसे प्रवृत्तिवाले छात्रोंको इन विषयोंकी शिक्षा अवश्य देनी चाहिये। इस विशेष शिक्षासे जो उनमें विशेष गुण होगा, उसका संवर्धन करना चाहिये। इस विचारसे राष्ट्रीय शिक्षा किस ढंगसे राष्ट्रमें देनी चाहिये, इसका निर्णय हो सकेगा।

चारों वर्णोंके छात्रोंको सर्वसाधारण सामान्य शिक्षा देनेसे सबकी समानता प्रथम सिद्ध होगी, और तत्पश्चात् उनमें जो विशेष शिक्षासे स्ववर्ण-भावकी उन्नति होनी है, उससे उनमें वर्णधर्मका विकास होगा। हरएक वर्णके कर्मोंसे राष्ट्रकी सेवा होनी है, इसलिये राष्ट्रसेवाकी दृष्टिसे संपूर्ण वर्णोंकी आवश्यकता निःसंदेह है। सापेक्षतासे युद्धके समय क्षात्रभावका विशेष महत्त्व, व्यापारव्यवहारसे धन कमानेमें वैश्यों का महत्त्व, ज्ञानविज्ञानकी खोज और दूर-दृष्टिसे राष्ट्रका भवितव्यका निश्चय करनेमें ब्राह्मणोंका महत्त्व होता है। इस तरह देखनेसे सदासर्वदा किसी एक वर्णका महत्त्व है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

जैसा शरीरमेंभी विचार करनेके कार्यके समय मस्तकका महत्त्व, देखनेके कार्यके समय नेत्रोंका महत्व, लडनेके समय बाहुओंका महत्व, दौडने के समय पावोंका महत्व होता है। सर्वसाधारण मस्तक और सिरमें रहनेवाले नेत्र-कर्णादिका महत्व तो सर्वदा ही विशेष होता है।

इसी तरह यद्यपि समयविशेषमें हरएक वर्ण विशेष महत्वका होता है, और सर्वसामान्य-तया सब वर्णधर्मकर्मोंकी राष्ट्रके लिये आवश्य-कता समानतया है, तथापि ज्ञानी और शूरोंकी आवश्यकता अन्योंसे अधिक है, इसमें संदेहही नहीं है, इनमें भी शूरोंकी अपेक्षा ज्ञानियोंका

(१७) स्वकर्मसे सिद्धि ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

अन्वयः— स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः नरः संसिद्धिं लभते । स्वकर्मनिरतः (नरः) तथा सिद्धिं विंदति, तत् शृणु ॥ ४५ ॥ यतः भूतानां प्रवृत्तिः (अस्ति), येन इदं सर्वं ततं (अस्ति), तं (ईश्वरं) स्वकर्मणा अभ्यर्च्य मानवः सिद्धिं विन्दति ॥४६॥

अपने अपने कर्ममें जो तत्पर रहता है, वह नर उत्तम सिद्धिको प्राप्त होता है । स्वकर्ममें तत्पर रहनेवालेको जिस तरह सिद्धि प्राप्त होती है, वह श्रवण कर ॥ ४५ ॥ जिससे सब भूतोंकी प्रवृत्ति होती है और जिससे यह सब (संसार) व्याप्त हुआ है, उस (ईश्वरको) स्वकर्मद्वारा पूजनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

भावार्थ—अपना अपना कर्म तत्परतासे करनेसे प्रत्येक मनुष्य श्रेष्ठ सिद्धि-परमपदकी प्राप्ति-अथवा मोक्ष-पदको प्राप्त हो सकता है । जिसकी शक्ति प्राप्त होनेसे सब प्राणी अपने कर्म करनेमें समर्थ होते हैं, और जो सबमें व्याप्त है वही ईश्वर है । स्वकर्मसे इस ईश्वरकी जो मनुष्य पूजा करता है, अर्थात् अपना जीवन ही जो ईश्वरार्पण करता है, वही परमेश्वरार्पण होनेके कारण ईश्वरको ही प्राप्त करता है ॥ ४५-४६ ॥

महत्व विशेष है । ब्राह्मणोंके आधीन क्षत्रिय रहें या क्षत्रियाधीन ब्राह्मण रहें, इसका निर्णय ब्राह्मणोंके आधीन क्षत्रिय रहें, यही शास्त्रकारोंने किया है । सर्व काल वही मान्य होने योग्य है ।

राष्ट्रमें जिस विशेष समयमें सैनिकोंका शासन (मार्शल ला) शुरू होता है उस समय राष्ट्रके लोगोंको बडे कष्ट होते हैं । इसका अर्थही यह है कि जनता क्षात्रशासन पसंद नहीं करती परंतु ब्राह्मशासनही पसंद करती है । जिन देशोंमें सेनाविभागका अधिक महत्व समझा जाता है, उन देशोंमें स्वतंत्र, उच्च विचारोंका परिपोष नहीं होता; उच्च, स्वतंत्र विचारोंका पोषण होनेके लिये ब्राह्मशासनही रहना चाहिये। अर्थात् शासन तो क्षत्रिय ही करेंगे, परंतु वे ब्राह्मणोंको अपने ऊपर मानते हुए करेंगे ।

अपने अपने स्वभावधर्मके अनुसार हरएक अपने नियत कर्तव्य देखे और उनको करता रहे, इसीसे राष्ट्रकी जनता सुखी होगी । अपने निज कर्तव्यसे ही हरएक व्यक्ति राष्ट्रपुरुष की सेवा करे, इस विषयमें आगेके श्लोकोंमें उत्तम उपदेश दिया है—

(४५-४६) मनुष्य अपने अपने कर्ममें दक्ष-चित्त होनेसे, अर्थात् अपना कर्तव्य ठीक तरह करनेसे सिद्धिको प्राप्त होता है। स्वकर्ममें निःशेष रत होनेसे सिद्धिको प्राप्त होता है। अपना कर्तव्य करनेसे मनुष्य संपूर्ण उन्नति सिद्ध कर सकता है, अपना कर्म छोडकर जो अपना कर्तव्य नहीं, उसे करनेसे मनुष्य उन्नत नहीं हो सकता।

यहां प्रश्न हो सकता है कि 'अपना कर्तव्य कौनसा है?' अपना कर्तव्यकर्म वही है, जो अपने अन्दरके निजगुणोंके अनुसार निश्चित होता है। समझ लीजिये कि किसीमें सत्त्वगुण विशेष है, तो वह मनुष्य शम, दम, ज्ञान, विज्ञान आदि कम करे, यही उसका निजकर्तव्य है। यदि किसीमें सत्त्वकी ओर झुकनेवाला रजो-गुण है, तो वह शौर्य, तेज, धैर्य आदि प्रकट करनेवाले युद्ध आदि कार्य करे। यही उसका निजधर्म है। इसी तरह अपने निज गुणोंद्वारा निजकर्म निश्चित होते हैं, वेही उससे अच्छी तरह हो सकते हैं; क्योंकि वे उसकी प्रकृति के अनुकूल होते हैं। इन निजकर्मोंको छोडकर यदि उसने दूसरेहि कर्म करना आरंभ किया, तो उसको सफलता नहीं हो सकती, क्योंकि वे उनकी प्रकृतिके विरुद्ध होंगे।

वर्णधर्म वही है जो अपनी प्रकृतिके अनुकूल होता है। और पूर्वोक्त परीक्षाओंद्वारा अपना प्रकृतिगुण निश्चित किया जा सकता है और तदनुसार अपना कर्तव्यकर्म भी ज्ञात हो सकता है। यह कर्तव्यकर्म अर्थात् यह सहज-सिद्ध वर्णधर्म करनेसेहि मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।

स्वकर्मसे ईश्वरपूजा।

जिससे सब भूत उत्पन्न हुए हैं और जिसने यह सब फैलाया है, जो सर्वत्र व्याप्त है, उस ईश्वरकी पूजा अपने कर्मके द्वारा करनेसे मनुष्य सम्यक् सिद्धिको प्राप्त होता है। अपने कर्मसे पूजा कैसी हो रही है, इसका विचार अपने अन्दरहि देखिये—

शरीरमें आत्मा है जिसके प्रभावसे यह शरीर बना और जीवित रहा है। जो अपने प्रभाव-शक्तिसे इस शरीरमें व्याप्त है और जिसने अपनी शक्ति नेत्रकर्णादि इंद्रियोंमें फैलाई है, वही इस शरीरमें इंद्रियोंद्वारा उपास्य है। सब इंद्रियां इसीकी उपासना स्वकर्मद्वारा कर रही हैं। पांव अपने चलनवलनरूप कर्मसे, बाहु अपने बलसे रक्षाकर्मद्वारा, पेट अपनी पचनशक्तिद्वारा, गुदा अपने मलको बाहर फेंकनेके कर्मसे, मूत्रेंद्रिय मूत्रद्वारा विषको बाहर त्यागनेसे, हृदय सब शरीरमें रुधिरका दौरा करानेसे, मुख वक्तृत्व-द्वारा तथा चर्वणभक्षणद्वारा, नेत्र दृश्यको देखने द्वारा, कर्ण शब्दका श्रवण करने द्वारा, नासिका श्वासोच्छ्वास करनेद्वारा, मस्तक विचार करने द्वारा, बुद्धि ज्ञानसंग्रहद्वारा, चित्त चिंतन करने-रूपकर्मसे इसी तरह अन्य इंद्रिय और अवयव अपने अपने कर्मद्वारा सदा इसकी पूजा कर रहे हैं। यह आत्माकी पूजा अपने अन्दर स्वकर्मद्वाराही हो रही है। जिस समय यहांका कोई इन्द्रिय अपना कर्म छोडता है, उस समय उतनी पूजा न्यून होती है। यहांका कोई देव अपना स्वकर्म छोडकर दूसरेका कर्म नहीं करता। अपना नियत कर्म उत्तम करनेद्वाराहि हरएककी सफलता होती है। नेत्रको उचित है कि वह उत्तम दर्शनरूप कर्म करे, दूसरोंके कर्म इससे अच्छे हों या बुरे हों, इसका विचार न करता हुआ अपने कर्मोंद्वारा वह आत्माकी पूजा करे, यह 'स्वकर्मसे आत्माकी पूजा' है। सब इंद्रियरूपी देवोंद्वारा यही पूजा हो रही है, किसी समय न हुई तो उसीका नाम रोगी अवस्था है। इससे स्पष्ट होता है कि स्वकर्म-द्वारा ईश्वरपूजा कैसी होती है।

बाह्य जगत्के अन्दर सूर्यादि सब देवता इसी

तरह स्वकर्मद्वाराही परब्रह्मकी उपासना कर रहे हैं। सूर्य प्रकाशने द्वारा, अग्नि जलने द्वारा वायु वहने द्वारा, जल शीत-गुणद्वारा, पृथ्वी अपनी धारणाशक्तिद्वारा इसी तरह अन्यान्य देवताएं अन्यान्य नियत स्वकर्मद्वारा परमात्माकी सेवा कर रही हैं। यहां भी हरएक देव अपना निज-स्वभावजन्य कर्म करनेमेंहि दक्ष है, दूसरोंका कर्म सुकर हो या दुष्कर, उसका विचार न करता हुआ प्रत्येक अपना कर्म करनेमें दक्ष रहता है। अपना कर्म योग्य रीतिसे करनेसेहि परमात्मपूजा हो जाती है। पूजा करनेके लिये दूसरे साधनोंको इकट्ठा करनेकी आवश्यकता नहीं है।

जनताभी परमात्मरूपही है। जगद्बीज नारायणसेही ये चार वर्ण उत्पन्न हुए हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ वाहू का ऊरू पादा उच्येते॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋग्वेद १०।९०)

'हजारों सिर, हजारों आंख, हजारों पांव जिसको हैं ऐसा एक पुरुष है वह पृथ्वीके चारों ओर फैला है। इसके मुख वाहू ऊरू और पांव कौनसे हैं? ब्राह्मण इसका मुख है, क्षत्रिय इसके वाहू हैं, वैश्य इसकी जंघाएं हैं और शूद्र इसके पांव हैं।" अर्थात् यह मानवसमाजरूपी प्रत्यक्ष दीखनेवाला ही पुरुष है। पशु, पक्षी, वृक्ष आदि भी इसीके अवयव हैं, तथापि अपने विषयके प्रतिपादन के लिये हमें मानवसमाज का ही यहां विचार करना योग्य है। इसीका वर्णन उपनिषदोंमें इस तरह किया है।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी सूर्यचन्द्रौ।
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः॥
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य।
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥
तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः।
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च।
श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥

(मुण्डक. २।४-७)

'अग्नि उस परमात्माकी मूर्धा है, आंख सूर्य और चन्द्र हैं, दिशाएं कान हैं, वेद उसकी वाणी है, वायु उसका प्राण है, अन्तःकरण यह अन्तरिक्ष है और पांव ही यह पृथ्वी है। यही सर्वभूतान्तरात्मा है। यही परमात्मा है। इसी परमात्मासे देव साध्य मनुष्य, पशु, पक्षी हुए हैं, और प्राण, अपान, चावल, जौं, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और यज्ञविधि भी उसीसे प्रकट हुए हैं।" वेदमें जो पुरुष-सूक्तमें कहा है वही मुण्डकोपनिषद्में इसी तरह कहा है। अर्थात्-

पुरुष एवेदं विश्वम्।　　(मुंडक २।१०)
पुरुष एवेदं सर्वम्।　　(ऋ० १०।९०।२)

'यह नारायण पुरुषही यह सब है,' यही आशय वेदोंमें अन्यत्र इस तरह कहा है—

एकं वा इदं विबभूव सर्वम्।　(ऋ०८।५८।२)
यो विश्वा भुवना वभूव॥　(ऋ०४।६।५)
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते॥(ऋ०६।४७।१८)

"एकही सत्तत्व यह सब विश्व विशेष रीतिसे हुआ है। जो परमात्मा सब भुवन बना है। इन्द्र अपनी अनन्त शक्तियोंसे अनेक रूपोंवाला हुआ है।" यहां भी एकहाही वर्णन है, जिसके ये सब रूप हैं। अतः उसका नाम 'विश्वरूप' है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये मानव इस नारायणके मुख-बाहू-ऊरू-पांव हैं, इसीकारण इसके हजारों सिर, हजारों बाहु, हजारों जंघाएं और हजारों पांव हैं, ऐसा कहा है। अस्तु। यही अनन्तबाहूदर नारायण मानवों द्वारा उपासना करने योग्य है।

(१८) स्वधर्मकी श्रेष्ठता।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

अन्वयः— विगुणः स्वधर्मः स्वनुष्ठितात् परधर्मात् श्रेयान् (अस्ति), स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नरः किल्बिषं न आप्नोति ॥ ४७ ॥ हे कौंतेय! सहजं कर्म सदोषं अपि न त्यजेत्, धूमेन अग्निः इव हि सर्वारंभाः दोषेण आवृताः (सन्ति) ॥ ४८ ॥ सर्वत्र असक्तबुद्धिः, जितात्मा, विगतस्पृहः (नरः) परमां नैष्कर्म्यसिद्धिं संन्यासेन अधिगच्छति ॥ ४९ ॥

पृथ्वीके चारों ओर यही जनता रूपी देव है, पृथ्वीके चारों ओर यही रूप फैला है। हम सब उसीके विराट् देहके अंग हैं, अतः हमें उसीकी सेवा स्वकर्मके द्वारा करनी चाहिये। जिस तरह शरीरनेत्रादि इंद्रिय शरीरकी सेवा स्वकर्मसे करते हैं, वसी ही ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य, शूद्रोंको इस विराट् पुरुषकी सेवा करनी चाहिये। ब्राह्मण अपने ज्ञानप्रसारके द्वारा, क्षत्रिय अपने बाहुबलसे रक्षा करने द्वारा, वैश्य धान्यादिकी उत्पत्ति करने द्वारा, और शूद्र कारीगरी तथा सेवाशुश्रूषाद्वारा सेवा करे। प्रत्येक मनुष्य उसकी सत्त्वरजतमात्मक प्रकृतिके अनुरूप जो कर्म कर सकता है, उस कर्मके द्वारा वह इस विराटपुरुषकी सेवा करे। इसी सेवा द्वारा प्रत्येक मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है।

स्वकर्मणा तं अभ्यर्च्य;
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं विन्दति;
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते।
(गी० १८।४५-४६)

इन श्लोकभागोंमें जो कहा है, उसका अर्थ यही है। प्रत्येक मनुष्य चार वर्णोंके अन्दर किसी न किसी वर्णमें होता है और वर्णाश्रम विभागके अनुकूल उसका कुछ न कुछ कर्म निश्चित ही होता है। यही उसका सहज कर्म है यही कर्म इसके जन्मके साथ इसके पास आया होता है। जो जिसका नियत कर्म है, वही उत्तम रीतिसे करनेसे उसको उत्तमोत्तम सिद्धि प्राप्त होती है। अपना कर्म सुयोग्य रीतिसे करनेसेहि परमात्मसेवा हो जाती है। ईश्वरपूजा दूसरी नहीं है। स्वकीय कर्म करना ही सच्ची ईश्वर-सेवा है।

किसीका स्वकर्म सुकर होता है और किसीका दुष्कर होता है, इसलिये दुष्कर कर्मका त्याग करके सुकर कर्म करनेकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। परंतु ऐसा करना योग्य है वा नहीं, इसका विचार आगे भगवान् करते हैं—

गुणहीन सा प्रतीत होनेवाला स्वधर्म, आचरण करनेमें सुगम सा प्रतीत होनेवाले परधर्मसे, श्रेयस्कर है। स्वभावसे नियत हुआ कर्म करनेसे ही मनुष्य को पाप नहीं लगता ॥ ४७ ॥ हे कुन्तीपुत्र! सहज कर्म सदोष होनेपर भी छोडना नहीं चाहिये। जैसा धूँवेंसे अग्नि, उसी तरह सब कर्मोंका प्रारंभ करना दोषोंसे व्याप्त रहता है ॥ ४८ ॥ जिसकी बुद्धि कहीं भी आसक्त नहीं है, जो जितेंद्रिय है, जो निःस्पृह हुआ है, वह मनुष्य नैष्कर्म्यकी परम सिद्धिको संन्यास द्वारा प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

भावार्थ— गुणवान परमधर्मसे गुणहीन स्वधर्म श्रेष्ठ है और लाभकारक भी है। स्वकर्म करनेसे किसीको पाप नहीं लगता। अपना सदोष कर्म भी छोडना नहीं चाहिये क्योंकि दोष तो सब कर्मोंमें रहते ही हैं। जो आसक्तिरहित, संयमी और निर्लोभ है वही संन्यास द्वारा निष्कर्मसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४७-४९ ॥

(४७-४९) अपना निजधर्मानुकूल कर्तव्य कितनाभी दुष्कर, सदोष अथवा गुणहीन हो, और दूसरेका कर्तव्य कितनाभी सुकर, निर्दोष अथवा बहुगुणी हो, किसी अवस्थामें अपना निजधर्म त्यागकर परधर्मका अवलंबन करना योग्य नहीं है। क्योंकि प्रत्येक कर्ममें कुछ न कुछ दोष होतेही हैं। इसलिये एक सदोष कर्मका त्याग करनेसे कौनसा लाभ हो सकता है?

मान लीजिये कि एक प्रदेशमें युद्ध चल रहा है, और सेनापतिने अपने सैनिकोंको अपनी इच्छानुसार विशेष विशेष स्थानपर रखा है। अब प्रत्येक सैनिकका कर्तव्य है कि वह अपने स्थानपर रहे और वहांका अपना कर्तव्य करे। शत्रुका हमला होनेपर अपने ऊपर गोलियां चल रहीं हैं ऐसा देखकर अपना स्थान छोडकर भागना और युद्धसे निवृत्त होना योग्य नहीं है। प्रत्युत अपने स्थानपर युद्ध करते हुए मरनाही समाजकी सेवा करना है। वह सैनिक जिस स्थानपर रखा गया है, वहांसे भागना उसका कर्तव्य नहीं है, प्रत्युत वहां रहकर युद्ध करना और समय आया तो मरनाही कर्तव्य है। अपना कर्तव्य दुष्कर सदोष और गुणहीन होनेपर भी वही करना चाहिये और दूसरेका कर्म निर्दोष सुकर और लाभदायक होनेपरभी अपना छोड कर दूसरेका कर्म करना नहीं चाहिये। क्योंकि अपना कर्तव्य करनेसेहि सबका लाभ है, अपना कर्तव्य छोडनेसे किसीका लाभ नहीं है। सैनिक अपना स्थान छोडते जायगे तो पराजय होनेमें संदेहही नहीं है। इस तरह एकका भागना सबके नाशके लिये कारण होता है। अपने स्थानसे भागनेसे उसका संभवतः बचाव हो जायगा, परंतु सेनामें भाग जानेकी वृत्ति बढेगी और सब राष्ट्रका पराभव हो जायगा। अपना स्थान सदोष और बचाव करनेके लिये कठिन होनेपरभी वहीं रहकर लडनाही सैनिकका कर्तव्य है। इसमें सेनापतिकी आज्ञाही सैनिकके लिये प्रमाण है। सेनापतिकी आज्ञासे सैनिकका कर्तव्य निश्चित हो चुका। वह कर्तव्य कठिन हो या सुकर हो, करनाही उसका धर्म है।

इसी तरह अपने शरीरकी सत्त्व-रज-तमात्मक प्रकृतिके अनुसार हरएकका सहज निज-वर्णधर्म निश्चितही होता है और वही उसको करना चाहिये। निज प्रकृतिधर्म निश्चित होने-पर कर्मका सुकरता अथवा दुष्करताके कारण उसे छोडना नहीं चाहिये। इस तरह हरएक मनुष्य अपना कर्तव्य छोड देगा, तो समाजमें

(१९) परम सिद्धिकी प्राप्ति।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म यथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥
बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

इतनी असुविधा होगी कि उसका ठिकानाही नहीं।

मनुष्य दुष्कर कर्म करना नहीं चाहता, सदा सुकर कर्महि करना चाहता है, इसलिये कर्म करना मनुष्यकी इच्छापर छोड दिया जाय तो सुकर कर्ममें करनेवालोंकी बहुत भीड होगी और दुष्कर कर्मकी ओर कोई जायगाही नहीं। इस कारण कई कर्म नहीं होंगे और कर्म न होनेके कारण समाजमें कष्ट बढ जायगे। अतः कर्म करना न करना मनुष्यकी इच्छापर छोडना अयोग्य है। इसलिये यहां कहा है कि मनुष्य स्वकर्म अवश्य करे और कभी उसका त्याग न करे, स्वकर्म करनेसेहि मनुष्यकी परम उन्नति होती है।

स्वभावनियत कर्म करनेमें हिंसा हो अथवा जो कुछ होनेवाला है वह होवे, (किल्बिषं न आप्नोति) उसको करनेसे मनुष्यको पाप या दोष नहीं लगते। जैसा क्षत्रियोंका निज सहज धर्म युद्ध है, युद्धमें हिंसा होतीहि है, यद्यपि हिंसासे पाप लगता है तथापि क्षत्रियने धर्मयुद्धमें की हुई हिंसासे उसको पाप नहीं लगता। अतः कहा है कि सदोष कर्म होनेपर भी उसको त्यागना किसीको भी उचित नहीं, जिसका वह निज धर्म होगा उसको वह करना ही चाहिये। क्योंकि संपूर्ण कर्मोंके अन्दर कुछ न कुछ दोष होते ही हैं। अतः दोषोंके भयसे कर्म छोडना हो तो सभी कर्म छोडने पडेंगे, परंतु सब कर्म छोडना मनुष्यके लिये असंभवही है।

फलपर आसक्ति न रखकर, सर्वत्र निर्लोभ वृत्तिका धारण करके और अपने इंद्रियोंका संयम करके कर्म करनेसे जो फलभोगकी कामना का संन्यास होता है, फलभोगेच्छाका त्याग होता है उससे परम नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होती है। यही उच्च अवस्था है। परमसिद्धिकी प्राप्तिके विषयमें आगे बडा सुंदर वर्णन है वह अब देखिये—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

अन्वयः— हे कौन्तेय! सिद्धिं प्राप्तः (मानवः) यथा ब्रह्म आप्नोति, तथा मे समासेन एव निबोध, या च (इयं ब्रह्मप्राप्तिः) सा ज्ञानस्य परा निष्ठा वर्तते ॥५०॥ विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः, धृत्या आत्मानं नियम्य च, शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा, रागद्वेषौ व्युदस्य च, विविक्तसेवी, लघ्वाशी, यतवाक्कायमानसः, नित्यं ध्यानयोगपरः, वैराग्यं समुपाश्रितः च, अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं च विमुच्य, निर्ममः शान्तः, (नरः) ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५१–५३ ॥ (सः) ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा (सन्) न शोचति, न कांक्षति, च सर्वेषु भूतेषु समः भूत्वा परां मद्भक्तिं लभते ॥ ५४ ॥ (किं च) यावान् यः च अस्मि, तं मां तत्त्वतः भक्त्या अभिजानाति, ततः तत्त्वतः मां ज्ञात्वा तदनंतरं (मां) विशते ॥५५॥ मद्व्यपाश्रयः सदा सर्वकर्माणि अपि कुर्वाणः मत्प्रसादात् शाश्वतं अव्ययं पदं अवाप्नोति ॥ ५६ ॥

हे कुन्तीपुत्र! सिद्धिको प्राप्त होनेवाला मनुष्य जिस तरह ब्रह्मको प्राप्त होता है वह संक्षेपसे मुझसे सुन। यह जो ब्रह्मकी प्राप्ति है वह ज्ञानकी पराकाष्ठा है ॥ ५० ॥ विशुद्ध बुद्धिसे युक्त, धैर्यसे अपने आत्माका नियमन करके, शब्दादि विषयोंका त्याग करके, रागद्वेषको जीत कर, एकान्तसेवन करके, मिताहारी होकर, मन वचन और शरीरको स्वाधीन रखकर, सदा ध्यानयोगमें तत्पर रहकर, वैराग्यका आश्रय करनेवाला, अहंकार बल दर्प काम क्रोध और तथा संग्रहबुद्धि इन सबका त्याग करके, ममतारहित होकर जो शान्तिसे युक्त होता है वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ५१–५३ ॥ ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ मनुष्य प्रसन्नचित्त होकर किसीका शोक नहीं करता और किसीकी इच्छाभी नहीं करता और सब भूतमात्रके विषयमें समभाव धारण करके मेरी (ईश्वरकी) श्रेष्ठ भक्तिको प्राप्त होता है ॥५४॥ और जितना बडा और जैसा मैं (ईश्वर) हूं उतना और वैसा तत्त्वतः मुझे (ईश्वरको) भक्तिसे जानता है और पश्चात् मुझमें (ईश्वरमें) प्रविष्ट होता है ॥ ५५ ॥ मेरा [ईश्वरका] आश्रय करनेवाला सदा सब कर्मोंको करता हुआभी मेरी [ईश्वरकी] कृपासे शाश्वत और अव्यय पदको प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

भावार्थ— ज्ञानकी पराकाष्ठाका नाम ब्रह्मकी प्राप्ति है। यह इस तरह प्राप्त होती है। बुद्धिकी पवित्रता करना, आत्मसंयम करना, विषयभोगोंका त्याग करना, प्रीति और द्वेषके परे होना, एकान्तसेवन करना, मिताहारी

होना, काया वाचा मनको स्वाधीन रखना, ध्यानयोग करनेमें तत्पर होना, वैराग्ययुक्त होना, अहंकार आदिका त्याग करना, ममतारहित होना, इससे शान्ति प्राप्त होती है और वही ब्रह्मभावकी योग्यता है। इस समय यह शोकसे दूर हो जाता है, भोगेच्छासेभी दूर होता है, सबको समभावसे देखता है और ईश्वरकी श्रेष्ठ भक्ति करता है। तत्त्वतः जैसा ईश्वर है वैसाही उसको जानता है और उसकी अनन्यभक्ति करके उसमें प्रविष्ट होता है। परमेश्वरका आश्रय करके सब प्रकारके कर्म करनेपर भी ईश्वरकी कृपाके कारण वह शाश्वत और अव्यय पदको प्राप्त होता है। यही अन्तिम सिद्धि है ॥ ५०–५६ ॥

(५०–५६) इससे पूर्व अनेक वार कहा है कि 'सिद्धि प्राप्त होगी' 'सिद्धि प्राप्त होती है,' इसका अर्थ 'ब्रह्म प्राप्त होता है,' ऐसा है ब्रह्म प्राप्त होनेका अर्थ भी 'सत्य ज्ञान की पराकाष्ठा होना' है। परम सत्य ज्ञान पूर्णतया प्राप्त होना ही ब्रह्म प्राप्त होना है। ब्रह्मरूप होना और ज्ञानी होना और सिद्ध होना अथवा सिद्धि प्राप्त होनेका आशय एकही है। इस प्रकारका ज्ञानी मनुष्य क्या करता है, कैसा वर्तता है, व्यवहार कैसा करता है, यह बात अब कही जाती है—

ब्रह्मज्ञानीके लक्षण।

१ विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः।

ज्ञानी शुद्ध बुद्धिसे युक्त होता है। इसकी बुद्धिमें कपटादि दोष होते नहीं, निर्दोष सत्य ज्ञान उसकी बुद्धिमें होता है।

२ धृत्या आत्मानं नियम्य,

ज्ञानी बडे धैर्यसे आत्माका नियमन करता है। मनःसंयम, इंद्रियदमन, आत्मसंयम करके अपने सब वासनादिको अपने अधीन रखता है। आत्मसंयम करनेके लिये बडे धैर्यकी आवश्यकता रहती है, क्योंकि प्रलोभन सम्मुख आनेपर उसमें न फंसनेके लिये बडा ही धैर्य लगता है। इस धैर्यसे वह प्रलोभनोंको दूर करता है और अपना संयम करके स्वाधीन रहता है।

३ शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा,

शब्दादि विषयोंका त्याग करता है, अर्थात् अत्यंत आवश्यक जितना भोग है उतनाही करता है, अधिक भोग करता नहीं और अपने पास भोग्य पदार्थोंका संग्रह भी नहीं करता।

४ रागद्वेषौ व्युदस्य,

भोगोंके विषयमें प्रीति नहीं धारण करता और अप्रिय वस्तुका द्वेष भी नहीं करता, रागद्वेषोंका त्याग करता है, इससे अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर भी उसकी घबराहट नहीं होती और उसकी मनःस्थिति सदा सम रहती है। इस कारण उसकी चञ्चलता दूर होती है और द्वन्द्वोंके आघातसे उसकी शक्ति भी क्षीण नहीं होती।

५ विविक्तसेवी,

ज्ञानी एकान्त सेवन करता है, एकान्तमें उसे आनन्द मिलता है, जनसंगमें वह रहना नहीं चाहता, परंतु आवश्यक होनेपर वह जनसमाजमें भी वह जाता है। क्योंकि वह इतना पूर्ण होता है कि वह जनसमाजमें रहा तो भी उसकी वृत्तियां चंचल नहीं होती, अतः उसपर जनसमाजमें न आनेका बंधन नहीं है तथापि वह स्वभावसे आगे आगे करना नहीं चाहता।

६ लघ्वाशी,

लघु भोजन करता है, मिताहारी होता है, जो भोजन करना हो वह अपनी क्षुधा और पाचनशक्तिके अनुकूल परिमितही करता है। अत्यशनका दोष उससे नहीं होता।

७ यतवाक्कायमानसः,

वाणी, शरीर और मनको स्वाधीन रखता है, बहुत बोलता नहीं, मनसे अनावश्यक बातोंको सोचता नहीं और शरीरको असंगके संगमें फंसाता भी नहीं, संयमित वृत्तिसे सदा रहता है।

८ नित्यं ध्यानयोगपरः,

सदा ध्यानयोगमें तत्पर रहता है, समय मिलनेपर ध्यानयोगही करता है, उसका सदा ध्यानयोग चलता है।

९ वैराग्यं समुपाश्रितः,

वैराग्यका आश्रय करता है, भोगोंपर उसकी आसक्ति नहीं होती, भोगोंमें दोषदृष्टि वह रखता है और उनसे सदा दूर रहता है।

१० अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं
परिग्रहं च विमुच्य,

अहंकार, घमण्ड, गर्व, बलका दुरुपयोग, कामी वृत्ति, क्रोध और भोगसाधनोंके संग्रहका त्याग करता है। ज्ञानी कभी घमण्ड नहीं करता, अपने बलका दुरुपयोग नहीं करता, कामके अधीन नहीं होता, क्रोध आने नहीं देता, अपने पास भोगसाधनोंका संग्रह करके दूसरोंको आवश्यक भोगोंसे वंचित नहीं रखता।

११ निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।

ममत्वबुद्धि किसीपर नहीं रखता, मैं और मेरा यह भाव छोड देता है जिससे वह सबके साथ समभावसे वर्तता है। वह इस कारण शान्त होता है। इस तरहका ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मके महत्त्वको प्राप्त होता है। मानो वह ब्रह्मही होता है।

१२ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

जो ब्रह्मरूप बनता है वह सदा आनन्दयुक्त होता है और इसी कारण न कभी शोक करता है और न कभी किसी भोग की प्राप्तिकी आकांक्षा धारण करता है। वह नित्य तृप्त और सदा आनन्दप्रसन्न रहता है।

१३ सर्वेषु भूतेषु समः,

सब भूतमात्रोंके साथ समवृत्तिसे व्यवहार करता है, न उसको कोई स्वकीय है और न कोई परकीय है, न उसका किसीके साथ द्वेष है और न मित्रता है। अतः वह सबके साथ समान व्यवहार करता है और इस कारण उसका आचरण निर्दोष होता है।

१४ परां मद्भक्ति लभते।

ज्ञानी पुरुष ही ईश्वरकी श्रेष्ठ भक्ति करता है, क्योंकि वही जानता है कि ईश्वरका सत्य स्वरूप क्या है और उसका अपना संबंध कैसा है और उसके संबंधमें अपना कर्तव्य उत्तम रीतिसे किस तरह करना चाहिये।

१५ यावान् यः च (अहं ईश्वरः) अस्मि
तं मां तत्त्वतः भक्त्या अभिजानाति।

ईश्वर जितना बडा है और उसका वास्तविक स्वरूप कैसा है वह उसको सत्य दृष्टिसे मालूम है और उसकी भक्ति करनेद्वारा वह उसका यथार्थ अनुभव लेता है और भक्तिसे ईश्वरका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है, उसे परमेश्वरका निःसन्देह ज्ञान होता है।

१६ तत्त्वतः मां (ईश्वरं) ज्ञात्वा
तदनंतरं (मां) विशते।

सत्य दृष्टिसे ईश्वरको जानकर वह ज्ञानी परमेश्वरमेंहि प्रवेश करता है, ईश्वरमें प्रविष्ट होता है, वह अपने आपको ईश्वरसे विभिन्न नहीं देखता। अपने आपको ईश्वरमेंहि अनुभव करता है। अपने चारों ओर परमेश्वरको अनुभव करता है और अपने आपको अभिन्न भी मानता है। क्योंकि एकहि सत्य आत्मस्वरूप सर्वत्र है यह उसे प्रत्यक्ष दीखता है और वही उसका अनुभव भी है।

१७ मद्व्यपाश्रयः सदा सर्वाणि कर्माणि
कुर्वाणः।

(२०) सब संकटोंको दूर करनेका उपाय।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥
मच्चित्तः सर्व दुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

अन्वयः— (त्वं) सर्वकर्माणि चेतसा मयि संन्यस्य, मत्परः (सन्) बुद्धियोगं उपाश्रित्य, सततं मच्चित्तः भव ॥ ५७ ॥ (त्वं) मच्चित्तः (सन्) सर्वं दुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि। अथ त्वं अहंकारात् न श्रोष्यसि चेत्, विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

तू सब कर्मोंको अपने मनसे ही मुझ (ईश्वर) में समर्पण करके, मुझ (ईश्वर) में स्थिर रह कर, बुद्धियोगका आश्रय करके, सतत मुझ (ईश्वर) में चित्त लगा ॥ ५७ ॥ तू मुझ (ईश्वर) में चित्त लगाकर सब संकटोंको मेरी कृपासे ही पार करेगा। और यदि तू अभिमानसे न सुनेगा तो नाशको प्राप्त होगा ॥ ५८ ॥

भावार्थ— अपने सब कर्म परमेश्वरके लिये कर, ईश्वरमें अपना चित्त स्थिर कर और बुद्धियोगका आश्रय करके ईश्वरपरायण हो, जिससे सब संकट दूर होंगे। यदि कोई अहंकारसे ऐसा नहीं करेगा तो उसका नाश होगा ॥ ५७–५८ ॥

ईश्वरका आश्रय करता हुआ सदा सब कर्मोंको करता है, ज्ञान होनेके कारण वह अपने कर्तव्य कभी भी त्यागता नहीं। उचित प्रक्रिया से वह सब कर्मोंको यथा योग्य करता है और कर्मोंको करता हुआ भी ईश्वरके आश्रयको सदा स्मरता है अर्थात् ईश्वरका आधार है उसके विना कुछ भी नहीं है यह सुस्पष्ट रीतिसे जानता है।

१८ मत्प्रसादात् शाश्वतं अव्ययं पदं अवाप्नोति।

इस तरहके ज्ञानीको ईश्वरकी प्रसन्नताके कारण शाश्वत और अव्यय स्थान मिलता है जहांसे वह कभी च्युत नहीं होता है।

बुद्धिकी पवित्रता, आत्मसंयम, इंद्रियदमन, मनकी स्वाधीनता, शब्दादि विषयोंका त्याग करना, रागद्वेष छोडना, एकान्त–सेवन करना, हितमित पथ्यभोजन करना, ध्यानयोगमें मनकी स्थिरता रखना, वैराग्य की वृत्ति, अहंकार का त्याग, कामक्रोधका त्याग, भोगसाधनोंका संग्रह न करना, ममत्व छोडना, शान्ति, प्रसन्न-चित्त रहना, सब भूतोंके साथ समवृत्ति, ईश्वरको जानकर उसमें अपने आपको देखना, ईश्वरार्पण बुद्धिसे सब कर्म करना, ये ब्रह्मज्ञानीके लक्षण हैं। इनसे ब्रह्मज्ञानी पहचाना जाता है। इसीको सिद्ध कहते हैं और यही ब्रह्मरूप होता है।

(५७–५८) सब संकटोंको दूर करनेके उपाय का वर्णन करते हैं। ईश्वरका प्रसाद होनेसे सब संकट दूर होते हैं (मत्प्रसादात् सर्वं दुर्गाणि तरिष्यसि), परमेश्वरकी प्रसन्नता

(२१) प्रकृतिका वेग ।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

अन्वयः— यत् अहंकारं आश्रित्य 'न योत्स्ये' इति मन्यसे, (तत्) एषः ते व्यवहारः मिथ्या (एव अस्ति, यतः) प्रकृतिः त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥ हे कौन्तेय ! स्वभावजेन स्वेन कर्मणा निबद्धः (त्वं) यत् मोहात् कर्तुं न इच्छसि, तत् अवशः (सन्) अपि करिष्यसि ॥ ६० ॥

यदि अहंकारका आश्रय करके 'मैं नहीं लडूंगा' ऐसा समझोगे, तो यह मानना मिथ्याही होगा, क्यों कि तेरी प्रकृतिहि तुझे (इस युद्धमें) नियुक्त करेगी ॥ २९ ॥ हे कुन्तीपुत्र ! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बंधा हुआ तू मोह-वश जो करनेकी इच्छा नहीं करता, उसीको परतंत्रसा होकर अवश्य करेगा ॥ ६० ॥

भावार्थ— प्रकृतिस्वभाव ऐसा प्रबल है कि जो न करनेका निश्चय मनुष्य करता है, उसीकी ओर प्रकृति-स्वभाव उसे घसीट ले जाता है । मनुष्य अपने स्वभावसे बंधा हुआ है, अतः प्रकृतिस्वभावके अधीन रहकर जो कुछ होगा वह करता जाता है ॥ ५९-६० ॥

कैसी हो सकती है इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि-

१ चेतसा सर्वकर्माणि मयि (ईश्वरे) संन्यस्य,
२ मत्परः, मच्चित्तः (ईश्वरपरः ईश्वरचित्तः) भूत्वा,
३ बुद्धियोगं उपाश्रित्य सततं भव ।

(१) मनसे अपने संपूर्ण कर्मोंको और उनके फलोंको ईश्वरार्पण करो, (२) अपना मन परमेश्वर पर लगाओ, (३) सतत बुद्धियोग करो, अर्थात् सतत समचित्त होकर कर्तव्य करो।

ऐसा करनेसे परमेश्वरकी प्रसन्नता होगी और उसकी प्रसन्नतासे सब संकट दूर होंगे। संपूर्ण संकटोंको दूर करनेका यही एक उपाय है। पाठक इसका मनन करें।

(५९-६०) यदि घमंड करता हुआ कोई मनुष्य हटसे कहेगा कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, अर्थात् इस विश्वमें जीवित रहनेके लिये जो आवश्यक युद्ध है वह भी नहीं करूंगा, अर्थात् मैं सब कर्मोंका त्याग करूंगा, तो समझो कि वह कहना मिथ्या ही है, क्योंकि समयपर प्रकृतिहि घसीट कर कर्म करावेगी । प्रकृतिके गुणोंसे बंधा हुआ मनुष्य आवश्यही कर्म करेगा। कर्मत्याग असंभव है।

अपने स्वभावसे उत्पन्न हुए कर्मोंसे मनुष्य बंधा हुआ है। इस परवशताके कारण मनुष्य प्रकृतिके आधीन रहकर कर्म करता ही रहता है। कर्मत्यागकी बातें होना असंभव है।

अर्जुन जन्मसे और गुणकर्मोंसे क्षत्रिय था।

(२२) ईश्वर–शरणागतिसे शाश्वत सुख।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

अन्वयः— हे अर्जुन ! यंत्रारूढानि सर्वभूतानि मायया भ्रामयन् ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति ॥ ६१ ॥ हे भारत ! (त्वं) तं एव सर्वभावेन शरणं गच्छ। तत्प्रसादात् परां शान्तिं शाश्वतं स्थानं (च) प्राप्स्यसि ॥६२॥ इति गुह्यात् गुह्यतरं ज्ञानं मया ते आख्यातम्, एतत् अशेषेण विमृश्य, यथा इच्छसि तथा कुरु ॥

हे अर्जुन ! यंत्रपर आरूढ हुएके समान सब भूतोंको अपनी शक्तिसे घुमाता हुआ ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें वास करता है ॥ ६१ ॥ हे भरत-पुत्र ! तू उसी (ईश्वर) को सर्वभावसे शरण जा। उसके प्रसादसे परम शान्ति और शाश्वत स्थानको प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥ यह गुह्यसे गुह्य ज्ञान मैंने तुझे कहा, इस सबका अच्छी तरह विचार करके, जैसी इच्छा हो वैसा कर ॥ ६३ ॥

भावार्थः— यंत्रपर लगी वस्तुएँ यंत्रके साथ जैसी घुमायीं जाती हैं, उसी तरह सब विश्वकी वस्तुएं विश्वचक्र-पर लगीं हैं और उनको परमेश्वर अपनी माया से घुमाता है। इस ईश्वरको सर्वभावसे शरण जाना चाहिये जिससे शान्ति और शाश्वत पद प्राप्त होगा। यह गुह्य ज्ञान जानकर मनुष्य जैसी इच्छा हो वैसा करे ॥ ६१—६३ ॥

युद्ध छिड जानेपर वह युद्धका दृश्य देखनेके पश्चात् उसका युद्धत्यागका निश्चय स्थिर रहना असंभव था। इसलिये भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! युद्ध न करनेका सच्चे क्षत्रियका निश्चय कायम टिकना युद्ध शुरू होनेपर कठिन है। युद्धका दृश्य देखनेके पश्चात् सच्चा क्षत्रिय बाहु स्फुरण होते ही युद्धके लिये स्वयं तैयार होकर उठेगाहि। इसलिये कर्मत्यागकी बातें व्यर्थ है।

हरएकका प्रकृति–स्वभाव ऐसा प्रबल होता है कि वह उससे कर्म कराता ही है। इतना प्रकृतिका वेग है, जिसका नियमन बडा कठिन और करीब करीब असंभवही है। इस लिये अपना स्वभावजन्य कर्म छोडना किसीको उचित नहीं है।

(६१–६३) सब विश्वका नियंता ईश्वर एक है। और वह सबके हृदयोंमें निवास कर रहा है। उसके संचालनसे सब विश्व एक नियमसे चल

(२३) गुह्य उपदेश।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

रहा है जैसा कट-पुतलियां यंत्रक घुमानेसे घूमतीं हैं और विविध आविर्भाव करती हुई दीखती हैं। परंतु सच तो यह है वह कटपुतलियां स्वयं अपनी गतिसे घूमती नहीं, परंतु यंत्रकी गति उनको घुमाती है और यंत्र-घुमानेवालाहि वस्तुतः यंत्रद्वारा उनको घुमाता है। इसी तरह परमेश्वर की शक्तिसे यह विश्वका यंत्र घूम रहा है और उसमें रहनेवाले सब भूत उसकी गतिसे घुमाये जा रहे हैं।

सर्वभावसे शरण।

इस सबके नियामक ईश्वरको अन्तःकरणसे सर्वभावसे शरण जाना योग्य है। यहां उसको केवल शरण जानेको नहीं कहा है प्रत्युत सर्वभावसे शरण जानेको कहा है। यह जितना विश्व है, उतना इस परमात्माका रूप है और वह अखण्ड एकरस है। इसमें किसी प्रकारका खण्ड नहीं है। यह सब मिलकर एक ही जीवन है ऐसा समझना मानना और जानना 'सर्वभाव' मनमें स्थिर होनेसे हो सकता है। इसका नाम 'सर्वभाव' है। इस सर्वभावसे ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। यहां भेदभावके लिये स्थान ही नहीं है। यदि मनुष्य सर्वभावसे ईश्वरको शरण जायगा, तोही ईश्वर प्रसन्न होगा, और उसकी प्रसन्नता होनेसे इसको शान्ति प्राप्त होकर शाश्वत ध्रुव स्थान इस भक्तको प्राप्त होगा।

यही गुह्य ज्ञान है। जो इसको यथावत् जानता है वह अपने मनकी प्रवृत्तिसेहि जैसा स्फुरण हो वैसा करता है और उसकी प्रवृत्ति अशुद्ध नहीं होती।

(यथा इच्छसि तथा कुरु) जैसी इच्छा होगी वैसा ही कर, यह उसी समय कहा जायगा जिस समय उसका मन शुद्ध होगा, और उसको सत्यज्ञान यथावत् होगा, और 'सर्वभाव' उसके मनमें स्थिर होगा और उस सर्वभावसे वह ईश्वरभक्ति करेगा।

जब यह पूर्ण-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, तब तक मनुष्य शास्त्रकी आज्ञाको प्रमाण मान कर (शास्त्रं प्रमाणं ते) शास्त्र में कहे अनुसार आचरण करता रहे। ज्ञानी मनुष्यके लिये शास्त्र की मर्यादा पालन करनेका बंधन नहीं है, ज्ञानी अपने अन्तःकरण के स्फुरण के अनुसार चले। क्योंकि उसके अन्तःकरणमें जो प्रवृत्ति होती है वही अन्योंके लिये धर्मशास्त्र-वचन जैसा प्रमाण होता है। इसलिये अपने मनके स्फुरण के अनुकूल चलने में कोई दोष नहीं। अन्य मानवोंका मन अशुद्ध होता है, अज्ञानके कारण उसमें अनेक दोष होते हैं, इसलिये उसकी मनःप्रवृत्ति सदोष होती है; यह कारण है कि जिसके कारण उसको शास्त्रानुकूल चलना पडता है और इंद्रियदमन मनःसंयम करना पडता है।

अतः पूर्णज्ञानी मनुष्य ही अपनी अन्तःकरण की प्रवृत्ति और स्फूर्तिके अनुकूल जैसा चाहे वैसा व्यवहार करके भी निर्दोष रह सकता है, क्योंकि उसके अन्तःकरणमें अशुद्ध स्फूर्ति उत्पन्न ही नहीं होती।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

अन्वयः— सर्वगुह्यतमं परमं वचः मे भूयः शृणु। मे दृढं इष्टः असि, इति ततः ते हितं वक्ष्यामि ॥ ६४ ॥ मन्मना, मद्भक्तः, मद्याजी (च) भव, मां नमस्कुरु, (एवं कृत्वा त्वं) मां एव एष्यसि। (इति) ते सत्यं प्रतिजाने, (यतः त्वं) मे प्रियः असि ॥ ६५ ॥ (त्वं) सर्वधर्मान् परित्यज्य मां एकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि, (त्वं) मा शुचः ॥ ६६ ॥

सबसे अधिक गुह्य ऐसा यह मेरा श्रेष्ठ वचन तू फिरसे सुन। तू मेरा अत्यंत प्रिय है इसलिये यह तेरे हितकी बात कहता हूं॥६४॥ मुझ (ईश्वर)में मन लगा, मेरा (ईश्वरका) भक्त बन, मुझे (ईश्वरको) नमस्कार कर, ऐसा करनेसे तू मुझे (ईश्वरको) प्राप्त होगा। यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है (इसलिये यह कहता हूं)॥६५॥ तू सब धर्मोंको छोडकर मुझ अकेले (ईश्वर)को शरण आ, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, तू मत शोक कर ॥ ६६ ॥

भावार्थ— सबसे गुह्य परम कल्याणकी और मनुष्यमात्रके हितकी बात यह है कि साधक ईश्वरपरायण होवे, ईश्वरका भक्त बने, ईश्वरकोही शरण जावे, ईश्वरकोही आत्मार्पण करे जिससे वह ईश्वररूप होगा। यही सत्य तत्त्वज्ञान है। अन्य सब व्यवसायोंका त्याग करके यही एक मार्गका अवलंबन करनेसे मानवोंका परम कल्याण हो सकता है। पापोंसे बचनेका यह धर्म जानकर मनुष्य शोक न करता हुआ इसीका आचरण करे ॥६४-६६॥

(६४-६६) अब औरभी गुह्य ज्ञान कहते हैं। अल्प शब्दोंमें सबसे महत्त्वका उपदेश देते हैं-

(१) ईश्वरमें अपना मन सदा सर्वदा लगा,
(२) ईश्वरकी भक्ति सदा कर,
(३) ईश्वरकोही नमस्कार कर,
(४) ऐसा करनेसे ईश्वरकी प्राप्ति होगी, यह सत्य है।
(५) परमेश्वरने प्रतिज्ञापूर्वक यह कहा है,
(६) सब अन्य कर्मोंका त्याग कर और एक ईश्वरको शरण जा।
(७) वह भक्तोंको सब पापोंसे मुक्त करेगा इसमें संदेह नहीं है।
(८) ईश्वरपर ऐसा दृढविश्वास रखो और शोक करना छोड दो।

ये सारगर्भित वाक्य हैं इसलिये इनका अधिक विवरण करना अनावश्यक है। पाठक वारंवार इनका मनन करें और इन गुह्य उपदेशोंको अपनाएँ। इस तत्त्वज्ञानका सब जनतामें प्रचार करनेकोभी कहा है—

(२४) इस तत्त्वज्ञानका प्रचार।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥
य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

अन्वयः— इदं ते न अतपस्काय, (च) न अभक्ताय, न च अशुश्रूषवे, न च यः मां अभ्यसूयति (तस्मै) कदाचन वाच्यम् ॥ ६७ ॥ यः इमं परमं गुह्यं (ज्ञानं) मद्भक्तेषु अभिधास्यति, (सः) मयि परां भक्तिं कृत्वा, असंशयः (सन्) मां एव एष्यति ॥ ६८ ॥ मनुष्येषु च कश्चित् तस्मात् प्रियकृत्तमः मे न (अस्ति); तस्मात् अन्यः भुवि प्रियतरः मे न भविता ॥ ६९ ॥

यह ज्ञान तूने जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता अथवा जो मेरा (ईश्वरका) द्वेष करता है उसे कभी नहीं कहना ॥ ६७ ॥ जो यह परम गुह्य ज्ञान मेरे भक्तोंको कहेगा, वह मुझ (ईश्वर) में दृढ भक्ति करके संदेहरहित होकर मुझ (ईश्वर)को ही प्राप्त होगा ॥ ६८ ॥ मनुष्योंमें कोईभी उससे मेरा अधिक प्रिय करनेवाला नहीं है, और उससे अधिक प्रिय करनेवाला इस पृथ्वीपर कोईभी नहीं होगा ॥ ६९ ॥

भावार्थ— गुह्य ज्ञान सुयोग्य शिष्यकोही देना योग्य है, ऐसे सच्छिष्यको जो यह गुह्य ज्ञान देगा वह ईश्वरका सच्चा भक्त परमेश्वरको प्राप्त करेगा और यहां इस ज्ञानप्रसार करनेवाले भक्तके समान और ईश्वरका प्यारा कोई नहीं होगा ॥ ६७—६९ ॥

(६७-६९) इस गुह्य ज्ञानका अर्थात् भगवद्गीताके इस परम उच्च तत्त्वज्ञानका फैलाव और प्रचार करना चाहिये। यह ज्ञान सच्ची सुखशान्ति देनेवाला है और सब संकटोंको दूर करनेवाला है, इसलिये मनुष्यमात्रतक पहुंचाना योग्य है। मनुष्य इस शास्त्रका अध्ययन करे, मनन करे, निदिध्यास करे, इस ज्ञानको अपनाये और इसका हरएक प्रकारसे प्रचार करे। उपदेश द्वारा, लेखनद्वारा तथा अन्यान्य साधनोंके द्वारा प्रचारकोंको प्रचार करना चाहिये। भगवद्गीताके तत्त्वज्ञानके अनुसार जब मानवोंके वैयक्तिक, कौटुंबिक, सामाजिक, राजकीय और जागतिक व्यवहार चलेंगे तबही मनुष्योंको सच्ची शांति और सच्चा सुख मिलेगा, तबतक सुखकी आशा करना अयोग्य है। जागतिक शान्तिकी स्थापना करना सर्वथा प्रचारकोंके

(२५) अध्ययन और प्रवचनश्रवण।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥
श्रद्धावाननसूयश्च श्रुणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

(२६) मोह दूर हुआ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥
अर्जुन उवाच-नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अन्वयः— यः च आवयोः इमं धर्म्यं संवादं अधेष्यते, तेन ज्ञानयज्ञेन अहं इष्टः स्यां इति मे मतिः ॥ ७० ॥ श्रद्धावान् अनसूयः च यः नरः (इदं) श्रुणुयात् अपि, सः मुक्तः (सन्) पुण्यकर्मणां शुभान् लोकान् प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

और जो हमारे इस धर्मयुक्त संवादका अध्ययन करेगा, उसने इस ज्ञान-यज्ञसे मेरी (ईश्वरकी) पूजा की है, ऐसी मेरी संमति है ॥ ७० ॥ श्रद्धावान् द्वेष न करनेवाला जो मनुष्य इसको श्रवण करेगा, वह मुक्त होकर पुण्य कर्म करने वालोंके शुभ लोकोंको प्राप्त करेगा ॥ ७१ ॥

भावार्थ— जो इस गीताका अध्ययन करेगा और प्रचार करेगा वह ज्ञानयज्ञसे ईश्वरका यजन ही करेगा। इस गीताके श्रवण मनन करनेसे साधक शुभ स्थानको प्राप्त करेगा इसमें संदेह नहीं है ॥ ७०-७१ ॥

परिश्रमपरहि निर्भर है।

इसलिये यहां कहा है कि इस तरह भगवद्गीताके तत्त्वज्ञानका प्रचार करनेवाला भगवान्‌को अत्यंत प्रिय होता है और इसके प्रचारसेभी प्रचारकर्ता परमेश्वरको प्राप्त हो सकता है।

अर्थात् भगवद्गीताके तत्त्वज्ञानका प्रचार करनेवाला ज्ञानी होकर मुक्त हो सकता है।

(७०-७१) जो मनुष्य इस भगवद्गीताका अध्ययन करेगा वहभी ज्ञानयज्ञद्वारा परमात्माकी पूजाही करेगा और जो सुनेगा वहभी मुक्त होगा, अथवा शुभगतिको प्राप्त होगा।

(२७) रोमाञ्चकारी संवाद।

संजय उवाच—इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

अन्वयः— हे पार्थ! त्वया एतत् एकाग्रेण चेतसा श्रुतं कच्चित्? हे धनंजय! ते अज्ञानसंमोहः प्रनष्टः कच्चित्? ॥ ७२ ॥ अर्जुनः उवाच- हे अच्युत! त्वत्प्रसादात् मे मोहः नष्टः, मया स्मृतिः लब्धा,(अहं) गतसंदेहः स्थितः अस्मि, (इदानीं) तव वचनं करिष्ये ॥ ७३ ॥

हे पृथाके पुत्र! क्या तूने यह एकाग्रचित्तसे श्रवण किया है? हे धनंजय! क्या तेरा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ? ॥ ७२ ॥ अर्जुनने कहा- हे अच्युत! तेरी कृपासे मेरा मोह नष्ट हुआ, मुझे स्वकर्मकी स्मृति प्राप्त हुई, मैं संदेहरहित हुआ हूं, अब आपके वचनके अनुसार करूंगा ॥ ७३ ॥

भावार्थ— इस ज्ञानको एकाग्र चित्तसे श्रवण करनेसे सब प्रकारका मोह नष्ट होगा, संदेह दूर होगा और धर्मानुकूल अपना कर्तव्य पालन करनेमें मनुष्य तत्पर रहेगा ॥ ७२-७३ ॥

(७२-७३) इतना अपूर्व ज्ञान देनेके पश्चात् भगवानने अर्जुनसे पूछा कि "क्या इस तत्त्वज्ञानके निरूपणको सुननेसे तेरा मोह नष्ट हुआ या नहीं अथवा अभी और कुछ पूंछना है?"

इस प्रश्नको सुनतेही अर्जुन एकदम बोल उठा कि 'भगवन्! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हुआ, अज्ञान दूर हुआ, स्वकर्म करनेका भाव मेरे मनमें बैठ गया है, मुझे अब स्वकर्मके विषयमें कोई संदेह नहीं रहा। अब मैं जैसा आपने कहा उसी प्रकार अपना युद्धरूपी स्वधर्मोचित कर्तव्य करूंगा।'

यहां भगवान् और अर्जुनका संवाद समाप्त होता है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अन्वयः-संजयः उवाच-इति अहं वासुदेवस्य महात्मनः पार्थस्य च इदं अद्भुतं रोमहर्षणं संवादं अश्रौषम्॥७४॥ व्यासप्रसादात् स्वयं योगं कथयतः योगेश्वरात् कृष्णात् एतत् परं गुह्यं अहं साक्षात् श्रुतवान् ॥ ७५ ॥ हे राजन् ! (अहं) केशवार्जुनयोः इमं पुण्यं अद्भुतं संवादं संस्मृत्य संस्मृत्य मुहुः मुहुः हृष्यामि ॥ ७६ ॥ हे राजन् ! हरेः तत् च अत्यद्भुतं रूपं संस्मृत्य संस्मृत्य मे महान् विस्मयः (भवति), अहं पुनः पुनः हृष्यामि च ॥ ७७ ॥ यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र धनुर्धरः पार्थः, तत्र श्रीः, विजयः, भूतिः, ध्रुवा नीतिः च इति मम मतिः (अस्ति) ॥ ७८ ॥

संजयने कहा- यह मैंने वासुदेवका महात्मा पार्थके साथ हुआ अद्भुत रोमांचकारी संवाद सुना ॥ ७४ ॥ व्यासजी की कृपासे स्वयं कहनेवाले योगेश्वर कृष्णसे यह श्रेष्ठ गुह्य ज्ञान मैंने साक्षात् श्रवण किया ॥ ७५ ॥ हे राजन् ! मैं केशव और अर्जुनके इस पुण्यकारक अद्भुत संवादको वारंवार स्मरण कर करके वारंवार हर्षित होता हूं ॥ ७६ ॥ हे राजन् ! श्रीकृष्णके उस अद्भुत विश्वरूपका वारंवार स्मरण कर करके मुझे वडा विस्मय हुआ है और पुनः पुनः आनंद भी होता है ॥ ७७ ॥ जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण है और धनुर्धारी पार्थ है, वहां श्री है, वहां विजय है, वहां ऐश्वर्य है, वहां ही स्थिर नीति भी है, यह मेरा निश्चित मत है ॥ ७८ ॥

भावार्थ— यह अद्भुत रोमांचकारी संवाद सबका आनंद वढानेवाला है । जहां ईश्वर सहायक है और जहां धर्म-युद्धके अंदर जाकर लडनेवाला क्षत्रिय है, वहां निःसंदेह विजय श्री ऐश्वर्य और स्थिर धर्म नीति है, ऐसा समझकर हरएक मनुष्य परमेश्वरकी सहायता करे और विजयी बने ॥७४—७८ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

(७४-७८) अब राजा धृतराष्ट्रको संजय कहते हैं कि हे राजा धृतराष्ट्र! यह रोमांचकारी संवाद अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णके बीचमें हुआ, वह मैंने जैसा सुना वैसाही आपको निवेदन किया। इस अद्भुत तत्त्वज्ञानके उपदेशका स्मरण करनेसे अबभी मेरे शरीरपर रोंवें खडे हो रहे हैं । भगवान् का वह आश्चर्यमय विश्वरूप जो मैंने देखा उसका स्मरण करनेसेभी मुझे वडा आनन्द हो रहा है ।

मैं तो निश्चयसे यही कहता हूं कि जहां योगे-

श्वर श्रीकृष्ण सहायक हैं और जिस पक्षमें धनुर्धारी पार्थ जैसा वीर है, उसी पक्षको श्री, ऐश्वर्य, ध्रुव नीति और विजय होगा, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। अतः विजय प्राप्त करनेकी इच्छा धारण करनेवाले पक्षको उचित है कि वह सबसे प्रथम अपने पक्षको परमेश्वरका साहाय्य प्राप्त करनेका यत्न करे, पश्चात् धर्मके लिये लडनेवाले उत्तम वीर अपने पक्षमें निर्माण करे। जब ये दोनों अपने पक्षमें होंगे तब यश, विजय और ऐश्वर्य मिलने में संदेहही नहीं है।

इस तरह विजयी होनेका तत्त्वज्ञान इस ग्रंथमें कहा है जो यहां समाप्त होता है और सबको विजयका मार्ग बताता है। मनुष्य इसे जाने तदनुसार आचरण करे और विजयी बने।

अठारहवां अध्याय समाप्त ॥१८॥

अठारहवें अध्यायके

सुभाषित ।

(१) कर्मत्याग न करना ।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम् । कार्यमेव तत् ।
(गी० १८।५)

यज्ञ दान तप ये कर्म कभी त्यागने नहीं चाहिये प्रत्युत ये कर्म करनेही चाहिये ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
(गी० १८।५)

यज्ञ दान तप ये कर्म मनुष्योंको पवित्र बनानेवाले होते हैं। इनके करनेसे मनुष्य शुद्ध होताहै।

(२) कर्म करो ।

कर्माणि संगं फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानि।
(गी० १८।६)

कर्मोंको भोगोंकी आसक्ति छोड और फलोंका त्याग करके करना चाहिये ।

नियतस्य कर्मणः संन्यासो नोपपद्यते ॥
(गी० १८।७)

अपने कर्तव्यका त्याग करना अयोग्य है ।

(३) कर्मत्याग अशक्य है ।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
(गी० १८।११)

मनुष्यके लिये कर्मोंका पूर्ण त्याग करना अशक्य है ।

(४) संन्यासी कौन है ?

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥
(गी० १८।११)

" जो कर्मफलका त्याग करता है वही सच्चा संन्यासी अथवा वही सच्चा त्यागी है ऐसा कहा जाता है ।

(५) स्वकर्मसे सिद्धि ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
(गी० १८।४५)

'स्वकर्ममें जो मनुष्य तत्पर रहता है वह उत्तम सिद्धिको प्राप्त होता है। '

(६) स्वकर्मसे ईश्वरपूजा ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गी० १८।४६)

" जो सर्वत्र व्याप्त है और जिससे ये सब प्राणी हुए हैं उस परमात्माकी पूजा अपने कर्मद्वारा करनेसे मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होती है।'

(७) स्वधर्मकी श्रेष्ठता।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
(गी० १८।४७)

'सुकर और गुणवान् परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म गुणहीन होनेपर वही श्रेष्ठ है।'

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
(गी० १८।४८)

'सहज स्वकर्म सदोष होनेपरभी उसका त्याग करना अयोग है।'

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।
(गी० १८।४७)

'स्वभावसे निश्चित हुआ कर्म कैसा भी हो, वह करनेसे पाप नहीं लगता।'

(८) ब्रह्मप्राप्ति।

निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।
(गी० १८।५३)

'ममता छोडकर जो शान्त रहता है वह ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

(९) श्रेष्ठ भक्त।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।
(गी० १८।५४)

'सर्व भूतोंके विषयमें जो समभाव धारण करता है वही ईश्वरका श्रेष्ठ भक्त होता है।'

(१०) ईश्वरपर विश्वास।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(गी० १८।५८)

'ईश्वरपर अपना मन रखोगे तो उसीकी कृपासे सब संकटोंको तैरोगे।'

(११) स्वभाव बलवान् है।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्
(गी० १८।६०)

'स्वभावसे बंधा हुआ मनुष्य जो कर्म नहीं करना चाहता वही परवश होकर करता है।',

(१२) ईश्वर सबको चलाता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥
(गी० १८।६१)

'ईश्वर सबके हृदयमें है वही यंत्रपर चढायी कटपुतलियों की तरह सब को चलाता है।'

(१३) ईश्वरको शरण जा।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
(गी० १८।६२)

'ईश्वरको सर्वभावसे शरण जा।'

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।
(गी० १८।६२)

'उसी ईश्वरके प्रसादसे श्रेष्ठ शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त होगा।'

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गी० १८।६६)

'सब धर्मोंका त्याग करके एक ईश्वरको शरण जा। वही तुझे सब पापोंसे मुक्त करेगा, शोक मत कर।'

(१४) विजयी कौन होगा।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(गी० १८।७८)

'जहां योगेश्वर परमेश्वर सहायक हैं, और जिस पक्षमें लढनेवाला धनुर्धर है वहीं यश श्री विजय निःसंदेह होगा।'

श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्यायका

थोडासा मनन ।

यह अठारहवाँ अध्याय भगवद्गीताका अन्तिम अध्याय है। इसमें विशेषतः 'संन्यासयोग' का विचार किया है और अन्तिम महत्त्वपूर्ण उपदेश भी कहा है। सबसे प्रथम संन्यास और त्याग का विवेचन इसमें किया है। भगवद्गीता के पूर्व कालमें 'त्याग' शब्दका अर्थ 'कर्मत्याग' करके कई साधक सब कर्म छोडकर अपने आपको कृतार्थ समझते थे और 'त्यागी' भी समझते थे। श्रीमद्भगवद्गीताने कहा कि यह सच्चा त्याग नहीं है। सच्चा त्याग वह है जिसमें-

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥७॥
(गी० १८। २)

सब कर्मोंके फलोंका पूर्ण त्याग होता है।

यहां त्याग और संन्यास का भेद दर्शाया है। यह भेद महत्त्व का है, इसलिये इस स्थानपर इसका थोडासा अधिक विवरण करना योग्य है।

संन्यास और त्याग।

१ संन्यासः-

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं विदुः।
(गी० १८। २)

२ त्यागः-

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागम्।
(गी०१८। २)

काम्य अर्थात् अपनी इच्छातृप्ति के लिये, अपने लाभ के लिये किये जानेवाले सब कर्मोंको छोड देना संन्यास का लक्षण है। इसमें संपूर्ण काम्य कर्मों का त्याग किया जाता है। केवल निष्काम कर्म हि इस अवस्थामें हो सकते हैं। सब काम्य कर्मोंको छोडना संन्यास का लक्षण है।

त्यागी लोग संन्यासियोंसे भिन्न हैं। त्यागी लोग काम्य अथवा निष्काम दोनों प्रकार के कर्म करते रहते हैं, परंतु किसी भी कर्मका फल अपने लिये अपने पास संग्रहित करके नहीं रखते। त्यागमार्गमें कोई कर्म छूटता नहीं। संन्यासमार्गमें काम्य कर्म छूटता है और केवल निष्काम कर्म हि किया जाता है। त्यागमें सब प्रकारके कर्म किये जाते हैं, परंतु किसी कर्मके फल की आकांक्षा कर्ता को नहीं होती। फल प्राप्त होनेपर भी कर्ता उसे अपने उपभोग के लिये नहीं स्वीकारता।

संन्यासमार्ग में सब सकाम कर्म छोडने पडते हैं, परंतु त्यागमार्ग में सकाम कर्म छोडने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। हरएक प्रकार के कर्म साधक करे, परंतु उसके फल अपने लिये न लेवे। अपने पास भोगसाधनोंका संग्रह न रहे, यह मुख्य बात यहां है।

फलभोग की इच्छा के कारण ही सब दुःख हो रहे हैं। मनुष्य के दुःख जो बढ रहे हैं, उसका विचार किया जाय, तो उन सब दुःखोंका मूल कारण भोगसाधनोंका— अर्थात् कर्मफलों का अपने पास संग्रह करना ही है। इस दुःखहेतु की जड काटने के लिये इस त्याग-

मार्ग में कर्म के फलका संपूर्ण त्याग किया जाता है।

'संन्यास'– मार्ग में काम्य कर्म छोडने होते हैं और 'त्याग'–मार्ग में कर्मों के फल छोडने होते हैं। दोनों मार्गोंकी यह विशेषता पाठक स्मरण रखें। त्यागमार्ग में फलत्याग करनेके कारण काम्य कर्मोंको भी निष्काम कर्मका स्वरूप प्राप्त होता है। इसलिये संन्यास की अपेक्षा त्याग–मार्ग अधिक अच्छा है, क्योंकि उसमें सभी कर्म किये जाते हैं और उन के करनेपरभी बंधन नहीं होता। संन्यास में काम्य कर्मोंका डर रहता है, अपने द्वारा काम्य कर्म न हों, यह भीतिका भाव इसमें रहता है। परंतु त्यागमार्गी ऐसे निडर होते हैं, कि वे सब प्रकारके कर्म करते हुए भी फलभोग न करनेके कारण, उन कर्मोंके बंधनोंसे सदा अलिप्त रहते हैं। अतः संन्यास की अपेक्षा त्यागमार्ग श्रेष्ठ है। (गी० १८।२)

कर्म का त्याग उचित नहीं।

संन्यास और त्याग इन दो मार्गों का मतभेद इतना बढ जानेका कारण विशेष महत्त्वका है। संन्यासमार्गी कहते थे, कि हम यज्ञ-दान-तप ये कर्म काम्य होनेके कारण करेंगे नहीं। इससे यज्ञ बंद हुए, दान भी बंद हो गये और तप भी करना लोगोंने छोड दिया। यज्ञ-दान-तप बंद होनेके कारण सब समाज शक्तिहीन हो गया। देखिये— तप न होनेके कारण शीत-उष्ण सहन करनेका सामर्थ्य कम हुआ, इस कारण जनता अत्यधिक कोमल और सुकुमार बन गयी। थोडीसी सर्दी-गर्मी होने पर भी लोग बीमार होने लगे, महान् कार्य करनेकी शक्ति हट गयी। दान न देनेका भाव बढनेके कारण गरीबों के कष्ट बढने लगे; जिनका गुजारा दानपर हि होता था, वे भूखे मरने लगे। और यज्ञ न होनेके कारण सज्जनों का सत्कार होना बंद हुआ, संगठन न होनेके कारण विघटन शुरू हुआ और आपसमें विभिन्नता बढने लगी। इस तरह यज्ञ के न होनेसे बडा अनर्थ होने लगा।

सब समाज यज्ञ-दान-तप पर अवस्थित रहता है। ये कर्म बंद होते ही सब समाज शिथिल हुआ। उस समय के संन्यासमार्गियोंने यज्ञ-दान-तप ये तीनों कर्म करना छोड दिया, इस लिये यह अनर्थ हुआ। यह बात उस समयके धर्मधुरीणोंने देखी और वे सोचने लगे कि, क्या किया जाय। सोचते सोचते उनके ध्यान में आ गया, कि यह अव्यवस्था संन्यासियोंके कर्मत्यागके कारण समाजपर आ पडी है। समाज की सुरक्षा के लिये ये कर्म अवश्यहि होने चाहिये।

कर्म तो करनेहि चाहिये, परंतु उनकी बाधकता हटनी चाहिये। यह किस तरह होगा, इस विषयमें सोचते सोचते वे विचार करने लगे, तब उनको पता लगा, कि कर्मों की बाधकता उनका फल स्वयं भोगनेके कारण है। यदि फलभोगके विषसे दूर रहा जाय, तो स्वयं कर्म किसी प्रकार बाधक हो नहीं सकते। कर्मोंमें बाधकता नहीं है, अपि तु कर्मफलभोग की इच्छा में बाधकता है। यह इच्छा संयमित हो जाय, तो कर्मों की बाधकता दूर हो जायगी।

जब इस बातका प्रकाश उस समयके सुविज्ञ पुरुषोंके अन्तःकरणोंमें पडा, तब उन्होंने इस कर्मफलत्याग के मार्ग की घोषणा की। इसीका संक्षिप्त नाम ' त्यागमार्ग ' है। इस कारण त्यागमार्ग संन्यास की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

इस तरह त्याग की सर्वश्रेष्ठता निश्चित होनेके पश्चात् संन्यासियोंने भी अपने अन्दर फलत्यागकी बात स्वीकृत की और वे त्यागियोंकी बराबरी करने लगे। इसी कारण आगे ये दोनों शब्द समानार्थमें प्रयुक्त हुए दीखते हैं। परंतु प्रारंभमें इनमें यह भेद था और इस भेदको

ध्यानमें धारण करके इन दोनों मार्गोंका विचार पाठकों को करना चाहिये।

संपूर्ण समाजकी सुस्थिति यज्ञ-दान-तप पर कैसी है, यह सबसे प्रथम देखना चाहिये । इसका ज्ञान होते ही संन्यासियों की निर्बलता और त्यागियोंकी श्रेष्ठता किस वातमें कैसी है, इसका पता लग सकता है । यज्ञ-दान-तप न होनेपर कोई समाज सुरक्षित रह ही नहीं सकता । संन्यासियोंके कर्मत्याग के कारण सब समाज निर्बल हुआ था । उसमें बल की पुनः स्थापना करनेका पवित्र कार्य त्यागियोंने किया। इसीमें त्यागियोंकी श्रेष्ठता है।

कर्मत्याग के तीन भेद ।

कर्मत्याग के तीन भेद हैं । एक सात्त्विक कर्मत्याग, दूसरा राजस कर्मत्याग और तीसरा तामस कर्मत्याग । यहां सात्त्विक, राजस और तामस कर्मसंन्यास ऐसा भाव समझना चाहिये। यज्ञ, दान और तप ये त्यागने योग्य कर्म नहीं हैं, ये मनुष्यकी पवित्रता करते हैं, परंतु फलसंगका त्याग करके ये कर्म करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है । (गी. १८।४)

ये यज्ञ दान और तप सर्वसाधारण व्यवहार में भी होते हैं । देखिये- किसी एक नगर में एक सार्वजनिक कूप है, सब लोग उसीसे पानी भरते हैं। यदि लोग ऐसे होंगे, कि कूवेकी साफसफाई की ओर ध्यान न देते हुए पानी ही उस से लेते रहेंगे, तो वे अयज्ञीय होनेसे बडे ही पापी समझे जायंगे । क्योंकि वे दूसरे के किये कर्मका फल उपभोगते रहते हैं । कूवा किसी दूसरेने बनवाया, वे फलभोग करते हैं । उस कूवेके लिये कुछ भी न करते हुए उसका भोग भोगना अयोग्य है और यही बडा पाप है ।

यदि कोई स्वयं प्रेरणासे उस कूवेका मार्ग स्वच्छ करेगा, तथा कूवेके आसपास का स्थान स्वच्छ करेगा, वहां का पडनेवाला पानी दूर जाय ऐसी सुयोग्य व्यवस्था करेगा, तो उस सार्वजनिक भलाईके लिये जो उसका कष्ट उठाना है, वह उसका तप है। ऐसा तप करनेसे उस कूवेसे पानी लेनेका अधिकार उसे प्राप्त हो सकता है।

यदि वहां कोई वृद्ध मनुष्य पानी के लिये आ जाय, तो उसको पानी निकाल कर वह देवे, तो उसका वह दान होगा और उस कूवेके पास उत्तम उद्यान वा गृह सबके उपयोग के लिये बनवाया जाय, तो वह उसका यज्ञ है।

इस तरह यज्ञ-दान-तप करनेसे ग्राम का वह स्थान सबके उपयोग के लिये चिरकाल तक सुंदर बन सकता है। यदि ग्रामके सब लोग इस तरह स्वयं प्रेरणासे यज्ञ-दान-तप करते रहेंगे, तो प्रत्येक का अन्तःकरण प्रतिदिन पवित्र होनेसे सब ग्राम के लोग अधिक सुखी और अधिक सन्तुष्ट हो सकते हैं। और यदि उनमें फलसंगत्याग करनेवालों की संख्या अधिक हो, तो उस ग्रामका सुख अधिक बढेगा और उस ग्राम में यज्ञ-दान-तप न करके दूसरोंके किये हुए कर्मका फल स्वयं भोगनेवाले होंगे, तो उस ग्राम में प्रतिदिन दुःखही अधिक बढता जायगा।

यज्ञ, दान और तप मनुष्यका सुख किस तरह बढाते हैं और अयज्ञ, अदाता और अतपस्क लोग क्यों दुःखी होते हैं, इसका मूल कारण यह है। पाठक हरएक दिनके व्यवहारमें यज्ञदानतपका स्वरूप किस तरह हो सकता है, इसका विचार करें। स्वयं दूसरोंको दान देना, परंतु जहां तक हो वहां तक प्रयत्न करके दूसरों से दान स्वयं न लेना, स्वयं तप करना अर्थात् दूसरोंके हित करनेके लिये स्वयं कष्ट उठाना, परंतु जहां तक हो सके, वहां तक अपने लिये

दूसरोंको कष्ट न देना, स्वयं अपने कर्मका फल सब जनताको मिले ऐसी व्यवस्था करना, परंतु जहांतक हो वहां तक यत्न करके दूसरोंके कर्मोंके फलोंका स्वयं उपभोग न करना, इतना भाव यहां है। यज्ञदानतप करनेका यही तात्पर्य है, कि स्वयं दूसरेके ऋणमें न जाना, परंतु दूसरोंकी सहायता हर समय करना। यही उत्कृष्ट मानवधर्म है। (गी० १८।५)

कर्तव्य करो।

जो अपना कर्तव्य है, वह तो प्रत्येक मनुष्यको करनाही चाहिये। अपना कर्तव्यकर्म न करना और आलसमें समय व्यतीत करना, तामस प्रवृत्तिका आचरण है, इससे निःसन्देह उसकी अधोगति होती है। अतः इसकी ओर कोई न जावे। (गी० १८।७)

कर्म करनेके समय बडा दुःख होता है, इस लिये शरीर पीडा से बचनेके उद्देश्यसे जो कर्म छोडना है, वह राजस कर्मत्याग है, क्योंकि इस में दुःखके भयसे कर्म छोडा जाता है। अपना जो कर्तव्यकर्म है, वह दुःखों और कष्टों की पर्वाह न करते हुए करना और उसका फल अपनेको हि प्राप्त हो, ऐसा भाव न धारण करना, इतना ही नहीं, प्रत्युत उसका फल दूसरों को समर्पित करना सात्त्विक प्रवृत्ति का लक्षण है। (गी १८।८-९)

अपना जो कर्तव्य है उसकी कदापि निन्दा नहीं करनी चाहिये। अपना कर्म उत्तम, मध्यम कनिष्ठ कैसा भी हो, वह अपने लिये उत्तम ही है, ऐसा मानकर मनको शान्त रखकर हि करना योग्य है। क्योंकि मनुष्य जब तक जीवित है, तब तक वह कर्मोंका त्याग करही नहीं सकता, उसके द्वारा कर्म होते ही रहेंगे। मनुष्य यदि कुछ त्याग कर सकता है, तो वह कर्मका त्याग नहीं, अपितु उस कर्म के फलका त्याग कर सकता है। मनुष्यका जो निज कर्तव्य है, वह करनेकी उत्तम कुशलता प्राप्त करे और उत्तम कुशलतासे वह अपना कर्तव्य करे और उस कर्मका जो फल मिलनेवाला हो, वह संपूर्णतया त्याग दे, सबकी भलाई के लिये छोड दे। (गी० १८।१०-११)

एक डाक्तर है, वह चिकित्सा तथा शस्त्रक्रिया उत्तम रीतिसे कर सकता है, वह अपनी विद्यामें उत्तमोत्तम कुशलता प्राप्त करे और जो गरीब निर्धन असहाय रोगी आ जाय, उसकी अपनी चिकित्सा द्वारा सेवा करे और इस सेवाका फल न लेवे। यह है कर्मफलत्याग का अर्थ। सब मनुष्य परमेश्वर की मूर्तियां हैं। उनमें जो धनवान् हैं, उनके धनके बलसे उत्तमसे उत्तम चिकित्सकोंकी सहायता उन धनवानोंको प्राप्त हो सकती है, इस लिये उनकी सेवा करने के लिये वैद्योंको त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु जो परमेश्वरका रूप आपसे सेवा लेने के लिये और आपकी सेवा लेकर आपका जीवित अपने आशीर्वादसे सफल और सुफल करनेके लिये आपके पास उपस्थित हुआ है, वह गरीब, निर्धन और असहाय स्थितिमें जो आता है, वही है। आपको कृतकृत्य करनेके लिये वह आपके पास आता है, इसके लिये आप अपना कर्तव्य करें, वह कर्म परमेश्वरको अर्पण करनेकी सुबुद्धिसे करें। उस कर्मसे जो फल आपको मिल सकता है, उस फलका आपको त्याग करना उचित है। उस फलका भी आप ईश्वरके ही लिये समर्पण करेंगे, तो बहुत अच्छा होगा।

कर्मका त्याग करना अयोग्य है, फलका त्याग हो सकता है। जो पूर्वोक्त प्रकार करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य इस तरह कर्म करके और फलका त्याग करके अपना जीवन सफल और सुफल कर सकता है।

कर्मके पांच कारण ।

कर्म करनेके लिये पांच कारण होते हैं । (१) कार्यका क्षेत्र, (२) कर्म का कर्ता, (३) कर्म करनेके विविध साधन, (४) कर्म करनेकी क्रियाएं और (५) दैव, अर्थात् कर्म के लिये अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति । प्रत्येक कर्म करनेके समय इन पांच कारणोंका उसके साथ संबंध आता है और इनमेंसे प्रत्येक के उत्तम, मध्यम,कनिष्ठ होनेसे कर्मके परिणाम भी वैसेहि होते हैं । इतने पांच कारण प्रत्येक कर्म के लिये होते हैं, यह देखकर प्रत्येक को विदित हो सकता है, कि कर्मका कर्ता केवल अकेला ' मैं ' हि नहीं हूं । क्योंकि उक्त पांच हेतुओं का संबंध उस कर्मके साथ सदा है । जो अन्य चार कारणोंका विचार छोड कर अपने आपकोहि किसी कर्मका कर्ता मानने लगता है, तो समझना चाहिये, कि उसकी बुद्धिमें कुछ न कुछ दोष उत्पन्न हुआ है । क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् पुरुष जो कार्य पांचों के द्वारा हुआ है, उस को एक का बनाया नहीं मान सकता । (गी० १८ । १२-१६)

पांचोंकी उत्तम सहायता सेहि प्रत्येक कार्य की सफलता और सुफलता हो सकती है।उन पांचों-में अकेला 'कर्ता' किस तरह उस कर्म करने की घमंड मार सकता है ? और संपूर्ण कर्तृत्व अपना ही है, ऐसा किस तरह मान सकता है ? इसलिये अपने कर्तृत्वकी घमण्ड करना सर्वथा अयोग्य है ।

सात्त्विक ज्ञान ।

जिस ज्ञानसे सब विविध भूतोंमें, विविध वस्तुमात्रोंमें अविभक्त भाव का ज्ञान होता है, उसे सात्त्विक ज्ञान कहना चाहिये । प्रत्येक मनुष्य दूसरों से भिन्न है, प्रत्येक पशुपक्षी अन्य प्राणियोंसे भिन्न है, प्रत्येक वृक्ष प्राणियोंसे भिन्न है । प्रत्येक जड पदार्थ वृक्षादिकों से भिन्न है । यह तो विश्व में भेदभावका अनुभव हि है । जाग्रति में हम यही देखते हैं, सर्वत्र भेद हि भेद दिखाई देता है । इस भेदके अन्दर, अनेक विभिन्न पदार्थों के अन्दर एक अखण्ड, अभिन्न जीवन का सूत्र कार्य कर रहा है। वस्तुओंका भेद होनेपर भी उस सर्वव्यापक जीवन में कोई भेद नहीं होता । इस तरह विभक्तोंमें अविभक्त सत्ताका दर्शन करना सात्त्विक ज्ञानसे होता है। जिसमें यह सात्त्विक ज्ञान बढा है, वह विभक्तों-में व्यापनेवाली अविभक्त सत्ताको जान सकता है । (गी. १८।२०)

राजस ज्ञान ।

प्रत्येक वस्तु दूसरे वस्तुओंसे भिन्न है, ब्राह्मण क्षत्रियोंसे भिन्न, वैश्य शूद्रोंसे भिन्न, हिंदु यवनों और म्लेंच्छोंसे भिन्न, मनुष्य पशुओंसे भिन्न, पशु पक्षियों से, पक्षी वृक्षोंसे, वृक्षप्रस्तरादि जड वस्तुओंसे भिन्न हैं । इस प्रत्येक जातिमें भी मुख्य भेदमें उपभेद बहुत हैं,जैसा देखो,वृक्षों में आम, इमली, पनस, वड, पीपल, आदि वृक्ष परस्पर भिन्न हैं । पक्षिजातिमें कौवा, मोर, गीध, कोकिल, तोता, गरुड आदि अनेक उप-जातियां हैं । पशुमें भी सिंह, व्याघ्र, घोडा, गाय, भेड बकरी आदि अनेक जातियां हैं । इस प्रत्येक उपजातिमें भी गौओंमें गीर जाति की गाय, पंजाबी गौ, महाराष्ट्रीय गौ भिन्न हैं । घोडे में भी अरब, काठियावाडी, राजपूतानी, भीम-थडी, आस्ट्रेलियन ऐसे अनेक भेद हैं । प्रत्येक जातिमें उपजाति, उपजातिमें उपभेद, उपभेदोंमें गुणकर्मभेद ऐसे सर्वत्र भेद दृष्टिगोचर होते हैं। इस का कारण राजस मनोभाव है। राजस वृत्ति भेददर्शी है। यह राजस वृत्ति भेदोंको बढाने-वाली है और आगे झगडे करनेवाली है। यहां पाठक,सात्त्विक ज्ञान मेल मिलाप करता है और राजस ज्ञान भेदोंको बढाता है, यह विचारपूर्वक देखें । (गी० १८।२१)

तामस ज्ञान।

तामस ज्ञान को वस्तुतः अज्ञानहि कहना चाहिये, परंतु उसमें अल्प ज्ञान रहता है, इसलिये ज्ञान नामसे यहां कहा गया है। तामस ज्ञानवाला मनुष्य कर्म में वडा ही आसक्त रहता है, विघ्नकर्ताओंके साथ शत्रुता करता है। क्षुद्र, निरर्थक, साररहित कर्म में सदा रमता है और उसीको वडा भारी कार्य मानता है। तत्त्वदृष्टिसे जिसमें कोई सार नहीं है, अथवा जो स्वरूपतः हीन है, सबकी भलाई का जिसमें कोई संबंध नहीं है, किसी एक विभाग के हितका ही जिसमें संबन्ध होगा, ऐसा संकुचित विचार जिसमें प्रमुख है, उस कर्ममें प्रवृत्ति तामस ज्ञानसे होती है। इसलिये तामस प्रवृत्तिसे संघ की हानि और व्यक्तिका नुकसान होता है। (गी० १८।२२)

सात्विक कर्म।

जो जिसके लिये नियत अर्थात् आवश्यक कर्तव्य हो, धर्मसे और सहज स्वभावसे जो प्राप्त हो, वह उसके लिये सात्विक कर्म कहलाता है। सात्विक मनुष्य उस नियत कर्मको रागद्वेष छोडकर करता है। फलकी आसक्ति नहीं और हानिका द्वेष नहीं, इस समवृत्तिसे वह अपना नियत कर्म करता है। कर्मफलका भोग करनेकी यह इच्छा नहीं करता, इतनाही नहीं प्रत्युत जो फल प्राप्त होगा, उस का सबकी भलाई के लिये त्याग भी करता है, जिससे फलके मोहमें वह कदापि फंस कर नहीं रहता। फल मुझे ही प्राप्त हो,ऐसी वह इच्छा भी नहीं धारण करता,अथवा फलके विषयमें वह पूर्ण उदासीन रहता है। परंतु फलके विषयमें उदासीन होनेपर भी जो कर्तव्यकर्म करना है, वह उत्तम कुशलताके साथ और निर्दोष पद्धतिसे करता है। इस प्रकार का जो कर्म होता है, वह सात्विक कर्म है। (गी. १८।२३)

राजस कर्म।

अहंकारके साथ, कर्मफलका भोग करनेकी इच्छासे, वहुत सायाससे जो कर्म किया जाता है, उसको राजस कर्म कहते हैं। इसमें कर्ता अपने कौशल की घमण्ड करता है, मेरे जैसा कर्मकर्ता कोई दूसरा नहीं है, ऐसा वह मानता है। अपने कर्मोंके सव फल अपने पास संग्रहित करके रखता है, और कुशलता न होने के कारण कर्म की सिद्धता करने में उसे वडे आयास पडते हैं।

अन्य लोगोंके कर्मोंके फलोंसे अपनी जीवनयात्रा हो रही है, इसलिये अपने कर्मोंके फल दूसरों की भलाई के लिये अर्पण करने चाहिये, यह विचार उस राजस वृत्तिवाले मनुष्यके मनमें नहीं आता। इसलिये वह अपने भोग वढानेके लिये विविध कर्म करता है, उनके फलों का अपने पास संग्रहित करके रखता है, उनकी रक्षा की चिन्ता करता है, उनके दूर होनेसे दुःखी होता है, उनको देखनेसे आनन्द मानता है। इसके भोगसंग्रहको देखकर दूसरे लोग इसका द्वेष करने लगते हैं।इस तरह वह दुखोंको वढाता है और उन में फंसता जाता है। राजस कर्मका यही परिणाम होता है। (गी०१८।२४)

तामस कर्म।

परिणामका विचार न करते हुए, इसके करने में घातपात और हिंसा कितनी होगी, इसका ख्याल छोडकर, हानि कितनी होगी,इसका विचार न करके,अपना और दूसरेका पौरुष कितना है, अपनेसे यह निभ सकता है वा नहीं, इसका कुछभी विवेक न करके, केवल मोहसे जो कम किया जाता है, वह तामस कर्म कर्ताकी भी हानि करता है और जिसके साथ उसका संबंध आता है, उसकी भी हानि करता है। (१८। २५)

सात्त्विक कर्ता।

जो कर्ता कर्मके फलोंका स्वयं भोग करनेकी इच्छा नहीं धारण करता, परंतु फलसंगेच्छा छोडकर तृप्त रहता है; जो कर्म करनेका, फल-प्राप्तिका अथवा सिद्धिका अहंकार नहीं धारण करता, अहंकार का पूर्ण त्याग करता है, सिद्धि और असिद्धिके विषयमें पूर्ण निर्विकार रहता है, सिद्धि होने पर भी समवृत्ति में रहता है और असिद्धि हुई तो भी समवृत्ति में हि रहता है, द्वन्द्वोंका परिणाम अपने मनपर कभी होने नहीं देता, तथा सदा धैर्य और उत्साहसे युक्त, कितना भी बडा भय प्राप्त हुआ तोभी जो डरता नहीं और कैसी भी विपरीत परिस्थितिमें जिसके मनमें उदासीनताका विचार तक नहीं आता, जो सदा उत्साहके विचारों का प्रचारक रहता है, उसको सात्त्विक कर्ता कहते हैं। (१८। २६)

राजस कर्ता।

अपने भोगोंको बढानेवाला, अपने कर्मोंके फलोंको अपने भोगके लिये अपने पास अत्यधिक प्रमाणमें संग्रह करनेके लिये सदा आतुर, भोगोंके पीछे पडनेवाला, लोभी, घातपात और हिंसा करनेवाला, अपवित्र आचरण करनेवाला, लाभ होनेपर हर्षसे नाचनेवाला और हानि होनेपर दुःखसे हताश होनेवाला, लाभ होनेपर अति घमंड करके आनन्दसे मूर्च्छित होनेवाला, तथा हानि होनेपर प्राण देनेके लिये भी तैयार होनेवाला, जिसके मनमें समभावना विलकुल नहीं है, ऐसा जो कर्ता होता है, उसे राजस कर्ता कहते हैं। (गी० १८। २७)

तामस कर्ता।

जिसमें कर्म करनेकी कुशलता नहीं है, जिस पर कोई शुभ संस्कार नहीं हुए, जो सुस्त और सदा आलस्यमें समय बिताता है, शठता करनेवाला, कृतघ्न, नीच, कर्म करनेकी इच्छा न करनेवाला, सुस्त, खिन्न और उदास, तथा थोडेसे कर्म के लिये जो बहुत समय लगाता है, ऐसे अव्यवस्थित कर्ताको तामस कर्ता कहते हैं। इसके कर्मसे जैसी इसकी हानि होगी, वैसीहि इसके साथ जिसका संबंध आवेगा, उसकी भी हानि होगी। (गी० १८।२८)

सात्त्विक बुद्धि।

जिस बुद्धिसे किसमें प्रवृत्त होना चाहिये और किससे निवृत्त होना चाहिये, कौनसा कर्तव्य करना चाहिये और कौनसा नहीं करना चाहिये, किससे भय होनेवाला है और किससे निर्भयता होगी, किससे अपना बंधन होगा और किससे बन्धसे निवृत्ति होगी, किससे अपनी सच्ची उन्नति होगी और किससे अवनति होगी, इसका यथार्थ ज्ञान होता है, वह बुद्धि सात्त्विक कहलाती है। यही बुद्धि मानवी उन्नतिका सत्य मार्ग साधक को दर्शाती है, जिससे जाननेसे मनुष्य अपनी परम उन्नति कर सकता है। (गी० १८। ३०)

राजस बुद्धि।

जिस बुद्धिसे धर्मको अधर्म और अधर्मको धर्म समझा जाता है, तथा कर्तव्य को अकर्तव्य और अकर्तव्य को कर्तव्य जान पडता है, जिस बुद्धिसे विपरीतहि ज्ञान होता है, उसका नाम राजस बुद्धि है। यह बुद्धि दुःख उत्पन्न करने-वाली है, क्योंकि वह विपरीत कर्म करनेमें प्रवृत्त होती है, जिसका परिणाम सदा दुःखही दुःख निःसन्देह है। (गी० १८। ३१)

तामस बुद्धि।

जिस बुद्धिसे धर्माधर्मके विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं होता, संपूर्ण अर्थोंके विषयमें विपरीतहि भावना सदा होती है, कभी सत्य ज्ञान होता ही नहीं, सत्यज्ञान किसीने समझाया तोभी जिसे

वह विपरीतादि प्रतीत होता है, उसका नाम तामस बुद्धि है। यह निरी बुद्धिहीनता है, निर्बुद्धताभी इसे कह सकते हैं। सब प्रकार की अधोगति इससे होना संभव है। (गी०१८।३२)

सात्त्विक धृति।

सतत योगसाधन करनेकी रुचि, धार्मिक व्रत-नियम करके उनका पालन नियमपूर्वक करनेकी वृत्ति, मन-प्राण-इन्द्रियक्रियाओं की उत्तम धारणा जिससे होती है, जिससे मन, प्राण और इन्द्रियोंका परस्पर सहाय्यक आचरण होता है, उस समधारणाका नाम सात्त्विक धृति है। (गी० १८।३३)

राजस धृति।

धर्म, काम और अर्थ की धारणा विशेष कर फलभोग की इच्छासे होती है। अर्थात् फलाना धर्म करनेसे फलाना फल भोगनेको मुझे मिलेगा, ऐसी इच्छा धारण करके, उस फलभोगकी कामना का ध्यान करते हुए वह उस कर्म को करता है। इसमें फलभोग की कामना बडीहि प्रबल रहती है। इसलिये इसको राजस धृति कहते हैं। (गी. १८।३४)

तामस धृति।

जिसमें तामस धृति होती है, वह निद्रा, भय शोक, खिन्नता, मद (बेहोषी) को छोडता नहीं, अर्थात् उसकी दोषयुक्त बुद्धि इन दुष्ट गुणोंसे व्याप्त रहती है। अर्थात् जो आलसी, सुस्त, शोकग्रस्त, खिन्न रहता है, उसकी तामस धृति है, ऐसा मानना योग्य है। (गी० १८।३५)

सात्त्विक सुख।

जो सुख प्राप्त होनेके समय विषसा प्रतीत होता है, परंतु जिसका परिणाम अमृतसा होता है और जिससे आत्मा, बुद्धि, मनकी प्रसन्नता रहती है, वह सात्त्विक सुख होता है। उदाहरण के लिये विद्याका सुख। विद्याप्राप्ति करनेके समय बडे कष्ट प्रतीत होते हैं, परंतु प्राप्त होने पर उससे जो आनन्द होता है, वह अपूर्व हि होता है, तथा इससे आत्माबुद्धिकी प्रसन्नता भी होती है। अतः वह सुख सात्त्विक है। इसी तरहके जो अन्य सुख हैं, वे सब सात्त्विक कहलाते हैं। (गी० १८।३७)

राजस सुख।

जो सुख विषयों से इंद्रियोंका संबंध होनेसे मिलता है, सुख प्राप्त होनेके समय अमृत जैसा प्रतीत होता है, परंतु परिणाम विष जैसा होता है, उस सुख का नाम राजस सुख है। उदाहरणके लिये देखिये-कोई मनुष्य भोजन डंट कर खाता है, खानेके समय तो उसे जिह्वाका आनंद मिलता है, परंतु जिह्वाके वश हो जानेसे वह मर्यादा को उलंघ कर खा जाता है और अजीर्ण होने पर रोता रहता है। खानेके समय अमृतसा खाया, परंतु भोगनेके समय विष जैसा हुआ। इसी कारण इसका नाम राजस सुख हुआ। (गी० १८।३८)

तामस सुख।

प्रारंभसे अन्ततक तामस सुख मनको मूर्च्छित करनेवाला है, निद्रा उत्पन्न करता है, प्रमाद और दोष निर्माण करता है, सुस्तीसे कुछ बनना नहीं, इस तरह अकर्मण्यता में सदा वह फंसा रहता है। इस तरह का आलस्य से उत्पन्न हुआ, यदि सुख कहा जाय तो वह तामस सुख है। (गी. १८।३९)

त्रिगुणोंकी व्याप्ति।

यहां जो इन तीनों गुणों का वर्णन किया है, उस का विचार पाठक करें और विश्वमें देखें कि इन गुणोंका खेल इस विश्वमें सर्वत्र कैसा चल रहा है। कोई वस्तु इन गुणोंके विना नहीं है। जो वस्तु संमुख आ जाय, उसमें कौनसा गुण कार्य कर रहा है, यह पाठक अवश्य देखें। प्रत्येक

वस्तु में कोई न कोई गुण अवश्य दिखाई देगा। (गी० १८।४०)

पाठक अपने अन्दर भी देखें,अन्यान्य मनुष्यों में भी देखें और पहचाननेका यत्न करें, कि किसमें कौनसा गुण कार्य कर रहा है। मनुष्य का सहज कर्म कौनसा है इस का निर्णय इस गुणत्रयविभाग के सुनिश्चयसे हो सकता है। जिसमें सत्त्वगुणकी प्रधानता है, उससे जो स्वभावतः रुचिसे कर्म होंगे, वे कर्म राजस गुणकी प्रधानतावाले मनुष्यके स्वाभाविक कर्मोंसे भिन्न होंगे और तमोगुणवाले मनुष्यके कर्म तो उन दोनोंसे सर्वथा भिन्नहि होंगे।

सत्त्वगुणवाले की प्रवृत्ति उत्साहमयी और समाधानमयी होगी, रजोगुणवालेकी प्रवृत्ति हिंसक और क्रूर होती है और तमोगुणवालेकी प्रवृत्ति सुस्त होती है। अतः इनसे होनेवाले सहज कर्म एक जैसे नहीं हो सकते, इसीलिये मनुष्योंके चार भेद माने गये हैं। (गी० १८।४१)

चार वर्णोंकी व्यवस्था।

सत्त्वगुणका आधिक्य जिसमें होगा, वह ब्राह्मण कहलायेगा,सत्त्वगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण जिसमें अधिक होगा.वह क्षत्रिय होगा, तमोगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण जिसमें होगा वह वैश्य होगा, और जिसमें तमोगुणकी अधिकता रहेगी, वह शूद्र कहलावेगा। पूर्वोक्त स्थानमें जो गुणोंके न्यूनाधिक्यसे होनेवाले लक्षण कहे हैं, उनका विचार करनेसे किसमें कौनसा वर्ण है, इसका निर्णय किया जा सकता है।

ब्राह्मणमें सत्त्वगुण परम उन्नत होगा और अन्य दोनों गुण दबे हुए होंगे। अथवा जिसमें सत्त्वगुण प्रभावित है और अन्य गुण दबे हैं, वह ब्राह्मण है। (गी० १८।४२)

क्षत्रियमें रजोगुणकी प्रधानता होगी, परंतु उस रजोगुणका झुकाव सत्त्वगुणकी ओर अधिक होगा। जिसमें सत्त्वगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण होगा, उसका वर्ण क्षत्रिय होगा। (गी० १८।४३)

वैश्यमें भी रजोगुणहि होगा, परंतु उसका झुकाव तमोगुणकी ओर होगा। इस तरह जिसमें तमोगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण होगा, उसकी वैश्य-वर्णमें गिनती होगी। (गी० १८।४४)

जिसमें तमोगुणकी प्रधानता होगी, उसका शूद्र वर्णमें भरती होगी। क्योंकि उसको किसी अन्य वर्ण में स्थान ही नहीं है।

चातुर्वर्ण्य 'स्व-भाव-ज' है, अथवा 'गुण-कर्म-स्वभाव-ज' ऐसा जो कहते हैं, उसका यह आशय है। सत्त्व, रज, तम ये गुण हैं। जिनमें जो गुण होगा, उनके अनुसार उससे कर्म होंगे। यहाँ गुणोंके कारण कर्म करनेका स्वभाव प्रत्येक मनुष्यमें स्थिर रहता है। यह शीघ्र बदलनेवाला नहीं होता। सवेरे सत्त्वगुण रहा तो शामको रजोगुण हो नहीं सकता। प्रायः यह एक एक जन्म तक स्थिर रहता है, बदलनेका प्रयत्न किया जाय, तो जन्म भर यत्न करने पर भी बदलता है,ऐसी बात नहीं है। इसलिये जो जिसका गुणोंसे बना हुआ स्वभाव है,वैसे उसके लिये कर्म शास्त्रकारोंने नियत किये हैं। क्योंकि स्वभाव बदलनेका यत्न करनेपर भी बदलेगा नहीं, इसलिये सिद्ध न होनेवाली बातके लिये आयुका नाश करना कोई बुद्धिमत्ताकी बात नहीं है। अतः इस कारण जन्म-स्वभाव बदलनेका यत्न न करना, और जो स्वभाव होगा, उसीके अनुसार शास्त्रसे निश्चित हुआ कर्म स्वीकारना और वही करते जाना। इतनाही नहीं परंतु दूसरेके कर्मकी ओर देखना भी नहीं। (गी० १८।४५)

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये गुणकर्म स्वभाव से माने गये वर्ण हैं। किसी मनुष्यका वर्ण निश्चित करना हो,तो सबसे प्रथम उसमें कौनसा गुण प्रबल है, उस गुण का झुकाव किस ओर

कौनसे गुण दबे हुए हैं और कौनसे बिलकुल शान्त हुए हैं, इसका परीक्षण पूर्व कहे परीक्षाओं से करना चाहिये। और इस परीक्षासे जो वर्ण निश्चित हो जाय, उसके अनुसार जो कर्म नियत हुए हैं, उनको ही करते जाना चाहिये। अपना कर्म कितनाभी निःसार हो और दूसरों का कर्म कितना भी सारगर्भित हो, अपना कर्म छोडना नहीं और दूसरोंका लेना नहीं। इससे मनुष्य निश्चित होता है और अपने कर्म करने लगता है। यह कर्म करूं या वह, ऐसी चिन्ता उसे सताती नहीं।

मनुष्यका स्वभाव निश्चित है, स्वभावके अनुकूल कर्म निश्चित हैं, और उन कर्मोंका त्याग करना नहीं चाहिये, यह भी निश्चित है। अपने सहज स्वभावसे प्राप्त कर्मसे हि अपनी सद्गति होगी, यह नियम भी निश्चित है, स्वकर्म त्यागने से अधोगति और स्वकर्म करते हुए मृत्यु आनेसे शुभ गति होना भी निश्चित है, स्वकर्म करनेसे उसी कर्मद्वारा परमेश्वरकी पूजा और उपासना होती है, यह भी निश्चित ही है। और यही ईश्वरपूजा मनुष्यका उद्धार करनेवाली है। मनुष्य अपने अन्दर गुण कैसे हैं यह देखे, कौनसा गुण विकसित हुआ है इसका निश्चय करे, उस गुणके अनुसार कौनसा अपना कर्म है, तथा अपने द्वारा कौनसा कर्म हो सकता है, इसकाभी निर्णय करे और समझे कि यही अपना स्वाभाविक कर्म है, यही अपनेको करना चाहिये। वह मनुष्य उस कर्मको करे और अपना जीवन कृतार्थ बनावे। (गी० १८।४६-४८)

वर्णसंकर।

यहां वर्णसंकर कैसा होता है, यहभी देखना उचित है। समझ लीजिये कि किसी मनुष्यके अन्दर सत्त्वगुणको ओर झुकनेवाला रजोगुण है, तो उसका वर्ण क्षत्रिय हुआ। राज्यरक्षा, सेना-विभागमें प्रवेशकर युद्ध करना आदि उसका कर्म वर्णानुकूल हुआ। यदि वह मनुष्य अपने गुणकर्मानुसार प्राप्त यह कर्म नहीं करता, और किसी कारण दूसराही कर्म करता है, तो उसके अन्दर वर्णसंकर होता है। उसके गुणकर्मानुसार उसका जो वर्ण निश्चित हुआ है, उसके अनुकूल कर्म न करता हुआ, वह दूसरे वर्णके कर्म करता है। इसलिये स्वाभाविक वर्णके संस्कारोंमें कर्म-जन्य वर्णके संस्कार मिलते हैं, और वहां दो वर्णोंका संकर हो जाता है। यह वर्णसंकर मनुष्य-त्वकी हानि करनेवाला है।

अतः अपना जो गुणकर्मानुसार वर्ण निश्चित हुआ है, उसीके अनुकूल जो कर्म है, वही करना चाहिये, उसीसे उस मनुष्यकी उन्नति हो सकती है, क्योंकि वे कर्म उसके गुणोंके अनुकूल होनेसे वे उससे उत्तम रीतिसे हो सकेंगे, और उस कारण उसमें शुभ संस्कार होते रहेंगे। यही उन्नतिका बडा अच्छा साधन है। वर्णसंकर न करते हुए अपने नियत कर्म करनाही मनुष्यको उचित है।

ब्राह्मणोंका कर्तव्य।

इंद्रियोंका शमन, मनका संयम, धर्मकर्म करनेके समय होनेवाले कष्टोंको सहन करनेका तप, पवित्रता-मनके परिशुद्ध विचार, वाणीकी शुद्धता और शरीरकी निर्दोषता, शरीरकी अन्तः-शुद्धि और बहिःशुद्धि, सहनशीलता, सरल आचरण, सत्यज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य बुद्धि ये ब्रह्मकर्म स्वाभाविक हैं। जिसके अन्दर सत्त्वगुण प्रभावशाली होता है, उसकी स्वाभा-विक प्रवृत्ति इन कर्मोंके करनेकी ओर होती है। (गी० १८।४२)

क्षत्रियके कर्तव्य।

शौर्य, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्धमें स्थिर रहकर शत्रुसे लडना, दान देना, स्वामी होनेका भाव, ये क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं। क्षत्रियमें

रजोगुण होता है, परंतु वह सत्त्वगुणकी ओर झुका हुआ होता है, अतः उसका विचार आत्मसमर्पणकी ओर अधिक होता है। जनताकी रक्षाके लिये शौर्यके कर्म करना, शत्रुके साथ मरणतक युद्ध करना, धर्मयुद्धमें अपना भाग लेना, धैर्यसे शत्रुपर हमला करना, अपने पास जो धनादि होगा, वह दीनोंको उदारताके साथ देना, हरएक कर्म दक्षताके साथ करना, और मैं इस देशका स्वामी हूं, ऐसा मानकर उसकी सुरक्षाके लिये आवश्यक कार्य करना। ये क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं । ये सब कर्म रजोगुणके हैं, परंतु उनके साथ सात्त्विकताका बडा घनिष्ट संबंध है । (गी० १८।४३)

वैश्यके कर्म ।

कृषिकर्म, खेतीका काम, गौ आदि पशुओंका पालन, और वाणिज्य, देशदेशान्तरमें जाकर व्यापार करना या अपने देशमें व्यापार करना ये कर्म वैश्यवर्णके स्वाभाविक हैं । निःसन्देह जिन कर्मोंमें धनकी प्राप्ति होती है, वेही कर्म वैश्य करता है, क्योंकि उसके अन्दर जो रजोगुण है, वह तमोगुणकी ओर झुका हुआ है, इसलिये वह प्रयत्न ऐसे करता है, कि जिससे व्यय की अपेक्षा आय अधिक हो। (गी० १८।४४)

शूद्रके कर्म ।

परिचर्या अथवा सेवा-कर्मसे आजीविका करनाही एकमात्र शूद्रका कार्य है। इसमें अत्यधिक तमोगुण होनेसे वह सुस्त होता है और उत्साह आदि शुभ गुण इसमें नहीं होते। इस लिये प्रशस्तकर्म इनसे नहीं होते, अतः अन्य वर्णोंकी सेवा करके यह अपनी आजीविका करता है। (गी० १८।४४)

शूद्र वर्णमें एक सच्छूद्र और दूसरा असच्छूद्र ऐसे दो भेद माने गये हैं। उत्तम शूद्र और अधम शूद्र, ऐसा इनका आशय माना जा सकता है। जो उत्तम शूद्र हैं, वे विविध कारीगरीके कर्म करके अपनी आजीविका चलाते हैं, ये व्यवसाय वैसे ही स्वतंत्र और सन्मान्य हैं, कि जैसे पूर्वोक्त तीनों वर्णोंके हैं। अतः कई शास्त्रकार इस सच्छूद्रको त्रैवर्णिकोंके समान मौंजीबन्धनपूर्वक यज्ञोपवीत धारण का अधिकार देते हैं। अथवा विना उपनयन के भी इनका अध्ययन होता है, जैसा कि विदुर का हुआ था। विदुर शूद्र होनेपर भी बहुत पढा हुआ ज्ञानसंपन्न था। यह विदुर सच्छूद्रका उत्तम उदाहरण है। इसका अध्ययन उस समयके द्विजों जितना हुआ था, भगवान् सनत्कुमार के समान यह विद्वान था, ऐसा कई कहते हैं। उतना न भी हो तथापि वेदान्त और व्यवहार का अच्छा ज्ञाता वह था और उस समय की राजसभाका वह सदस्य भी था। आर्यराज्यमें शूद्रकी कितनी उन्नति हो सकती थी, इसका आदर्श हमें विदुरके उदाहरण से ज्ञात होता है। विदुरकी उन्नति किसी भी रीतिसे उस समय के अन्य द्विजोंसे बहुत कम न थी ।

द्विजोंके कर्तव्य ।

ब्राह्मणोंका कर्तव्य अध्ययन अध्यापन नियत होनेपर भी पितामह भीष्म, धर्मराज, भगवान् श्रीकृष्ण ये क्षत्रिय अच्छे धर्मोपदेश करनेवाले करके प्रसिद्ध रहे। उनके साथ विदुरकी भी तुलना करना योग्य है। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाचार्य ये ब्राह्मण होनेपर भी क्षत्रियोंसे बढकर धनुर्विद्यामें निपुण थे, और युद्ध विद्यामें भी प्रवीण थे। इससे सिद्ध होता है, कि परस्परके कर्म परस्पर वर्णवाले करते नहीं थे, ऐसा नहीं है ।

इससे भी प्राचीन कालमें नरनारायण ऋषि बद्रिकाश्रममें तपस्या करते थे। उनके आश्रमपर उन्मत्त क्षत्रियों ने हमला किया, तब उन्होंने तृणास्त्रका प्रयोग करके सब सैनिकों के नाक, कान, आंखोंमें घांस के तिनके बारीक बारीक

दूरतक जाने-योग्य कुछ अस्त्र चलाया, जिससे वह क्षत्रिय का सैन्य परास्त होकर भाग गया और ऋषियोंका आश्रम सुरक्षित रहा। इससे पता चलता है, कि अति प्राचीन कालके ब्राह्मण भी शस्त्रास्त्र चलाना जानते थे, इतनाहि नहीं अपितु क्षात्रगुरुकुलमें युद्धविद्या सिखानेवाले आचार्य सब ब्राह्मणहि होते थे। जो क्षत्रियोंको शस्त्रास्त्रविद्या और युद्धविद्या पढाते थे।

अतः ऊपर जो ब्राह्मणोंका शमदमादि कर्म, क्षत्रियोंका शौर्य तेज आदि कर्म, कहा है, यह तो उनकी विशेषताकी वात है। ब्राह्मण इन कर्मोंमें विशेषता प्राप्त करें और क्षत्रिय इन कर्मोंमें विशेषता प्राप्त करे। एक दूसरेके कर्मोंमें स्पर्धा न हो। ब्राह्मण क्षत्रियका धंदा (पेशा) न करे और क्षत्रिय ब्राह्मण का (पेशा) धंदा न करे। इसी तरह सब धंदोंमें स्पर्धा न हो। यह मुख्य तात्पर्य वर्णव्यवस्थाका है। कोई अध्ययन न करे, यह इसका तात्पर्य नहीं है। समयपर चारों वर्णोंको और स्त्रियोंकोभी शस्त्रधारण करना उचित है और राष्ट्रपर कठिन प्रसंग आनेपर चारों वर्णोंको शस्त्रधारण करना आवश्यक होगा, तब तो राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको शस्त्रास्त्र-विद्या का प्राथमिक शिक्षण तो अवश्यहि मिलना चाहिये। ऐसा सबको शस्त्रविद्याका शिक्षण मिले, परंतु क्षत्रिय उसमें विशेषता प्राप्त करे और वह उस विशेषताके कारण राष्ट्रकी रक्षा करे। इसी तरह अन्यान्य वर्णोंके विषयमें जानना योग्य है।

स्वकर्मसे सिद्धि।

अपने अपने कर्तव्यकर्म करनेसे मनुष्यको श्रेष्ठसे श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त हो सकती है, परम सिद्धि प्राप्त होनेका एकमात्र उपाय स्वकर्म उत्तम रीतिसे करनाही है, यहां यह वात स्पष्ट करनेके लिये यही विषय प्रश्नोत्तररूपसे लिखते हैं (गी० १८। ४५-४६)—

(प्रश्न)-मनुष्यको परमसिद्धि किस प्रकार प्राप्त होती है ?

(उत्तर)-स्वकर्म उत्तम रीतिसे करनेसे।

(प्र०) प्रत्येक मनुष्यका स्वकर्म कौनसा है ?

(उ०) प्रत्येक मनुष्यके शरीर-मन-बुद्धि की जो सत्त्व-रज-तम-रूप प्रकृति है, उसके अनुसार जो कर्म निश्चित होता है, वह उसका स्वकर्म है। सहज कर्म, स्वभावनियत कर्म, स्वधर्म, गुणकर्मस्वभावज वर्णधर्म, स्वकर्म इन सब शब्दोंका अर्थ एक हि है।

(प्र०) अपने शरीर की, मनकी, बुद्धिकी, प्रवृत्तिका ज्ञान किस तरह होता है ? और अपना धर्म निश्चित किस तरह होता है?

(उ०) भगवद्गीतामें सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणोंका जो वर्णन है, वह अपने अन्दर देखनेसे अपनी प्रकृति सात्त्विक है, राजस है वा तामस है, इसका निर्णय होता है, और अपनी प्रकृतिके अनुकूल जो कर्तव्य अर्थात् तदनुसार अपना जो वर्णधर्म है, वही अपनी प्रकृतिके अनुकूल स्वभावज कर्तव्य है।

(प्र०) अपना यह कर्तव्य करनेसे क्या होता है ?

(उ०) सिद्धि प्राप्त होती है। सिद्धिका अर्थ मानवत्वका पूर्ण विकास है। यह विकास होकर 'पूर्ण मानव' बनता है। और यह पूर्णत्व स्वकर्म उत्तम प्रकार करनेसेहि होता है।

(प्र०) अपना कर्तव्यकर्म न करनेसे क्या होगा?

(उ०) अपना कर्तव्यकर्म, अपना धर्मपालन न करनेसे सिद्धि नहीं मिलेगी, उन्नति नहीं होगी, मानवभावका विकास नहीं होगा।

(प्र०) स्वकर्म न करके दूसराहि कर्म करनेसे क्या होगा ?

(उ०) अपनी सात्त्विक-राजस-तामस प्रकृतिके अनुसार सात्त्विक-राजस-तामस कर्म न करनेसे और अपनी प्रकृतिके विपरीत

कर्म करनेसे वर्णसंकर होगा, जो सर्वथा मानवभावका नाश करनेवाला होगा ।

(प्र०) स्वकर्म किस तरह करना चाहिये ?

(उ०) योगके साथ स्वकर्म करना चाहिये,अर्थात् कुशलताके साथ, उत्तम प्रवीणताके साथ स्वधर्मानुकूल कर्म करना चाहिये ।

यही सिद्धि प्राप्त करनेकी शुद्ध रीति है,जिससे मनुष्यमात्र उन्नत हो सकता है ।

परमेश्वर एक है, उसने यह संपूर्ण विश्व फैलाया है । और विश्वका फैलाव करते समय प्रत्येक मनुष्यकी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रवृत्ति बनी है । यही स्वभावकी सहज प्रवृत्ति है । इस स्वभावकी सहज प्रवृत्तिके अनुसार इससे होनेवाले सात्त्विक, राजस और तामस कर्म उसके स्वकर्म कहलाते हैं । इन स्वकर्मोंको उत्तम प्रवीणताके साथ करके, तथा इन कर्मोंको और इन कर्मोंके फलोंको परमेश्वरको समर्पण करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो सकता है । (गी० १८।४६)

(प्रश्न)-क्या परमेश्वर है ?

(उत्तर)-है ।

(प्र०) परमेश्वर कहां है ?

(उ०) इस विश्वके रूपसे मनुष्यके चारों ओर है और मनुष्यभी उसीमें उसीका एक अंश है ।

(प्र०) परमेश्वरसेवाका अर्थ क्या है ?

(उ०) "विश्व-सेवा" ही परमेश्वर सेवा है, और परमेश्वरसेवा ही विश्वसेवा है ।

(प्र०) यह कैसी की जाती है ?

(उ०) स्वकर्मसे परमेश्वरसेवा-विश्वसेवा करनी चाहिये । अर्थात् ब्राह्मणने ज्ञानके द्वारा-क्षत्रियने प्रजारक्षाद्वारा, वैश्यने कृषि-गोरक्षाद्वारा और शूद्रने कारीगरी तथा परिचर्याद्वारा करनी चाहिये ।

(प्र०) ईश्वरसेवा किस तरह करनी चाहिये ?

(उ०) ईश्वर विश्वरूपसे अपने सामने है, प्रत्येकको प्रत्यक्ष है, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य-शूद्र निषादादि रूपसे, पशुपक्षियोंके रूपसे, वृक्षवनस्पतियोंके रूपसे, नदीनदोंके रूपसे तथा अन्यान्य विश्वस्थित वस्तुमात्रके रूपसे ईश्वर मनुष्यमात्रको प्रत्यक्ष है । जो जिस शुभ कर्ममें प्रवीण है, वह उस कर्मके द्वारा इस ईश्वरकी संतुष्टी होने योग्य उसकी सेवा करे, इसीसे उसकी कृतकृत्यता होगी । अपने जीवन-समर्पणसे मनुष्योंका, पशुपक्षियोंका, सुख और आरोग्य बढावे । वृक्षोंकी प्रसन्नता रखे, नदीनदोंको प्रसन्न रखे । जल, वायु तथा भूप्रदेशोंको प्रसन्न रखे, जहां मनुष्य जाकर आनन्द प्राप्त कर सकें । जनसेवा ही ईश्वरसेवा है, ऐसा जो कहते है, वह आंशिक सत्य है । मनुष्य विचार करेगा, तो उसको अपने जीवनद्वारा विश्वसेवा करनेके अनेक मार्ग ज्ञात होंगे । अपने जीवनमें जो कर्म हो रहे हैं, उनसे विश्वकी प्रसन्नता किस प्रमाणमें हो रही है, इसका विचार प्रत्येकको करना चाहिये । और तदनुसार अपने कर्तव्यकर्म करनेसे परमेश्वरसेवा होती है। इसी ईश्वरको अपने कर्मोंके फल समर्पण करने चाहिये, ऐसा करनेसे वही इसका योगक्षेम चलावेगा ।

मनुष्यस्वभोचित कर्म में उत्तम प्रवीणता संपादन करे, प्रवीणतासे स्वधर्मोंके कर्मके अनुष्ठान करे, अपने कर्मोंके फलोंको जनतारूपी जनार्दन की संतुष्टी के लिये समर्पण करे, जिससे संतुष्ट और प्रसन्न हो कर वही इसका योगक्षेम उत्तम रीतिसे चलावेगा ।

विशिष्ट समाजपद्धति ।

इस रीतिसे विचार करनेपर एक विशेष प्रकारकी समाजपद्धति इसमें वर्णित हुई है, ऐसा प्रतीत होगा । प्रत्येक मनुष्य अपने कर्म उत्तम

प्रवीणताके साथ जितने उत्तमसे उत्तम हो सकते हैं, उतने उत्तम करे, वह वे सब कर्म जनसमाजरूपी ईश्वरकी संतुष्टीके लिये समर्पण करे, उन कर्मोंके फलोंको भी अपने उपभोगके लिये अपन पास संग्रहित करके न रखे, प्रत्युत उन कर्मफलोंको भी ईश्वर ही के लिये समर्पित करे। जनसमाजरूपी परमेश्वर प्रत्येक इस तरहके विश्वसेवक का योगक्षेम चलावे। देखिये इस तरहके विश्वसेवक-समाजका स्वरूप कैसा होगा।

विश्वही परमेश्वर है (विश्वं विष्णुः), परंतु अपने विचारकी सुविधाके लिये हम मानवसमाज को ही ईश्वर का रूप मान कर यहां विचार करेंगे।

इस मानवसमाजरूपी ईश्वर का मुख ज्ञानी जन है, उसी ईश्वरके बाहु शूर पुरुष हैं, उसी ईश्वरके पेट व्यापारी हैं, और उसी ईश्वरके पांव कारीगर हैं। ये उसके अवयव है और ईश्वर अवयवी है। कोई मनुष्य ईश्वरके इस विश्वव्यापक शरीरसे पृथक् नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति समष्टिका ही अंश है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने कर्तव्यकर्ममें प्रवीण बने, प्रवीणतासे अपना कर्तव्यकर्म करे, अपना कर्तव्य करके उस कर्मद्वारा जनतारूपी परमेश्वरकी प्रसन्नता करे, उसीकी प्रसन्नता के लिये अपना कर्तव्य करे, दूसरा कोई अपना जीवनोद्देश्य न रखे, कर्तव्यकर्म करे परंतु उसके लिये कोई बदला न लेवे, अवैतनिक सेवा करे।

ज्ञानी सद्गुरु अपना ज्ञान जनताकी भलाईके लिये देता रहे, विना वेतन लिये अध्यापन करे, पढावे, उपदेशक सेवाभावसे उपदेश करे, ज्ञानका फैलाव करनेके जितने उपाय होंगे, उतने उपायोंका अवलम्बन करके ज्ञानका प्रसार ज्ञानी जन करते रहें। परंतु वेतन न लेवें, केवल ईश्वरसेवा के भावसे यह कार्य करें।

शूर पुरुष अपने शौर्यसे जनताकी सुरक्षा करें, कोई ग्राम की रक्षा करें, कोई वनों और उपवनों की रक्षा करें, कई जलस्थानोंको सुरक्षित रखें, कई सैनिक बनें और शत्रुओंको परास्त करके जनताको सुरक्षित रखें। जहां जहां दुर्जनोंका उपद्रव हो और सज्जनों की रक्षा करने का कार्य उपस्थित हो, वहां शूर वीर स्वयंसेवक बनकर जांय, और दुर्जनोंको दूर करके सज्जनोंकी रक्षा करें। इस कार्य को ईश्वरसेवा के भावसे करें और इस कार्यके बदले कोई वेतन न लेवे।

कृषीवल खेती उत्तम कुशलतासे करें, नाना प्रकारके उत्तमोत्तम धान्य, तथा फल, फूल, कंद-मूळ-शाक, तैयार करें और जनता को अर्पण करें। व्यापारव्यवहार करनेवाले देशदेशान्तर में और ग्रामग्रामान्तरमें जहां धान्यादि न हों, वहां ले जावें और वहां की जनता तक पहुंचावें। कारीगर लोग कुशलतासे विविध कारीगरीकी वस्तुएं बनावें।

राष्ट्रमें ऐसी आयोजना हो, कि जिससे जिसको जो वस्तु आवश्यक हो, वह उसको मिले और राज्यप्रबंधद्वारा सबका योगक्षेम उत्तम प्रकार चलाया जावे और कोई मनुष्य बुभुक्षित और पिपासित न रहे।

वैद्य लोग रुग्णोंकी चिकित्सा करें, तथा अन्यान्य लोग अन्यान्य कर्मोंके द्वारा जनताकी सेवा करें। और सबका योगक्षेम जनताकी प्रबंधक समितिद्वारा होता रहे। इस तरह की सुव्यवस्था की रचना करनेका आदेश यहां भगवद्गीताने दिया है।

इस प्रकारकी धार्मिक राज्यव्यवस्थासे जनता अधिक सुखी होने में संदेह ही नहीं है। आजकलकी समाज-रचना वैयक्तिक भोगसंग्रह के तत्त्वका आश्रय करनेवाली है। व्यक्ति कर्म करे, वेतन लेवे और उस धनसे अपन पास भोगसंग्रह करे। यह इस समयकी समाजरचना का तत्त्वज्ञान है।

भगवद्गीतोक्त समाजरचनामें प्रत्येक व्यक्ति उत्तम कुशलतासे कर्म करेगी, परंतु अपने कर्मके लिये वेतन नहीं लेगी, अपना कर्म समाजसेवाके भावसे करेगी, और समाज प्रत्येक व्यक्तिका योगक्षेम चलावेगा । कोई व्यक्ति बेकार न रहे, कोई भूखी न रहे,कोई दुःखी न रहे इस विषयमें समाज दक्ष रहेगा ।

आजकलका समाज और गीतोक्त समाज इस में यह भेद है। पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा, कि वैयक्तिक फलभोगके साधनों का संग्रह करनेकी पद्धतिमें इतना अधिक शक्तिका नाश होता है और संघ-सेवाभावके तत्त्वज्ञानपर आरूढ समाज-व्यवस्थामें शक्तिका इतना संग्रह होता है, कि सब प्रकारसे विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है,कि संघभावोपासक समाज ही अधिक सुखी होना संभव है।

प्रत्येक मनुष्य संघहितके लिये अपना जीवन देवे और संघ ही व्यक्तिका योगक्षेम चलावे। सब धन संघका है, व्यक्ति का अधिकार संघकी सेवा करना ही है ।

ईश्वर और उसकी सेवा का यह तात्पर्य है। जिस व्यक्तिको जो कर्म संघकी सेवाके भावसे करना है, वही उसको करना चाहिये। वह कितनाभी सुकर हो वा दुष्कर, उसको वह करनाही चाहिये । प्रत्येक मनुष्य सुकर कर्मही करे और दुष्कर कर्म छोड दे, यह बात नहीं है। संघसेवाके लिये प्रत्येक कर्मकीआवश्यकता है, यदि उनमें से कई कर्म न किये जांयगे, तो संघकी प्रसन्नता नहीं रहेगी । अतः कर्म अच्छा हो वा बुरा, सुकर हो वा दुष्कर,सौम्य हो वा क्रूर, जो कर्म अपने लिये कर्तव्य निश्चित हुआ हो, वह सुखदुःखकी पर्वाह न करते हुए करना ही चाहिये ।

प्रत्येक कर्ममें दोष हुआ ही करते हैं, अतः सदोष कर्म है,इसलिये उसका त्याग करना नहीं चाहिये । कई सैनिक शत्रुके आघात होनेके स्थानपर होते हैं और कई पीछे रहते हैं। यदि आघात स्थानपर कोई न रहे,तो पराभव होनेमें देरी नहीं लगेगी । इसलिये सेनापति की आज्ञा-द्वारा जो स्थान जिस सैनिक के लिये योग्य हुआ है, वहीं उसको रहकर अपना कर्तव्य करना चाहिये और उसी कर्तव्य को करनेसे अपने जीवन की सफलता होती है, ऐसा भी मानना चाहिये । (गी० १८।४८)

भोगविषयक आसक्ति छोडनी चाहीये। आत्मसंयम करना चाहिये,भोगोंके विषयमें उदासीन रहना चाहिये, और अपना कर्तव्य करना चाहिये। जो इस तरह अपना कर्तव्यकर्म कुशलता पूर्वक करेंगे, उनको सफलता प्राप्त होगी । शुद्ध बुद्धिसे युक्त हो कर, सदाचारका धैर्य धारण करके, विषयभोगोंका त्याग करके, रागद्वेष छोड कर , थोडा भोजन करता हुआ, वाणी-शरीर और मनका संयम करके, अहंकार, घमंड, काम क्रोध और भोगसंग्रह को छोडकर जो निर्मम हो कर शान्त होता है, वही ब्रह्मरूप बनता है । वह सब भूतों के विषयमें सम होता है और वही ईश्वर का सच्चा भक्त होता है। (गी० १८।४९-५४)

इस तरह जो भक्तहोता है वह ईश्वर कितना है और कैसा है, यह तत्त्वतः जानता है और वह सचमुच अनुभव करता है कि मैं भी उसीमें हूं, उसीका एक अंश हूं । ऐसा अपने आपको ईश्वर का अंश मानकर और ईश्वरको अंशी मानकर सब कर्म ईश्वरार्पण बुद्धिसे करता है, इसलिये परमेश्वर उसपर प्रसन्न होता है और वह ईश्वरके शाश्वत पदको प्राप्त होता है । (गी० १८।५५-५६)

समर्पणयोग ।

उस समय भक्त का सब चित्त ईश्वरमें समर्पित होता है, सर्व कर्म वह ईश्वरार्पण बुद्धिसे करता है, बुद्धिभी ईश्वर में ही लगती है, उसकी सब क्रिया ईश्वर के लिये होती है क्योंकि वह उससे पृथक् नहीं रहता । जो वह करता है ईश्वर के लिये करता है । (गी० १८ । ५७)

परंतु जो अहंकार करनेवाला मानव घमण्ड करके, अपना कर्तव्यकर्म करता नहीं, और मैं यह कर्म नहीं करूंगा ऐसा कहता है, वह कर्म हीनता के कारणहि नष्ट भ्रष्ट होता है। क्योंकि वह विश्वरूपी ईश्वर का विरोध करता है। जो विश्वशक्ति से विरोध करेगा वह जिवित रह नहीं सकता। कर्म न करूंगा ऐसा उसने अपने आपको स्वतंत्र मानकर कहा, परंतु उसकी प्रकृति स्वतंत्र है वह उसको घसीट कर अपनी प्रकृति के अनुकूल कर्म करावेगी। इस कारण उस समय वह पराधीन होकर कर्म करेगाहि। फिर प्रथमसे हि अपना स्वभावनियत कर्म करनेमें क्या दोष था? इसलिये इस प्रकार का कर्मत्यागका हट करना किसको योग्य नहीं है। (गी० १८।५८-६०)

हृदयनिवासी ईश्वर।

सब के हृदयोंमें ईश्वर निवास करता है और वह वहां से सबको चलाता है। जैसे किसी यंत्र पर कटपुतलियां लगाई होती हैं और यन्त्रके घुमनेसे वे सब पुतलियां अपनी अपनी गतिसे घूमती हैं, उसी तरह इस विश्व के यंत्रपर सब भूत लगाये हैं और ईश्वर उस यंत्र को घुमाकर सब भूतोंको घुमाता है। यह सब विश्व ही एक बडा यन्त्र हैं और उस महायन्त्रका एक पुर्जा मैं हूं। मैं स्वतंत्र नहीं हूं, विश्वरूपी महायन्त्रके साथ मुझे भी घूमना चाहिये, और यंत्रकी सुफलता और सफलता ही एक पुर्जेकी सुफलता और सफलता है। यह जानकर अपना अहंकार छोडना चाहिये और विश्वनियामक की इच्छा की सफलता के लिये अपने आपको समर्पित करना चाहिये। विश्वरूपी परमेश्वर को आत्मसमर्पण करके, स्वयं उसको शरण जाकर, मैं उसका हूं और उसकी इच्छाकी पूर्तिके लिये हूं यह जानकर, उसकी संतुष्टीके लिये अपने जीवन का यज्ञ करना चाहिये। इसी तरह के आत्मयज्ञसे मानवी जीवन की सफलता होनी है। (गी० १८।६१-६३)

यह सत्य ज्ञान प्राप्त होनेके पश्चात् जिसने अपना जीवन इस ज्ञानसे युक्त बनाया है, वही अपनी इच्छाके अनुसार कार्य कर सकता है, क्योंकि उसकी इच्छा परमेश्वर की हि इच्छा होती है, वह परमेश्वररूप ही उस समय बना होता है।

उस समय उसका मन परमेश्वर में लगा होता है, वह उसी ईश्वर की सेवा करता है, ईश्वरके लिये ही वह आत्मयज्ञ करता है, ईश्वरको हि वह नमन करता है, और अन्तमें वह ईश्वरमें ही एकरूप हो जाता है। उस समय वह किसी अन्य कर्तव्य का विचार करता नहीं; एक ईश्वरको शरण जाता है और उसी शरणागतिसे वह सब पापोंसे छूटकारा पाकर ईश्वरस्वरूपमें मिल जाता है। (१८।६५-६६)

ज्ञानप्रसार।

इसी सत्य-ज्ञानका प्रसार जिस उत्तम रीतिसे हो उस रीतिसे करना चाहिये। अध्ययन, अध्यापन, संकीर्तन, व्याख्यान, लेखन, तथा, प्रवचन द्वारा इस सत्य ज्ञानको मनुष्यमात्रतक पहुंचाना चाहिये। क्योंकि इसीसे मनुष्यमात्रका परम कल्याण होनेवाला है। (गी० १८।६७-७२)

यहां अठारहवें अध्यायका मनन समाप्त हुआ॥ १८॥

श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायकी

विषयसूची

श्रीमद्भगवद्गीता ।

[पुरुषार्थबोधिनी भाषा–टीका]

प्रथम विभाग।

द्वितीय विभाग।

तृतीय विभाग।